॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन–वेदव्यासेन विरचितम्

वेदान्तसूत्रम्

चतुर्थः अध्यायः

गौड़ीयवेदान्ताचार्य

श्रीश्रीमद्बलदेव–विद्याभूषण–कृत

श्रीगोविन्दभाष्येण सूक्ष्मा टीकया च समेतम्

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा

सम्पादित
तत्कृत 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' सहित

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

अवतरणिका भाष्य, भाष्यानुवाद, अवतरणिका–भाष्यकी टीका, टीकानुवाद, सूत्र, सूत्रार्थ, सूत्रानुवाद, मूल–गोविन्दभाष्य, भाष्यानुवाद, मूलभाष्यकी सूक्ष्मा–टीका और टीकानुवाद एवं सम्पादक–कृत गोविन्दतोषणीवृत्ति नामक अनुव्याख्या सहित प्रकाशित

प्रथम संस्करण—

श्रीशारदीय–रास–पूर्णिमा

श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी तिरोभाव–तिथि

१३ अक्टूबर, २०१९

ISBN: 978-81-942673-2-4

प्राप्तिस्थान

श्रीरूप–सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
☎ ०७०६०२३६३१६

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
☎ ०९०८४९३६१३३

श्रीरमणविहारी गौड़ीय मठ
बी–३, जनकपुरी, नई दिल्ली
☎ ०९७१७३२११४२

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
राधाकुण्ड रोड, गोवर्धन (उ॰प्र॰)
☎ ०९७१९०७०९३९

जयश्री दामोदर गौड़ीय मठ
चक्रतीर्थ रोड, जगन्नाथपुरी,
उड़ीसा
☎ ०६७५२–२२७३१७

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
☎ ०९७३४८२५३६२

श्रीराधामाधव गौड़ीय मठ
१६२, सैक्टर–१६–ए
फरीदाबाद, हरियाणा
☎ ०९९११२८३८६९

खण्डेलवाल एण्ड सन्स
अठखम्भा बाजार,
वृन्दावन (उ॰प्र॰)
☎ ०५६५–२४४३१०१

Please visit us at www.purebhakti.com

समर्पण

वेदान्त–प्रणीत अप्राकृत रससिद्ध–प्रणाली 'कैशोरोपासना' के सत्तृष्ण–सेवक, सर्वदर्शन–मूर्द्धन्य गौड़ीय–वाङ्मय–अर्क–ज्योतिके प्रसरणकर्त्ता, सिद्धान्तामृत–पयोधि—श्रीचैतन्यदेवकी वदान्यताके प्रकाशक, कर्मजड़बुद्धिके भेदनकारी, शुष्क–हृदय–प्राङ्गणमें रस–प्रस्थानाचार्य श्रील रूप गोस्वामी प्रणीत परमोज्जवल भक्तिरसमय प्रेमामृत–सिन्धुकी मधुर–धाराओंके वर्षणकारी मेघस्वरूप, भक्ति–रत्नाकरके महत्–संरक्षक, अनिवर्चनीय प्रमोद–राशिके स्फुरणकर्त्ता, भगवत्–कृपा–वारिदके अजस्र वर्षणकारी, उज्ज्वल–चन्द्रिका सदृश निज–स्मित एवं विरह–व्यथित अपनी नयन–माधुरीसे सबको विस्मापित करनेवाले, परकीया–रस–वन्याके परिपूर्ण–आश्रयस्थल, प्रेम–ठाकुर श्रीगौर–गत–प्राण! हे दयार्द्र–चित! हे अनन्त महिमावान्! हे पतितपावन! हे भजनवृत्ति–उदघाटक! हे प्रेम–उताल–तरङ्गके उत्स! हे सौभाग्य–अतिशयके परम–आस्पद! हे रसिकाचार्यवर्य–कुलमणि! हे गुरुदेव! ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज! आपकी अन्तःप्रेरणासे प्रवर्तित वेदान्तसूत्रका 'फल–सिद्धान्त' नामक यह चतुर्थ–अध्याय–अनुवाद आपके श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

डा॰ मधु खण्डेलवाल

प्रकाशन–मण्डली

अनुवादक

श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल 'साहित्याचार्य'
एम॰ए॰ (संस्कृत) पी–एच॰डी॰

टंकण
श्रीपाद भक्तिवेदान्त सागर महाराज

सहयोग
सुश्री विजयलक्ष्मी दासी
कु॰ राधिका खण्डेलवाल

पाठ्य–व्यवस्थापन एवं धन्यवादार्ह
श्रीमान् सुबलसखा दास

ले–आउट
श्रीयुक्ता शान्ति दासी

आभार
श्रीमान् माधवप्रिय दास ब्रह्मचारी
श्रीमान् अमलकृष्ण दास ब्रह्मचारी

प्रूफ–संशोधन
श्रीपाद भक्तिवेदान्त माधव महाराज
श्रीमती डा॰ मधु खण्डेलवाल

प्रच्छद–चित्र
श्रीयुक्ता श्यामारानी दासी

प्रच्छद–प्रस्तुति
श्रीमान् कृष्णकारुण्य दास ब्रह्मचारी

प्रकाशनार्थ आर्थिक सेवा—
वैजयन्ती दासी (बरखा मयंक रावत, सिङ्गापुर), राधादासी (सपना रमेश खण्डेलवाल, मुम्बई), विशाखा दासी (फाल्गुनी हिमांशु मेहता, मुम्बई), अनुराधा खण्डेलवाल (मुम्बई) एवं प्रियंका अमित कुमार (मुम्बई) इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक–सेवा–योगदान द्वारा श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गके कृपा–भाजन हुए हैं।

प्रशस्तिपत्रम्

श्रीवेदव्यास–प्रशस्तिः

पाराशर्यमुनिः पुराणनिचयं वेदार्थसारान्वितं
स्त्रीशूद्रप्रतिबोधनाय च विदां वेदान्तशास्त्रं मुदे।
श्रीगीतावचसां विधाय विवृतिं ज्ञानप्रदीप प्रभा–
लोकैर्लोकमतिं समुज्ज्वलरुचिं लोके कृतार्थां दधौ॥

श्रीपराशरमुनिके पुत्र श्रीवेदव्यासजीने स्त्री, शूद्र इत्यादिके बोधके लिए वेदोंके सार–अर्थसे युक्त पुराणसमूह और विद्वानोंके आनन्दके लिए श्रीगीताके वचनोंके भाष्यस्वरूप श्रीवेदान्तशास्त्रकी रचनाके द्वारा जगत्में ज्ञानरूपी प्रदीपकी प्रभासे मनुष्योंकी मतिको समुज्ज्वल कान्तिसे युक्त करके उन्हें कृतार्थ कर दिया है।

श्रीवेदव्यास–प्रणतिः

वेदं प्रमथ्य जलधिं मतिमन्दरेण
कृष्णावतार! भवता किल भारताख्या।
येनोदहारि जनतापहरा सुधा वै
तं सर्ववैदिक गुरुं मुनिमानताः स्मः॥

हे कृष्णके अवतार श्रीवेदव्यासजी! आपने बुद्धिरूपी मन्दराचलसे वेदरूपी सागरका मन्थन करके जगत्–जीवोंके तापको हर लेनेवाली महाभारत नामक सुधाका संग्रह किया है। समस्त वेदोंको जाननेवाले ऐसे गुरुस्वरूप, हे मुनिवर! आपको हम नमस्कार करते हैं।

वेदान्तसूत्र–महिमा

वेदान्तसूत्रमहिमा किमु वर्णनीयो
युक्त्या निरीश्वरमतानि निरस्य सम्यक्।
संस्थाप्य सेश्वरमतं श्रुतिभिः कृता य–
ल्लोका हरेर्भजनतः सुखमुक्तिभाजः॥

जिसने युक्तियोंके द्वारा निरीश्वरवादी मतोंको सुचारु रूपसे निरस्त कर दिया है एवं श्रुतियोंके आश्रयसे सेश्वरमतकी स्थापना की है, जिसके फलस्वरूप लोग भगवान् श्रीहरिका भजन करते हुए सुखपूर्वक मुक्तिके भागीदार हुए हैं, अहो! ऐसे वेदान्तसूत्रकी महिमाका किस प्रकारसे वर्णन किया जा सकता है।

श्रीबलदेव-वन्दना

नमामि पादौ बलदेवदेव!
तव प्रपन्नोऽहमतीव दीनः।
कृपाकरैर्भेदमतिं तमो मे
निरस्य विद्योतय शुद्धबुद्धिम्॥

हे देव श्रीबलदेव प्रभु! आपके श्रीचरणयुगलमें मेरा बार-बार नमस्कार है। मैं अत्यधिक दीनतापूर्वक आपके शरणागत होता हूँ। आप अपनी कृपारूपी किरणोंसे मेरे भेदबुद्धि (विश्व परमात्मासे भिन्न है) स्वरूप अज्ञान-अन्धकारको विदूरितकर मुझमें शुद्धबुद्धिका प्रकाश करें।

आचार्य श्रीबलदेव-प्रशस्तिः

जय जय बलदेव! श्रीमदाचार्यपाद!
व्रजपतिरतिगौरं सम्प्रदायस्य धर्मम्।
गुरुमवितुमहो ते स्वप्नदृष्टस्य विष्णोः
प्रियललितनिदेशान् नाम गोविन्दभाष्यम्॥

हे श्रीमद् आचार्यपाद! हे श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु! आपकी जय हो, जय हो। आपने व्रजपति श्रीकृष्णकी रतिसे विभावित गौड़ीय-सम्प्रदायके धर्मको गौरवान्वित किया है। अहो! गुरुवर्गके विचारोंकी रक्षाके लिए आपने स्वप्नमें दृष्ट भगवान् विष्णु (श्रीगोविन्ददेव) के प्रिय-मनोहर आदेशोंसे 'श्रीगोविन्द' नामक भाष्यकी रचना की है।

श्रीगोविन्दभाष्य-महिमा

विद्धाद्वैतान्धकार प्रलय दिनकर! त्वतकृताचिन्त्यभेदा-
भेदाख्योवाद एषोऽम्बुजरुचिरधुना यद् रसं वैष्णवालिः।

श्रीमद्गौराङ्गदेवानुमतमनुगतं प्रेमनिस्यन्दि पायं
पायं श्रीमच्छुकास्याद् विगलितममृतं लीयते तत्र नित्यम्॥

हे गोविन्दभाष्य! आप अद्वैत-अन्धकाररूप प्रलयको नाश करनेवाले सूर्यस्वरूप हैं। इस समय आपके द्वारा अचिन्त्यभेदाभेदवाद नामक कमल-मकरन्द-रस विकसित हुआ है। इस भेदाभेदवादके परिप्रेक्ष्यमें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके मतानुयायी रसिक-वैष्णवगण इस प्रेम-स्रोतके रसका पान करते-करते श्रील शुकदेवके मुखसे निःसृत श्रीमद्भागवतामृतमें सर्वदा लीन रहते हैं।

सूक्ष्मा-टीका-प्रशस्तिः

सूक्ष्माभिधाना बुध! तस्य टीका
सूक्ष्मार्थबोधाय कृता त्वया वै।
उच्चित्य पौराणवचः श्रुतीश्च
भूयस्तदीयाङ्घ्रियुगं स्मरामः॥

हे विद्वत्वर (श्रीबलदेव प्रभु)! श्रुतियों (उपनिषदों) एवं पौराणिक वचनोंका चयन करके आपके द्वारा रचित सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अर्थका बोध करानेवाली यह सूक्ष्मा नामक टीका धन्य है। हम आपके चरणयुगलका पुनः-पुनः स्मरण करते हैं।

सूक्ष्मा-टीका-महिमा

संक्षिप्त-सारमय-भाषितपूर्णमूर्त्तिः
सूक्ष्माभिधेयमनुभाष्यमशेषटीका ।
दीपं विनान्धतमसे न यथार्थदृष्टि-
रेनामृते स्फुरति भाष्यमिदं तथा न॥

संक्षिप्त एवं सारमय भाषासे युक्त गोविन्दभाष्यरूप पूर्णमूर्त्तिको सूक्ष्मा नामक अनुभाष्यने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अशेष अर्थों द्वारा सम्यक् रूपसे प्रकाशित कर दिया है। (गोविन्दभाष्यके पश्चात् लिखे जानेके कारण इसे अनुभाष्य कहा गया है) जिस प्रकार गाढ़ अन्धकारमें दीपकके बिना यथार्थ दृष्टिशक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार इस अमृतस्वरूप सूक्ष्मा-टीकाके बिना गोविन्दभाष्यके गूढ़ विषय कभी भी

हृदयमें स्फुरित नहीं हो सकते। अर्थात् यह सूक्ष्मा-टीका गोविन्दभाष्यको प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान है।

वैष्णव-प्रशस्तिः

धन्या वैष्णवमण्डली व्रजपतिप्रेम्णा यया रक्ष्यते
गोविन्दप्रियपुस्तकावलिरहो काले महासङ्कटे।
धन्यास्तत्परिशीलका अपि धनैः प्राणैश्च ये सेवका
योगक्षेमकरस्तनोतु भगवांस्तेषां हरिर्मङ्गलम्॥

अहो! वैष्णवमण्डली धन्य है! व्रजपति श्रीकृष्णके प्रेमवशतः जिसके द्वारा महासङ्कटकालमें गोविन्दप्रिय ग्रन्थावलीकी रक्षा की जाती है। इन ग्रन्थोंका अनुशीलन एवं अध्ययन करनेवाले धन्य हैं और जो धन एवं प्राणसे इन ग्रन्थावलीकी सेवा करते हैं, वे भी धन्य हैं। भगवान् श्रीहरि उन सबका योगक्षेम वहन करते हुए उनका मङ्गल विधान करें।



श्रीकृष्ण-प्रेम ही परम प्रयोजन अथवा पुरुषार्थ-शिरोमणि है

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्

(ब्र॰सू॰ ४/१/१२)

मुक्ति पर्यन्त उपासना करनी चाहिये, मुक्तिके बाद भी श्रुतिमें उपासनाका विधान देखा गया है।

ॐ शं नो देवीरभीष्टये आपो भवन्तु पीतये, शंयोरभिस्रवन्तु नः

(अथर्ववेद १/६/१)

हे (व्रज) देवियो! हमारे अभीष्ट रस-पानके लिए आपका चरणामृत या अधरामृत (वचनामृत) हो, हमारा कल्यान हो और योगके लिए अर्थात् अपनी चरण-सेवा प्रदान करनेके लिए आप हमारे निकट आइये (हृदयमें प्रकट होइये)। इस मन्त्रके द्वारा फल अर्थात् प्रयोजन उक्त हुआ है।

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥

(श्रीमद्भा॰ १२/१३/१२)

इस [श्रीमद्भागवत] में सम्पूर्ण वेदान्तका सारभाग वर्णित हुआ है। यह आत्मैकत्व-स्वरूप ब्रह्मवस्तु विषयक एवं कैवल्यरूप एकमात्र फलजनक है अर्थात् प्रेमरूप प्रयोजन निरूपणकारी है। स्वरूपमें अवस्थित होकर भक्तकी भजनीय वस्तुमें सेवाकी केवलता जानी जा सकती है।

मुक्ता अपि ह्येनमुपासत।

(सौपर्ण-श्रुति)

मुक्तगण भी उन श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं।

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्त्यो जातानुरागो द्रुतचित्तउच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/२/४०)

प्रेमलक्षणा भक्तियोगसे भगवत्-सेवाव्रतधारी साधुपुरुषोंके हृदयमें एकान्तप्रिय श्रीभगवान्के नाम-सङ्कीर्त्तनसे अनुराग एवं प्रेमका अङ्कुर उदित होनेसे उनका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वे साधारण लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाते हैं। लोक-लज्जा छोड़कर कभी हँसने लगते हैं, तो कभी फूट-फूटकर रोने लगते हैं। कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्को पुकारने लगते हैं, तो कभी मधुर-स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगते हैं एवं कभी उन्हें रिझानेके लिए नृत्य भी करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्चमां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(श्रीगी॰ १०/९)

जिन्होंने अपने चित्त तथा प्राण मुझे समर्पित कर दिये हैं, वे सर्वदा एक-दूसरेको मेरा तत्त्व बताते हुए एवं मेरे नाम, रूपादिका कीर्त्तन करते हुए सन्तोष प्राप्त करते हैं और आनन्दका अनुभव करते हैं।

कृष्णेर चरणे हय यदि अनुराग।
कृष्ण विनु अन्यत्र तार नाहि रहे राग॥

पञ्चम-पुरुषार्थ सेइ प्रेम-महाधन।
कृष्णेर माधुर्य-रस कराय आस्वादन॥

प्रेमा हैते हय कृष्ण निजभक्तवश।
प्रेमा हैते पाय कृष्णेर सेवा सुखरस॥

सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन नाम।
एइ तिन अर्थ सर्वसूत्रे पर्यवसान॥
(चै॰च॰आ॰ ७/१४३-१४६)

कृष्णके चरणोंमें यदि किसीका अनुराग उत्पन्न होता है, तो कृष्णके बिना अन्यत्र कहीं भी उसका मन नहीं लगता। प्रेम-महाधन

पञ्चम-पुरुषार्थ-स्वरूप है। यह प्रेम कृष्णके माधुर्यरसका आस्वादन कराता है। प्रेमभक्तिसे कृष्ण निजभक्तके वशीभूत हो जाते हैं एवं इसी प्रेमभक्तिसे कृष्णके सेवा-सुखरसकी प्राप्ति होती है। सभी सूत्रोंका तात्पर्य सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन नामक—इन तीनों अर्थोंमें ही पर्यवसित हुआ है।

प्रेमा नामाद्भुतार्थः श्रवणपथगतः कस्य नाम्नां महिम्नः
को वेत्ता कस्य वृन्दावनविपिन-महामाधुरीषु प्रवेशः।
को वा जानाति राधां परमरसचमत्कार-माधुर्यसीमा-
मेकश्चैतन्यचन्द्रः परमकरुणया सर्वमाविष्चकार॥

(श्रीचैतन्यचन्द्रामृत)

'प्रेम' नामक अद्भुत पदार्थ किसने श्रवण किया था? श्रीकृष्णनामकी महिमाको कौन जानता था? श्रीवृन्दावन-विपिनकी महा-माधुरीमें किसका प्रवेश था? परम-रस-चमत्कार-माधुर्यकी परावधि-रूपा श्रीराधिकाको कौन जानता था? इन समस्त विषयोंको एकमात्र श्रीचैतन्यचन्द्रने परम-करुणापूर्वक जगत्‌में प्रकाशित किया है।



श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

प्रशस्ति-पत्र

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥

(श्रीमद्भा० ११/१४/३)

अर्थात् हे उद्धव! पूर्वकल्पके प्रलयकालमें वेद-संज्ञिता वाणीके लुप्त (अदृष्ट) हो जानेपर सृष्टिके प्रारम्भमें मेरे द्वारा ब्रह्माजीको उस वाणीका उपदेश दिया गया, जो सम्पूर्ण भगवद्-विषयक (मद्स्वरूपभूत) ज्ञान है।

सर्वप्रथम श्रीवेदव्यासजीने वेदको चार भागोंमें विभक्त किया—ऋक्, साम, यजुः एवं अथर्व। ये चार वेद पुनः चार विभागोंमें विभाजित किये गये—मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्। मन्त्र-भाग संहिता कहलाता है—इसमें भगवान्की स्तुति-प्रार्थना है। ब्राह्मण-भागमें यज्ञका (कर्मकाण्डका) विधि-विधान है। अरण्यमें बैठकर विश्वकी पहेली सुलझायी गयी—उसके निष्कर्षका ही आरण्यक-भागमें वर्णन है। श्रद्धापूर्वक गुरुके समीपमें बैठकर ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त करानेवाली विद्याका व्याख्यान उपनिषदोंमें किया गया है। सम्पूर्ण दर्शनोंकी विचारधाराके मूल उत्स उपनिषद ही हैं। ये उपनिषद संख्यामें ११८० माने जाते हैं। अधुना भारतवर्षमें लगभग १५० उपनिषद उपलब्ध हैं।

श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीने सभी उपनिषदोंका सार सङ्कलन करके ५५० सूत्रोंमें वेदान्तसूत्र अथवा ब्रह्मसूत्रकी रचना की है। वेदान्तदर्शन 'न्याय-प्रस्थान' है, इसीको 'उत्तर-मीमांसा' कहते हैं। इसीसे साधक भगवान्की नित्यकालकी सेवाके लिए उपस्थित हो सकता है।

बड़े-बड़े विद्वान् आचार्योंने अपने-अपने सम्प्रदायका गौरव एवं प्रतिष्ठा अभिवर्द्धित करनेके लिए 'ब्रह्मसूत्र' पर टीका-व्याख्याएँ की हैं। केवलाद्वैतवादके प्रतिष्ठाता आचार्य श्रीशङ्करने इस पर 'शारीरक-भाष्य' की रचनाकर अपने मतका प्रचार किया, जिसे मायावाद भी कहा जाता है। आचार्य श्रीरामानुजने इसी ब्रह्मसूत्रपर 'श्रीभाष्य' की रचनाकर

'विशिष्टाद्वैतवाद' नामक वैष्णव-सिद्धान्तका प्रचार किया। श्रीमन्मध्वाचार्यने वेदान्तपर 'सूत्र-भाष्य', बृहद् 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' एवं 'मध्व-भाष्य' की रचनाकर 'शुद्धद्वैत' नामक वैष्णव-सिद्धान्तका प्रचार किया। आचार्य श्रीविष्णुस्वामीने वेदान्तपर 'सर्वज्ञसूक्त' नामक भाष्यका प्रणयनकर 'शुद्धाद्वैत' नामक वैष्णव-सिद्धान्तका प्रचार किया और आचार्य श्रीनिम्बादित्यने 'पारिजात' भाष्यकी रचनाकर 'द्वैताद्वैत' नामक वैष्णव-सिद्धान्तका प्रचार किया।

श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने वेदान्तपर 'श्रीगोविन्दभाष्य' की रचना करके 'अचिन्त्यभेदाभेद' नामक वैष्णव-सिद्धान्तकी विजय-पताकाका उड्डयन किया। उन्होंने सूक्ष्मा-टीकाका प्रणयन कर विद्वत्-विरोधियोंको हतप्रभ कर दिया। साथ ही उसके पीठकस्वरूप 'सिद्धान्तरत्नम्' की सम्यक् स्थापना की। अन्यान्य सभी वैष्णवाचार्योंने वस्तु-परिणामवादका विवेचन किया, किन्तु श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्योंने शक्ति-परिणामवाद अथवा अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्तका प्रकाशन किया।

वेदान्तका तात्पर्य केवल कर्म अथवा ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्मका प्राप्य-स्थल स्वर्ग है और ज्ञानका प्राप्य-स्थल मुक्तिधाम तक है। भक्तिका स्थान वैकुण्ठधामसे लेकर अन्तिम लक्ष्य गोलोक व्रजधाम श्वेतद्वीपकी प्राप्ति तक है। शुद्धाभक्ति ही वेदान्तका मुख्य अभिप्राय एवं चरम तात्पर्य है—इसी तात्पर्यकी भूमिका पर गौड़ीय सिद्धान्त अवस्थित है।

द्वापर युगके अन्तमें श्रीगौतम ऋषिके अभिशापसे अज्ञान द्वारा ज्ञानके आच्छादित हो जानेसे संसारमें भिन्न-भिन्न लोगोंके द्वारा मत-मतान्तर एवं पृथक्-पृथक् विचारोंकी उद्भावना हुई। श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीने उन सभी कुमतोंका खण्डनकर शुद्धभक्तिमय वेदान्तकी रचना की। तत्पश्चात् श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने 'गोविन्दभाष्य' के धरातलपर वेदान्तके उपास्य-देवता श्रीश्रीराधागोविन्दकी उपासना एवं सेवा-पद्धतिको संस्थापित किया।

श्रीगौड़ीय-वैष्णव-परम्पराकी मर्यादाको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए विश्वव्यापी श्रीगौड़ीय-मठोंके प्रतिष्ठाता-आचार्य जगद्गुरु श्रील

भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर 'प्रभुपाद' आविर्भूत हुए थे। उनके हृद्गत अभिप्रायको समझकर श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी स्थापना की। इसी शृङ्खलामें श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके अनुकम्पित हमारे श्रीगुरुपादपद्म श्रील भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज तथा श्रील भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज हैं, जिनका आन्तरिक अभिप्राय रहा कि सम्पूर्ण विश्वमें वही शुद्धभक्तिमय श्रीगौड़ीय-वैष्णव-धर्मकी विजय पताका लहराती रहे, सभीके हृदयोंमें श्रीश्रीराधागोविन्दकी सेवा एवं उनकी प्रेमाभक्ति अङ्कुरित, पल्लवित तथा कुसुमित हो।

श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु कृत 'गोविन्दभाष्य' आदि टीकाओं सहित वेदान्तसूत्रके हिन्दी-अनुवादरूपी यह गौड़ीय-पुष्पाञ्जलि श्रीश्रीराधा-गोविन्द, श्रीश्रीराधा-गोपीनाथ, श्रीश्रीराधा-मदनमोहनके चरणोंमें समर्पित हो। इसी उद्देश्यसे श्रील गुरुदेव—श्रील भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजने अपनी परम विदुषी बेटी डा॰ श्रीमती मधु खण्डेलवालको आदेश देकर एवं उनमें अपनी कृपाशक्तिका सञ्चारकर उनसे इस महत् कार्यको साधित करवाया है।

डा॰ श्रीमती मधु खण्डेलवालने बाल्यकालसे ही अपने जीवनको श्रीगुरुकी सेवामें समर्पण कर दिया था। उन्होंने न केवल वेदान्तपर अपितु श्रील गुरुदेव द्वारा प्रकाशित अनेक ग्रन्थोंपर कार्य किया है। आज श्रील गुरुदेवकी असीम कृपाके फलस्वरूप आपने अथक परिश्रमके साथ वेदान्तके श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद प्रस्तुत करके हिन्दी-गौड़ीय-साहित्य-सम्पदका सम्वर्द्धन करके जगत्का विशेष उपकार किया है। आपकी यह सेवा अति प्रशंसनीय है। श्रील गुरुदेवकी अपार कृपा आपपर वर्षित होती रहे। आपकी यह कीर्त्ति विश्वके इतिहासमें सदैव जीवित रहे।

सर्वम् शुभम् भूयात्। इति—

श्रीभक्तिवेदान्त तीर्थ
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा

सांकेतिक चिह्नोंकी सूची

अ॰—अन्त्यलीला, अधिकरण
अनु॰—अनुच्छेद
आ॰—आदिलीला, आदिखण्ड
ऋ॰—ऋग्वेद
ऐ॰—ऐतरेयोपनिषद
कठ॰—कठोपनिषद
कौ॰—कौषीतकी-उपनिषद
गो॰ता॰—गोपालतापनी-उपनिषद
चै॰च॰—चैतन्यचरितामृत
चै॰भा॰—चैतन्यभागवत
छा॰—छान्दोग्योपनिषद
तै॰—तैत्तिरीयोपनिषद
पा॰—पाणिनिसूत्र (पाणिनि अष्टाध्यायी)
पू॰—पूर्व
प्र॰—प्रश्नोपनिषद
प्र॰र॰—प्रमेयरत्नावली
बृ॰आ॰—बृहदारण्यकोपनिषद
ब्र॰सू॰—ब्रह्मसूत्र
भ॰र॰सि॰—भक्तिरसामृतसिन्धु
म॰—मध्यलीला, मध्यखण्ड
म॰भा॰ता॰नि॰—महाभारत-तात्पर्य-निर्णय
मु॰—मुण्डकोपनिषद
वि॰पु॰—विष्णुपुराण
वे॰सू॰—वेदान्तसूत्र
श्रीगी॰—श्रीमद्भगवद्गीता
श्रीमद्भा॰—श्रीमद्भागवत
शत॰ब्रा॰—शतपथब्राह्मण
श्वे॰—श्वेताश्वतरोपनिषद
ह॰भ॰वि॰—हरिभक्तिविलास

विषयानुक्रमणिका



निवेदन

श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके अमित प्रभावशाली आचार्य-भास्कर श्रीश्रीलभक्तिविनोद-गौरकिशोर-सरस्वती ठाकुरके मनोऽभीष्टपूरक, श्रीगौरसुन्दरकी परम्परामें दशमाधस्तन एवं श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति और उसके अधीन समग्र भारतव्यापी शाखा गौड़ीय मठोंके संस्थापक आचार्यकेशरी ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके परम प्रियतम पार्षद हमारे परमाराध्यातम श्रील गुरुदेव ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे आज श्रीगौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा विरचित 'गोविन्दभाष्य' एवं 'सूक्ष्मा-टीका' के सहित महर्षि श्रीवेदव्यासकृत 'वेदान्तसूत्र' ग्रन्थके चतुर्थ अध्यायको राष्ट्रभाषा हिन्दीमें पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हम प्रचुर आन्तरिक आनन्दका अनुभव कर रहे हैं।

श्रील गुरुदेवने अपने गुरुदपाब्ज नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके मनोऽभीष्टको पूर्ण करनेके उद्देश्यसे उनके ही सतीर्थ नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज द्वारा बँगला भाषामें सम्पादित ग्रन्थके आधारपर ही हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करवाया एवं अक्लान्त रूपसे अनुवाद कार्यका संशोधन एवं सम्पादन किया। इस ग्रन्थपर कार्य करते समय यद्यपि श्रील गुरुदेव इस जगत्में जन-साधारणके सम्मुख अस्वस्थ-लीलाका प्रदर्शन कर रहे थे, किन्तु वृद्धावस्था एवं अस्वस्थताके बीच भी अथक परिश्रमकर वे दिवा-रात्रि इसके सम्पादनमें रत रहते थे। वे प्रत्येक कार्यको इतनी तन्मयता एवं रुचिके साथ करते कि सब हतप्रभ रह जाते थे। जो भी उन्हें सम्पादन कार्य करते देखता या फिर उनके परिश्रमके विषयमें सुनता, वह विस्मित हुए बिना नहीं रह पाता था।

श्रील गुरुदेवने वेदान्तके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत और श्रीगोविन्दभाष्यका अनुसरण करते हुए नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज द्वारा बँगला भाषामें लिखित 'सिद्धान्तकणा' नामक अनुव्याख्याके आधारपर प्रणीत 'गोविन्दतोषणी' नामक 'वृत्ति' सहित हिन्दी भाषामें वेदान्तसूत्रका सम्पादन करके न केवल गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायका गौरव वर्द्धित किया है, अपितु सभी विद्वतजनों एवं परमार्थ तत्त्वानुशीलन अभिलाषी सुधीजनोंका असीम उपकार और आनन्द विधान किया है। इस 'गोविन्दतोषणीवृत्ति' में वेदान्तके दुरुह एवं जटिल विषयोंको अत्यन्त सरलभाषामें परिस्फुट किया गया है।

यद्यपि श्रीमद्भागवतको ही गौड़ीयजन वेदान्तके अकृत्रिम भाष्यके रूपमें जानते हैं, तथापि श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा श्रीगोविन्ददेवजीके आदेशसे विरचित श्रीगोविन्दभाष्य और सूक्ष्मा-टीका भी गौड़ीय-जगत्की एक अमूल्य सम्पद् है। अतः गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषणके द्वारा विरचित गोविन्दभाष्यसे समन्वित वेदान्तसूत्रके आत्मप्रकाशित होनेसे यह ग्रन्थरत्न विद्वतजनोंके निकट परमादृत होगा—इसमें सन्देह नहीं है।

श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यास प्रणीत वेदान्तसूत्र ब्रह्मतत्त्व निर्णायक परम प्रामाणिक ग्रन्थ है। वेदके चरम और परम सिद्धान्त इस ग्रन्थमें निबद्ध हैं।

श्रील गुरुदेवने इस ग्रन्थरत्नके विषयमें अनुवादिका श्रीमती मधु खण्डेलवालसे कहा था—"मैं विश्व-ब्रह्माण्डमें इस प्रकारका ग्रन्थ नहीं देखता हूँ। इस ग्रन्थसे जीवोंका बहुत कल्याण होगा।"

श्रील गुरुदेवने स्वरचित अपने गुरुपादपद्मकी जीवनी 'आचार्य केशरी—श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी' में लिखा है—"मेरे परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्मका आन्तरिक भाव, जिसे वे अपने भाषणोंमें प्रायः उल्लेख किया करते थे, यह था कि पारमार्थिक जीवनके निर्माणके लिए महाजनोंकी निर्मल शिक्षाका अवलम्बन करना परम आवश्यक है। श्रीवेदव्यासजीने जीवोंके सर्वोत्तम कल्याणके लिए ब्रह्मसूत्रकी रचना की है। ब्रह्मसूत्रका दूसरा नाम भक्तिसूत्र भी है।

"वेदोंके सारभागका नाम उपनिषद है। इन उपनिषदोंकी संख्या ११०० से भी अधिक है। इन उपनिषदोंका प्रतिपाद्य विषय निखिल अप्राकृत सद्‌गुणोंके आलय सर्वशक्तिमान, आनन्दमय परब्रह्मकी आराधना अर्थात् भक्ति है। जीव इस आराधनाके द्वारा ही जन्म, मृत्यु और त्रितापमय क्लेशसे सदाके लिए निवृत्त होकर परमानन्द पूर्णब्रह्म श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवाकी प्राप्ति कर सकता है। उपनिषदोंमें कहीं-कहीं आपात्-विरोधी मन्त्र या वाक्य दृष्टिगोचर होनेपर भी ये सभी एकतात्पर्यपर हैं, उनमें यथार्थतः परस्पर कोई भेद नहीं है। सर्वज्ञ श्रीवेदव्यासने इन उपनिषदोंके अत्यन्त दुर्गम एवं निगूढ़ सिद्धान्तोंको हृदयङ्गम करानेके लिए ५५० सूत्रोंकी रचना की है, जिन्हें ब्रह्मसूत्र, वेदान्तसूत्र या शारीरकसूत्र भी कहते हैं।

"हमारे भारतीय आचार्योंने वेदान्तसूत्रोंका अपने-अपने भावोंके अनुरूप भाष्य लिखकर अपने-अपने मतकी पुष्टिका प्रयास किया है। सर्वज्ञ श्रीवेदव्यासने उसी समय जान लिया था कि भविष्यमें विभिन्न आचार्यगण अपने मतानुसार मेरे सूत्रोंकी टीका-व्याख्या आदि करेंगे। इसीलिए उन्होंने स्वयं ही उसका भाष्य लिखा, जो श्रीमद्भागवतके नामसे प्रसिद्ध है। उन्होंने स्वरचित पुराणोंमें इसे स्पष्ट रूपसे लिखा है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिवृंहितः॥

(गरुड़पुराण)

अर्थात् श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्रका अर्थ, महाभारतका तात्पर्य-निर्णय, गायत्रीका भाष्य और समस्त वेदोंके तात्पर्यका सम्वर्द्धन है।

और भी,

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीमद्भागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥

(श्रीमद्भा॰ १२/१३/१५)

अर्थात् समस्त वेदोंके सारको ही श्रीमद्भागवत कहा जाता है। जो इस रससुधाका पान करके तृप्तिका अनुभव करता है, वह अन्य किसी पुराण-शास्त्रमें नहीं रम सकता।

"श्रीवेदव्यासने वेदान्तसूत्रमें *'आनन्दमयोऽभ्यासात्', 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्', 'अनावृत्ति शब्दात् अनावृत्ति शब्दात्'* इत्यादि सूत्रों द्वारा स्पष्ट रूपसे भगवद्भक्तिका ही प्रतिपादन किया है। साथ ही वेदान्त-भाष्य श्रीमद्भागवतमें भी उन्होंने *'स वै पुसां परो धर्मो यतो **भक्ति**रधोक्षजे।' 'मयि **भक्ति**र्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते', 'यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे। **भक्ति**रुत्पद्यते', '**भक्त्या**हमेकया ग्राह्यः'* आदि श्लोकोंके द्वारा भी उक्त भक्तिका ही प्रतिपादन किया है। वेदान्तविद्-चूड़ामणि श्रील जीव गोस्वामी तथा गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने शास्त्रीय प्रमाणों तथा अकाट्य युक्तियोंसे भक्तिको ही वेदान्तसूत्रका प्रतिपाद्य विषय प्रमाणित किया है। अतः भक्ति ही वेदान्तसूत्रका सिद्धान्ततः प्रतिपाद्य विषय है।

"कुछ अर्वाचीन तथाकथित विद्वान लोग ज्ञान और मुक्तिको वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय प्रमाणित करनेकी कष्ट-कल्पना करते हैं। किन्तु यह विशेष रूपसे लक्ष्य करनेकी बात है कि वेदान्तसूत्रके ५५० सूत्रोंमें कहीं भी 'ज्ञान' या 'मुक्ति' शब्दका उल्लेख नहीं है। आचार्य शङ्कर *'वैष्णवाणां यथा शम्भो'*—इस उक्तिके अनुसार परम वैष्णव हैं। उन्होंने किसी विशेष कारणसे कपोल-कल्पित शास्त्रविरुद्ध केवलाद्वैतवाद या मायावादका प्रचार किया। अतः जीवोंके कल्याणके लिए विश्वमें सर्वत्र इस गूढ़ रहस्यका प्रचार करनेके लिए मैंने इस समितिका नाम 'श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति' रखा है।"

श्रील गुरुदेवके ज्येष्ठ सतीर्थ नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने वेदान्तभाष्यके पीठकस्वरूप 'सिद्धान्तरत्नम्' ग्रन्थके स्वलिखित 'सम्पादकीय निवेदन' में वर्णन किया है कि श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने गौड़ीय वेदान्त और गौड़ीय-वेदान्ताचार्य केशरी श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके प्रति विशेष गौरव-प्रदर्शन करनेके लिए ही अपने प्रतिष्ठित मिशनका नाम 'श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति' रखा है। इस विषयमें उन्होंने लिखा है— "'ब्रह्म' शब्द 'शब्दब्रह्म' को लक्ष्य करता है। यह शब्दब्रह्म ही श्रीमन्महाप्रभुका प्रचारित श्रीनाम-ब्रह्म है। जो इस नाम-ब्रह्मका

अनुसन्धान नहीं करते अथवा नामतत्त्वको नहीं जानते, उनका विशुद्ध-नाम-भजन नहीं हो सकता। इसीलिए मैं श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी स्थापना करके श्रीमन्महाप्रभुके नाम-प्रेम-धर्मको ही वेदान्तके प्रतिपाद्य विषयके रूपमें कहकर सर्वत्र प्रचारित कर रहा हूँ।"

श्रील भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने और भी लिखा है—"श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके साथ श्रीगौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुका अच्छेद्य सम्बन्ध है। श्रीबलदेवके आचार-विचार और भजन-पद्धतिको श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिने सम्पूर्ण रूपसे अङ्गीकार किया है, क्योंकि श्रील बलदेव प्रभु रूपानुग वैष्णव हैं।

"श्रील गुरुपादपद्मने अपने अभीष्टदेव ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादकी उक्ति 'जब तक पृथ्वीपर शङ्करदर्शन प्रचलित रहेगा, तब तक शुद्धभक्ति (के प्रचार) में बाधा उत्पन्न होती रहेगी' सुनकर श्रीशङ्करके अद्वैतवाद या मायावादको समूल उखाड़ फैंकनेके उद्देश्यसे विभिन्न भाष्यकारोंके वेदान्त-दर्शनके १०-१२ भाष्य संग्रहकर उनकी चर्चा करके ऐसा सिद्धान्त स्थापन किया कि आचार्य शङ्करके ब्रह्मसूत्रका मौलिक सिद्धान्त वेदान्त-दर्शनसे सम्पूर्णतः विरुद्ध है। ब्रह्म निराकार, निर्विशेष और निर्गुण स्वरूप नहीं हैं। वेदान्त-दर्शनके किसी भी सूत्रमें उक्त तीनों शब्दोंका उल्लेख नहीं है। 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मसूत्रमें कहीं भी दृष्ट नहीं हुआ है। इसलिए 'ब्रह्मवाद' को कभी भी 'ज्ञानवाद' कहकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। श्रीवेदव्यास, शाण्डिल्यऋषि और नारदऋषिने भी व्याससूत्रको भक्तिग्रन्थ कहकर निर्देश किया है।

"श्रीगुरुपादपद्मने और भी लिखा है कि श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुकी चर्चा करते ही सर्वप्रथम उनके द्वारा कृत वेदान्तभाष्य—श्रीगोविन्दभाष्यकी बात स्मृति पटलपर जाग्रत होती है। उनके भाष्यने ही उन्हें चारों सम्प्रदायोंमें सञ्जीवित करके रखा हैं। उन्होंने गोविन्दभाष्यकी 'सूक्ष्मा' नामक एक टीकाकी भी रचना की है।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु गौड़ीय-सम्प्रदायके एक नक्षत्र विशेष हैं। षड्-गोस्वामियोंके उपरान्त उन्होंने सम्प्रदायका जैसा उपकार किया है, वैसा अन्य किसीने नहीं किया। इससे ऐसा बोध होता है

कि वे श्रीमन्महाप्रभुके नित्य पार्षदोंमेंसे एक हैं। श्रीगौरशक्ति श्रील भक्तिविनोद ठाकुरकी उक्ति है—श्रीबलदेव प्रभुने जयपुरमें गलता-पहाड़ीपर गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायकी विजय पताकाको लहराकर गौड़ीय-सम्प्रदायके मध्व-सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त होनेकी वैशिष्ट्य सहित घोषणा की है एवं वे स्वयं रूपानुग-गौड़ीय-वैष्णव हैं—उन्होंने इसे भी प्रमाणित किया है। इसका कारण है कि वे श्रीमन्महाप्रभुके अनुगत श्यामानन्द परिवारके अन्तर्गत हैं, श्यामानन्द प्रभुने श्रील जीव गोस्वामीका आनुगत्य स्वीकार किया है तथा श्रील जीव गोस्वामीके एकान्त भावसे रूपानुग-वैष्णव होनेके कारण श्रीबलदेव प्रभु भी रूपानुग-वैष्णव हैं। उनके एक साथ पाञ्चरात्रिक और भागवत-परम्परामें अवस्थान करनेपर भी उन्होंने भागवत-परम्परामें भजन-निष्ठाके माधुर्य और उसकी श्रेष्ठताको स्थापित किया है।"

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराजने 'सिद्धान्तरत्नम्' ग्रन्थके स्वलिखित 'सम्पादकीय निवेदन' में श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी संक्षिप्त जीवनी एवं उनकी ग्रन्थावलीके सम्बन्धमें लिखा है—

"श्रीगौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य महामहोपाध्याय पण्डितकुल मुकुटमणि श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी अतिमर्त्य जीवनी और उनके दार्शनिक विचार-वैशिष्ट्यके सम्बन्धमें मेरे गुरुपादपद्म श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज द्वारा लिखित 'गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव', श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद द्वारा प्रदत्त 'भाष्यकार-विवरण' एवं श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा लिखित 'गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण'—इन प्रबन्धोंकी चर्चा करनेसे ही श्रील बलदेव प्रभुका सम्पूर्ण एवं सुन्दर परिचय पाया जाता है। उक्त तीन प्रबन्धोंको निम्नलिखित कुछेक भागोंमें विभक्त किया गया है— (१) श्रील बलदेवका आविर्भाव-काल, (२) जाति, धर्म, जन्मभूमि और विद्याभ्यास, (३) दैव-वर्णाश्रम धर्ममें प्रतिष्ठा, (४) द्वितीय बार गुरुकरण, (५) श्रीनवद्वीप-दर्शन और श्रीवृन्दावनमें वास, (६) श्रीनारायणकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता स्थापन करनेके लिए जयपुर यात्रा, (७) श्रीगोविन्दभाष्यकी रचना, (८) गलता-गद्दीमें सत्सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा, (९) गौड़ीय-वैष्णवोंकी श्रेष्ठताकी स्थापना, (१०) जय लाभ

और 'विद्याभूषण' उपाधिकी प्राप्ति, (११) गौड़ीय-वैष्णवोंकी अभिनव रूपसे मध्व-सम्प्रदायमें स्थिति, (१२) श्रीरूपानुगत्य, (१३) श्रीवृन्दावन स्थित श्रीश्यामसुन्दर मन्दिरमें अन्तिम जीवन यापन, (१४) काल निर्णय और गुरु-परम्परा, (१५) शिष्य-परम्परा, (१६) पाञ्चरात्रिक परम्परा और भागवत-परम्परा, (१७) ब्रह्माजीके अवतार श्रीगोपीनाथ मिश्र ही श्रीबलदेवके रूपमें अवतीर्ण और (१८) स्वरचित ग्रन्थ परिचय।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके आविर्भाव-कालका ठीक रूपसे निर्णय नहीं होनेपर भी, वे वर्त्तमान समयसे लगभग दौ-सौ से अधिक वर्ष पूर्व आविर्भूत हुए थे। वे उत्कल-प्रदेशके अन्तर्गत बालेश्वर जिलेमें रेमुणाके निकटवर्ती एक गाँवमें प्रकट हुए थे। शौक्र-वैश्यकुलमें कृषिजीवि खण्डाइत जातिमें प्रकट होकर अल्प आयुमें ही विद्या अध्ययन समाप्तकर वे तीर्थ-भ्रमणपर निकल पड़े। तत्पश्चात् चिलका-ह्रदके आस-पास व्याकरण-अलङ्कारादिका अध्ययन करके उन्होंने श्रीमाध्व-सम्प्रदायमें प्रवेश किया। वेदान्त-विशारद श्रीबलदेव थोड़े समयमें ही दिग्विजयी पण्डित हो गये।

"ब्राह्मणकुलमें जन्म-ग्रहण नहीं करनेपर भी वे जगत्में 'वैष्णवाचार्य' के रूपमें विख्यात हुए। ब्राह्मण-ब्रुवोंने वैष्णवाचार्य श्रील बलदेवके द्वारा 'विद्याभूषण' उपाधि ग्रहण करने और उनके वेदादि अध्ययनके प्रति कटाक्षपात किया, तथापि इन्होंने गीता-भागवतादिमें स्थापित वृत्तिपर (न कि जन्मपर) आधारित ब्राह्मणता या श्रौत-पन्थाकी ही श्रेष्ठता स्थापन की है।

"यद्यपि श्रील बलदेव कान्यकुब्जवासी विप्र राधादामोदरके साथ प्रथम बार विचार-प्रार्थी हुए थे, किन्तु षड्-सन्दर्भादिमें उनके अगाध पाण्डित्य एवं उनकी भक्ति और प्रेमको देखकर उनके प्रति श्रद्धायुक्त हुए तथा उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। श्रीबलदेवने अपना माध्व-सम्प्रदाय आनुगत्य सुरक्षित रखकर श्रीचैतन्यदेवको स्वयं-भगवान् जानकर श्रीमाध्व-गौड़ीय-सम्प्रदायमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् वे गुरु-कृष्णके कृपाबलसे भगवत्प्रेममें मत्त होकर श्रीक्षेत्रसे श्रीनवद्वीपधाममें जाकर वहाँके दर्शन करनेके उपरान्त श्रीवृन्दावनमें वास करने लगे।

श्रीवृन्दावनमें इन्होंने श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरसे श्रीमद्भागवतादि भक्तिशास्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की।

"उस समय वर्त्तमान राजस्थानके अन्तर्गत जयपुरमें एक विवाद आरम्भ हुआ। जयपुरके राजा गौड़ीय-सम्प्रदायके अनुगत रहकर श्रीनारायणसे पहले श्रीगोविन्दजीकी पूजा कराते थे। कुछेक 'श्री' सम्प्रदायके महान्त-वैष्णवों द्वारा इस पूजा-पद्धतिमें परिवर्तनकी चेष्टा करनेपर सदाचारी राजाने शास्त्र-विचारके लिए वृन्दावनसे वैष्णव-पण्डितोंको आह्वान किया। उस समय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरके वृद्धावस्थामें होनेके कारण उन्होंने श्रीबलदेवको वेद-वेदान्तमें विशेष पारदर्शी जानकर जयपुर भेजा। जब श्रीबलदेव राजसभामें उपस्थित हुए और वहाँके 'श्री' सम्प्रदायी वैष्णवोंके महन्तसे मिले, तब उन महन्तने श्रीबलदेवसे पूछा कि वे किस सम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। श्रीबलदेव द्वारा स्वयंको मध्व-शिष्य (सम्प्रदाय) और मध्वभाष्यके अनुगत बतलानेपर उन्होंने पुनः पूछा—'मध्वाचार्यके भाष्यमें केवल कृष्ण ही प्रतिष्ठित हैं, उसमें श्रीराधाकी प्रतिष्ठा नहीं है। श्रीगोविन्दजी क्या श्रीराधाको छोड़कर पूजा स्वीकार करेंगे?' तब श्रीबलदेवने यह जानकर कि यहाँ मध्वभाष्यके द्वारा विचार करनेसे चलेगा नहीं, कुछेक दिनोंमें ही श्रीगोविन्ददेवजीकी आज्ञासे वेदान्तसूत्रभाष्य, गीताभाष्य, सहस्रनामभाष्य और उपनिषदभाष्य लिख डाला तथा गलता-पहाड़ीपर विचारसभामें 'श्री' वैष्णवोंको परास्तकर उस विद्वत्-सभा द्वारा 'विद्याभूषण' उपाधि प्राप्त की।

"उस विचार-सभामें 'श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित पथ ही सर्वोतम और सर्वश्रेष्ठ है'—इसे शास्त्रयुक्ति द्वारा स्थापनकर श्रीबलदेवने 'गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय श्रीव्यास द्वारा उक्त चार सम्प्रदायोंमें अन्यतम ब्रह्म-माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत है', ऐसी घोषणा की। इससे पहले भी गौड़ीय-सम्प्रदाय माध्व-सम्प्रदायकी शाखाके रूपमें विवेचित होता था, क्योंकि श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा माध्व-सम्प्रदायी श्रील ईश्वरपुरीपादको आचार्यके रूपमें स्वीकार करनेके कारण उनकी मध्व-सम्प्रदायभुक्ति पहलेसे ही प्रमाणित है।

"इसके बाद श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीधाम वृन्दावनमें स्थित श्रीश्यामसुन्दर मन्दिरमें अन्तिम जीवन व्यतीत किया एवं अन्यान्य ग्रन्थोंकी भी इसी समय रचना की।

"श्रील विद्याभूषण प्रभुके परमगुरु श्रीमुरारि, मुरारिके गुरु रसिकानन्द एवं उनके गुरु श्रीश्यामानन्द हैं। श्रीश्यामानन्दके गुरु गौरीदास पण्डित हैं, इन गौरीदास पण्डितके प्रति श्रीमन् नित्यानन्द प्रभुने कृपा की थी। श्रीश्यामानन्द प्रभुने परवर्ती कालमें श्रीजीव गोस्वामीका शिष्यत्व स्वीकार किया था। आचार्य श्रील बलदेव प्रभुके शिष्य उद्धवदास तथा उनके शिष्य श्रीमधुसूदन दास हैं। वैष्णव सार्वभौम श्रील जगन्नाथदास बाबाजी महाराज इन मधुसूदन दासके शिष्य हैं। श्रील जगन्नाथ दास बाबाजी महाराजसे श्रील भक्तिविनोद ठाकुर, श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराज, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद, हमारे गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज पाञ्चरात्रिक और भागवत-परम्परामें हैं।

"कथित है कि श्रीचैतन्य-पार्षद श्रीगोपीनाथ मिश्र जिन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यके साथ श्रीमन्महाप्रभुके श्रीमुख-निसृत सूत्रभाष्यको श्रवण किया था, वे ही बादमें ब्रह्म-सम्प्रदायके भाष्यकर्त्ता श्रील बलदेव विद्याभूषणके रूपमें आविर्भूत हुए। आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण रचित ग्रन्थ तालिका इस प्रकार हैः (१) श्रीगोविन्दभाष्य, (२) सूक्ष्मा-टीका, (३) सिद्धान्तरत्नम् अथवा भाष्यपीठकम् (४) सिद्धान्तरत्नम्-टीका (५) साहित्य-कौमुदी, (६) व्याकरण-कौमुदी, (७) तत्त्वसन्दर्भ-टीका, (८) इशोपनिषद भाष्य, (९) सिद्धान्त-दर्पणम्, (१०) काव्य-कौस्तुभ, (११) गोपालतापनी-भाष्य, (१२) साहित्य कौमुदी टीका (कृष्णानन्दिनी), (१३) छन्दकौस्तुभ-भाष्य, (१४) लघुभागवतामृत-टीका, (१५) 'चन्द्रालोक' ग्रन्थकी टीका, (१६) नाटक-चन्द्रिका-टीका, (१७) श्रीमद्भागवत-टीका (वैष्णवानन्दिनी), (१८) वेदान्त-स्यमन्तक, (१९) प्रमेय-रत्नावली, (२०) गीताभूषण-भाष्य, (२१) विष्णुसहस्रनाम-भाष्य (नामार्थसुधा), (२२) संक्षेप-भागवतामृत-टिप्पणी (सारङ्ग-रङ्गदा), (२३) स्तव-माला-विभूषण-भाष्य, (२४) पदकौस्तुभ, (२५) श्रीश्यामानन्दशतक-टीका।

"श्रील जीव गोस्वामी और श्रील बलदेव प्रभुका मत एक ही है, किञ्चितमात्र भी भिन्न नहीं है। तत्त्व और उपासनाके विषयमें दोनोंने एक ही प्रकारका सिद्धान्त किया है। श्रील बलदेव प्रभुने श्रीमन्महाप्रभुका 'अचिन्त्य-भेदाभेद-सिद्धान्त' ही स्वीकार किया है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने 'श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा' ग्रन्थमें कहा है कि 'ब्रह्म-सम्प्रदाय नामक एक सम्प्रदाय सृष्टिके समयसे चला आ रहा है। जो समस्त लोग ब्रह्म-सम्प्रदायको स्वीकार नहीं करते, वे भगवदुक्त पाषण्डमतके प्रचारक हैं। श्रीकृष्णचैतन्य-सम्प्रदाय स्वीकार करके भी जो भीतरमें गुरु-परम्पराकी सिद्ध-प्रणालीको स्वीकार नहीं करते, वे कलिके गुप्तचर हैं, इसमें सन्देह ही क्या है?'

"श्रील जीव गोस्वामीने आप्त-वाक्योंके प्रमाणसे स्थिर किया है कि श्रीब्रह्म-सम्प्रदाय ही श्रीकृष्णचैतन्य-दासजनोंकी गुरु-प्रणाली है। श्रीकवि कर्णपूर गोस्वामीने इसीके अनुसार दृढ़तापूर्वक स्वकृत 'गौरगणोद्देश-दीपिका' में गुरु-परम्पराका क्रम लिखा है। वेदान्तसूत्र भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी उसी प्रणालीको स्थिर रखा है। जो इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे निःसन्देह श्रीकृष्णचैतन्य चरणानुचरगणोंके प्रधान शत्रु हैं।

"भगवान्के अवतार महर्षि कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास द्वारा उत्तर-मीमांसा अर्थात् ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शन रचित हुआ है। वेदान्त-भाष्योंमें मधुररस-प्रकाशक गोविन्दभाष्य ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि स्वयं अभिधेयाधिदेव श्रीगोविन्ददेवजीने श्रीबलदेव प्रभुको इस भाष्यकी रचना करनेकी आज्ञा प्रदानकर स्वयं इसका उपदेश दिया है। श्रीगोविन्ददेवजीके नामके अनुसार ही यह 'गोविन्दभाष्य' के नामसे जाना जाता है। श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने स्वयं इसकी 'सूक्ष्मा' नामक टीकाकी रचना की है।

"ब्रह्मसूत्र चार अध्यायोंमें विभक्त है। प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं। इस ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायमें समस्त वेदोंका ब्रह्ममें समन्वय है। द्वितीय अध्यायमें समस्त शास्त्रोंके साथ विरोधका परिहार है। तृतीयमें ब्रह्म-प्राप्तिका साधन है। चतुर्थमें ब्रह्म-प्राप्ति ही पुरुषार्थके रूपमें उक्त हुई है।

"निष्काम-धर्म, निर्मल-चित्त, सत्प्रसङ्गलुब्ध, श्रद्धालु, शम-दमादि सम्पन्न जीव ही इस शास्त्रके अधिकारी हैं। यह शास्त्र स्वयं वाचक

है और ब्रह्म इसका वाच्य है, अतः परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय निरन्तर विशुद्धानन्त-गुणगण अचिन्त्यानन्त शक्ति-सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं। अशेष दोषोंका विनाश करके उनका साक्षात्कार करना ही इस वेदान्त-दर्शनका प्रयोजन है। इस शास्त्रमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और सङ्गति—ये पाँच न्यायावयव हैं। अधिकरण अर्थात् अध्यायके अंशविशेषका नाम ही न्याय है। विचार योग्य वाक्यका नाम विषय है। एक धर्मीके परस्पर विरोधी नाना प्रकारके अर्थोंके विचारका नाम संशय है। प्रतिकूल अर्थोंका नाम पूर्वपक्ष है। प्रामाणिक रूपसे उदित अर्थोंका नाम सिद्धान्त है। पूर्व-पर दोनों अर्थोंका नाम सङ्गति है।

"श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुने स्वयं कहा है—'जिन उदार पुरुषने विद्यारूप भूषणको प्रदानकर मेरी ख्याति विस्तार की है, जिनके स्वप्नादेशसे वेदान्तसूत्रका 'गोविन्दभाष्य' प्रकाशित हुआ है, वे राधाबन्धु त्रिभङ्गभङ्गिम श्रीगोविन्ददेवजी जययुक्त हों।'

"मेरे अभीष्टदेव श्रील गुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजने भी श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुकी निम्नलिखित श्लोकसे वन्दना की है—

श्रीमध्व-सम्प्रदाय श्री-चैतन्य कुलरक्षकः।
वेदान्ताचार्य-शार्दूलो बलदेवो महामतिः॥

श्रीमाध्व-सम्प्रदायकी 'श्री'—श्रीचैतन्यदेवके कुल अर्थात् गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके रक्षक वेदान्ताचार्य-सिंह महामति श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु जययुक्त हों।

"गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभुके श्रीरूपानुगत्यमें सन्देह पोषणकारीजनोंके सम्बन्धमें श्रील गुरुपादपद्मने लिखा है कि जो श्रीबलदेवको रूपानुग स्वीकार करनेमें कुण्ठित हैं, वे वास्तवमें ही भ्रान्त और वैष्णव विरोधी हैं।"

हम पाठकोंसे अनुरोध करते है कि वे वेदान्तसूत्रके इस चतुर्थ अध्यायके अध्ययनसे पूर्व बँगला भाषासे अनुवादित 'भूमिका' का मनोनिवेशपूर्वक पाठ करें, जिससे उन्हें इस चतुर्थ अध्यायकी

विषयवस्तुमें प्रवेश करनेमें एक सहज दिशा प्राप्त हो सकेगी—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इस भूमिकामें विभिन्न तत्त्वोंपर वेदान्तसूत्रके विभिन्न टीकाकारोंके मतोंकी विश्लेषणात्मक प्रस्तुति एवं गौड़ीय-दर्शनका वैशिष्ट्य भी प्रदर्शित किया गया है। इसके अतिरिक्त विश्वव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके संस्थापक एवं 'श्रीगोविन्दभाष्य' सहित वेदान्तसूत्रको प्रकाशन करनेका सङ्कल्प लेनेवाले जगद्गुरु नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपादके वैशिष्ट्यमय जीवनचरित्र, विचार-वैशिष्ट्य एवं जगत्-कल्याणके लिए उनकी अपूर्व कृतियोंका संक्षिप्त निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी संस्करणमें सूत्रोंके सभी शब्दोंके अर्थ, सभी सूत्रोंका अनुवाद और गोविन्दतोषणीवृत्तिमें विभिन्न शास्त्रोंसे उद्धृत श्लोकों एवं वैष्णवाचार्योंकी टीकाओंसे उद्धृत अंशोंको अनुवाद सहित दिया गया है, जिससे इस ग्रन्थकी विषय-वस्तु हिन्दी-भाषी पाठकोंके लिए सहज बोधगम्य होगी। जिन्होंने इस ग्रन्थका प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अध्याय मनोयोग सहित पाठ किया है, वे निश्चय ही उपलब्धि करेंगे कि ग्रन्थकी विषयवस्तु इस प्रकारसे सुसज्जित की गयी है, जो सूत्रार्थ समझनेके लिए अति सुगम है। भाष्य और टीका-पाठमें जो किञ्चित् जटिलता रह गयी थी, उसे गोविन्दतोषणीवृत्तिमें यथासाध्य सहज-सरल बोधगम्य करनेकी चेष्टा की गयी है। इस प्रकार सहृदय सुधी पाठकवर्ग सहज ही इस संस्करणके वैशिष्ट्यकी उपलब्धि कर पायेगा। इस प्रकार इस ग्रन्थके प्रकाशनके साथ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गकी कृपासे चार अध्यायोंमें विभाजित वेदान्तसूत्रके चारों अध्याय प्रकाशित हो गये हैं।

इस विशाल ग्रन्थमें भ्रम-प्रमादवशतः कुछ त्रुटि-विच्युतियोंका रह जाना अस्वाभाविक नहीं है। सुधी पाठकजन उनका संशोधनपूर्वक पाठकर हमारी इस चेष्टाको कृतार्थ करें—यही विनम्र निवेदन है। इति।

श्रील भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराजकी तिरोभाव-तिथि
२० सितम्बर, २०१९

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
प्रकाशन-मण्डली

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

भूमिका

ॐ अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

नमो ॐ विष्णुपादाय कृष्णप्रेष्ठाय भूतले।
श्रीमते भक्तिसिद्धान्त-सरस्वतीति नामिने॥

श्रीवार्षभानवीदेवीदयिताय कृपाब्धये।
कृष्णसम्बन्धविज्ञान-दायिने प्रभवे नमः॥

माधुर्योज्ज्वलप्रेमाढ्य-श्रीरूपानुगभक्तिद।
श्रीगौरकरुणाशक्ति-विग्रहाय नमोऽस्तु ते॥

नमस्ते गौरवाणी-श्रीमूर्त्तये दीनतारिणे।
रूपानुग-विरुद्धापसिद्धान्त-ध्वान्तहारिणे॥

नमो ॐ विष्णुपादाय गौरप्रेष्ठ-प्रियाय च।
श्रीमद्भक्तिविवेकभारती-गोस्वामिने नमः॥

नमो गौरकिशोराय साक्षाद्वैराग्यमूर्त्तये।
विप्रलम्भरसाम्भोधे! पादाम्बुजाय ते नमः॥

नमो भक्तिविनोदाय सच्चिदानन्दनामिने।
गौरशक्तिस्वरूपाय रूपानुगवराय ते॥

गौराविर्भावभूमेस्त्वं निर्देष्टा सज्जनप्रियः।
वैष्णवसार्वभौम-श्रीजगन्नाथाय ते नमः॥

जयति विद्याभूषणो बलदेवपूर्वो हरिरतिः सूरिः।
येन गोविन्दभाष्यं गोविन्दादेशात् प्रतेने॥

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।
कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विषे नमः॥

श्रीगुरु, वैष्णव आर प्रभु-भगवान्।
तिनेर शरणे हय विघ्न-विनाशन॥

सेइ आशाबन्धे मुइ करिलुँ स्मरण।
अनायासे हय येन वाञ्छित पूरण॥

अर्थात् अज्ञानरूपी अन्धकारको ज्ञानाञ्जनरूपी शलाकासे दूरकर नेत्रोंको खोलनेवाले श्रीगुरुके चरणकमलोंमें प्रणाम है। कृष्ण-सम्बन्ध-विज्ञानके दाता, कृष्णके प्रिय, श्रीवार्षभानवीदेवी राधिकाके प्रियपात्र, इस भूतलपर अवतीर्ण ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी नामक कृपा-वारिधिरूप प्रभुपादका कोटि-कोटि वन्दन है। जो माधुर्यके द्वारा उज्ज्वलीकृत, प्रेमपूर्ण, श्रीरूपानुग-भक्ति-दानकारी तथा श्रीगौराङ्ग-महाप्रभुकी करुणाशक्तिके विग्रहस्वरूप हैं, जो गौर-वाणीके श्रीमूर्त्तिस्वरूप, दीनजनोंके प्राण-कर्त्ता और श्रीरूपानुग-विचारके विरुद्ध कुसिद्धान्तरूप अन्धकारका विनाश करनेवाले हैं, उन श्रील सरस्वती ठाकुरके लिए नमस्कार है, पुनः-पुनः नमस्कार है। जो साक्षात् मूर्त्तिमन्त वैराग्य और विप्रलम्भ-रसके समुद्रस्वरूप हैं, उन श्रीगौरकिशोरके चरणकमलोंमें नमस्कार है। जो रूपानुग-भक्तोंमें श्रेष्ठ हैं तथा श्रीचैतन्य महाप्रभुके शक्तिस्वरूप हैं, उन सच्चिदानन्द श्रीभक्तिविनोदके लिए नमस्कार है। जो सज्जनोंके प्रिय और श्रीगौरसुन्दरकी आविर्भाव-भूमिके निर्देशक हैं, उन वैष्णव सार्वभौम श्रीजगन्नाथको नमस्कार है। श्रीहरिमें रति निष्ठ, परमविद्वान बलदेव विद्याभूषण सदैव विजयशील हों, जिन्होंने श्रीगोविन्ददेवके आदेशसे 'गोविन्दभाष्य' की रचना की। जो वाञ्छा कल्पतरु, कृपाके समुद्र तुल्य और पतितपावन हैं, उन वैष्णवोंके लिए पुनः-पुनः नमस्कार है। श्रीगुरुदेव, वैष्णवगण और प्रभु-श्रीभगवान्—इन तीनोंके स्मरणमात्रसे सम्पूर्ण विघ्नोंका विनाश हो जाता है। इसी आशासे मैं आप तीनोंका अपने हृदयमें स्मरण करता हूँ। इस स्मरणमात्रसे सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पूर्ण हो जाते हैं।

श्रीगुरु–वैष्णवोंकी अहैतुकी करुणा एवं प्रेरणासे श्रीगुरुदेव–सङ्कल्पित 'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थका चतुर्थ अध्याय भी आत्म–प्रकाश प्राप्त कर रहा है और अब इससे ग्रन्थके सम्पादनकी सम्पूर्णता भी प्राप्त हो रही है; यह देखकर मैं स्वयंको अत्यन्त कृतार्थ अनुभव कर रहा हूँ। मुझ जैसे हतभाग्य एवं समस्त विषयोंमें अयोग्य नराधमके द्वारा इस प्रकारका बृहत् कलेवर विशिष्ट ग्रन्थ सम्पादित होनेका एकमात्र कारण है—श्रीगुरु–वैष्णवोंकी असमोर्ध्व कृपा। मैं नहीं जानता कि इस प्रकारके कार्य द्वारा श्रीगुरु–वैष्णवोंका किञ्चित् मनोभिलाष भी पूर्ण हुआ कि नहीं? ग्रन्थ–सम्पादनमें अज्ञतावशतः जो कुछ भ्रम, त्रुटि प्रवेश कर गये हैं, उसके लिए श्रीगुरु–वैष्णवोंके श्रीचरणोंमें शत–शत बार, सहस्र–सहस्र बार, असंख्य बार क्षमा प्रार्थना करता हूँ।

श्रीमन्महाप्रभुने कहा है वेदादि सभी शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय—सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वरूपमें निर्णीत हुआ है। इस विषयमें पूर्वकृत आलोचना द्रष्टव्य है। गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने भी श्रीमन्महाप्रभुके विचार–अनुसार 'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थको भी सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन तत्त्वात्मक त्रिविध पर्यायोंमें विभक्त किया है। इनमें अब प्रयोजन–तत्त्वात्मक चतुर्थ–अध्याय प्रकाशित होकर ग्रन्थ समाप्त हो रहा है।

श्रीमन्महाप्रभुने अपने पार्षद श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुको लक्ष्य करके हमें बतलाया है—

वेदशास्त्र कहे—'सम्बन्ध', 'अभिधेय', 'प्रयोजन'।
'कृष्ण' प्राप्य सम्बन्ध, 'भक्ति' प्राप्येर साधन॥

अभिधेय नाम—'भक्ति', 'प्रेम',—प्रयोजन।
पुरुषार्थ–शिरोमणि प्रेम महाधन॥

(चै॰च॰म॰ २०/१२४–१२५)

वेदशास्त्रमें 'सम्बन्ध', 'अभिधेय' एवं 'प्रयोजन'—ये तीन प्रकारके विषय कहे गये हैं। शुद्ध जीवके प्राप्य कृष्ण ही 'सम्बन्ध' हैं, प्राप्य कृष्ण–सेवाका साधन ही 'अभिधेय' है और धर्मार्थका भोग एवं भोगरहित—मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ महाधनरूप प्राप्य कृष्ण–प्रेम ही 'प्रयोजन' है।

प्रयोजनतत्त्व विषयमें उक्त श्रीसनातन-शिक्षामें श्रीचैतन्यचरितामृतके तेइसवें परिच्छेदमें श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

एवे शुन भक्तिफल 'प्रेम' प्रयोजन।
याहार श्रवणे हय भक्तिरस ज्ञान॥

कृष्णे इति गाढ़ हैले 'प्रेम'—अभिधान।
कृष्णभक्तिरसेर एइ 'स्थायीभाव' नाम॥

(चै॰च॰म॰ २३/३-४)

सनातन! भक्तिका फल जो प्रेम है, जिसे प्रयोजनतत्त्व भी कहते हैं, अब इसके विषयमें श्रवण करो। इसके सुननेसे भक्तिरसका ज्ञान होता है। श्रीकृष्णमें जो रति है, वह गाढ़ावस्था प्राप्त होनेपर 'प्रेम' नामसे अभिहित होती है। इस प्रेमको कृष्णभक्तिरसका स्थायीभाव कहते हैं। भक्तिरसमें कृष्णके प्रति प्रेम प्रधानरूपसे नित्य निरवच्छिन्न रूपमें स्थित रहता है।

शुद्ध सत्त्व विशेषात्मा प्रेम सूर्यांशु साम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

(भ॰र॰सि॰ १/३/१)

शुद्धसत्त्व विशेष स्वरूपा (भगवान् कृष्णकी सर्वप्रकाशक सम्वित् नामक स्वरूपशक्ति वृत्तिरूपा) जो प्रेम-सूर्यांशुके सादृश्य युक्त (प्रेम-सूर्यकी किरण-स्थलीय) है, रुचि द्वारा (भगवत्-प्राप्ति आदि अभिलाषाओं द्वारा) जो तत्त्व चित्तको मसृण (द्रवित) करता है अर्थात् चित्तकी आर्द्रताका सम्पादन करता है, उसे भाव (प्रेमाङ्कुररूप) कहा जाता है, प्रेमाभक्तिकी प्रारम्भिक स्थिति ही भाव है।

एइ दुइ—भावेर 'स्वरूप' 'तटस्थ' लक्षण।
प्रेमेण लक्षण एवे शुन सनातन॥

(चै॰च॰म॰ २३/३)

शुद्धसत्त्वरूप ही भावका स्वरूपलक्षण है और रुचिके द्वारा चित्तको जो मसृण करता है, वह भावका तटस्थलक्षण है।

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भ०र०सि० १/४/१, नारद-पञ्चरात्र)

भाव अत्यन्त गाढ़ताको प्राप्त होकर जब सम्यक् रूपसे चित्तकी आर्द्रता सम्पादनकर श्रीकृष्णमें अतिशय ममत्वबुद्धि उत्पन्न करता है, तभी उसे प्रेम कहते हैं।

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धव नारदैः॥

(भ०र०सिं०)

जहाँ अन्योंके साथ (देह-गृहादि विषयमें) ममतासे रहित, प्रेमसङ्गता ममता केवल विष्णुमें ही सङ्गत होती है, उस भावभक्तिको भीष्म, प्रह्लाद, नारद, उद्धव प्रमुखने प्रेमाभक्ति कहा है।

कोन भाग्ये कोन जीवेर 'श्रद्धा' यदि हय।
तवे सेई जीव 'साधुसङ्ग' करय॥

साधुसङ्ग हइते हय 'श्रवण-कीर्त्तन'।
साधन भक्त्ये हय सर्वानर्थनिवर्त्तन॥

अनर्थ-निवृत्ति हैले भक्त्ये 'निष्ठा' हय।
निष्ठा हइते श्रवणाद्ये 'रुचि' उपजय॥

रुचि हइते भक्त्ये हय 'आसक्ति' प्रचुर।
आसक्ति हइते चित्ते-जन्मे कृष्णे प्रीत्यङ्कुर॥

सेइ 'रति' गाढ़ हैले धरे 'प्रेम' नाम।
सेइ प्रेमा-प्रयोजन सर्वानन्द धाम॥

(चै०च०म० २३/९-१३)

कोई भक्त्युन्मुखी सुकृतिके बलसे जीवकी यदि अनन्यभक्तिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, तो ऐसा होनेपर वह जीव शुद्धभक्तरूप साधुका सङ्ग करता है। उस साधुसङ्गसे ही श्रवण-कीर्त्तन सम्भव होता है, श्रवण एवं कीर्त्तन जिस परिमाणमें रहते हैं, साधनभक्तिसे उसी परिमाणमें अनर्थनिवृत्त होते हैं। श्रद्धोदय कालसे ही श्रवण एवं कीर्त्तन द्वारा स्थूल-सूक्ष्म अनर्थनिवृत्ति होनेपर श्रद्धा ही अनन्यभक्तिके प्रति

निष्ठा रूपमें उदित होती है, निष्ठा ही क्रमसे 'रुचि' हो पड़ती है। उस रुचिसे बादमें 'आसक्ति' उत्पन्न होती है। आसक्ति निर्मल होनेपर कृष्ण-प्रीतिका अङ्कुरस्वरूप 'भाव' अथवा 'रति' होती है। यह रति गाढ़ होनेपर 'प्रेम' नाम प्राप्त करती है, 'प्रेम' ही सर्वानन्दधाम स्वरूप 'प्रयोजन' तत्त्व है।

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामय प्रेम्णः प्रादुर्भाव भवेत् क्रमः॥
(भ॰र॰सि॰ १/४/१५-१६)

सर्वप्रथम श्रद्धा (परिणामशील वस्तुओंमें शिथिल-अनुराग और अप्राकृत सच्चिदानन्द विग्रह विष्णुमें दृढ़ विश्वास), विश्वास-लब्ध होनेपर साधुसङ्ग (अप्राकृत बुद्धिसे गुरु-वैष्णव चरणाश्रय, उनसे कृष्ण-दीक्षादि-भजनरीति शिक्षण) इसके बाद श्रौतमार्ग द्वारा उनके आनुगत्यमें भजन-क्रिया (कृष्ण-भजनानुष्ठान), भजनानुष्ठानसे अनर्थनिवृत्ति (परमार्थमें प्रवृत्ति और उससे इतर विषयोंमें निवृत्ति) उसके बाद (विषय-सङ्ग-त्यागके बाद) निष्ठासे भगवद्वचनोंमें अविक्षेपपूर्वक सातत्य (निष्ठता) तदनन्तर रुचि इसके बाद आसक्ति तत्पश्चात् भाव (प्रेमाङ्कुर) तदनन्तर प्रेम (चरम प्रयोजन) उदित होता है। साधुओंके प्रेमके प्रादुर्भावका यही क्रम होना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्‌के वचन हैं—

पूर्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगैः समाधिना।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्॥
अहमात्मात्मानां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/९/४१-४२)

हे ब्रह्मन्! जलाशय-खननादि कर्म, तपस्या, यज्ञ, दान, योग और समाधि द्वारा लोगोंको जो फल प्राप्त होता है, वह फल तो मेरे प्रति प्रीतिसे ही प्राप्त हो जाता है—तत्त्वदर्शी साधुओंका यही मत है।

हे विधाता (ब्रह्मा)! मैं आत्माओंका भी आत्मा हूँ, इसलिए प्राणियोंके लिए स्त्री-पुत्र आदि अतिप्रिय वस्तुओंसे भी अधिक प्रियतम हूँ। मेरे लिए ही देहादिके प्रति प्रियभाव उदित होता है। (अर्थात् यह देह कृष्णकी सेवामें नियुक्त होनेके उपयोगी है, अन्यथा देहप्रीति तो केवल देहसुख मात्र है।) अतएव मुझसे ही प्रेम करना कर्त्तव्य है।

वेदान्तके चतुर्थ अध्यायमें विद्या अर्थात् भगवत्-भक्तिके फलस्वरूप भगवत्-रति प्राप्तिकी बात वर्णित हुई हैं। जीव मुक्तिके बाद पार्षद-गतिको प्राप्त होकर—श्रीभगवान्के धाममें श्रीभगवान्की नित्य-लीलाके सहचर रूपमें सेव्य-सम्बन्धमें नित्य रत रहते हैं। जीव असंख्य जन्म प्राप्तकर लेनेके पश्चात् भाग्यक्रमसे सद्गुरुकी कृपासे श्रीभगवान्का स्वरूप, स्वयंका स्वरूप एवं माया तथा जगत्के स्वरूपतत्त्वसे अवगत होकर साधुगुरुके आनुगत्यमें श्रीहरिभजनके फलस्वरूप श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें संयोग प्राप्त करता है और इसीसे कृष्णधाममें नित्य-सेवा प्राप्त होती है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—

एइरूप संसार भ्रमिते कौन जन।
साधुसङ्गे निज तत्त्व अवगत हन॥

निज-तत्त्व जानि आर संसार ना चाय।
केन वा भजिनु माया करे हाय-हाय॥

केंदे बले, 'ओहे कृष्ण' आमि तव दास।
तोमार चरण छाड़ि हैल सर्वनाश॥

काकुति करिया कृष्णे डाके एक बार।
मायाबद्ध हइते कृष्ण तारे करेन पार॥

इस प्रकारसे संसारमें भटकते-भटकते यदि सौभाग्यवश जीवकी किसी साधु-पुरुषसे भेंट हो जाती है तो उसका जीवन कृतार्थ हो जाता है। वह उनके सत्सङ्गसे अपना सच्चा स्वरूप जानकर संसारसे विरक्त हो जाता है। उसे अपनी वर्त्तमान अवस्थापर बड़ा ही खेद होता है और वह रोते-रोते भगवान्के चरणोंमें प्रार्थना करता है—हे कृष्ण! मैं आपका नित्य दास हूँ किन्तु आपकी सेवा भूलकर मैं

अभागा न जाने कबसे मायाकी सेवा करता हुआ भटक रहा हूँ। हे पतितपावन! दीनानाथ! मुझ दीनकी रक्षा करें। मुझे अपनी मायासे उद्धार कर अपनी सेवामें नियुक्त कर लें। करुणा-वरुणालय भगवान् उसकी करुण पुकार सुनकर उसे शीघ्र ही अपनी दुस्तर मायासे पार कर देते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ २२/१४-१५) में भी उल्लेख है—

काम-क्रोधेर दास हञा तार लाभि खाय।
भ्रमिते-भ्रमिते यदि साधु-वैद्य पाय॥

ताँर उपदेश-मन्त्रे पिशाची पलाय।
कृष्ण भक्ति पाय, तबे कृष्ण निकट याय॥

जीव काम-क्रोधादि षड्‌रिपुओंके वशीभूत होकर माया-पिशाचीकी ठोकरें खाते रहते हैं—यही जीवका रोग है। संसारमें उच्च-नीच योनियोंमें भ्रमण करते-करते यदि कभी (किसी जन्ममें) साधु-वैद्य (महत्-पुरुषरूप वैद्य) प्राप्त हो जाय तब उनके उपदेश-मन्त्रसे माया-पिशाची भाग जाती है और जीव भी कृष्णभक्ति प्राप्त करके श्रीकृष्णके निकट उपस्थित हो जाता है।

श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्तिके फलस्वरूप उस परम रमणीय रसस्वरूप वस्तुके प्राप्त होनेसे जीवको उनके सेवा-रस आस्वादनकी उपलब्धि होती है और तब स्वभावतः पुनः श्रीकृष्ण-चरणकमल त्याग करनेकी इच्छा नहीं होती, इसलिए संसारमें उसकी पुनः पुनरावृत्ति नहीं होती।

श्रीहरिकी आज्ञानुसार शिवावतार आचार्य श्रीशङ्करने भगवदिच्छासे पृथ्वीमें अवतीर्ण होकर जीवोंके तात्कालिक प्रयोजन-बोध अर्थात् बौद्धादिवादसे रक्षा करते हुए असुर-विमोहनके लिए वेदान्तके 'शारीरक-भाष्य' द्वारा 'केवलाद्वैतवाद' अथवा 'मायावाद' का प्रचार किया। यह प्रादेशिक अवैदिक मत बहुत प्राचीन कालसे ही वर्त्तमान था। वेदान्तसूत्रकार स्वयं श्रीमद्‌व्यासदेव द्वारा स्वरचित वेदान्तसूत्रोंमें और तद्-रचित वेदान्तके अकृत्रिम भाष्यस्वरूप श्रीमद्भागवतमें यह मत खण्डित किये जानेपर भी बादमें आचार्य श्रीरामानुज द्वारा विशिष्टाद्वैत, श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा शुद्धद्वैत, आचार्य श्रीविष्णुस्वामी द्वारा शुद्धाद्वैत एवं

आचार्य श्रीनिम्बादित्य द्वारा प्रचारित द्वैताद्वैत सिद्धान्तके द्वारा बहुत प्रकारसे विखण्डित हुआ और श्रीहरिके अप्राकृत श्रीविग्रहकी उपासना-प्रणाली जीवके नित्य-धर्मके रूपमें प्रतिष्ठित हुई। तत्पश्चात् महावदान्य श्रीचैतन्य महाप्रभु जो कि अनर्पितचर अपने प्रेम-माधुर्य-महाभावके वितरणके लिए जगत्में आविर्भूत हुए थे, पूर्वोक्त आचार्य-वर्गके वेदान्त-सिद्धान्तमें उसका (प्रेम-माधुरीका) अभाव रहनेके कारण श्रीशचीनन्दनाभिन्न श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीगोविन्दके कृपा-निर्देशसे गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने प्रस्तुत गोविन्दभाष्यमें श्रीमन्महाप्रभु-प्रचारित 'अचिन्त्यभेदाभेद'-सिद्धान्त द्वारा वेदान्तके निगूढ़ (रहस्यमय) तात्पर्यका उद्घाटन किया। यद्यपि आज तक शङ्करका प्रभाव शिक्षिताभिमानी व्यक्तियोंके हृदयको ग्रास कर रहा है, तथापि आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ शिक्षित समाजके मनीषियोंकी मनीषाको अपने प्राञ्जल सिद्धान्तसे पूर्णरूपेण आकर्षित करनेका अधिकार प्राप्त करेगा।

इस सम्बन्धमें कुछ बातें निवेदन कर रहा हूँ—आजकल अनेक लोग वेदान्तशास्त्रकी आलोचना करते हुए वेदान्तके शाङ्करभाष्य एवं उसके अनुयायी भाष्योंका किञ्चित्मात्र पाठ करके ही समझ लेते हैं कि वेदान्त-पाठ सम्पन्न हो गया है। इतना ही नहीं, दूसरे भाष्यकारोंके भाष्यका पाठ करनेकी क्षुद्रतम (तनिक) इच्छा भी इन लोगोंमें रहती नहीं। और, कोई तो श्रीशङ्करके भाष्यके साथ श्रीरामानुजके भाष्यको किसी क्रमसे गले उतारनेका प्रयास करते हैं किन्तु श्रीशङ्करके केवलाद्वैतवाद एवं श्रीरामानुजके विशिष्टद्वैतवाद—विषयमें तुलनामूलक विचार करनेमें द्विधा (सङ्कोच) बोध करते हैं और अनेक तो उसमें अक्षम ही होते हैं।

भगवदवतार महर्षि श्रीवेदव्यास प्रणीत वेदान्तसूत्रोंमें यद्यपि उपनिषदोंकी विभिन्न उक्तियोंका तात्पर्य और सामञ्जस्य वैज्ञानिक प्रणालीसे सुसमन्वित हुआ है, तथापि उसे हृदयङ्गम करनेमें भाष्यकारोंके भाष्यकी सहायताका प्रयोजन अनिवार्य है। परन्तु वेदान्तके ऊपर भाष्यकारोंके इतने भाष्य हैं कि किसी एक वेदान्त-पाठकके लिए उन सबकी आलोचना करना असम्भव है। दूसरी बात यह है कि विभिन्न

भाष्य विभिन्न भाव-धाराओंके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। पारस्परिक मत-वैषम्यके कारण विभिन्न भाष्योंकी आलोचना करके वेदान्तके प्रकृत तात्पर्य अथवा अभिमतसे अवगत होना किसी भी साधारण व्यक्तिके लिए अत्यन्त कठिन क्रिया है। जगद्गुरु श्रीमद् व्यासदेव इस तथ्यसे पहलेसे ही अवगत थे, अतः स्व-कृत सूत्रोंके प्रकृत तात्पर्य-निर्णायक भाष्यकी उन्होंने अत्यन्त आवश्यकता समझी। अन्यथा इन सूत्रोंके अर्थोंमें विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी बुद्धिसे स्वकपोल-कल्पित भावोंका निरूपण करके मानव-मेधाको विपन्न कर डालते और सूत्रोंके अर्थ ज्ञात करनेका पथ अति दुर्गम हो जाता। श्रीश्रीव्यासदेव जब इन सूत्रोंके भाष्य-निरूपणका चिन्तन कर ही रहे थे कि उसी समय देवर्षि नारदने आकर सर्वशास्त्र सार निर्णयमें एकमात्र असमोर्ध्वशास्त्र श्रीमद्भागवतके प्रणयन करनेका उन्हें आदेश प्रदान किया। श्रीमद्भागवतके प्रथमस्कन्धके प्रथम अध्यायमें इस विषयपर विस्तारसे आलोचना की गयी है। जब श्रीव्यासदेव भक्तियोगमें समाहित थे, तब उन्होंने उस समाधि-प्राप्त अवस्थामें श्रीभगवान्, उनकी माया एवं जीव तत्त्व, जीवकी मायाबद्ध अवस्था और उससे उद्धारका एकमात्र उपाय जो श्रीकृष्णकी अहैतुकी भक्ति है, उसका साक्षात् रूपसे दर्शन करके अज्ञानी जीवोंके मङ्गलके लिए उन्होंने सात्वत-संहिता श्रीमद्भागवतशास्त्रको प्रकट किया। श्रीभगवान्के अभिन्नस्वरूप श्रीमद्भागवतने आविर्भूत होकर वेदान्तके प्रकृत अर्थको भाग्यवान जीवोंके लिए निर्द्धारण कर दिया। श्रीमद्वेदव्यासने स्वयं इस तथ्यका उच्च-स्वरसे श्रीमद्भागवतमें एवं गरुड़-पुराणादि अन्यान्य पुराणोंमें वर्णन किया है।

स्वयं श्रीमन्महाप्रभु जब अवतीर्ण हुए, तब उन्होंने भी जगत्के जीवोंको बतलाया कि श्रीमद्भागवत ही वेदान्तका अकृत्रिम भाष्य है, यही अविसंवादित रूपसे सर्वशास्त्रशिरोमणिरूपमें समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य-निर्णायक ग्रन्थ है और यही एकमात्र अमल प्रमाण है। श्रीचैतन्यभागवतमें पाया जाता है कि श्रीमन्महाप्रभुने अपनी बाल्यलीलामें अन्नप्राशनके समय रुचि-परीक्षामें श्रीमद्भागवतको उठाकर अपनी गोदमें स्थापन किया था। इससे भी सारग्राहीगण श्रीमद्भागवतकी महिमाकी उपलब्धि कर सकते हैं।

श्रीमन्महाप्रभुकी दीक्षा एवं शिक्षामें दीक्षित और शिक्षित उनके पार्षदवृन्दने वेदान्तके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवतके गूढ़ तात्पर्यसे अवगत होकर श्रीमन्महाप्रभुकी प्रेरणासे श्रीमद्भागवतका अवलम्बन करके विविध शास्त्रोंका प्रणयन किया, जिनका नाम गोस्वामीशास्त्र है। ये गोस्वामीशास्त्र ही गौड़ीय-वैष्णवोंके प्राणस्वरूप हैं। गौड़ीयगण सर्वशास्त्रज्ञ होकर भी गोस्वामी-शास्त्रानुशीलनमें अधिक आनन्दका अनुभव करते हैं एवं उपास्य, उपासना एवं उपासकके विचार-वैशिष्ट्यका अनुभव करके सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वके रहस्यमय गूढ़ अनुशीलनमें निमग्न रहते हैं। ये समस्त भाग्यवान् महात्मा गोस्वामी शास्त्रानुशीलनमें रसकी अनुभूति करते हैं। उनका वाग्-वितण्डा-मूलक अन्य किसी शास्त्रमें अधिक आदर नहीं रहता।

इसलिए गौड़ीय गोस्वामीगणोंने श्रीबलदेवसे पूर्व वेदान्तके किसी प्रतियोगी भाष्य-रचनामें मनोयोग नहीं दिया। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीपादके अन्तिम समयमें जयपुरके श्रीमन्दिरमें श्रीगोविन्दजीके सेवारत गौड़ीय-वैष्णवोंको असम्प्रदायी कहकर कुतर्क उठाते हुए जब एक विवाद (भ्रान्ति) खड़ा कर दिया गया और जयपुरके महाराजने गौड़ीय वैष्णव होकर भी उन विवादीगणोंके कुतर्कसे विचलित होकर श्रीवृन्दावनमें वही संवाद भेज दिया, उस समय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके आदेशसे उनके एक शिष्य श्रीमद्कृष्णदेव सार्वभौमको सङ्ग लेकर श्रील चक्रवर्तीपादके छात्रप्रतिम (छात्रके समान) तत्कालीन विख्यात परम पण्डित श्रीबलदेव विद्याभूषण महाशय जयपुर पहुँचे। गलदेशमें कन्था (गूदड़ी), हाथमें कमण्डलु, कौपीन-बर्हिवास पहने हुए निष्किञ्चन वैष्णव वेश देखकर महाराज पहले तो श्रीबलदेवको स्वयं समझ ही नहीं सके कि यह व्यक्ति विवदमान पण्डितोंकी सभामें विजय प्राप्त कर सकेगा; किन्तु श्रीश्रीगोविन्ददेवजीकी कृपासे श्रीधाम वृन्दावनसे स्थानान्तरित श्रील रूपपाद प्रकटित श्रीगोविन्दजीके तत्कालीन अधिष्ठानक्षेत्र जयपुरके समीप गलता-पर्वतपर श्रीरामानन्दी सम्प्रदायके (किसीके मतमें रामानुज-सम्प्रदायके) पण्डितोंके साथ विचार करते हुए उनके जितने भी कुतर्क थे, उन सभीका खण्डन करते हुए श्रीगोविन्ददेवकी स्वप्नादिष्ट कृपाके अवलम्बनसे उन्होंने (श्रीबलदेव

प्रभुने) एक महीनेमें ही 'श्रीगोविन्दभाष्य' का प्रणयन किया तथा 'गौड़ीयोंका अपना ब्रह्मसूत्र भाष्य नहीं है', इस प्रकारके कुमतको निरस्त कर दिया। इसपर पण्डित सभाने उन्हें 'विद्याभूषण' उपाधि-भूषणसे विभूषित किया। गौड़ीयगणोंका श्रीमन्दिरादिमें पूर्ववत् सेवा-पूजाका अधिकार समस्त भ्रान्तियोंपर विजय प्राप्त करते हुए अत्यधिक गौरवके साथ प्रतिष्ठित हुआ।

इससे पूर्व श्रीसनातन गोस्वामीके बृहद्भागवतामृतम्, श्रीरूप गोस्वामीके लघुभागवतामृतम् एवं श्रीजीवगोस्वामीके षट्सन्दर्भ तथा सर्वसम्वादिनी इत्यादि ग्रन्थोंमें वेदान्तके तथा उसके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तसे परिपूर्ण होकर श्रीमहाप्रभु-प्रवर्त्तित गौड़ीय वैष्णव-मतके अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्तका स्थापन करते हुए वेदान्तका विचार सम्यक्‌रूपेण संस्थापित था। इसीलिए श्रीमद्‌बलदेव प्रभुसे पूर्व गोस्वामी-गणोंका और कोई पृथक् वेदान्त-भाष्य रचनाका प्रयोजन भी नहीं था। अठारहवीं शताब्दीमें महामहिम श्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा श्रीमन्महाप्रभु-प्रचारित अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्तकी भूमिका पर वेदान्तका श्रीगोविन्दभाष्य प्रकटित हुआ।

श्रीगोविन्दभाष्य श्रीचैतन्यदेव द्वारा स्वीकृत श्रीमध्व-मतानुसारी एवं श्रीमद्भागवतानुग विचारोंसे परिपूर्ण है, तो भी कतिपय अर्वाचीन लेखक मानते हैं कि श्रीबलदेवप्रभु पहले माध्व-आम्नायको स्वीकार करते थे, इसलिए उन्होंने परम स्वतन्त्र गौड़ीय सम्प्रदायको भी मध्वानुगत्यमें ग्रहण करके गौड़ीयगणोंको 'माध्व' कहकर प्रचार किया है। उन्होंने स्व-रचित 'प्रमेय-रत्नावली' ग्रन्थमें भी माध्व-आम्नायको स्वीकार करते हुए गौड़ीय-परम्पराको ग्रथित किया है। उन्होंने प्रस्तुत 'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थकी स्वरचित सूक्ष्मा-टीकाके प्रारम्भमें भी अपनी गुरु-परम्पराका उल्लेख करते हुए ब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-परम्पराका प्रदर्शन किया है।

इस विषयमें हमारे परमाराध्यतम परात्पर श्रीगुरुदेव श्रीश्रीमद् भक्तिविनोद ठाकुरने स्वरचित 'श्रीमहाप्रभुकी शिक्षा' ग्रन्थमें लिखा है—श्रील श्रीजीवगोस्वामीने आप्तवाक्यकी प्रामाणिकता निश्चित कर पुराणोंकी भी प्रामाणिकता निश्चित की है। पुराणशास्त्रका तद्धर्मत्व

निरूपण करते हुए अन्तमें उन्होंने श्रीमद्भागवतको सर्व-प्रमाण शिरोमणिके रूपमें प्रमाणित किया है। उन्होंने जिस लक्षणके द्वारा श्रीमद्भागवतको सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना है, उसी लक्षणके द्वारा उन्होंने ब्रह्मा, नारद, व्यास और शुकदेव तदनन्तर क्रमानुसार विजयध्वज, ब्रह्मण्यतीर्थ, व्यासतीर्थ आदिके तत्त्वगुरु—श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा प्रमाणित शास्त्रोंको भी प्रामाणिक ग्रन्थोंकी कोटिमें उल्लेख किया है। इस समस्त विषयसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म-सम्प्रदाय ही श्रीकृष्णचैतन्यके आश्रित गौड़ीय वैष्णवोंकी गुरु-प्रणाली है। श्रीकविकर्णपूर गोस्वामीने इसी मतको दृढ़ करते हुए स्वरचित 'गौरगणोद्देशदीपिका' नामक ग्रन्थमें गुरु-प्रणाली क्रमका वर्णन किया है। वेदान्तसूत्रके भाष्यकार श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी इसी प्रणालीको स्वीकार किया है। जो लोग इस प्रणालीको अस्वीकार करते हैं, वे श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं उनके चरणानुचरोंके प्रधान शत्रु हैं, इसमें किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं है।

श्रीमन्महाप्रभुने मध्व सम्प्रदायको स्वीकार क्यों किया है, उसका भी उत्तर हमारे ठाकुर श्रीभक्तिविनोदने स्वकृत पूर्वोक्त 'श्रीमहाप्रभुकी शिक्षा' ग्रन्थमें दिया है—

"निम्बार्क मतमें जो भेदाभेद अर्थात् द्वैताद्वैत मत है, वह अपूर्ण है अर्थात् पूर्णता प्राप्त नहीं कर सका है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षा प्राप्तकर वैष्णवजगत्ने भेदाभेद मतकी पूर्णताको पाया है। श्रीमध्वाचार्यके मतमें 'सच्चिदानन्द नित्य विग्रह' स्वीकृत है। सच्चिदानन्द-विग्रह ही इस अचिन्त्य भेदाभेदकी मूल आधारशिला होनेके कारण श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीमध्व सम्प्रदायको ही अङ्गीकार किया है। पूर्व वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रचारित दार्शनिक मतमें वैज्ञानिक समताकी कुछ-कुछ अपूर्णता रहनेके कारण उनमें परस्पर वैज्ञानिक भेदसे सम्प्रदाय भेद हुआ है। साक्षात् परतत्त्व श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने अपनी सर्वज्ञताके बलसे उन सभी मतोंकी असम्पूर्णताओंको पूर्ण करते हुए श्रीमध्वके 'सच्चिदानन्द नित्य विग्रह' को, श्रीरामानुजाचार्यके 'शक्ति सिद्धान्त' को, श्रीविष्णुस्वामीके 'शुद्धाद्वैत सिद्धान्त' तथा 'सर्वस्वत्व' को और श्रीनिम्बादित्यके 'चिन्त्य द्वैताद्वैत सिद्धान्त' को निर्दोष एवं सम्पूर्ण करके अचिन्त्य-भेदाभेदात्मक अत्यन्त विशुद्ध वैज्ञानिक मत जगत्को प्रदान करके अतिशय कृपाकी

है। कुछ ही दिनोंमें भक्ति तत्त्वमें केवल एक ही सम्प्रदाय रहेगा, उसका नाम होगा 'श्रीब्रह्म-सम्प्रदाय'। दूसरे सभी सम्प्रदाय इसी ब्रह्म सम्प्रदायमें पर्यवसित होकर एक हो जायेंगे।"

श्रीमन्महाप्रभुके द्वारा मध्वमतको स्वीकार करनेके और भी बहुत-से कारण लक्ष्य किये जाते हैं। यथा—मध्वमत अथवा तत्त्ववादका एक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें मायावाद अथवा केवलाद्वैतवादका विशेष रूपसे खण्डन किया गया है, जिससे 'शुद्ध-द्वैतवादकी भित्तिमें अवस्थित होनेपर अभेदवादरूप व्यथा बहुत दूर रहती है।' मायावाद-धिक्कारकारी तत्त्ववाद अथवा शुद्ध-द्वैतवाद स्वीकार करनेपर केवलाद्वैतवादरूप भ्रम कभी भी जीव-हृदयमें प्रवेश नहीं करता, इसलिए भी श्रीमहाप्रभुने मध्वमत स्वीकार करनेकी लीलाका प्रदर्शन किया है। श्रीभगवान्के साथ जीवका भेद-विचार सर्वदा दृढ़ रहनेपर जीवको शुद्धाभक्ति पथसे विच्युत नहीं होना पड़ता, यह भी एक कारण है। विचार करनेपर देखा जाता है कि श्रीमहाप्रभु प्रचारित अचिन्त्य-भेदाभेद-सिद्धान्तमें भी भेदका प्राबल्य है। इसके अतिरिक्त श्रौतपथ एवं आम्नायके सनातनत्वकी रक्षा करनेके लिए श्रीव्यासरचित श्रीपद्मपुराणोक्त *'सम्प्रदाय विहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः'* अर्थात् सत्-सम्प्रदाय स्वीकार किये बिना मन्त्रादि फलप्रद नहीं होते—यह उक्ति जीवके लिए ग्रहणीय है। यही सब शिक्षा देनेके लिए स्वयं-भगवान् श्रीचैतन्यमहाप्रभुने स्वयं मध्व-आम्नायको स्वीकार करनेका आचरण किया था। श्रीमहाप्रभु जीवके भविष्यद्रष्टा थे, वे जानते थे कि समय-समयपर अनेक काल्पनिक नवीन मतोंकी सृष्टि हो सकती है, जिस कारण अज्ञानी लोग श्रौतपथकी और सात्वत सम्प्रदायकी महिमासे अवगत नहीं हो सकेंगे और वे नव-नवीन मतोंकी उन्मादनाके ग्राहक हो पड़ेंगे। कहा जाता है—स्वयं-भगवान् श्रीमन्महाप्रभुने जगद्गुरुके लीलाभिनयकारी रूपमें जीवको ब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-धर्मके सनातनत्व एवं श्रेष्ठत्वको ज्ञात करानेके लिए ही इस प्रकारके लीला-आदर्शका प्रदर्शन किया था।

श्रीमन्महाप्रभुने श्रीभागवतशास्त्रोक्त धर्मको ही जीवके आश्रयणीय रूपमें बतलाया था, क्योंकि श्रीभागवत धर्म श्रीकृष्णसे ब्रह्मा, ब्रह्मासे

नारद एवं नारदसे व्यास–परम्परा क्रममें उदित हुआ है। श्रीव्यासदेवके साक्षात् शिष्य स्वयं श्रीमध्वाचार्य थे। अतः मध्वानुगत्य स्वीकार करनेपर भागवत–परम्परामें कोई व्यभिचार घटित नहीं होता। गौड़ीय–वैष्णव–सिद्धान्त–सम्राट स्वयं श्रीजीव गोस्वामी प्रभु, श्रीकविकर्णपूर, श्रीगोपालगुरु गोस्वामी एवं श्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण प्रमुख गौड़ीय वैष्णवाचार्य वर्ग—सभीने ब्रह्म–माध्व–सम्प्रदायके अधस्तनरूपमें अपना परिचय दिया है।

और भी एक विचारणीय विषय यह है कि स्वयं–भगवान् श्रीमन्महाप्रभु परात्परतत्त्वरूपमें ही गौड़ीयगणोंके उपास्य हैं। उन्हें किसी सम्प्रदाय–प्रवर्त्तक आचार्यमात्र विचार करनेपर उनकी महिमाको तुच्छ करना ही होता है। किन्तु धर्म–प्रवर्त्तनका कार्य स्वयं–भगवान् निज शक्ति अथवा शक्त्याविष्ट पुरुषोंके द्वारा ही कराते हैं। वे स्वयं जीवके धर्म–प्रणयन कर्त्ता हैं, धर्म–प्रवर्त्तक अथवा प्रचारक आचार्यमात्र नहीं हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है, *'धर्मस्तु साक्षाद् भगवत् प्रणीतम्'* (श्रीमद्भा॰ ६/३/१९)।

श्रीमन्महाप्रभुने स्वयं–भगवान् होकर भी जिस आचार्य–लीलाका अभिनय किया था, वह लीला सम्प्रदाय–प्रवर्त्तक–आचार्यके रूपमें नहीं थी। उनकी अवतार–लीलाका प्रयोजन स्व–भजन–विभजन अर्थात् कृष्ण–भजन एवं विप्रलम्भयुक्त कृष्ण–प्रेमका वितरण करना था। अतः यह उनकी अनर्पितचरी प्रेम–सम्पत्ति प्रदानरूपा महावदान्यमयी लीला थी। इस लीलामें उन्होंने अपने पार्षद भक्तवृन्दके द्वारा ही आचार्यका कार्य कराया है।

और भी एक उल्लेखनीय विषय यह भी है कि श्रीचैतन्यचरितामृतकार श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी प्रभुने भी श्रीमाधवेन्द्रपुरीका प्रेमामरतरुके 'प्रथम अङ्कुर' के रूपमें वर्णन किया है। इसीलिए उन्हें ही तो गौड़ीय–सम्प्रदायका मूल पुरुष कहना होगा, किन्तु वे तो मध्व–सम्प्रदायके श्रीलक्ष्मीपति तीर्थके ही शिष्य थे। अवश्य ही यह प्रश्न हो सकता है कि 'तीर्थ' के शिष्यकी 'तीर्थ' उपाधि न होकर 'पुरी' उपाधि किस प्रकार हुई? इसका सहज रूपसे उत्तर यह है कि वे लक्ष्मीपति तीर्थके शिष्य होकर ही अन्य किसी पुरी उपाधि विशिष्ट

संन्यासीके निकट संन्यास ग्रहण करके रहे थे। जो भी हो, उस समयके समस्त विषयोंका सटीक इतिवृत्त प्राप्त नहीं होता, इस कारण आध्याक्षिक गणोंके [इन्द्रियज ज्ञान द्वारा गवेषणा करनेवालोंके] मनमें अनेक प्रकारके संशय देखे जा सकते हैं, किन्तु उन समस्त संशयोंके निरसनके लिए प्रकृष्ट पन्था है—भ्रम-प्रमादादि चार दोषोंसे निर्मुक्त-मुक्त महापुरुष श्रीगुरुदेवके संशय निरासक वचनोंको ग्रहण करना। अतः हमारे श्रीगुरुपादपद्म श्रील सरस्वती ठाकुर, श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर, पूर्ववर्त्ती गौड़ीय महाजन श्रील श्रीजीव, श्रीकर्णपूर, श्रीगोपालगुरु, श्रीबलदेव इत्यादि गुरुवर्गके अभ्रान्त-वाक्योंमें विश्वास स्थापन करनेसे अर्वाचीन लेखकोंकी ऐसी दुर्दशा नहीं होती। हम गुर्वानुगत्यमें लिखित ग्रन्थोंके साथ गुर्वानुगत्यसे रहित अवस्थामें लिखित ग्रन्थोंमें कर्णधार-विहीन विचलित तरणी (नौका) सदृश विचार-चापल्य देखनेसे अतिशय मर्माहत हैं।

वेदान्तसूत्रके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवतकी आलोचना न करनेपर अथवा श्रीमद्भागवतानुग गोविन्दभाष्य, श्रीसनातनका बृहद्भागवतामृत, श्रीरूपका लघुभागवतामृत एवं श्रीजीवका षट्सन्दर्भ एवं सर्वसंवादिनीका सुष्ठु रूपसे अध्ययन न करनेपर वेदान्तका प्रकृत सिद्धान्त क्या है? एवं कौन-सा भाष्य श्रीव्यास-सम्मत है, यह अनुभवका विषय नहीं होता।

हम इस विषयमें एक संक्षिप्त आलोचना करते हैं। वेदान्तसूत्र रचित होनेसे पूर्व भी जो कतिपय ऋषि वैदान्तिक मतकी आलोचना करते थे, उनका उल्लेख स्वयं श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यासके निज रचित वेदान्तसूत्रोंमें भी परिदृष्ट होता है यथा आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, बादरि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि इत्यादिके मतका श्रीव्यासजीने वर्णन किया है। कोई-कोई उनका विशिष्टाद्वैतवादी, भेदाभेदवादी, शुद्धाद्वैतवादी इत्यादिके रूपमें निर्देश भी करते हैं, किन्तु उनके मत-पोषक ग्रन्थादिका अभाव है।

भाष्यकार युगमें महर्षि बोधायन प्राचीनतम भाष्यकार हैं। उन्होंने वेदान्तसूत्रकी 'विस्तीर्णा' वृत्तिकी रचना की थी, ऐसा ज्ञात होता है। क्योंकि श्रीमद्रामानुजाचार्यने स्व-प्रणीत श्रीभाष्यमें और वेदार्थ संग्रह-ग्रन्थमें इस वृत्तिका अनुसरण एवं उल्लेख किया है।

श्रीशङ्कराचार्यने अपने सूत्रभाष्यमें किसी उपवर्ष-नामक वृत्तिकारककी वृत्तिका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त टङ्क, द्रमिढ़, गुहदेव, कर्पदि, भारुचि, श्रीवत्साङ्कमिश्र इत्यादि विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्ताचार्यगणोंके नाम भी विभिन्न ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें देखे जाते हैं।

श्रीशङ्करोत्तर वेदान्ताचार्यगणोंमें श्रीभास्कराचार्य, श्रीयामुनाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीमध्व, श्रीनिम्बार्क, श्रीकण्ठ, श्रीकर, श्रीविज्ञान भिक्षु, श्रीवल्लभाचार्य आदि प्रमुख भाष्यकारोंके नाम प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे किसी ने भी श्रीशङ्कर-प्रचारित केवल-अभेदवादका प्रचार नहीं किया; इतना ही नहीं, श्रीनारद, श्रीपराशर, श्रीव्यास एवं श्रीशाण्डिल्य प्रमुख प्राचीन सूत्रकारोंने भी इस प्रकारसे किसी एकमतका प्रचार नहीं किया बल्कि भेदाभेद सिद्धान्तका ही उन्होंने स्थापन और समर्थन किया है; ऐसा अनुभव किया जाता है।

तथापि आधुनिक पण्डित समाज, एवं बहु-विद्या-उत्साही व्यक्ति किस प्रकारसे श्रीशङ्कर-प्रचारित केवलाद्वैतवाद अथवा मायावादको ही वैदान्तिक मत कहकर निर्धारित करते हैं, वह हमारी समझमें बैठता नहीं है। जैसा भी हो, इस विषयमें हम साधारण जनोंके बोध-सौकर्य (सहज-जानकारी) के लिए श्रीशङ्कर तथा श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीनिम्बादित्य, श्रीवल्लभाचार्य एवं श्रीबलदेव द्वारा प्रचारित मत एवं सिद्धान्तके विषयमें किञ्चित् आलोचनामें प्रवृत्त हो रहे हैं।

(१) वेदान्तसूत्र भाष्यकार—श्रीशङ्कराचार्य

सर्वप्रथम श्रीशङ्करके वेदान्तभाष्यके सम्बन्धमें अतिशय संक्षिप्त रूपसे आलोचना की जा रही है। श्रीशङ्कर कहते हैं—"ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु हैं, उनके अतिरिक्त उनके गुणादि एवं तत्-परिणाम सभी मिथ्या हैं। माया-मोहित ब्रह्म ही जीव है, मायाके अपगम होनेके बाद ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेपर जीवकी मुक्ति होती है। उपयुक्त अधिकारीके बिना (माया निवृत्त हुए बिना) कोई ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मज्ञानका अधिकारी होनेपर यथाविधि वेद एवं वेदान्तके अध्ययनपूर्वक वेदार्थ हृदयङ्गम हो जाता है और काम्यकर्मका

परित्याग हो जाता है। नित्य, नैमित्तिक कर्म एवं सगुण ब्रह्मविषयक मानव क्रियारूप उपासनाके द्वारा निर्मलचित्त होनेपर शम-दमादि साधन-चतुष्टयका अवलम्बन करके जीव ब्रह्मज्ञानका अधिकारी हो जाता है।"

श्रीशङ्करके मतमें नित्यानित्य वस्तु-विवेक, इस लोक और परलोकमें फलभोग, विराग, शम-दमादि साधन-सम्पद् एवं मुमुक्षुत्व—ये चार मुक्तिके साधन-चतुष्टय कहे जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानमें अधिकारी होकर जीव ज्ञान-काण्डकी आलोचना द्वारा ब्रह्म-भाव प्राप्तिरूप मोक्षफल प्राप्त कर सकता है।

इस मतमें ब्रह्म सत्, चित्त् एवं आनन्द स्वरूप है। ब्रह्म अखण्ड, अद्वितीय एवं निधर्मक है। ज्ञानमात्र एक है, वह नाना नहीं है। विषय-स्वरूप उपाधिके नानात्वके कारण ज्ञानके नानात्वकी प्रतीति भ्रममात्र है, वह वास्तविक नहीं है। ज्ञानका नाम ही चैतन्य है और यह चैतन्य ही आत्माका स्वरूप है, अतः जीवात्मा परस्पर भिन्न नहीं है। जीवात्माके साथ परमात्माका भेद नहीं है। इस जीव ब्रह्मका ऐक्य *'तत्त्वमसि'* इत्यादि श्रुति द्वारा प्रमाणित है। आत्मा जन्मादि षड्-विकारसे रहित है। आत्मा ही स्नेहका एकमात्र पात्र है। पुत्रादिमें जो स्नेह देखा जाता है, वह भी आत्माकी प्रीतिके निमित्त ही है।

परब्रह्मका प्रतिबिम्बयुक्त सत्त्व, रजः और तमः—यह गुणात्मक है एवं सत् अथवा असत् रूपमें निर्णयके अयोग्य पदार्थको अज्ञान कहा जाता है। यह अज्ञान जगत्का कारण है, इसलिए इसे प्रकृति भी कहा जाता है। यह अज्ञान पुनः आवरणी एवं विक्षेपात्मिका शक्तिसे समन्वित है। अज्ञानकी आवरण शक्ति अपरिच्छिन्न आत्माको बुद्धिवृत्तिके आच्छादन द्वारा आच्छादितकी भाँति प्रकाशित करती है और विक्षेपशक्ति विविध उपादानोंसे लिङ्गादि ब्रह्माण्ड पर्यन्तकी सृष्टि करती है। यह अज्ञान स्वरूपतः एक होकर भी अवस्था भेदसे माया एवं अविद्या नामसे दो प्रकारका है। रजः एवं तमोगुणके द्वारा अनभिभूत सत्वगुण प्रधान अज्ञानका नाम माया है। रजः एवं तमो गुणके द्वारा अभिभूत अज्ञानका नाम अविद्या है। इस मायासे प्रतिबिम्बित ब्रह्मका नाम ईश्वर है। अविद्यासे प्रतिबिम्बित ब्रह्मका नाम जीव है। माया

उपाधिसे युक्त ब्रह्म या ईश्वर ही जगत्के स्रष्टा हैं। माया एवं अविद्या ही यथाक्रमसे ईश्वर एवं जीवका आनन्दमय-कोष एवं कारण शरीर हैं। परमेश्वर जीवके भोगार्थसे पूर्व सुकृत एवं दुष्कृतानुसार माया द्वारा निखिल प्रपञ्चकी बुद्धिसे कल्पना करते हैं, बादमें उस माया विशिष्ट परमात्मासे आकाशादि क्रमसे पञ्चभूतादिकी सृष्टि होती है। इसीसे क्रमशः ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं। पञ्चभूतके मिलित सत्त्वांशसे अन्तःकरणकी सृष्टि होती है, जो चतुर्विध वृत्तिविशिष्ट है, यथा—मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त। तत्पश्चात् क्रमशः पञ्च कर्मेन्द्रिय एवं प्राणदि वायुकी सृष्टि होती है। बुद्धि समन्वित ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकका नाम विज्ञानमय कोष, मनके साथ कर्मेन्द्रिय पञ्चकका नाम मनोमय कोष, प्राणके सहित कर्मेन्द्रिय पञ्चकका नाम प्राणमय कोष है। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च प्राण, बुद्धि एवं मनके साथ इस सप्तदेश (सत्रह) पदार्थोंके संघात अर्थात् मिलनसे सूक्ष्मशरीर अथवा लिङ्गशरीरकी उत्पत्ति होती है। यह लिङ्गशरीर मुक्तिपर्यन्त स्थायी रहता है।

ईश्वर जीवके उपभोग हेतु स्थूल विषयोंके सम्पादनके लिए पूर्वोक्त सूक्ष्म पञ्चभूतोंको मिश्रित करते हैं। इस मिश्रणका नाम पञ्चीकरण है। पञ्चभूतोंके पञ्चीकरणके समान आकाशादि तीन भूतोंके त्रिवृत्-करणसे उत्पन्न स्थूलभूतसमूह ही चौदह लोकोंका उपादान है। जीवगण अपने-अपने कर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंको प्राप्त होते हैं। पृथ्वी कर्मभूमि, स्वर्ग एवं पाताल भोगभूमि एवं नरक दण्ड-भोगका स्थान है।

पञ्चीकृत अथवा त्रिवृत्कृत भूतसे पार्थिव स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। पुनः शरीर जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं उद्भिज्ज भेदसे चार प्रकारका है। स्थूलशरीरकी समष्टिका अभिमानी वैश्वानर और व्यष्टिका अभिमानी विश्व है। स्थूलशरीरको अन्नमयकोष भी कहा जाता है।

ब्रह्म वास्तव वस्तु हैं, उनके अतिरिक्त समस्त मिथ्या है। ब्रह्ममें विश्व रज्जुमें सर्प-बोधके समान कल्पित अथवा आरोपित है। जीवात्मा परमात्मासे अभिन्न है। जीव और ब्रह्मका भेद-ज्ञान और

विश्वका सत्यत्वज्ञान भय अथवा अधर्मका उत्पादक है। ज्ञान उत्पन्न न होने तक विश्वके सत्यत्वका भ्रम रहता है, ज्ञानोदयसे यह भ्रम स्वतः दूर हो जाता है। सृष्टिके पूर्व जगत् असत् था, सृष्टिके बाद सत् हुआ है, इसलिए जगत्‌की सत्ता और असत्ता दोनों ही सङ्गत बोध होती है। यद्यपि संसारका सादित्व है तथापि उत्पत्ति, लय एवं बादमें पुनरुत्पत्ति होती है, इस कारण अनादित्व भी कहा जा सकता है। जिस प्रकार मायावी दर्शकोंके समक्ष ऐन्द्रजालिक वस्तुका प्रदर्शन करके पुनः उसका उपसंहार कर लेता है, उसी प्रकार परमेश्वर भी निज अचिन्त्यशक्ति माया द्वारा जगत्‌की सृष्टि करके जीवके सुकृत एवं दुष्कृत फल भोगान्तमें जगत्‌का प्रलय कर लेते हैं।

प्रलय—नित्य, प्राकृत, नैमित्तिक एवं आत्यन्तिक भेदसे प्रलय चार प्रकारकी है। इसमें आत्यन्तिक प्रलयके बाद पुनः संसार उत्पन्न नहीं होता। ब्रह्म-ज्ञानके द्वारा परम मुक्ति होनेपर आत्यन्तिक प्रलय होती है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा ऐहिक एवं पारत्रिक सुख-सम्भोगादिके अस्थिरत्वकी उपलब्धि करके परम सुखस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्तिके लिए बुद्धिमान व्यक्ति तत्साधनभूत तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा होनेपर उसके उपायस्वरूपमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं समाधिके अनुष्ठानका आश्रय करते हैं। ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता एवं प्रमाण इत्यादि विकल्पोंके विलयमें निरपेक्ष एवं तत्सापेक्ष चित्तकी स्थिरताका नाम ही निर्विकल्प एवं सविकल्प समाधि है। निर्विकल्प समाधि प्राप्त होनेपर चित्त निर्वात देशस्थ निष्कम्प प्रदीपकी शिखाके समान निश्चलता प्राप्त करता है। अष्टाङ्गयोग साधनके द्वारा उक्त समाधि प्राप्त हो जाती है। जीवके भेद-ज्ञान-निराकरणके लिए पूर्वोक्त साधन ही एकमात्र अवलम्बनीय है।

वेदान्तसूत्रके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यने जो मत व्यक्त किया है, उसे मूलतः 'केवलाद्वैतवाद' कहा जाता है। नामान्तरसे वही विवर्त्तवाद, मायावाद, अनिर्वाच्यवाद, निर्विशेषवाद इत्यादि संज्ञाओंसे संज्ञित होता है।

इस मतमें ब्रह्म ही एकमात्र सत्य अथवा तत्त्व है। जीव और जगत् ब्रह्मका वितर्कमात्र—मिथ्या है। मायासे ब्रह्ममें जगत्की भ्रान्ति होती है। एक श्लोकमें साधारण रूपसे यह मत व्यक्त हुआ है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।
इदमेव तु सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः॥

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, कोई और नहीं। यही सत्-शास्त्र है और यही वेदान्तका डिण्डिम (ढिंढोरापूर्वक) घोष है।

श्रीशङ्करके मतमें भ्रम दो प्रकारका हैं। वस्तु आश्रयी और निर्वस्तुक। वस्तु-आश्रयीका दृष्टान्त है रज्जुमें सर्प-भ्रम। रज्जु और सर्प भिन्न होनेपर भी उनकी अभिन्न प्रतीतिको अध्यास कहते हैं। पूर्वोक्त आवरण और विक्षेपशक्ति विशिष्ट अज्ञान ही अध्यासका कारण है।

इनके मतमें पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक भेदसे तीन प्रकारकी सत्ता स्वीकृत है। ब्रह्मकी परमार्थिक सत्ता वह है, जो कभी भी असत्य रूपमें प्रतीत नहीं होती। जगत्की व्यावहारिक सत्ता, जो ज्ञानोदयके पूर्व सत्य रूपमें प्रतीत होती है, किन्तु ब्रह्मज्ञानोदय होनेपर असत्य रूपमें प्रमाणित होती है। पुनः जो कुछ क्षणोंके लिए प्रत्यक्ष है, और बादमें बाधित है, वह प्रातिभासिक सत्ता है—जिस प्रकार रज्जुमें सर्प-भ्रमके समयमें सर्प-प्रतीति होती है। पारमार्थिक सत्ता ही प्रकृत सत्ता है एवं व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ता मिथ्या रूपमें प्रमाणित है।

श्रीशङ्करके मतमें सगुण ब्रह्मको ईश्वर कहा जाता है। मायाशक्ति अथवा उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर हैं। वे ईश्वर ही जगत्की सृष्टि करते हैं। वे ही जगत्के उपास्य हैं, वे ही बहुगुणशाली एवं सविशेष हैं। वे जीवसे भिन्न हैं। वे सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर भी जगत्के समान मिथ्या और मायामात्र हैं।

इस मतमें जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिच्छवि है। अन्तःकरण अथवा बुद्धि-दर्शनमें ब्रह्म प्रतिफलित होकर जीव नाम प्राप्त करते हैं। ब्रह्मका यह प्रतिबिम्ब अविद्याकृत है।

श्रीशङ्करके मतमें परब्रह्मका ईश्वररूप एवं जीवरूप दोनों ही मायिक हैं। तब प्रभेद यह है कि ईश्वरकी उपाधि–समष्टि माया एवं जीवकी उपाधि–व्यष्टि अविद्या है। इन दोनों उपाधिके विनष्ट होनेपर ही जीव एवं ईश्वर दोनों ही अखण्ड अनन्त भूमा ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं।

श्रीशङ्करके गुरुदेव श्रीगोविन्दयोगी हैं। उनका मत सटीक प्राप्त नहीं होता। तथापि योगी शब्दसे वे पतञ्जल ऋषि–प्रणीत योगशास्त्रके अनुशीलनकारी रूपमें अनुमानित हो सकते हैं। किन्तु उनके परमगुरुदेव गौड़पादको अनेक लोग बौद्धमतावलम्बी कहते हैं, क्योंकि उन्होंने बौद्धोंका अजातिवाद, उच्छेदवाद एवं सर्वशून्यतावाद स्वीकार किया है। श्रीशङ्करने परमगुरुदेवके द्वारा स्वीकृत बौद्धमतका संशोधन करते हुए 'शून्य' के स्थानपर 'ब्रह्म' शब्दका व्यवहार करते हुए 'ब्रह्मसत्यजगन्मिथ्यात्ववाद' का स्थापन किया है। परवर्त्तीकालमें श्रीशङ्करके शिष्य पद्मपाद, सुरेश्वराचार्य एवं उनके बाद वाचस्पति मिश्र, प्रकाशात्म–यति इत्यादि श्रीशङ्करानुग मनीषियोंके इस मतका कुछ–कुछ परिवर्त्तन करते हुए नानाविध विवादित मत प्रकाश करते रहे हैं।

अस्तु! श्रीशङ्कर और तदीय अनुगने शिष्य–परम्परामें जितने भी मतवादोंका प्रचार किया है, श्रीमन्महाप्रभुके पार्षद, षड्गोस्वामियोंमेंसे अन्यतम श्रील श्रीजीवगोस्वामीपादने अपने षड्सन्दर्भ एवं श्रीसर्वसम्वादिनीमें उन सबका विशेष रूपसे खण्डन किया है। सहृदय पाठकगण उक्त ग्रन्थोंका अनुशीलन करनेपर शङ्करमतकी असारता एवं अयौक्तिकताकी उपलब्धि कर सकेंगे। इतना ही नहीं, श्रीमन्महाप्रभुने पुरीमें श्रीसार्वभौमको एवं काशीमें श्रीप्रकाशानन्दको जो उपदेश दिये हैं; श्रीचैतन्यचरितामृतसे उनका अनुधावन करनेपर उस समस्त विषयको हृदयङ्गम किया जा सकता है।

श्रीशङ्करके मतानुयायीगणोंने इस मतपर बहुत–से भाष्य एवं टीकाओंकी रचना की है। (१) श्रीपद्मपाद (२) श्रीसुरेश्वराचार्य (३) श्रीहस्तामलक, (४) श्रीतोटक ये चारों श्रीशङ्करके प्रधान शिष्य हैं; श्रीशङ्कराचार्यने इन चारों शिष्योंमेंसे सुरेश्वरके द्वारा द्वारकामें शारदा मठ, पद्मपाद द्वारा पुरीमें गोवर्द्धन मठ, तोटकके द्वारा बदरिकामें

ज्योति मठ एवं हस्तामलकके द्वारा दक्षिण भारतमें शृङ्गेरी मठकी स्थापना की। श्रीसर्वज्ञात्ममुनि, श्रीअद्वैतानन्द, श्रीचित्सुखाचार्य, श्रीविद्याशङ्कर, श्रीअमलानन्द यति, श्रीविद्यारण्य, श्रीआनन्दगिरि, श्रीरङ्गराज अध्वरी, श्रीअप्पय दीक्षित, श्रीसदानन्द योगीन्द्र, श्रीमधुसूदन सरस्वती, श्रीवेङ्कटनाथ, श्रीब्रह्मानन्द सरस्वती, श्रीकृष्णनन्दतीर्थ, श्रीरामानन्द सरस्वती, श्रीगोविन्दानन्द सरस्वती, श्रीकृष्णानन्द सरस्वती प्रमुख विख्यात शाङ्करमतावलम्बी संन्यासियोंने भाष्य एवं टीकादिकी रचना करके विभिन्न रूपोंमें शाङ्करमतका पोषण किया था। देखा जाता है कि श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादने यद्यपि उन्होंने 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ लिखकर अपने सम्प्रदायमें प्रसिद्धि प्राप्त की थी, तथापि उन्होंने अद्वैतभावसे द्वैतभाव जो सुन्दर है, उसे स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'द्वैतम् अद्वैतादपि सुन्दरम्'।

यद्यपि श्रीमधुसूदन सरस्वतीपाद कैवलाद्वैतवादी थे, तथापि इनके अन्तरमें कृष्णभक्तिका बीज किस प्रकारसे छिपा हुआ था, यह उनके द्वारा रचित तीन श्लोकोंसे पाठकगण सहज ही समझ सकते हैं। इसके कारणस्वरूपमें यह कहा जाता है कि वे एक बार श्रीधाम नवद्वीपमें आये थे और श्रीचैतन्यदेव-प्रवर्त्तित गौड़ीय-वैष्णव-दर्शनके सिद्धान्त-श्रवणसे आकृष्ट हो गये थे। किन्तु काशीमें मायावादियोंके सङ्ग एवं मायावाद-भाष्यके श्रवणके फलस्वरूप केवलाद्वैतमतमें प्रविष्ट हो गये थे। तथापि इनके हृदयमें सहज भक्तिभाव निगूढ़ भावसे छिपा हुआ था। इनके द्वारा रचित श्रीमद्भागवत-व्याख्या, वेदस्तुतिकी टीका, रासपञ्चाध्यायीकी टीका, श्रीमद्भगवद्गीताकी गूढ़ार्थ-दीपिका, कृष्ण-कौतूहल नाटक, भक्ति-रसायन, शाण्डिल्य-सूत्र टीका इत्यादि ग्रन्थोंकी रचना इस बातका जाज्वल्यमान प्रमाण है।

श्रीलमधुसूदन सरस्वतीपाद-रचित श्लोक-त्रय—

अद्वैतसाम्राज्यपथाधिरूढा-स्तृणीकृताखण्डलवैभवाश्च ।
शठेन केनापि वयं हठेन, दासीकृता गोपवधूविटेन॥

अद्वैत-साम्राज्यके पथपर आरूढ़ तथा इन्द्रके वैभवको भी तृणवत् माननेवाले ऐसे हम [मैं मधुसूदन] गोप-वधू लम्पट कृष्ण नामके किसी

शठ द्वारा बलपूर्वक दासी बना लिये गये हैं [मैं उनकी दासी बना लिया गया हूँ]।

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं मनो धावति॥

ध्यानके अभ्याससे वशमें किये गये मनके द्वारा योगीगण यदि किसी निर्गुण, निष्क्रिय ज्योतिको देखते हैं, तो वे देखा करें, हमारे [मुझ मधुसूदनके] नेत्रोंके चमत्कारके लिए तो वही प्रचुर रूपसे श्रेष्ठ हो, जो नील-तत्त्व कालिन्दी-पुलिनपर रमण करता है। हमारा मन उसीके लिए अनुधावन करता है।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्, पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्, कृष्णात् परं किमपितत्त्वमहं न जाने॥

वंशीसे विभूषित, नवीन घन सदृश आभायुक्त, पीताम्बर-परिहित, बिम्बफल सरिस लाल ओष्ठयुक्त, पूर्णचन्द्रवत् अभिराम मुख-विशिष्ट, राजीवलोचन कृष्णसे बढ़कर किसी परम तत्त्वको मैं नहीं जानता।

इतना ही नहीं, श्रील चक्रवर्त्तीपादने भी अपनी श्रीगीताकी टीकामें इनके अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं।

श्रीशङ्करके मायावादकी आलोचना करते हुए पाया जाता है कि उनके मतमें जगत्की प्रतीतिका कारण—माया है। उनका मन्तव्य है—यदि उस मायाको एक सत्ताके रूपमें ग्रहण किया जाता है, तो ब्रह्मके अतिरिक्त और एक सत्ता माननी पड़ेगी। किन्तु ब्रह्म तो अद्वितीय हैं। यदि मायाको असत्य कहा जाय, तो असत् अथवा अलीकसे जगत्की उत्पत्तिकी प्रतीति होती है—इस प्रकारसे कहना होगा; इसी कारण श्रीशङ्कर मायाको सत् भी नहीं मानते, असत् भी नहीं मानते। जगत् ब्रह्मका परिणाम नहीं है, विवर्त्तमात्र है; रज्जुमें सर्प-भ्रमके समान एक नश्वर प्रतीतिमात्र है। बौद्धमतमें जिस प्रकार सब शून्य है, मायावादमें भी ब्रह्मसे अतिरिक्त समस्त शून्य है। पुनः ब्रह्ममें भी कोई विशेष धर्म न रहनेके कारण वह वास्तवमें शून्य है।

बौद्धवादका विवेचन जिस प्रकारसे मायावादमें है, उसी प्रकारसे बौद्धवादमें भी मायावादका निदर्शन है। इस कारण शाङ्करमतको प्रच्छन्न बौद्धमत कहा जाता है। सीधी-सी बात यह है कि जब जिस दिशामें सुविधाबोध हुई है, वे तब उसी दिशामें दौड़ पड़े हैं।

और एक बात यहाँ स्मरण रखना आवश्यक है कि श्रीश्रीमहाप्रभुने कहा है—*'शङ्करः शङ्करः साक्षात्।'* श्रीमद्भागवतमें ज्ञातव्य है—*'वैष्णवानां यथा शम्भुः'*—अतः वे जो भगवदाज्ञासे इस प्रकारके एक मतवादके प्रचारके लिए इस भूतलपर आये थे, यह श्रीव्यासदेवके बहुत-से वचनोंसे ज्ञात होता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

ताँर दोष नाइ—तिंहो आज्ञाकारी दास।
ताँर भाष्य येइ शुने तार सर्वनाश॥

(चै॰च॰आ॰ ७/११४)

इसमें उनका (शङ्कराचार्य) का दोष नहीं है, वे आज्ञापालनकारी दास (भृत्य) हैं। परन्तु जो भी इनके भाष्यको सुनता है, उसका सर्वनाश हो जाता है।

ये सब बातें वेदान्तसूत्रके प्रथम अध्यायकी भूमिकामें प्रदत्त हैं। पुनरुक्ति भयसे यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

श्रीशङ्कराचार्यकी आविर्भाव तिथि है—वैशाखी शुक्ला तृतीया। दाक्षिणात्यमें त्रिवाङ्कुरके अन्तर्गत-कालाडि नामक ग्राममें ब्राह्मणवंशमें उन्होंने जन्म-ग्रहण किया था। उनके पिताका नाम था 'शिवगुरु' और माताका नाम था 'विशिष्टा'। खृष्ट्रीय सातवीं ईस्वी अथवा आठवीं ईस्वी अथवा किसीके मतमें नवीं शताब्दीमें इनका आविर्भाव है। सुना जाता है कि इन्होंने आठ वर्षकी अवस्थामें स्वयं ही संन्यास ग्रहण कर लिया था और नर्मदाके तीरपर किसी गोविन्द योगीको अपने गुरुके पदपर वरण कर लिया था। बारह वर्षकी आयुमें बदरिकाश्रम जाते हुए ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी रचना की और उसके बाद द्वादश उपनिषद, श्रीगीता, श्रीविष्णुसहस्रनाम इत्यादि सोलह ग्रन्थोंकी भाष्य-रचना की। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से ग्रन्थोंमें उनका नाम पाया जाता है।

उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकारसे है—

नारायण, ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौड़पाद एवं गोविन्दयोगीसे शङ्कराचार्य।

उनके शिष्योंमें चार प्रधान हैं—सुरेश्वर, पद्मपाद, तोटक एवं हस्तामलक। इन्हें ही क्रमशः शारदा मठ, गोवर्द्धन मठ, ज्योति मठ एवं शृङ्गेरी मठका दायित्व प्रदान करके वे अन्तर्हित हो गये थे।

श्रीशङ्करके शिष्य-प्रशिष्यादि क्रमसे प्रचारित मत ही समस्त भारतवर्षमें व्याप्त हुआ है। यद्यपि श्रीरामानुजादि आचार्यवर्गने उनके मतका खण्डन किया है, तथापि शाङ्करमत विपुल रूपमें प्रचलित है।

आजकल सुधीजनोंमें तुलनात्मक विचारोंकी पारदर्शिताके अभावमें श्रीशङ्कर द्वारा प्रचारित केवलाद्वैतवाद अथवा मायावादने पण्डित समाजमें विस्तार प्राप्त किया हुआ है।

(२) वेदान्तसूत्र भाष्यकार—श्रीरामानुजाचार्य

भगवत्-इच्छासे आचार्य श्रीरामानुज ९३८ शकाब्दकी चैत्र-पञ्चमी तिथि बृहस्पतिवारको आर्द्रा नक्षत्रमें दोपहरके समय दाक्षिणात्यमें महाभूतपुरीमें अवतीर्ण हुए थे। उनके पिताका नाम श्रीकेशवाचार्य एवं माताका नाम श्रीकान्तिमती था। किसीके मतमें खृष्टीय द्वादश शताब्दीके मध्यभागमें इनका आविर्भाव हुआ था। श्रीकान्तिमती श्रीयामुनाचार्यके शिष्यवर श्रीशैलपूर्णकी बड़ी बहन थीं। श्रीशैलपूर्ण श्रीरङ्गममें निवास करते थे। कान्तिमतीके घरमें एक बालकका आविर्भाव हुआ है, यह सुनकर वे उसके दर्शन करने आये। श्रीशैलपूर्णने बालकमें श्रीरामानुज—लक्ष्मणके समान लक्षण देखकर बालकका नाम 'लक्ष्मण' रख दिया।

इन लक्ष्मणने अपने किशोर कालके उपरान्त श्रीकाञ्चीपुरीमें श्रीयादवाचार्य नामक एक अध्यापकके निकट वेदान्तपाठ आरम्भ कर दिया। इसी समय अनेक अलौकिक एवं अति आश्चर्यकारी घटनाएँ घटित हुईं। छान्दोग्योपनिषदके *'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी'* (छा॰ १/६/७) मन्त्रांशसे 'कप्यासम्' शब्दके शङ्करकृत व्याख्याका खण्डन करके लक्ष्मणने अध्यापकको स्तम्भित कर दिया। [शङ्कर कृत व्याख्या थी—उस हिरण्मय-पुरुषके दोनों नेत्र वानरके बैठनेके स्थान

(गुदा) के समान अरुण वर्णवाले पुण्डरीक (लाल कमल) तुल्य हैं, जब कि लक्ष्मणके अनुसार अर्थ था, उस आदित्यमण्डलके मध्य स्थानमें विष्णुके दोनों नेत्र सूर्य (*कप्यासं—कं जलं पिबति इति कपिः*—सूर्यः एवं 'अस्' धातु विकसनार्थ होती है अतएव 'आस्' शब्दसे विकसित अतएव 'कप्यासम्' शब्दका अर्थ है—सूर्यके द्वारा विकसित) के द्वारा विकसित कमलकी भाँति लाल हैं।] उसी समय अध्यापकने समझ लिया कि यह बालक सामान्य नहीं है, भविष्यमें शङ्कराचार्यके द्वारा स्थापित मतका यह एक विशेष शत्रु होगा।

और एक दिन अध्यापकके सम्मुख इसी प्रकारसे तैत्तिरीयोपनिषदके *'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म'* (आनन्दवल्ली २) मन्त्रके अंशकी शङ्कराचार्य कृत निर्विशेषपरक व्याख्याका खण्डन करते हुए और उसमें नाना दोष दिखाते हुए लक्ष्मणने परब्रह्मका सविशेषत्व स्थापन किया। इसमें अध्यापकने स्वयंको अत्यन्त अपदस्थ माना और श्रीलक्ष्मणको स्व-सम्प्रदायका भावी परम शत्रु मानकर उनके प्राण-संहारके लिए षड्यन्त्र रच डाला।

अपने इस षड्यन्त्रमें उन्होंने त्रिवेणी-स्नानको उपलक्ष्य करके हिंसक जन्तुओंसे भरे घने वनके मध्य लक्ष्मणको ले जाकर उन जन्तुओंके द्वारा उनके संहारकी व्यवस्था कर दी। किन्तु श्रीलक्ष्मी-नारायणने व्याध-दम्पत्तिके रूपमें आकर जल-पानकी लीला दिखाते हुए श्रीलक्ष्मणके प्राणोंकी रक्षा की।

दिव्यसूरि श्रीयामुनाचार्यने श्रीलक्ष्मणको भविष्यमें वैष्णव सम्प्रदायके संरक्षक रूपमें हृदयङ्गम कर लिया तथा अपने शिष्य श्रीपूर्णाचार्यके द्वारा काञ्चीमें वरदराजके निकट स्व-रचित 'स्तोत्र-रत्न' का पाठ करवाके उन्हें आकर्षित किया। उस समय श्रीलक्ष्मणने भी श्रीयामुनाचार्यके दर्शनकी अभिलाषासे श्रीपूर्णाचार्यके सङ्ग श्रीरङ्गक्षेत्रकी यात्रा की। उन्हें पथमें पता चला कि श्रीयामुनाचार्य अप्रकट हो गये हैं। श्रीपूर्णाचार्यने जब यह सुना तो वे विरह-वेदनासे अत्यन्त पीड़ित हो गये, किन्तु स्मार्त्त ब्राह्मणगण श्रीयामुनाचार्यके चिदानन्दमय कलेवरको स्पर्श न कर सकें, इसलिए वे लक्ष्मणको लेकर अतिशीघ्र श्रीरङ्गक्षेत्रमें उपस्थित हुए। वहाँ भी एक अति आश्चर्यमयी घटना घटित हुई। जब

श्रीलक्ष्मणने देखा कि श्रीयामुनाचार्यकी तीन अङ्गुलियाँ सङ्कुचित (बन्द) हैं, तभी उन्हें अनुभव हो गया कि इन महात्माके तीन विशेष जगत्-मङ्गलकारी मनोभीष्ट अपूर्ण रह गये हैं। तब श्रीलक्ष्मणने सबके समक्ष स्पष्ट रूपसे प्रतिज्ञा की कि (१) "मैं श्रीवैष्णवमतमें अवस्थित होकर अज्ञानसे मोहित जीवोंको पञ्च संस्कारसे (ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग) सम्पन्न, द्रविड़-आम्नायमें पारदर्शी और प्रपत्ति (शरणागति) धर्ममें दीक्षित करूँगा।" उनके इस प्रकार कहते ही श्रीयामुनाचार्यकी एक अङ्गुली सीधी हो गयी। इसके बाद श्रीलक्ष्मणने दूसरी प्रतिज्ञा करते हुए कहा कि (२) "जगत् जीवोंके कल्याणके लिए मैं परमतत्त्व संग्रहपूर्वक वेदान्तसूत्रके श्रीभाष्यकी रचना करूँगा"—ऐसा कहनेके साथ ही श्रीयामुनाचार्यकी द्वितीय अङ्गुली प्रसारित (सीधी) हो गयी। तीसरी प्रतिज्ञा करते हुए उन्होंने कहा (३) "पराशर ऋषिने जीव और ईश्वर आदिके स्वभाव, उपाय आदिका प्रकाश करते हुए जिस पुराण-रत्नकी रचना की है, मैं उसके अभिधानकी रचना करूँगा।" इतना कहनेके साथ-ही-साथ श्रीयामुनाचार्यकी तीसरी अङ्गुली भी स्वाभाविक रूपसे सीधी हो गयी। वहाँ उपस्थित सभी दर्शक श्रीलक्ष्मणकी इस अलौकिक-शक्तिको देखकर आश्चर्यचकित रह गये तथा यह जान गये कि श्रीलक्ष्मण ही भविष्य-कालमें समग्र वैष्णव-सम्प्रदायके एकमात्र संरक्षक आचार्य होंगे।

एक दिन श्रीलक्ष्मण भगवान् श्रीवरदराजके सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक कहने लगे "प्रभो! आजसे मैं सब प्रकारसे आपका हो गया, आप मुझे कृपाकरके ग्रहण कीजिये।" तदनन्तर उन्होंने संन्यासके उपकरणादि संग्रह करते हुए श्रीवरदराजकी इच्छानुसार अनन्त सरोवरके तटपर श्रीयामुनाचार्यका स्मरण करते हुए त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण किया।

श्रीरामानुजने संन्यास ग्रहणके साथ-ही-साथ वैष्णव-धर्मके प्रचारका व्रत ले लिया और क्रमशः उनके शिष्यादि बढ़ने लगे। श्रीयामुनाचार्यके निकट की गयी अपनी पूर्व प्रतिज्ञाका स्मरण करते हुए उन्होंने 'श्रीभाष्य' रचनाका सङ्कल्प किया। उन्होंने पूर्वाचार्य बौधायन द्वारा रचित वृत्तिके अनुसरणपूर्वक 'श्रीभाष्य' लिखनेकी अभिलाषा की और

काश्मीर प्रदेशके अन्तर्गत शारदा पीठसे उस 'वृत्तिराज' को लानेके लिए अपने शिष्य कुरेशके साथ वहाँ पहुँचे।

केवलाद्वैतवादियों द्वारा यह ग्रन्थ छिपाकर रखे जानेके कारण इसका प्रचार नहीं हुआ था। इसमें केवलाद्वैतवादके प्रातिकूल्यमें अकाट्य युक्तियों और शास्त्र-प्रमाण रहनेके कारण केवलाद्वैतवाद सम्पूर्ण रूपसे दुर्बल हो जायेगा, यह सोचकर केवलाद्वैतवादियोंने इस ग्रन्थको अत्यधिक सुरक्षित स्थानपर गोपन रूपसे रखा हुआ था। श्रीरामानुजाचार्यने शारदा पीठमें जाकर यह ग्रन्थ देखना चाहा, किन्तु वहाँके लोगोंने उस पुस्तकके अस्तित्वको ही नकार दिया। श्रीरामानुजाचार्यने अत्यन्त व्यथित होकर श्रीलक्ष्मी-नारायणके निकट मनोवेदना ज्ञापित की। रात्रिकालमें स्वयं शारदा-देवीने श्रीरामानुजाचार्यके हाथोंमें उस ग्रन्थको प्रदान किया और गुप्त रूपसे अतिशीघ्र ही उस स्थानसे चले जानेका आदेश दिया। श्रीरामानुजने वैसा ही किया। कुछ दिनोंके बाद शारदा पीठके केवलाद्वैतवादियोंको जब पुस्तक दिखायी नहीं दी, तब उन्होंने अनेक बलवान व्यक्तियोंको श्रीरामानुजाचार्यको ढूँढ़नेके लिए चारों दिशाओंमें भेजा। उन लोगोंने एक महीने तक दिन-रात दौड़ते हुए श्रीरामानुजाचार्यका पीछा किया। एक महीने पश्चात् अन्ततः उन्होंने श्रीरामानुजाचार्यको देखा और बलपूर्वक उनसे बौधायन-वृत्तिको छीनकर काश्मीर लौट आये। इससे श्रीरामानुज अत्यन्त दुखित हो उठे। तब उनके शिष्य कुरेशने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "प्रभो! इस एक महीनेमें प्रत्येक रातको जगकर मैंने सम्पूर्ण बौधायन-वृत्तिको कण्ठस्थ कर लिया है। आपका आदेश होनेपर मैं यह वृत्ति आपके लिए लिख दूँगा।" तब श्रुतिधर कुरेशने पाँच-छह दिनोंमें ही सम्पूर्ण वृत्तिको लिखकर अपने गुरुदेव श्रीरामानुजाचार्यको प्रदान कर दी। इससे वे अत्यन्त आनन्दित हुए और उन्होंने 'श्रीभाष्य' की रचनाके समय कुरेशको ही अपना लेखक बनाया। 'श्रीभाष्य' रचनाके पश्चात् श्रीरामानुजने और भी कुछेक ग्रन्थोंकी रचना की।

श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंकी तालिका इस प्रकार है— (१) श्रीभाष्य (वेदान्तभाष्य), (२) वेदान्तदीप (ब्रह्मसूत्र-वृत्ति), (३)

वेदान्ततत्त्वसार (ब्रह्मसूत्र-टीका), (४) श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य, (५) वेदार्थसार-संग्रह, (६) गद्यत्रय, (७) नित्यग्रन्थ, (८) वेदान्ततत्त्वसार, (९) विष्णुसहस्रनाम-भाष्य, (१०) विष्णुविग्रह-शंसन-स्तोत्र, (११) ईश-प्रश्न-मुण्डक-श्वेतश्वतरोपनिषद भाष्य इत्यादि ग्रन्थ।

श्रीरामानुजके वैष्णव-धर्मके प्रचारसे असहिष्णु होकर वैष्णव-विद्वेषी, स्मार्त्त धर्मावलम्बी चोल-राज्याधिपति शैव राजा कृमिकण्ठ द्वारा कुरेशकी दोनों आँखोंको उखाड़नेकी घटना भी विशेष विस्मयकारी है। श्रीवरदराजकी कृपासे एकनिष्ठ गुरु-सेवक कुरेशको बादमें दिव्य-चक्षु प्राप्त हो गये थे तथा उक्त शैवराजके कण्ठमें क्षतरोग हो गया और उसमें कृमि पड़ गये। इस भीषण यन्त्रणासे व्याकुल होकर उसके प्राण निकल गये।

एक दिन श्रीरामानुजाचार्यने अपने शिष्योंको एकत्रित करके प्रपञ्च-त्यागकी इच्छा व्यक्त की और उन्हें बहुत-से सारगर्भित उपदेश प्रदान किये। भविष्यमें किस प्रकारसे सब कुछ करना होगा, इस विषयमें उन्होंने अपने शिष्योंको निर्देश प्रदान किये। उपयुक्त शिष्योंको प्रचारके लिए विभिन्न प्रकारका दायित्व देकर १०५९ शकाब्दकी माघी शुक्ला दशमी तिथि, मध्याह्न कालमें उन्होंने वैकुण्ठ विजय की।

श्रीश्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रचारित सिद्धान्त—विशिष्टाद्वैतवाद

विशिष्टाद्वैतवादमें परम-ब्रह्मका अद्वयत्व स्वीकृत हुआ है। ये अद्वय-ब्रह्म विशिष्ट अर्थात् विशेषणयुक्त हैं। चित् और अचित् उनके विशेषण एवं शरीर हैं। स्थूल और सूक्ष्म भेदसे चित् और अचित् दो प्रकारके होते हैं। कारण अवस्थामें जो सूक्ष्म-चित्-अचित् हैं, वह कार्य अवस्थामें स्थूल चित्-अचित् रूपमें परिणत हो जाते हैं।

अद्वयज्ञान ब्रह्म ही एकमात्र निमित्त और उपादान कारण होनेसे उनमें कार्यके अनुकूल गुणसमूह वर्त्तमान हैं। गुणोंको गुणीका विशेषण ही समझना चाहिये। इसलिए चित् और अचित्—ये दोनों कारणरूपी ब्रह्मके कार्यानुकूल गुण या विशेषण हैं।

शरीर शरीरीका आश्रित, भोग्य, नियन्त्रित और उसका परिचायक है। चित् और अचित् ये दोनों अद्वय-ब्रह्मके आश्रित, भोग्य, नियाम्य और कार्य-स्वरूपमें कारणरूपी ब्रह्मके परिचायक हैं।

जीवात्मा-स्वरूपमें देव-मनुष्य आदि योनियोंमें कोई भी पार्थक्य नहीं है। आत्मा ही अपने कर्मफलके अनुसार भोगायतन शरीर प्राप्त करके अपनेको तत्-तत् परिचयसे परिचित कराता है। [अर्थात्—इस स्थूलशरीरको मैं समझकर उसके नाम, शरीर आदिके साथ ही अपना परिचय देता है।] इसलिए देव, मनुष्य आदि शरीर आत्माके ही भिन्न-भिन्न कर्मोंके परिचायकमात्र हैं। जाति और गुणकी भाँति मनुष्य आदिका शरीर भी एकमात्र आत्माके आश्रित, आत्म-प्रयोजनीय और आत्माका ही प्रकार अथवा धर्मस्वरूप है। मनुष्य आदि शरीर आत्माके आश्रित हैं, यह आत्मासे वियोग होनेके साथ-ही-साथ शरीरके विनाशको देखकर समझ आ जाता है। अपने किये हुए विशेष-विशेष कर्मोंका फल भोग करनेके लिए ही इस शरीरका जन्म और इसकी अवस्थिति होती है। अतः इस स्थूलशरीरकी आत्माके लिए प्रयोजनीयता है। 'आत्मा ही देवता है', 'आत्मा ही मनुष्य है' आदि प्रयोगोंसे यह अभिप्राय है कि देवता, मनुष्य आदि शरीर आत्माके ही प्रकार अथवा विशेषण हैं। आत्माका विशेषण नहीं होनेसे शरीरके अस्तित्वकी उपलब्धिका अभाव होता है। शरीर आत्माका नियाम्य और भोग्य है, किन्तु आत्माका परिचय भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि आत्मा खण्ड-चेतन है। खण्ड-चेतन अखण्ड-चेतनका परिचायक है। शरीर जिस प्रकारसे आत्माका परिचायक, नियाम्य और भोग्य है—आत्मा भी उसी प्रकार अखण्ड-चेतन परमात्माका परिचायक, नियम्य और भोग्य है। इसलिए शरीर शब्दकी परमात्मा तक व्याप्ति है।

शरीर, आत्मा आदि सभी शब्द सामानाधिकरण्य (समानार्थ) परब्रह्मके साथ प्रयुक्त होते हैं, किन्तु परब्रह्मके साथ शरीर और आत्माका समानाधिकरण्य प्रयोग सम्पूर्ण एकत्वके कारण नहीं है। समानाधिकरण्य स्थलपर एक वस्तुके ही विभिन्न द्योतक पदोंका विन्यास होता है। जैसे "ज्योतिष्टोम मन्त्रमें अरुणवर्णा, एकवर्षकी आयुवाली, पिङ्गाक्षी गौओंके द्वारा सोमयज्ञ करना होता है"—इस वाक्यमें 'अरुणवर्णा', 'एकहायणी' और 'पिङ्गाक्षी'—ये तीन विशेषण सोमयज्ञकी गौओंके भिन्न-भिन्न परिचायक हैं, उसी प्रकार चित् और

अचित् एक परमात्माके ही भिन्न-भिन्न द्योतक या परिचायक पद हैं। जिस प्रकार शरीर और आत्मा सामानाधिकरण्य, विशेषण-विशेष्य भावयुक्त होकर भी नियम्य-नियामक, भोग्य-भोक्ता विशेषयुक्त है, उसी प्रकार आत्माके साथ परमात्माका भी पूर्वोक्त विशेष-भाव नित्य वर्त्तमान है।

श्रीरामानुजाचार्यके विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तमें केवल भेदवाद, केवल अभेदवाद और औपचारिक भेदाभेदवादका सम्पूर्ण रूपसे खण्डन किया गया है।

श्रीरामानुज-कृत 'वेदार्थसंग्रह' में पाया जाता है—*जीवपरमात्मायाथात्म्य-ज्ञानपूर्वक वर्णाश्रमधर्मेति कर्त्तव्यताक-परमपुरुषचरणयुगल-ध्यानार्चन-प्रणामादि-रत्यर्थप्रियस्तत्प्राप्ति फलः।* अर्थात् जीवात्मा और परमात्माके याथात्म्य-परस्पर सम्बन्धज्ञान सहित शुद्ध वर्णाश्रमधर्ममें अवस्थित होकर प्रीतिके साथ भगवान् श्रीपुरुषोत्तमके युगलचरणोंका ध्यान, अर्चन, प्रणाम करना आदि ही अभिधेय हैं और उनके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही प्रयोजन है। संक्षेपमें यही श्रीरामानुजीय मत है।

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तमें चित्, अचित् और ईश्वर—ये त्रिविध तत्त्व स्वीकृत हुए हैं। 'चित्' शब्दसे जीवात्मा, 'अचित्' शब्दसे जड़ और 'ईश्वर' शब्दसे चित्-अचित्के नियामक पुरुषोत्तम भगवान् श्रीनारायण निर्दिष्ट हुए हैं।

श्रीरामानुजाचार्यके परवर्त्तीकालमें श्रीजगन्नाथयति, श्रीसुदर्शनसूरि, श्रीअहोबल, श्रीरघुनाथयति, श्रीसुदर्शनाचार्य, श्रीकृष्णपद आचार्य, श्रीवेङ्कटनाथ, श्रीलोकाचार्य, श्रीवीरराघवाचार्य, वादिहंसान्ववाचार्य, वरदविष्णु आचार्य, श्रीवेदान्तदेशिक, श्रीरङ्ग रामानुजाचार्य, श्रीअनन्ताचार्य, श्रीताताचार्य इत्यादि महात्माओंने विशिष्टाद्वैतमतके अनुकूल असंख्य ग्रन्थोंकी रचना करके केवलाद्वैतवादका खण्डन किया और श्रीरामानुज द्वारा प्रचारित सिद्धान्तको जगत्में परिस्फुट किया। इनके ग्रन्थों आदिकी आलोचना करनेपर इनकी महिमासे अवगत हुआ जा सकता है।

एक समय श्रीरामानुज सम्प्रदाय तेङ्गलइ और वङ्गलइ—इन दो शाखाओंमें विभक्त हो गया था।

(३) वेदान्तसूत्र भाष्यकार—श्रीमन्मध्वाचार्य

दाक्षिणात्यमें उडुपी क्षेत्रसे सात मील पूर्व दक्षिणकोणमें पापनाशिनी नदीके किनारे विमानगिरि नामक एक ऊँचे पर्वतके एक मील पूर्व दिशामें पाजका क्षेत्रमें ११६० शकाब्द १२३८ खृष्टाब्दमें श्रीमन्मध्वाचार्य आविर्भूत हुए थे। इनके पिताका नाम श्रीनारायण भट्ट एवं माताका नाम वेदवती था। श्रीनारायण भट्ट मध्यगेह-वंशोत्पन्न सदाचाररत विष्णुभक्त ब्राह्मण थे। उनकी सहधर्मिणी वेदवती भी विष्णुभक्तिपरायणा परम धर्मशीला स्त्री थीं। एक-एक करके दो पुत्रोंके अकाल-वियोगके बाद ब्राह्मण-दम्पत्तिने अमर-पुत्रकी प्राप्तिकी कामनासे बारह वर्ष पर्यन्त दुग्ध-पान कर अतीव कठोर तपस्या की। श्रीशेषशायी भगवान् उनकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उन्हें समुचित फल प्रदान करनेके लिए उन्मुख हुए।

इसी समय सनातन धर्मक्षेत्र भारतवर्षमें सर्वत्र ही विशुद्ध भगवत्-उपासनाका भीषण अभाव उपस्थित हुआ। प्रच्छन्न बौद्धवादरूपी नास्तिक-मायावाद जीवोंको उनके सनातन अथवा नित्य-धर्म-विष्णुभक्तिसे दूरकर घोर तमोधर्म अर्थात् मायाके अन्धकारकी ओर ले जा रहा था। ठीक उसी समय उस प्रच्छन्न बौद्धवादरूप कुहरेको भारतवर्षसे अपसारित करके श्रीवेदव्यास-प्रणीत सम्पूर्ण शास्त्रके प्रतिपाद्य यथार्थ तत्त्वको सज्जनगणोंको उपदेश करनेके लिए पाजका क्षेत्रवासी मध्यगेह-कुलोत्पन्न नारायण भट्टकी सहधर्मिणी वेदवतीका आश्रय करके मुख्यवायु जगत्में अवतीर्ण हुए। कोई कहते हैं कि वे त्रेतायुगीय वज्राङ्गजीके अवतार थे और कोई कहते हैं कि वे द्वापरीय कुन्तीपुत्र भीमसेनके अवतार थे।

श्रीनारायण भट्टने अपने पुत्रका नाम 'वासुदेव' रखा। वासुदेव शैशव कालसे ही विचित्र लीलाओंको प्रकट करके सभीको विस्मित कर देते थे। अष्टम वर्षमें उपनयन संस्कार होनेके बाद वे पूगवन-कुलोत्पन्न किसी विप्रके निकट वेदाध्ययनके लिए गये तथा अत्यल्पकालमें ही सम्पूर्ण वेदाध्ययन समाप्त करके गृह लौट आये। उस समय एक दिन वासुदेव अपने हाथमें एक छड़ी लेकर पिताके समीप उपस्थित

हुए और बोले, "पिताजी! मैंने अध्ययन समाप्त कर लिया है। अब मैं मायावादका खण्डनकर जगत्में वैष्णव-सिद्धान्तका प्रचार करूँगा।" यह सुनकर श्रीनारायण भट्टने कहा कि तुम्हारे समान एक सामान्य बालक यदि मायावादका खण्डन करके वैष्णव-सिद्धान्तका प्रचार कर सकता है, तब तो तुम्हारे हाथमें स्थित शुष्क छड़ी भी विशाल सजीव वृक्षके रूपमें परिणत हो सकती है। उस समय बालक वासुदेवने उस सूखी छड़ीको मिट्टीके अन्दर गाड़कर पितासे कहा—"श्रीभगवान्की शक्तिके प्रभावसे जब इस छड़ीका विशाल वृक्षके रूपमें परिणत होना असम्भव नहीं है, उसी प्रकार श्रीभगवत्-शक्तिके प्रभावसे मेरे जैसे बालकके लिए भी मायावादका खण्डन करके वैष्णव-सिद्धान्त स्थापन करना असम्भव नहीं होगा।" इतना कहनेके साथ-ही-साथ वह छड़ी एक महान वट वृक्षके रूपमें परिणत हो गयी। आज भी पाजकाक्षेत्रमें वह वट-वृक्षराज विराजित होकर श्रीमन्मध्वाचार्यकी अलौकिक शक्तिकी स्मृतिका संरक्षण कर रहा है।

श्रीनारायण भट्टके पुत्र वासुदेवने दस वर्षकी अवस्थामें श्रीअच्युत प्रेक्षके निकट रजतपीठपुरमें अनन्तेश्वर देवालयमें (मन्दिरमें) आकर कुछ दिनों तक श्रीअच्युत प्रेक्षकी सेवाके छलसे उनके निकट द्वैत-सिद्धान्तोंका कीर्त्तन किया और बारह वर्षकी आयुमें संन्यास आश्रम ग्रहण किया। संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् वे वासुदेव 'आनन्दतीर्थ' या 'मध्व' नामसे प्रसिद्ध हुए।

'मध्व' शब्दकी व्याख्यामें एक श्लोक प्राप्त होता है—

मध्वित्यानन्द उद्दिष्टः वरिति ज्ञानमुच्यते।
मध्व आनन्दतीर्थस्यात् तृतीया मारुतीतनुः॥

'मधु' शब्दके द्वारा आनन्दका बोध होता है एवं 'व' द्वारा ज्ञान कहा गया है। 'तीर्थ' शब्दका अर्थ भी ज्ञान है, इसलिए मधु+व=मध्व शब्दका अर्थ है आनन्दतीर्थ। आनन्दतीर्थ तृतीय मारुती तनु अर्थात् वायुके तृतीय अवतार हैं।

श्रीमध्वाचार्यके अधःस्तनगण अपना परिचय प्रदान करते हुए ऐसा ही कहते हैं अथवा लिखते हैं—

'स्वस्ति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्यत्वाद्यानेकगुणगणालंकृत-पदवाक्यप्रमाणपारावार पारङ्गतसर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीमद्वैष्मी-सत्यभामासमेत-श्रीगोपाल-श्रीकृष्णपादपद्माराधक-श्रीमद्द्वैत-वैष्णव-सिद्धान्त-प्रतिष्ठापनाचार्य श्रीआनन्दतीर्थापर-नामक-श्रीमन्मध्वाचार्यः॥'

संन्यास ग्रहणके पश्चात् श्रीमन्मध्वाचार्यने आचार्यका कार्य अर्थात् 'आचार' एवं 'प्रचार' करना आरम्भ कर दिया। सुना जाता है कि विभिन्न स्थानोंपर प्रचार करते हुए उन्होंने अनन्त-शयन देवालयमें वेदान्तसूत्रकी व्याख्या करते हुए शङ्कराचार्यको पराजित किया था। शङ्कर-विजय ग्रन्थमें उल्लिखित है कि मध्वाचार्यके आविर्भावके पूर्व केरल देशके अन्तर्गत कालाडि नामक ग्राममें शङ्कराचार्यका जन्म हुआ था और मध्वाचार्यके प्रकटकालमें कुम्भकोणके समीप कुदुपुस्तर ग्राममें शङ्कराचार्यका दूसरी बार जन्म हुआ।

क्रमशः रामेश्वरका दर्शन करके श्रीरङ्गम् आदि प्रसिद्ध स्थानोंपर श्रीमन्मध्वाचार्यने साङ्ग-वेदज्ञ-ब्राह्मणोंकी सभामें मायावादका खण्डन किया और 'सर्वज्ञ यति' के नामसे प्रसिद्ध हुए। श्रीबदरिकाश्रमके निकट आकर वे शिष्योंके निकट गीताभाष्यका उपदेश करने लगे। इसी समय श्रीमन्मध्वके साथ श्रीमद्वेदव्यासका साक्षात्कार हुआ और श्रीव्यासदेवके श्रीचरणकमलसे सम्पूर्ण वेद-वेदान्तसूत्र महाभारत-भागवत शास्त्रके व्यासाभिमतानुयायी श्रौततात्पर्य, सिद्धान्तसार और उपदेशावली प्राप्त करके वे श्रीव्यासदासके रूपमें सुपरिचित हुए। इसके बाद श्रीनर-नारायणाश्रममें श्रीनारायणका दर्शन करके श्रीवेदव्यास और नर-नारायणकी आज्ञानुसार पुनः शिष्यगणोंके साथ प्रचारके लिए लौट आये।

बदरिकाश्रमसे 'आनन्द मठ' लौटते समय इन्होंने सूत्र-भाष्यकी रचना समाप्त की। कहा जाता है कि श्रीमन् मध्वाचार्यने अपने सूत्र-भाष्यमें इक्कीस दुर्भाष्योंका खण्डन करके स्व-सिद्धान्तकी स्थापना की। सुमध्वविजय काव्यके नवम सर्गके सोलहवें श्लोककी टीकामें इन इक्कीस प्रकारके भाष्योंका नाम उल्लिखित है।

श्रीमन्मध्वाचार्यकी एक और अलौकिक घटनाके विषयमें पाया जाता है कि उडुपीमें लौटनेके बाद एक दिन समुद्रस्नानके लिए जाते

समय उन्होंने श्रीकृष्णस्तोत्रके पाँच अध्यायोंकी रचना की। जब वे समुद्रके किनारे बैठे थे, तब वहाँ एक नौका रेतीमें अटककर फँस गयी। नाविकने बहुत-सी चेष्टाएँ की, परन्तु वह नौकाको तनिक भी हिला-डुला न सका। यह देखकर श्रीमन्मध्वाचार्य अपने हाथोंको नौकाको चलानेकी मुद्रामें हिलाने लगे, उनके इस प्रकार मुद्रा-प्रदर्शन करनेमात्रसे ही नाविककी नौका बालुसे निकलकर चलने लगी। वह नाविक समुद्रके तटपर बैठे उन श्रेष्ठ संन्यासी ठाकुरके ऐसे अद्भुत ऐश्वर्य (अलौकिक क्षमता) को देखकर विस्मित हो गया और इस उपकार तथा अपने हृदयकी कृतज्ञता अभिव्यक्त करनेके लिए नौकासे उतरकर कुछ द्रव्य ग्रहण करनेके लिए विशेष अनुरोध करने लगा। उसके अनुरोधपर श्रीमन्मध्वाचार्यने द्वारकाके गोपी-सरोवरसे लाये हुए एक बड़े गोपीचन्दनके टुकड़ेमात्रको ग्रहण किया। आश्चर्यका विषय यह है कि चन्दन-खण्डको लाते समय वह पथमें ही टूट गया और उसमेंसे एक अपूर्व भुवन-मोहन बालकृष्ण मूर्त्ति प्रकट हुई। मूर्त्तिके एक हाथमें दधिमन्थन दण्ड और दूसरे हाथमें मन्थन करनेकी रस्सी थी। श्रीकृष्णकी इस श्रीमूर्त्तिको प्राप्त करके श्रीमन्मध्वाचार्यने अपने 'द्वादश-स्तोत्र' के शेष सात अध्यायोंकी रचना उसी दिन ही की। आश्चर्यकी बात और भी यह हुई कि जब तीस बलवान व्यक्ति भी उस श्रीकृष्ण-मूर्त्तिको उठानेमें अक्षम हो गये, तब श्रीमध्वाचार्य स्वयं उस बालकृष्ण-मूर्त्तिको उठाकर अपने मठमें ले आये और गोपीचन्दनसे लिप्त उस श्रीकृष्ण-मूर्त्तिको उडुपीमें स्थित एक विशाल सरोवरमें स्नान कराकर उडुपीमें स्थित अपने मठमें ही उसकी प्रतिष्ठा की। श्रीमन्मध्वाचार्यने स्वप्रतिष्ठित श्रीबालकृष्णकी पूजाका प्रवर्त्तन किया और अपने सिद्धान्तके प्रचारकी इच्छासे अपने आठ ब्रह्मचारी शिष्योंको संन्यास प्रदानकर उनके ऊपर श्रीकृष्ण-मूर्त्तिकी सेवाका दायित्व और शास्त्र-अध्यापनादि प्रचार-भार सौंप दिया।

श्रीमन्मध्वाचार्यके आठ संन्यासी शिष्योंके नाम हैं—

(१) श्रीहृषीकेशतीर्थ, (२) श्रीनरहरितीर्थ, (३) श्रीजनार्दनतीर्थ, (४) श्रीउपेन्द्रतीर्थ, (५) श्रीवामनतीर्थ, (६) श्रीविष्णुतीर्थ, (७)

श्रीरामतीर्थ और (८) श्रीअधोक्षजतीर्थ। तदनन्तर एक गृहस्थ शिष्यको भी संन्यास प्रदान करके उसे 'पद्मनाभतीर्थ' नाम प्रदान किया।

श्रीमन्मध्वाचार्यके जीवनकी कुछ और भी आश्चर्यजनक घटनाएँ पायी जाती हैं। एक बार एक राजा जनसाधारणके उपकारके लिए एक पुष्करिणी (सरोवर) खुदवा रहा था। राजाके आदेशके अनुसार उन राजकर्मचारियोंने श्रीमन्मध्वाचार्यको उनके शिष्योंके सहित मिट्टी खुदवानेके कार्यमें बलपूर्वक नियुक्त कर दिया, तब श्रीमन्मध्वाचार्यने उसी कर्मी राजाको ही उस कार्यमें प्रवृत्त कर दिया और अपने शिष्योंको लेकर अन्यत्र चले गये।

उसी समय गाङ्ग प्रदेशके एक ओर हिन्दु राज्य एवं दूसरी ओर मुसलमान राज्य था। परस्पर विवादके कारण नदी पार करनेके लिए नौका भी नहीं मिलती थी। नदीके दूसरी ओर विरोधी सैनिकोंने नदी पार करनेपर प्रतिबन्ध लगा रखा था, किन्तु श्रीमन्मध्वाचार्यने इस सब प्रतिबन्धकी चिन्ता किये बिना ही शिष्योंके साथ एक दूसरेका हाथ पकड़कर नदीको तैरकर पार कर लिया। नदीके उस पार सैनिकों द्वारा बाधा दिये जानेपर भी वे स्वयं ही मुसलमान राजाके समक्ष उपस्थित हो गये। राजा उनकी सौम्य मूर्त्तिको देखकर एवं उनके मधुर वचनोंको सुनकर इतना आकृष्ट हुआ कि अपना आधा राज्य उन्हें देनेके लिए आग्रह करने लगा। श्रीमध्वाचार्यने उसे स्वीकार नहीं किया।

और एक दिन मार्गमें चलते-चलते डकैतोंने उनपर आक्रमण किया, किन्तु महाबली श्रीमन्मध्वाचार्यने अनायास ही उन सभीका विनाश कर डाला और आगे बढ़ गये।

मार्गमें किसी एक स्थानपर जब उनके शिष्य सत्यतीर्थपर बाघने आक्रमण किया तब मध्वाचार्यने उस बाघको मारकर उसके हाथसे अपने शिष्यकी रक्षा की।

कहा जाता है कि जब श्रीमध्वाचार्यके साथ श्रीव्यासदेवका साक्षात्कार हुआ तब श्रीव्यासदेवसे उन्हें अष्टमूर्त्ति (आठ शालग्राम) भी प्राप्त हुए। उसके बाद ही उन्होंने 'महाभारत-तात्पर्य' की रचना की।

जब श्रीमन्मध्वाचार्य इस प्रकार अपने प्रबल पराक्रमसे मायावादका खण्डन करते हुए सर्वतोभावसे अपने मतका प्रचार करने लगे, तब केवलाद्वैतवादियों द्वारा बहुत प्रकारसे उन्हें बाधा पहुँचानेका प्रयास करनेपर भी वे उनके (श्रीमध्वाचार्यके) विजय-गौरवको किसी भी प्रकारसे प्रतिहत करनेमें समर्थ न हो सके। बहुत-से विरोधियोंने तो पराजित होकर श्रीमध्वके शिष्यत्वको ही स्वीकार कर लिया।

श्रीमन्मध्वाचार्यकी शास्त्र-सिद्धान्तमें पारदर्शिताके विषयमें सुनकर देवता तक भी विस्मित और परम प्रसन्न हुए थे। एक दिन रुद्रादि सभी प्रमुख देवता आकाशमार्गसे रजतपीठपुरमें श्रीअनन्तेश्वर मन्दिरके सम्मुख उपस्थित हुए। श्रीमन्मध्वाचार्य उस समय मन्दिरमें अपने शिष्योंके निकट 'ऐतरेयोपनिषद' की व्याख्या कर रहे थे। श्रीमन्मध्वाचार्यके मुखसे ऐसे व्याख्या-कौशलको देखकर देवता परम आनन्दित हुए और श्रीमन्मध्वाचार्यके ऊपर मन्दार-पारिजात आदि दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे।

श्रीमन्मध्वाचार्य अपने शिष्योंके निकट ऐतरेयोपनिषद-भाष्यकी व्याख्या करते-करते माघी शुक्ला नवमी तिथिमें ७९वर्षकी आयुमें अनन्तेश्वर देवालयमें ही अदृश्य हो गये।

श्रीमन्मध्वाचार्य सम्प्रदायके विख्यात पण्डिताचार्य श्रीवादिराजस्वामीने कहा है कि—श्रीमन्मध्वाचार्य अदृश्य रूपसे उडुपीमें और दृश्यरूपमें बदरिकाश्रममें आज भी विराजित हैं।

श्रीमन्मध्वाचार्यने जगत्में द्वैत-सिद्धान्तका प्रचार करनेके लिए अनेक ग्रन्थोंकी रचना की तथा मठादि स्थापित कर वहाँ सेवा-पूजाकी व्यवस्था की। श्रीजयतीर्थके द्वारा रचित 'ग्रन्थमालिका-स्तोत्र' में श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा रचित जिस ग्रन्थावलीका नाम प्राप्त हुआ है, वह निम्नलिखित है—(१) गीता-भाष्यम्, (२) सूत्र-भाष्यम्, (३) अनुव्याख्यानम्, (४) अनु-भाष्यम्, (५) गीता-तात्पर्य-निर्णयः, (६) ऐतरेय-भाष्यम्, (७) बृहदारण्यक-भाष्यम्, (८) छान्दोग्य-भाष्यम्, (९) तैत्तिरीय-भाष्यम्, (१०) काठक-भाष्यम्, (११) आथर्वण-भाष्यम्, (१२) माण्डुक-भाष्यम्, (१३) ईशावास्य-भाष्यम्, (१४) तलवकार-भाष्यम्, (१५) षट्प्रश्न-भाष्यम्, (१६) ऋग्-भाष्यम्, (१७) तत्त्वसंख्यानम्,

(१८) तत्त्व-विवेकः, (१९) तत्त्वोद्योतः, (२०) मायावाद-खण्डनम्, (२१) मिथ्यात्वानुमान-खण्डनम्, (२२) उपाधि-खण्डनम्, (२३) कथा-लक्षणम्, (२४) प्रमाण-लक्षणम्, (२५) कर्म-निर्णयः, (२६) विष्णु-तत्त्व-निर्णयः, (२७) न्याय-विवरणम्, (२८) कृष्णामृतमहार्णवः, (२९) तन्त्रसारः, (३०) सदाचार-स्मृतिः, (३१) द्वादश-स्तोत्रम्, (३२) नृसिंह-नख स्तुतिः, (३३) जयन्ती-निर्णयः, (३४) श्रीकृष्ण-गद्यम्, (३५) श्रीमन्महाभारत-तात्पर्य-निर्णयः, (३६) श्रीभागवत-तात्पर्य-निर्णयः, (३६) यमक भारतम्, (३७) यति-प्रणवकल्पः।

'बत्तीस अक्षर परिमितका एक ग्रन्थ'—इस प्रकार गणना करनेपर श्रीमन्मध्वाचार्यके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी संख्या प्रायः ३२,००० निर्द्धारित होती है। यथा 'ग्रन्थमालिका-स्तोत्र' में वर्णित है—

त्रिंशत् सहस्रं द्व्यधिकमधिकं कृष्णतुष्टिदम्।
एतेषां पाठमात्रेण मध्वेशः प्रीयते हरिः॥

श्रीकृष्णको आनन्द प्रदान करनेवाले इन ३२,००० ग्रन्थोंका पाठ करनेमात्रसे ही श्रीमन्मध्वाचार्यके ईश श्रीहरि प्रसन्न होते हैं।

श्रीमन्मध्वाचार्यने द्वैतवादका प्रचार किया है। इस मतवादको स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद, स्वाभाविक भेदवाद, केवल-भेदवाद अथवा तत्त्ववाद कहा जाता है। 'स्वतन्त्र' एवं 'परतन्त्र' भेदसे तत्त्व दो प्रकारका है। 'स्वतन्त्र-ईश्वर' तत्त्वसे [श्रीविष्णु ही एकमात्र सर्वस्वतन्त्र-तत्त्व हैं] परतन्त्र-तत्त्वसमूह नित्य भेदयुक्त है। (१) जीव और ईश्वरमें परस्पर भेद, (२) जीव और जीवमें परस्पर भेद, (३) ईश्वर और जड़में परस्पर भेद, (४) जीव और जड़में परस्पर भेद, (५) जड़ और जड़में परस्पर भेद—ये पाँच प्रकारके भेद अथवा द्वैत—नित्य, सत्य और अनादि हैं।

इस विषयमें प्रमाण पाया जाता है—

जीवेशयोर्भिदा चैव जीवभेदः परस्परम्।
जडेशयो र्जडानां च जडजीवभिदा तथा॥

पञ्चभेदा इमे नित्याः सर्वावस्थासु नित्यशः।
मुक्तानाञ्च न हीयन्ते तारतम्यं च सर्वदा॥

मुक्त अवस्थामें भी जीव और ईश्वरमें नित्य भेद रहेगा अर्थात् सभी अवस्थाओंमें यह तारतम्य सदा बना रहता है।

श्रीमन्मध्वाचार्य द्वैतवादी अथवा भेदवादी होनेपर भी परमेश्वरमें अचिन्त्यशक्तिमत्ता एवं भेदाभेदवादको स्वीकार करते हैं।

श्रीमद्भागवतके एकादश-स्कन्धमें देखा जाता है—

बुध्यते स्वेन भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत्॥

(श्रीमद्भा० ११/७/५१)

सूर्य अपने किरणमण्डलके सहित अभिन्न रूपमें दिखायी देनेपर जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जलपात्रोंमें प्रतिबिम्बित होकर स्थूल बुद्धि-विशिष्ट मनुष्योंको अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा स्वरूपमें अवस्थित रहनेके समय अभिन्न रूपमें ही लक्षित हुआ करता है, किन्तु भिन्न-भिन्न देहरूप उपाधिमें प्रवेश करनेपर प्रतिबिम्बित, सूर्यकी भाँति स्थूल बुद्धिपरायण पुरुष उसे पृथक् रूपमें देखते हैं।

इस श्लोकको 'श्रीभागवत-तात्पर्य' टीकामें श्रीमन्मध्वाचार्यने 'ब्रह्म-तर्क' नामक पुरातन ग्रन्थसे प्रमाण उद्धृत किया है जिसमें देखा जाता है—

विशेषस्य विशिष्टस्याप्यभेदस्तद्वदेव तु।
सर्वं चाचिन्त्यशक्तित्वाद् युज्यते परमेश्वरे॥

तच्छक्त्यैव तु जीवेषु चिद्रूप प्रकृतावपि।
भेदाभेदौ तदन्यत्र ह्युभयोरपि दर्शनात्॥

कार्यकारणयोश्चापि निमित्तं कारणं विना।

(ब्रह्मतर्के)

विशिष्ट और विशेष्यका भी अभेद उसी प्रकारसे ही है। परमेश्वरके अचिन्त्यशक्तिसे युक्त होनेके कारण यह सब उनमें (परमेश्वरमें) सम्भव है। परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा उनके चिद्रूपका जीव और प्रकृतिके साथ भेद और अभेद सम्बन्ध है, क्योंकि उनके चिद्रूपका जीव और प्रकृतिके साथ भेद और अभेद—दोनों ही देखा जाता है। निमित्त कारणके बिना कार्य सम्भव

नहीं है। अतएव जिस प्रकार कार्य-कारणका भेदाभेद सम्बन्ध है, उसी प्रकार कारणस्वरूप परमेश्वरका कार्यस्वरूप जीव और प्रकृतिसे भेदाभेद सम्बन्ध है।

श्रीमध्व सम्प्रदायके आचार्योंके ग्रन्थोंमें श्रीमध्वसिद्धान्तका सम्पुट रूपमें सर्वत्र एक श्लोक देखा जाता है, इसमें श्रीमन्मध्वाचार्यका सिद्धान्त संक्षेप रूपसे परिस्फुट हुआ है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणाः हरेनुचरानीचोच्च भावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

श्रीमध्वाचार्यके सिद्धान्तके अनुसार भगवान् विष्णु सर्वोत्तम तत्त्व हैं। जगत् सत्य है। ईश्वर, जीव और जड़में परस्पर पाँच प्रकारके भेद सदैव नित्य हैं। जीव सदा श्रीहरिके दास हैं। जीवोंमें परस्पर योग्यताका तारतम्य वर्त्तमान है। जीवोंके स्वरूपानुगत धर्मकी अभिव्यक्ति 'मुक्ति' है। निर्मल, शुद्ध या अहैतुकी भक्ति जीवोंके स्वरूपानुगत धर्मकी अभिव्यक्तिका साधन है। शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष—ये तीन प्रकारके प्रमाण हैं। श्रीहरि एकमात्र अखिल-आम्नाय द्वारा जानने योग्य हैं अर्थात् श्रौतपन्थाके द्वारा ही भगवत्-उपलब्धि सम्भव है।

श्रीमध्व-गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण प्रभुने भी स्वरचित 'प्रमेय-रत्नावली' नामक ग्रन्थमें प्रमेयसमूहके उद्देश्यसे निम्नलिखित श्लोककी रचना की है—

श्रीमध्वः प्राह विष्णु परतममखिलाम्नाय वेद्यञ्च विश्वं
सत्यं भेदञ्च जीवान् हरिचरण-जुषस्तारतम्यञ्च तेषाम्।
मोक्षं विष्णुङ्घ्रिलाभं तदमल भजनं तस्य हेतुं प्रमाणं
प्रत्यक्षादित्रयञ्चेत्युपदिशति हरिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः॥

श्रीमध्व कहते हैं—(१) श्रीविष्णु ही परमतत्त्व हैं, (२) श्रीविष्णु ही अखिल वेदोंके द्वारा जानने योग्य हैं, (३) जगत् सत्य है, (४) जीव विष्णुसे भिन्न हैं, (५) सभी जीव श्रीहरिके चरणोंके सेवक हैं, (६) जीवोंमें बद्ध और मुक्तके भेदसे तारतम्य वर्त्तमान है, (७)

विष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही जीवोंकी मुक्ति है, (८) जीवोंकी मुक्तिका एकमात्र उपाय विष्णुका शुद्ध भजन है, (९) प्रत्यक्ष, अनुमान और वेद तीन प्रमाण हैं। मध्व कथित इन नौ प्रमेयोंका ही श्रीभगवान् श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रने उपदेश दिया है।

गौड़ीय-वेदान्ताचार्य श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा रचित उपरोक्त श्लोकसे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेवने श्रीमन्मध्व आम्नाय (गुरु-परम्परा) को स्वीकार किया है। इसलिए श्रीगौड़ीय सम्प्रदाय माध्व-गौड़ीय या ब्रह्म-माध्व-गौड़ीय सम्प्रदायके नामसे सज्जन समाजमें परिचित है।

कोई-कोई कह सकते हैं कि श्रीमन्महाप्रभुने प्रेमको 'साध्य' के रूपमें स्वीकार करते हुए मुक्तिकी उपेक्षा की है, किन्तु श्रीमध्वमतमें मुक्ति ही साध्य रूपमें निर्णीत है। यहाँ यह विचारणीय है कि श्रीमन्मध्व मोक्षको साध्य रूपमें स्वीकार करते हुए भी जीव-परमात्मैक्यरूप सायुज्यको स्वीकार नहीं करते। उनके मतमें सायुज्यमुक्तिका सर्वतोभावसे (सभी प्रकारसे) तिरस्कार हुआ है। इस विषयका उनकी कुछ रचनाओंमें विवेचन किया गया है। उदाहरणार्थ—

(१) *अतो विष्णोः सर्वोत्तमत्व एव महातात्पर्यम् सर्वागमानाम्। कथं च जीवपरमात्मैक्ये सर्वश्रुतीनां तात्पर्यं युज्यते सर्वप्रमाणविरुद्धत्वात्।*

(विष्णुतत्त्व-निर्णय)

इसलिए विष्णुके सर्वोत्तमत्वमें ही सभी आगमोंका (समस्त शास्त्रोंका) महातात्पर्य है। सभी प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेके कारण जीव और परमात्माका ऐक्य सभी श्रुतियोंका तात्पर्य कैसे हो सकता है?

(२) *सत्यं सत्यं पुनः सत्यं शपथैश्चापि कोटिभिः। विष्णुमाहात्म्य लेशस्य विभक्तस्य च कोटिधा। पुनश्चानन्तधा तस्य पुनश्चापि ह्यनन्तधा नैकांश-सम-माहात्म्याः श्रीशेष-ब्रह्म-शङ्कराः।*

करोड़ों शपथ लेकर कहता हूँ—यह सत्य है, सत्य है और सत्य है। विष्णु-माहात्म्यके लेशमात्र खण्डके भी यदि कोटि-कोटि विभाग कर दिये जायें और उसके भी अनन्त अंश कर दिये जायें, पुनः उस अनन्तांशके और भी अनन्तांश कर दिये जायें, तो भी श्रीशेष-ब्रह्म-शङ्कर उसके एकांशकी भी बराबरी नहीं कर सकते।

नास्ति नारायण समं न भूतं न भविष्यति इति नारदीये।
एतेन सत्यवाक्येन सर्वार्थान् साधयाम्यहम्॥
(गीता-भाष्य)

अर्थात् श्रीनारायणके समान न कोई हुआ है और न कोई होगा—यह नारदीय-पुराणमें कहा गया है। इस वाक्यको सत्य मानकर मैं सर्वार्थ-सिद्धिकी कामना करता हूँ।

(३) *स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।*
(मु॰ ३/२/९)

अर्थात् जो निश्चित रूपसे परब्रह्म-परमेश्वरके तत्त्वको जान लेता है अर्थात् उनका साक्षात्कार कर लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् ब्रह्मका सादृश्य प्राप्त करता है। उसमें अपहत-पाप्मत्त्वादि अष्टगुण आविर्भूत हो जाते हैं।

इति च मुक्तजीवस्य परापत्तिरुच्यते, अतस्तयोरविभागः॥

अर्थात् इस प्रकारसे मुक्तजीवकी परापत्ति-परमात्म-प्राप्ति (परम श्रेष्ठता) कही जाती है। अतः जीव और ब्रह्म दोनोंका इस प्रकारसे अविभाग है। (सदृशताका तात्पर्य केवलाभेद कभी भी नहीं है।)

अतः पूर्वमपि स एव, न ह्यन्यस्यान्यत्वं युज्यत इति चेन्न स्याल्लोकवत्। यथा लोके उदकमुदकान्तरेणैकीभूतमिति व्यवह्रियमाणमपि भिन्नवस्तुत्वात् तदन्तर्भूतमेव भवति, न तु तदेव भवतीत्येवं स्यादत्रापि। तथा च श्रुतिः—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥
(कठ॰ २/४/१५)

अर्थात् विज्ञानमय जीवात्मा अपने कर्मों सहित अव्यय परब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त होते हैं—इत्यादि प्रमाणसे मुक्तजीवकी परमात्मा-प्राप्तिके विषयमें पहले भी कहा गया था, दोनोंका ऐक्य नहीं। अन्यका अन्यत्व (भोग्यका भोक्तृत्व) सम्भव नहीं है। जीवका आश्लेष परमात्मामें होगा, इत्यादि तर्क भी असङ्गत है। यह ऐक्य लौकिक ऐक्यके समान है, जैसे कि लोकमें एक जल दूसरे जलमें एकीभूत

हो गया। ऐसा व्यवहार करनेपर भी वस्तुतः दोनों जल भिन्न वस्तु होनेसे दोनों एक दूसरेमें अन्तर्भूत होते हैं, न कि एकीभूत। उनमें अवान्तर भेद रहता ही है। वह वही हो जाता है, ऐसा नहीं है। श्रुति कहती है—

जिस प्रकार शुद्ध जलमें आसिक्त (प्रक्षिप्त) शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, इसी प्रकार—हे गौतम! विज्ञानी मुनिका आत्मा भी हो जाता है। [आभूषण स्वर्णसे भिन्न नहीं है, परन्तु स्वर्णको कुण्डलादि आभूषण नहीं कहा जा सकता।] (*तादृगेव भवति, न तु तदेव।*)

स्कान्दे च,

उदकन्तूदके सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत्।
न चैतदेव भवति यतो वृद्धिः प्रदृश्यते॥

एवमेव हि जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना।
प्राप्तोऽपि नासौ भवति स्वातन्त्र्यादि विशेषणात्॥

ब्रह्मेशानादिभिर्देवैर्यत् प्राप्तुं नैव शक्यते।
तद् यद् स्वभावः कैवल्यं स भवान् केवलो हरे॥

(ब्र॰सू॰ २/१/१३ मध्वभाष्य)

स्कन्दपुराणमें और भी स्पष्ट किया गया है—

जलमें छिड़का (ड़ाला) हुआ जल जैसे एक मिश्रण हो जाता है, वास्तवमें वह मिलता नहीं केवल वृद्धि दिखायी-सी देती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मासे तादात्म्य प्राप्त करता है, वह वही नहीं हो जाता क्योंकि स्वातन्त्र्यादि विशेषताएँ परमात्माके ही विशेषण होनेसे जीवमें नहीं आतीं। (इन गुणोंको जीव प्राप्त नहीं कर सकता) ब्रह्मा, शङ्कर आदि भी उनकी कभी समता नहीं कर सकते। (भगवान्‌को उद्दिष्ट करके कहते हैं) क्योंकि जिनका नैसर्गिक स्वभाव *'स केवलः'* (सर्वोत्तमः अर्थात् जड़से अमिश्र) है, ऐसे मात्र आप ही हैं।

(४) *अतो जले जलैकीभाववदेकी भावः। उक्तञ्च—*

यथोदकं शुद्धे शुद्धं यथा नद्य इत्यादौ
तत्राप्यन्योन्यात्मकत्वे वृद्ध्यसम्भवः॥

(श्रीगी॰ द्वितीय अध्याय मध्वभाष्य)

इस प्रकार जलमें जैसे जलका एकीभाव होता है, उसी प्रकारसे यहाँ भी एकीभावकी बात कही गयी है—जिस प्रकार शुद्ध जलमें शुद्ध जल, नदी इत्यादिमें दूसरी नदी इत्यादिका जल मिल जानेपर भी वृद्धि असम्भव है, उसी प्रकार यहाँ भी अन्योन्यात्मकत्व (परस्पर मिलित) होनेपर भी वृद्धि असम्भव है।

(५)

यथा समुद्रे बहवस्तरङ्गास्तथा वयं ब्रह्मणि भूरिः जीवाः।
भवेत् तरङ्गो न कदाचिदब्धिस्त्वं ब्रह्म कस्माद्भवितासि जीवः॥

(तत्त्वमुक्तावली १०)

रे जीव! जिस प्रकार समुद्रमें असंख्य लहरें हैं, उसी प्रकार चित्-समुद्रस्वरूप मुझ ब्रह्ममें भी अनन्त जीव अवस्थित हैं। जब लहरें कभी भी समुद्र नहीं कही जा सकतीं, तब भला तुम किस प्रकार स्वयंको ब्रह्म प्रमाणित करोगे।

(६) *अभेदः सर्वरूपेषु जीवभेदः सदैव हि।*

(म०भा०ता०नि० १/४५)

सभी रूपोंमें अभेद वर्त्तमान होनेपर भी जीव-भेद सदा ही वर्त्तमान है। (जीव-परमात्माका भेद सदैव ही रहता है।)

(७) *न च जीवे समन्वयोऽभिधीयते। सत्य आत्मा सत्यो जीवः सत्यं भिदा सत्यं भिदा सत्यं भिदा मैवाऽरूवण्यो मैवाऽरूवण्यो मैवाऽरूवण्यः।* (१/१/१२ मध्वभाष्य धृत पैङ्गिश्रुति वचन)

अर्थात् परमात्मामें जीवका समन्वय नहीं कहा जाता। पैङ्गिश्रुति कहती है—आत्मा सत्य है, जीव सत्य है, भेद सत्य है, भेद सत्य है, भेद सत्य है। जो लोग भेदको असत्य मानते हैं, ऐसे परमात्मा-दोषियोंके द्वारा परमात्माका भजन नहीं किया जा सकता। दुष्टोंके द्वारा भगवान् भजनीय नहीं हैं, नहीं हैं, नहीं हैं।

श्रीमन्मध्वमतमें मुक्तावस्थामें भी जीव एवं ईश्वरका भेद और नित्योपासना स्वीकृत हुई है। इसलिए श्रीमन्मध्व शुद्धद्वैतवादी अथवा नित्य पञ्च-भेदवादी हैं, भास्कर भट्टादिके समान औपचारिक भेदवादी नहीं हैं।

श्रीमन्मध्व विष्णु-चरणसेवा-प्राप्तिको प्रकृत मोक्ष कहते हैं। इस विषयमें *'भेदव्यपदेशाच्च'* (ब्र॰सू॰ १/१/१७) सूत्रका मध्वभाष्य द्रष्टव्य है। इतना ही नहीं, श्रीमध्वमतमें साध्य है—विष्णु-चरणसेवारूप मुक्ति और मुक्तोंमें भी भेद अर्थात् आनन्दका तारतम्य है। (*मुक्तावानन्दो विशिष्यते* इत्यादि मध्वभाष्य ब्र॰सू॰ ३/३/३३ द्रष्टव्य है।) ब्रह्मसूत्र (२/३/२८-२९) के मध्वभाष्यकी विवेचना करनेपर अचिन्त्यभेदाभेदकी सूचना और 'अचिन्त्य' शब्द भी प्राप्त होता है। श्रीजीवपाद एवं श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने भी मध्व-सिद्धान्तके सम्बन्धमें इसी प्रकारसे आभास प्रदान किया है। इस विषयमें विस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए मध्वसम्प्रदायकी ग्रन्थावलीकी पर्यालोचना करनी चाहिये।

(४) वेदान्तसूत्र भाष्यकार—आचार्य श्रीविष्णुस्वामी

ईसा पूर्व तृतीय शताब्दीमें दक्षिण भारतके पाण्ड्य देशमें पाण्डुविजय नामक एक महापराक्रमशाली राजा थे। वे सर्वदा विष्णु एवं वैष्णवोंकी पूजामें रत रहते थे। इन्हीं राजाके राजत्वकालमें बुद्धका आविर्भाव तीन सौ वर्ष पूर्व हुआ था। अतः बौद्ध-विप्लवसे वैष्णव-धर्मका प्रचार उस समय पाण्ड्य देशमें अत्यन्त क्षीण हो गया था, किन्तु महापराक्रमशाली पाण्डुविजय राजाने बौद्धमतका खण्डन करके पाण्ड्य देशमें सर्वत्र सनातन वैष्णव-धर्मका पुनः संस्थापन करनेका प्रयास किया था। इन राजाके श्रीदेवेश्वर नामक एक पुरोहित थे, जो विष्णुके परमभक्त थे। इन वैष्णव-प्रवर पुरोहितकी मन्त्रणासे पाण्ड्य राजाने अपने राज्यको सम्पूर्णरूपेण विष्णु-वैष्णव सेवाके अनुकूल कर दिया था।

कहा जाता है कि उस समय बौद्धगण श्रीनीलाचलके श्रीजगन्नाथदेव, श्रीबलदेव और सुभद्राजीके श्रीविग्रहोंको क्रमशः बुद्ध, धर्म और सङ्घके नामसे कर्मफलबाध्य वीर-मनुष्यमात्र मानकर अवैध रूपसे उनकी पूजा कर रहे थे। महाराज पाण्डुविजयने अपने पुरोहित मन्त्री श्रीदेवेश्वर और उनके सुपुत्रकी सहायतासे श्रीजगन्नाथ, श्रीबलदेव और सुभद्राजीके इन श्रीविग्रहोंको बौद्धोंके चङ्गुलसे छुड़ाया तथा उन्हें रथपर बैठाकर, सुन्दराचल ले जाकर वहीं अपने संरक्षणमें उनकी सेवा-पूजा करवानी आरम्भ की। कुछ समय पश्चात् महाराज पाण्डुविजय इन तीनों

श्रीविग्रहोंको नीलाचलके श्रीमन्दिरमें पुनः ले आये। महाराज पाण्डुविजयके नामानुसार अभी भी रथयात्राके दिन श्रीजगन्नाथ, श्रीबलदेव और श्रीसुभद्राके रथारोहणको लोग 'पहण्डि' या 'पाण्डुविजय' कहते हैं। पाण्ड्यविजयके पुरोहित एवं उनके पुत्रके नामानुसार ही जगन्नाथके सेवाधिकारीगण सेवकाधस्तन सूत्रमें (परम्परामें) पाण्ड्य नामसे प्रसिद्ध हैं। महाराज पाण्डुविजयके पुरोहित श्रीदेवेश्वरने बौद्धोंकी मतिको परिवर्त्तित कर पुनः नीलाचलमें ही श्रीपुरुषोत्तमदेवकी विधिपूर्वक सेवाकी व्यवस्था की।

भक्तवत्सल भगवान् श्रीपुरुषोत्तमने श्रीदेवेश्वरकी अनादिकालीन सेवा-चेष्टासे प्रसन्न होकर अपने मनोऽभीष्टको पूर्ण करनेके लिए अर्थात् विष्णु-सेवाके उत्कर्षको जगत्में सदैव संरक्षित रखने और प्रचारित करनेके उद्देश्यसे एक विशेष योग्य पुरुषमें अपनी शक्तिको आविष्टकर उन्हें देवेश्वरके घरमें श्रीदेवेश्वरके एक महापुरुष पुत्रके रूपमें प्रकट कराया। ये भगवत्-शक्तिसे आविष्ट महापुरुष जब देवेश्वरके घरमें आविर्भूत हुए, तब देवेश्वरने अपने पुत्रकी देवताओंके समान असीम तेजसम्पन्न देहको देखकर उसका नाम 'देवतनु' रखा। देवतनु अत्यन्त बाल्यकालसे ही भगवान् श्रीविष्णुकी सेवामें ही लगे रहते थे और भगवान् श्रीविष्णुकी सेवाके विरोधी सभी कार्योंका वे सब प्रकारसे निन्दा एवं निषेध करते थे।

देवतनुने अल्पकालमें ही अपने अलौकिक स्वतःसिद्ध ज्ञानको प्रकाशित किया। देवतनुने श्रुतियोंमें प्रतिपादित वैष्णव-संन्यासके विधानानुसार त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण किया और 'विष्णुस्वामी' के नामसे प्रसिद्ध होकर उन्होंने कलियुगमें वैदिक त्रिदण्ड-संन्यास विधानका जगत्में पुनः प्रचार किया। उनके समयमें अष्टोत्तरशत (१०८) नामी वैदिक-त्रिदण्डी-संन्यासियोंका तथा उनके अधःस्तन शिष्य-परम्परामें सात-सौ त्रिदण्डी-संन्यासियोंका परिचय पाया जाता है। अनेक लोगोंकी धारणा है कि श्रीशङ्कराचार्यने ही सर्वप्रथम दशनाम संन्यास प्रथाका प्रचार किया। किन्तु वे यदि विष्णुस्वामी सम्प्रदायके इतिवृत्तकी आलोचना करें, तो जान सकेंगे कि श्रीशङ्कराचार्यके बहुत पहले ही विष्णुस्वामी सम्प्रदायमें यह वैदिक वैष्णव-संन्यास प्रचलित एवं समृद्ध हुआ था।

देवतनु त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण करनेके बाद 'आचार्य विष्णुस्वामी' के नामसे जगत्में प्रसिद्ध हुए। परवर्त्तीकालमें और भी दो पृथक् व्यक्ति विष्णुस्वामीके नामसे आचार्यके रूपमें विशेष रूपसे प्रसिद्ध हुए, इसलिए देवतनु 'आदि विष्णुस्वामी' के नामसे विख्यात हैं।

इन्हीं आदि विष्णुस्वामीने ही वेद-विरोधी बौद्धौंके सनातन-धर्मको नष्ट करनेकी चेष्टाको विशेष रूपसे लक्ष्य किया था।

तत्कालीन वेद-विरोधी बौद्धौंने सनातन-धर्मके विलोपकी चेष्टा करते हुए बहुत-से प्रामाणिक-ग्रन्थोंको लोगोंकी दृष्टिसे लुप्त कर दिया था, जिसे देखकर आदि विष्णुस्वामीने समस्त श्रुति-शास्त्रोंके सार-स्वरूप ब्रह्मसूत्र अथवा बादरायण सूत्रोंका चयन किया एवं इस ब्रह्मसूत्रके भाष्यके प्रचारके द्वारा ही जगत्में लुप्त सनातन-वैष्णव-धर्मका गौरव प्रतिष्ठित हो सकता है—ऐसा विचारकर उन्होंने ब्रह्मसूत्रके एक बहुत-ही सुन्दर भाष्यकी रचना भी की। यही भाष्य ही विद्वत् समाजमें 'सर्वज्ञसूक्त' के नामसे प्रसिद्ध है। केवलाद्वैत-विचार-परायण सर्वज्ञात्म मुनिको कुछ लोग आदि विष्णुस्वामीके साथ एक माननेका भ्रम करते हैं। सर्वज्ञात्म मुनि अहंग्रहोपासक मायावाद विचारको माननेवाले थे। दूसरी ओर, सर्वज्ञ मुनि (आचार्य विष्णुस्वामी) ने शुद्धाद्वैत विचारपूर्ण अपने भाष्यमें भगवान् विष्णुका परात्परत्व, जीवका नित्यत्व, नामका सेव्यत्व, मुक्त-अवस्थामें भी भक्तिका नित्यत्व, परिकर सहित श्रीभगवान्का नित्य-सत्यत्व, तदीय (भगवान्का) सर्वस्वत्व आदि सिद्धान्तोंका प्रचार किया था।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामी या सर्वज्ञमुनिके भाष्यका सिद्धान्त केवलाद्वैतरूपी भक्तिहीन विचारोंसे सर्वथा रहित होकर 'शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त' के नामसे जगत्में प्रसिद्ध हुआ। श्रीविष्णुस्वामीने स्वयंको श्रीरुद्रदेवके अनुगत और श्रीरुद्रदेवके अन्तर्यामी भगवान् विष्णुके नृपञ्चास्य (नृसिंह) रूपके उपासकके रूपमें अपना परिचय दिया है।

श्रीमहाभारतमें ऐसा कहा गया है कि श्रीरुद्र सम्प्रदाय ब्रह्माके द्वितीय चाक्षुषजन्ममें श्रीनारायणकी कृपासे जगत्में प्रकाशित हुआ। श्रीरुद्र सम्प्रदायके अधःस्तन बालखिल्य मुनियोंने ही वैष्णव-धर्मका प्रचार और सम्प्रदायका संरक्षण किया।

पहले श्रीशिवस्वामी सम्प्रदाय एवं उसके पश्चात् लिङ्गायत सम्प्रदायसे प्रकार-भेद होनेके कारण सांख्य-दलके संघर्षमें श्रीशङ्करवादके विचार और सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। सर्वज्ञसूक्तके अतिरिक्त परवर्त्तीकालमें सायन-माधवके सर्वदर्शनसंग्रहके अन्तर्गत रसेश्वर दर्शनमें भी श्रीविष्णुस्वामीके नाम और उनके उपास्यदेव नृपञ्चास्य विष्णु एवं नृसिंह उपासनाके सम्बन्धमें विष्णुस्वामी सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका उल्लेख देखा जाता है। यथा—

विष्णुस्वामिमतानुसारिभिः नृपञ्चास्यशरीरम् नित्यत्वोपपादनात्। तदुक्तं साकार सिद्धौ—सच्चिन्नित्यनिजाचिन्त्यपूर्णनन्दैकविग्रहम्। नृपञ्चास्यमहं वन्दे श्रीविष्णुस्वामिसम्मतम्॥ इति॥ (रसेश्वरदर्शन)

अर्थात् विष्णुस्वामीके मतपर चलनेवाले लोग नरसिंह (नृ+पञ्चास्य पञ्चानन) शरीरको नित्य सिद्ध करते हैं, जैसा कि साकारसिद्धिमें कहा गया है—सत्, चित् नित्यके स्वरूपमें निज (अपना) अचिन्तनीय और पूर्ण आनन्दके रूपमें जिनका एकमात्र शरीर (विग्रह) है, ऐसे नरसिंहकी मैं वन्दना करता हूँ, जो श्रीविष्णुस्वामीसे सम्मत हैं।

श्रीदेवतनु आदि विष्णुस्वामीकी शिष्य-परम्परामें सात सौ त्रिदण्डी आचार्य थे, उनमें अन्तिम आचार्यका नाम श्रीव्यासेश्वर था। इनके कुछ दिन बाद द्वितीय विष्णुस्वामीके क्रमसे (आजसे प्रायः ग्यारह सौ वर्ष पूर्व) श्रीराजगोपाल विष्णुस्वामीका नाम देखा जाता है। इन्हीं श्रीराजगोपाल विष्णुस्वामीने काञ्चीमें श्रीवरदराज या श्रीराजगोपालदेव विग्रहकी स्थापनाकर वहीं अपना आसन भी प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने द्वारकामें श्रीरणछोड़लाल विग्रहको भी स्थापित किया एवं मोक्ष प्रदान करनेवाली सात पुरियोंमें विष्णु-विग्रहोंकी प्रतिष्ठाकर पुनः शुद्धाद्वैतवादकी उज्ज्वलताका प्रकाश किया। अन्यथा आदि विष्णुस्वामी परम्पराके अन्तिम आचार्य श्रीव्यासेश्वरके बाद इनका प्रचार एक प्रकारसे लुप्त हो गया था।

शिह्लन मिश्र अथवा बिल्वमङ्गल इन्हीं द्वितीय विष्णुस्वामीके प्रशिष्यके रूपमें प्रसिद्ध हुए। राजगोपाल विष्णुस्वामीके तृतीय अधःस्तनके समयमें प्राचीन शिवस्वामि-सम्प्रदायके साथ विष्णुस्वामी सम्प्रदायका पहलेकी तरह प्रचण्ड विवाद उत्पन्न हुआ। शिवस्वामी सम्प्रदायके

अनुयायियोंने मायावादके आश्रयमें श्रीरुद्रका स्वतन्त्र परमेश्वरके रूपमें प्रचार किया परन्तु शुद्धाद्वैतमतावलम्बी विष्णुस्वामीके अनुयायी श्रीरुद्रको परात्पर पुरुष श्रीविष्णुसे अभिन्न अथवा उनके प्रियतम सखा और अपने गुरुके रूपमें मानते हैं। साधारण तत्त्वज्ञानसे रहित व्यक्ति शुद्धाद्वैत-मतावलम्बियोंके इस तदीय-सर्वस्व विषयसे भी केवलाद्वैतवादियोंके निर्विशेष विचारोंके सूक्ष्म पार्थक्यको समझ नहीं पाये। इस वर्त्तमान समयमें विद्ध-वैष्णव-ब्रुव सम्प्रदाय तथा केवलाद्वैत विचारके पक्षपाती सम्प्रदाय शुद्धाद्वैतवादी श्रील श्रीधरस्वामिपादका 'केवलाद्वैतवादी' के रूपमें प्रचार करते हैं।

द्वितीय विष्णुस्वामीके पश्चात्—जब जगत्में वैष्णव-धर्मके प्रचारका भीषण दुर्भिक्ष (अत्यन्त अभाव) परिलक्षित हो रहा था, उस समय भगवान् विष्णुने पुनः एक विशेष शक्तिशाली आचार्यको इस जगत्में भेजा। ये आन्ध्र विष्णुस्वामी या तृतीय विष्णुस्वामीके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्हीं तृतीय श्रीविष्णुस्वामीके गृहस्थ शिष्योंकी परम्परामें बालभट्ट, प्रेमाकर, लक्ष्मण भट्ट आदिका अभ्युदय हुआ। लक्ष्मण भट्टके पुत्र श्रीवल्लभ भट्ट ही आगे चलकर श्रीवल्लभाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए और उनके सम्प्रदायके विचारसे श्रीवल्लभाचार्य तृतीय विष्णुस्वामी सम्प्रदायके अधःस्तन आचार्यके रूपमें प्रचारित हुए।

श्रीविष्णुस्वामी द्वारा प्रचारित सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' के रूपमें प्रसिद्ध है। इसमें ईश्वरका शुद्धत्व तथा भगवत्-तनु एवं भजनकारियोंका शुद्धत्व एवं नित्यत्व स्वीकृत है, साथ ही जीव, जगत् और मायाका तदाश्रयत्व रूपमें अद्वयत्व स्वीकार किया गया है।

श्रीविष्णुस्वामीके शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तके विचारोंके अनुसार जीव वस्तुका अंश है, माया वस्तुकी शक्ति है और जगत् वस्तुका कार्य है—ये सभी एकत्र 'वस्तु' पदवाच्य हैं; इनमेंसे कोई भी वस्तुसे पृथक् नहीं है—*'वस्तुनोऽशो जीवः वस्तुनः शक्तिर्माया च वस्तुनः कार्यं जगच्च तत् सर्वं वस्त्वेव न ततः पृथगिति।'*

आदि विष्णुस्वामी सम्प्रदायमें श्रुतियोंमें नृसिंहतापनी एवं पञ्चरात्र और पुराणोंमें श्रीमद्भागवतके साथ-साथ श्रीविष्णुपुराणकी ही प्रधानता परिलक्षित होती है। आदि विष्णुस्वामी द्वारा रचित ग्रन्थोंमें सर्वज्ञसूक्तका

भी परिचय प्राप्त होता है। श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायके अधःस्तन आचार्योंने श्रीविष्णुपुराण, श्रीगीता, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंकी टीकाएँ और भाष्य तथा नृसिंह-परिचर्या आदि स्मृति-निबन्धपर आधारित ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। इस सम्प्रदायमें त्रिदण्ड संन्यासकी प्रथाका प्रचलन है और संन्यास आश्रममें शिखा-सूत्र-संरक्षण तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि धारण करनेकी व्यवस्था है।

वर्त्तमान समयमें विष्णुस्वामी सम्प्रदाय एक प्रकारसे लुप्तप्रायः है। श्रीविष्णुस्वामी रचित वेदान्तका भाष्य एवं सर्वज्ञ-सूक्तका प्रचार भी अत्यन्त विरल है। यद्यपि श्रीवल्लभाचार्यने स्वयंको विष्णुस्वामी मतका अनुसरण करनेवालेके रूपमें प्रचार किया है, तथापि श्रीविष्णुस्वामीके यथार्थ सिद्धान्तोंके साथ उनके द्वारा प्रचारित मतका स्थान-स्थानपर पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।

(५) वेदान्तसूत्र भाष्यकार—आचार्य श्रीनिम्बादित्य

प्राचीन कालमें तैलङ्ग देशके अन्तर्वर्त्ती 'वैदूर्य-पत्तन' नामक एक नगर था। आजकल वह नगर 'मुङ्गेर-पत्तन' या 'मुङ्गीपाटन' के नामसे जाना जाता है। इस नगरमें विष्णुभक्तिपरायण आरुणि मुनि अपनी सहधर्मिणी परम भक्तिमती श्रीजयन्तीदेवीके साथ निवास करते थे। ऐसा कहा जाता है कि श्रीमद्भागवतमें (१/१९/११) में जिन अरुण मुनिका महाराज परीक्षित्‌की सभामें आनेका उल्लेख पाया जाता है, ये आरुणि उन्हीं अरुण मुनिकी वंश-परम्परामें थे।

द्वापरयुगके समाप्त होनेपर भागवत धर्मका आकाश कपटतारूपी कुहरेके अन्धकारसे आच्छादित हो गया था। जनसाधारण नाना प्रकारके क्षुद्र कपटतापूर्ण मतोंसे आकृष्ट होनेके कारण जीवमात्रके स्वरूपधर्म एकान्तिक भगवद्भक्तिसे बहुत दूर होने लगे। उस समय परम करुणामय भगवान् श्रीविष्णुने इस धर्मक्षेत्र भारतवर्षमें शुद्ध-सनातन-भक्ति-धर्मकी रक्षा करनेके लिए अपने एक शक्त्याविष्ट महापुरुषको भेजनेका सङ्कल्प किया। परम विष्णुभक्तिपरायण श्रीमद् आरुणि मुनि और परम भक्तिमती श्रीजयन्तीदेवीका आश्रय लेकर कार्त्तिकी पूर्णिमा तिथिके सन्ध्याकालमें सूर्यके समान तेजस्वी एक शिशुरत्न इस जगत्‌में आविर्भूत

हुआ। आरुणि मुनिने अपने इस पुत्ररत्नको यथाविहित वैदिक-संस्कारोंसे सुसंस्कृतकर उसे शास्त्रादि अध्ययनके लिए गुरुगृहमें भेजा। इस बालकने अल्पायुमें ही अपनी अत्यन्त-अद्भुत मेधा-शक्ति और प्रतिभाका परिचय प्रदानकर वेदके अङ्ग और उपाङ्ग अखिल कला-कौशल विशेषतः अध्यात्मशास्त्रमें अत्यन्त-प्रवीणताका प्रदर्शन किया।

वह बालक नैष्ठिक ब्रह्मचारी और सूर्यके समान तेजस्वी था। सनातन-वैष्णव-धर्मका प्रचार करनेके लिए उसने यथाविहित शास्त्रीय विधानसे वैदिक त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण किया। संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् वे भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनोंके लिए उत्कण्ठित होकर व्रजमें नन्दग्राममें आये। उन्होंने वहीं पर 'सविशेष-निर्विशेष-श्रीकृष्ण-स्तव' नामक पच्चीस पद्योंसे युक्त एक सुमधुर स्तोत्रकी रचनाकर अपने उपास्यदेवके श्रीचरणोंमें उपहारस्वरूप उसे प्रदान किया। तत्पश्चात् वे गोवर्द्धनके निकट एक पर्णकुटी बनाकर वहींपर रहकर ऐकान्तिक रूपसे श्रीकृष्ण-भजनका आदर्श प्रदर्शित करने लगे। जिस स्थानपर आचार्य पर्णकुटी बनाकर श्रीकृष्णका भजन करते थे, वह स्थान आजकल श्रीनिम्बग्राम या नीमगाँवके नामसे प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि एक समय एक जैनी संन्यासी दिग्विजय करनेकी अभिलाषासे श्रीमथुरापुरीमे आये और उन्होंने वहाँके तत्कालीन प्रसिद्ध पण्डितोंको तर्कयुद्ध करनेके लिए आह्वान किया। वैदिक धर्मकी निरर्थकताका प्रतिपादन करना ही उस जैनी संन्यासीका प्रधान एवं प्रबल उद्देश्य था। आचार्यने यह बात जानकर उस जैनी संन्यासीसे शास्त्रार्थ किया और उसके मतवादको शास्त्रकी युक्तियोंके द्वारा खण्ड-खण्ड कर दिया। जैनी संन्यासीने शास्त्र-विचारमें पराजित होकर आचार्यकी शरण ग्रहण की। आचार्यने भी वैदिक वैष्णव-धर्मका उपदेश प्रदानकर उसे अपने शिष्यके रूपमें ग्रहण किया।

ऐसी किम्वदन्ती है कि जब उक्त जैनी संन्यासी और आचार्यके बीचमें शास्त्रीय विचार चल रहा था, उस समय शास्त्रार्थ करते-करते आचार्यने सूर्यको अस्ताचलमें जाते देखकर अपने आश्रममें आये हुए अतिथिके श्रमको दूर करनेके लिए उसे कुछ भगवत्-प्रसाद भोजन करनेके लिए दिया। जैनी यतियोंके लिए सन्ध्या अथवा रात्रिकालमें

भोजन करना निषिद्ध है, इसलिए उस जैनी संन्यासीने आचार्यके द्वारा प्रदत्त प्रसादको ग्रहण करनेमें कोई रुचि नहीं दिखायी। (उसके हृद्गत भावोंको समझकर) तब आचार्यने अपने आश्रममें स्थित एक निम्ब (नीम) के वृक्षके ऊपर बैठकर यतिके भोजन-समाप्तिकाल तक सूर्यको धारणकर आकाशमें स्थिर कर दिया। किसी-किसीके मतमें उन्होंने निम्ब वृक्षके ऊपर चढ़कर श्रीभगवान्‌के सुदर्शन चक्रको आह्वानकर आकाशमें स्थापित कर दिया और सूर्यके समान प्रभावसम्पन्न चक्रको देखकर अतिथि संन्यासीको वह सूर्यके रूपमें ही प्रतिभात हुआ।

निम्बवृक्षके ऊपर चढ़कर आदित्य अथवा अर्कके रूपमें प्रकाशित होने अथवा आदित्य या अर्क (सूर्य) को प्रकाशित करनेके कारण आचार्य 'निम्बादित्य', 'निम्बार्क' अथवा 'निम्ब विभावसु' के नामसे प्रसिद्ध हुए। ये कहीं-कहीं 'आरुणेय', 'नियमानन्द' और 'हरिप्रियाचार्य' के नामसे भी प्रसिद्ध हैं।

कुछ लोगोंका कहना है कि श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्रनाभ जिस समय मथुरामण्डलके अधिपति थे, वही समय निम्बार्काचार्यके प्राचीन गुरुओंके अभ्युदयका काल था।

वेदान्त-दर्शनके प्रथम अध्यायके तृतीयपादके अष्टम सूत्रके वर्त्तमानमें प्रचलित श्रीनिम्बार्क-भाष्यमें श्रीनिम्बार्ककी गुरु-परम्परा देखी जाती है।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यके वेदान्तभाष्यका नाम 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' है। श्रीमद् सन्तदास बाबाजी महाराज द्वारा सम्पादित यह भाष्य अकस्मात् हस्तगत हो गया, इसलिए वर्त्तमान सम्पादित 'वेदान्तसूत्र' ग्रन्थके अन्तिम भागमें स्थान-स्थानपर इसके उद्धरण दिये गये हैं। यदि यह पूर्व ही प्राप्त हो गया होता, तो पहलेसे ही इसमेंसे उद्धृत किया जाता।

श्रीनिम्बार्क-शिष्य श्रीनिवासाचार्यने इस 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' का किञ्चित् विस्तार करके 'वेदान्त-कौस्तुभ' नामसे और एक भाष्यकी रचनाकर उसका प्रचार-प्रसार किया। श्रीमन्महाप्रभुके समसामयिक केशव काश्मीरीने निम्बार्क सम्प्रदायको ग्रहणकर वेदान्त-कौस्तुभकी 'कौस्तुभ-प्रथा' नामक एक चूर्णिका (अर्थात् एक प्रकारकी गद्य शैली) की रचना की।

निम्बादित्य सम्प्रदायके लोगोंके अनुसार 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' के अतिरिक्त कई और ग्रन्थ भी श्रीनिम्बादित्यके द्वारा रचित हैं— गीता-भाष्य, सदाचार-प्रकाश (स्मृति-ग्रन्थ), दशश्लोकी, सविशेष-निर्विशेष-श्रीकृष्ण-स्तोत्र एवं प्रातःस्मरण स्तोत्रम् (वेदान्तगर्भित-स्तोत्रम्)।

सनकादि मुनियोंने श्रीनारद मुनिको उपदेश दिया, श्रीनारदसे श्रीव्यास, श्रीप्रह्लाद और परम्परा-क्रमसे श्रीनिम्बार्क आदिने उन उपदेशोंको प्राप्त किया। श्रीनिम्बार्क स्वामीने कलिकालमें श्रीनारायण ऋषि (नर और नारायण ऋषिमें जो नारायण हैं, उनके) द्वारा उपदेश किये गये भागवत-धर्मका प्रचार करनेके लिए सात्वत सम्प्रदायका गठन किया। वही सात्वत सम्प्रदाय 'निम्बार्क-सम्प्रदाय' के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

श्रीनिम्बार्कके आविर्भाव-कालका सटीक निर्णय करना दुःसाध्य है।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यने 'चिन्त्य-द्वैताद्वैत-सिद्धान्त' का प्रचार किया है। श्रीनिम्बादित्यने श्रुतियोंको ही स्वतः प्रमाण शिरोमणिके रूपमें स्वीकार किया है। श्रुतियोंके अनुगत अन्यान्य शास्त्रोंको भी उन्होंने प्रमाणके रूपमें ग्रहण किया है। चतुःसनने श्रीनारद गोस्वामीको छान्दोग्योपनिषदके सप्तम-प्रपाठकके जो उपदेश प्रदान किये थे, उन्हींको श्रौत-परम्परामें श्रीनारदसे आचार्य निम्बादित्यने प्राप्तकर जगत्में प्रचार किया। छान्दोग्योपनिषदके सप्तम-प्रपाठकमें श्रीनारद गोस्वामीके प्रति श्रील सनत्कुमारके उपदेशमें एकायन-शाखाका उल्लेख (७/१/२), पुराण आदिको पञ्चम वेदके रूपमें स्वीकार करना (७/१/४), विष्णुका सर्व-कर्त्तृत्व (७/१५/१), श्रद्धा और निष्ठा रूपी भगवद्भक्तिका माहात्म्य (७/१९-२०/१), भगवत्-प्रेमका असमोर्द्धत्व (७/२३/१), नित्य भगवत्-धामका माहात्म्य (७/२४/१), परम मुक्त पुरुषोंका नित्य-भगवत्-परिकरत्व और भगवान्के साथ चित्-विलास धाममें नित्य विलासत्व (७/२५/२), भगवान्की आविर्भाव और तिरोभाव शक्तिमत्ता (७/२६/१), वैष्णवोंका नित्यत्व और अप्राकृतत्व (७/२६/२), भगवत्-प्रसादका माहात्म्य (७/२६/२) आदि सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं।

वर्त्तमान समयमें प्रचलित 'दशश्लोकी'—जिसे श्रीनिम्बार्क आचार्यके द्वारा रचित कहा जाता है, उसमेंसे इस प्रकारका सिद्धान्त संग्रह किया जाता है—

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्र-साधिता॥

सभी वस्तुएँ ब्रह्मात्मक हैं। वेदज्ञोंका सिद्धान्त यह है कि ब्रह्मरूपी सत्-वस्तुसे असत्-वस्तुका उदय नहीं हो सकता है। वस्तुका विज्ञान ही निखिल वस्तुओंका यथार्थ तत्त्व है, यह श्रुति और स्मृतियोंके द्वारा जाना जाता है। वेदोंमें कहीं अद्वैत पोषक वचन, कहीं द्वैत पोषक वचन और कहीं दोनों प्रकारके वचन प्रतिष्ठित हैं, अतएव केवलाद्वैतवादका उनमें कोई भी स्थान नहीं है। श्रुति और ब्रह्मसूत्रके विचारसे अद्वैत और द्वैत—दोनों ही सिद्ध होनेके कारण द्वैताद्वैतवाद ही शास्त्रोंके तात्पर्यके रूपमें ग्रहणीय है।

श्रील भक्तिविनोदकी सज्जनतोषणी सप्तम खण्ड, पृष्ठ २१६ में देखा जाता है कि—

"श्रीनिम्बादित्यसे निमायेत् सम्प्रदाय प्रचलित हुआ है। कुछ लोग निमानन्दि सम्प्रदायको निमायेत् सम्प्रदायका नामान्तर माननेकी भूल करते हैं, किन्तु वास्तवमें वैसा नहीं है। श्रीचैतन्य महाप्रभुका एक अन्य नाम 'निमाइ' है। 'निमाइ' नाम श्रीनित्यानन्द प्रभुका अत्यन्त प्रिय होनेके कारण श्रीवक्रेश्वर पण्डितके शिष्य श्रीगोपालगुरु गोस्वामीने श्रीमन्महाप्रभुका 'निमानन्द' नामसे प्रचार किया है।

"जैसा कि उनके द्वारा रचित पद्यमें है—

ततः श्रीकृष्णचैतन्यः प्रेमकल्पद्रुमो भुवि।
निमानन्दाख्यया यो सौ विख्यातः क्षितिमण्डले॥

"जो पृथ्वीपर 'निमानन्द' के नामसे जाने जाते थे, वे ही बादमें प्रेमकल्पतरु 'श्रीकृष्णचैतन्य' के नामसे विख्यात हुए।

"जो लोग श्रीमध्वाचार्यसे ईश्वरपुरी तक (आम्नाय) परम्पराको छोड़कर एक नये सम्प्रदायको मानते हैं, वे श्रीमन् महाप्रभुको 'निमानन्द' मानकर स्वयंको 'निमानन्द सम्प्रदाय' के अनुगत कहकर परिचय दिया करते हैं, किन्तु वस्तुतः निमानन्द सम्प्रदाय निमायेत् सम्प्रदायसे पृथक् है।"

श्रीनिम्बादित्य द्वारा प्रचारित चिन्त्य-द्वैताद्वैतवादके साथ श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित अचिन्त्य-भेदाभेद-सिद्धान्तका पार्थक्य विशेषभावसे परिलक्षित होता है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि आरुणिनन्दन श्रीनिम्बादित्य आचार्यने सनत्कुमारके शिष्य श्रीनारदमुनिसे जिन उपदेशोंको प्राप्त करके जगत्में उनका प्रचार किया था, उस मतके अनुगत जो सम्प्रदाय था, वह बहुत समय पहले ही लुप्त हो गया था। इसलिए सायणमाधवके 'सर्वदर्शनसंग्रह' ग्रन्थमें श्रीविष्णुस्वामी, श्रीरामानुज और श्रीमध्वका नाम और उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्तका उल्लेख दिखायी देनेपर भी श्रीनिम्बार्कके नाम और उनके द्वारा प्रचारित मतके नामका कहीं उल्लेख नहीं है। इसलिए निश्चय ही वर्त्तमान निम्बार्क सम्प्रदाय कुछ समय पूर्व ही प्रचलित हुआ है। कुछ अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि श्रीमन्महाप्रभुके आविर्भावके उपरान्त श्रीवल्लभाचार्य सम्प्रदायकी भाँति ही वर्त्तमान निम्बार्क सम्प्रदाय प्रचारित हुआ है। गौड़ीय-वैष्णव-सिद्धान्ताचार्यवर्य श्रील जीव गोस्वामी प्रभुने श्रीमद्विष्णुस्वामी, श्रीमद्रामानुज और श्रीमन्मध्व सम्प्रदायके नाम और सिद्धान्तोंका अपने सन्दर्भ और सम्वादिनी आदि ग्रन्थोंमें उल्लेख किया है, किन्तु उन्होंने निम्बार्क सम्प्रदायके नामका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इसका क्या कारण हो सकता है? इसमें बहुत-से विद्वान ऐसा अनुमान करते हैं कि 'सर्वदर्शन संग्रह' नामक ग्रन्थकी रचनाके बाद, यहाँ तक कि वृन्दावन, गोवर्द्धन आदि धाम-निवासी श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्य गोस्वामियोंके समयमें भी बोध होता है कि वर्त्तमान प्रचलित श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायके मतका विशेष विस्तार नहीं हो पाया था। जैसा भी हो, आचार्य श्रीनिम्बादित्य किसी सुप्राचीन सात्वत द्वैताद्वैत सम्प्रदायके प्रवर्त्तक एक प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य हैं, इस विषयमें कोई सन्देह

नहीं है। प्राचीन सात्वत आचार्य श्रीमन् निम्बादित्यके द्वारा प्रचारित सिद्धान्त छान्दोग्योपनिषदके सप्तम प्रपाठकमें श्रीसनत्कुमारके उपदेशोंके आश्रयसे स्थापित किया गया है। वर्त्तमान प्रचलित निम्बार्क सम्प्रदायका विचार और आचार प्राचीन सात्वत आचार्यके विचार एवं आचारसे विशेष रूपसे पार्थक्य रखता है, यह सुधीगणों द्वारा विचारणीय है।

श्रीनिम्बादित्याचार्यने ब्रह्मसूत्रके 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' नामक जिस संक्षिप्त भाष्यकी रचना की है, उसमें सांख्यादि मतकी संक्षिप्त समालोचना रहनेपर भी अन्यान्य भाष्यकारोंके समान परमत-खण्डनकी विशेष चेष्टा देखी नहीं जाती। भाष्यकी भाषा सरल एवं शास्त्र-प्रमाण संवलित है।

(६) वेदान्तसूत्र भाष्यकार—श्रीवल्लभाचार्य

ये तैलङ्गदेशमें 'निडाडाभलु' रेलस्टेशनसे १६ मील दूर 'काङ्कड़बाड़' अथवा 'काकुंरपाढू' ग्राम निवासी लक्ष्मण दीक्षितके पुत्र थे। आन्ध्र ब्राह्मणोंमें जो पाँच विभाग है यथा—वेल्लनाटी, वेगी-नाटी, मुरकि-नाटी, तेलगु-नाटी एवं काशल-नाटी इनमेंसे वेल्लनाटी आन्ध्रके ब्राह्मणकुलमें १४०० शकाब्दमें श्रीवल्लभाचार्यने जन्म-ग्रहण किया था।

कोई-कोई कहते हैं—वल्लभका जन्म होनेसे पहले ही उनके पिताने संन्यास ग्रहण कर लिया था। बादमें पुनः घर लौटनेपर वल्लभाचार्यको पुत्रके रूपमें प्राप्त किया था।

मतान्तरमें विक्रम सम्वत् १५३५ अर्थात् १४०० शकाब्दमें चैत्री कृष्णा एकादशी तिथिमें तैलङ्गदेशीय वेल्लनाटी ब्राह्मणके वंशमें 'खम्भंपाटीवारु' उपाधिधारी लक्ष्मणभट्ट दीक्षितके पुत्र रूपमें वल्लभाचार्य चम्पकारण्यमें तथा अन्यमतसे मध्यप्रदेशके अन्तर्गत चाँपाझारमें आविर्भूत हुए। ग्यारह वर्ष तक काशीमें वास करके जब विद्या-अध्ययनके बाद स्वदेश लौट रहे थे, उस समय पथमें शेषाद्रिमें अपने पिताके परलोक-प्राप्तिका संवाद सुना। भ्राता और माताको गृहमें रखकर तुङ्गभद्राके किनारे विद्यानगरमें आते समय बुद्धराजके पौत्र कृष्णदेवका उल्लास विधान किया। तत्पश्चात् तीन बार षड्वर्ष व्यापी दिग्विजयमें अठारह वर्ष अतिवाहित किये। तीसवें वयः क्रममें काशीमें महालक्ष्मी

नामकी स्वजातीय ब्राह्मणकन्याके साथ पाणिग्रहण किया। गोवर्द्धन पर्वतकी अधित्यका (तलहटी) में श्रीमूर्त्तिकी स्थापना करके प्रयागके निकट आड़ाइल ग्राममें अवस्थित रहे। आड़ाइल ग्राममें रहते समय १४३२ शकाब्दमें उनके प्रथम पुत्र श्रीगोपीनाथने जन्म-ग्रहण किया और १४३७ शकाब्दमें उनके द्वितीय पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी प्रकट हुए।

श्रीकृष्णचैतन्यदेवने आड़ाइल ग्राममें श्रीवल्लभाचार्यके गृहमें पदार्पण करके सपुत्रक श्रीवल्लभपर कृपा की तथा महाभागवत श्रीरघुपति उपाध्यायके साथ इष्टगोष्ठी की।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

से-काले वल्लभ भट्ट रहे आड़ाइल ग्रामे।
महाप्रभु आइला 'शुनि' आइल ताँर स्थाने॥

तेंहो दण्डवत् कैल, प्रभु कैला आलिङ्गन।
दुइ जने कृष्णकथा हैल ततक्षण॥

(चै॰च॰म॰ १९/६१-६२)

उस समय वल्लभभट्ट आड़ाइल ग्राममें [सङ्गमके निकट यमुनाके किनारे दूसरे पार लगभग एक मील दूर—यहाँ वल्लभी सम्प्रदायका एक प्राचीन विष्णुमन्दिर स्थित है] रहते थे। जब उन्होंने सुना कि महाप्रभु त्रिवेणीपर निवास कर रहे हैं, तो वे महाप्रभुके स्थानपर आये। श्रीमहाप्रभुजीको देखते ही श्रीवल्लभाचार्यजीने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया, महाप्रभुने उन्हें उठाकर आलिङ्गन किया। वे दोनों बहुत देर तक परस्पर श्रीकृष्णकथा कहते रहे।

आनन्दित हञा भट्ट दिल दिव्यासन।
आपने करिल प्रभुर पाद-प्रक्षालन॥

सवंशे सेइ जल मस्तके धरिल।
नूतन कौपीन-बहिर्वास पराइल॥

गन्ध-पुष्प-धूप-दीपे महापूजा कैल।
भट्टाचार्य मान्य करि पाक कराइल॥

(चै॰च॰म॰ १९/८५-८७)

अति आनन्दित होकर श्रीवल्लभाचार्यजीने श्रीमन्महाप्रभुको दिव्यासन दिया और उन्हें उसपर विराजित करके अपने हाथोंसे महाप्रभुका चरण-प्रक्षालन करके अपने वंशके साथ उस चरणामृतको मस्तकपर धारण किया। प्रभुको उन्होंने नवीन कौपीन एवं बहिर्वास पहनाये। गन्ध-पुष्प-धूप-दीपादिसे श्रीमन्महाप्रभुकी महापूजाकी और श्रीबलभद्र भट्टाचार्यका सम्मान करके श्रीमन्महाप्रभुके लिए रसोईकी व्यवस्था करायी।

हेनकाले आइला रघुपति उपाध्याय।
तिरुहिता, पण्डित, बड़ वैष्णव महाशय॥
(चै॰च॰म॰ १९/९२)

इसी समय श्रीमन्महाप्रभुके दर्शनके लिए श्रीरघुपति उपाध्याय वहाँ आये, वे त्रिहुत (मिथिला) देशके पण्डित थे। ये महाशय महान वैष्णव थे।

पद्यावलीमें श्लोक है—

श्याममेव परं रूपं पुरी मधुपुरी वरा।
वयः कैशोरकं ध्येयमाद्य एव परो रसः॥

प्रेमावेशे प्रभु ताँरे कैला आलिङ्गन।
प्रेमे मत्त हञा तेंहो करेन नर्त्तन॥

देखि वल्लभ-भट्ट-मने चमत्कार हैल।
दुइ (?) पुत्र आनि प्रभुर चरणे पड़िल॥
(चै॰च॰म॰ १९/९२-१०८)

श्रीरघुपति उपाध्याय कहते हैं कि हमारे मतमें तो श्यामरूप ही सर्वश्रेष्ठ रूप है। मथुरापुरी ही सर्वश्रेष्ठ पुरी है। भगवान्‌की किशोरावस्थाका ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ है और शृङ्गाररस ही उत्कृष्ट रस है। यह श्रवणकर श्रीमन्महाप्रभुने प्रेमाविष्ट होकर श्रीउपाध्यायका आलिङ्गन किया और प्रेमोन्मत्त होकर नृत्य करने लगे। श्रीमन्महाप्रभुकी ऐसी महिमा देखकर श्रीवल्लभाचार्यजीके मनमें रस-चमत्कार उदित हो गया, उन्होंने अपने दोनों पुत्रोंको बुलाया और श्रीमन्महाप्रभुके चरणारविन्दमें वन्दन कराया।

श्रीवल्लभभट्ट रथयात्राके समय जब पुरीधाममें आये तब श्रीमहाप्रभुने उनके साथ बहुत परिहास किया उनके सिद्धान्तोंका संशोधन किया, उनके निमन्त्रणको स्वीकार किया और अन्तमें वत्सलरससे श्रीकृष्णकी उपासना करनेवाले श्रीवल्लभभट्टको श्रीगदाधरसे किशोर-गोपाल-मन्त्र ग्रहण करवाया और मधुररससे श्रीकृष्ण-भजनमें प्रवृत्त किया। इस विषयमें विस्तृत आलोचना श्रीचैतन्यचरितामृतके अन्त्यलीलाके सप्तम परिच्छेदमें द्रष्टव्य है।

परवर्त्तीकालमें श्रीवल्लभाचार्य स्वयं पृथक् सम्प्रदायका प्रवर्त्तन करके 'शुद्धाद्वैत मत' का प्रचार करने लगे। अपनी अन्तिम अवस्थामें त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण करके १४५२ शकाब्दमें वाराणसीमें परलोक गमन किया। वल्लभके सोलह ग्रन्थ, ब्रह्मसूत्रका 'अनुभाष्य' श्रीमद्भागवतकी 'सुबोधिनी' टीका इत्यादि ग्रन्थोंके अतिरिक्त उनके और भी ग्रन्थ हैं।

श्रीवल्लभाचार्यने ६४ ग्रन्थोंकी रचना की—ऐसी प्रसिद्धि है। इनमें कुछ ग्रन्थ वर्त्तमानमें प्राप्त हैं। उनके सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषामें रचित हैं।

श्रीवल्लभाचार्यने वेदान्तके अर्थ-निर्णय विषयमें श्रीव्यासदेवको ही गुरुके रूपमें प्रकाश किया है और उन्होंने श्रावणी शुक्ला एकादशीको श्रीभगवान्‌से जो साक्षात् शिक्षा प्राप्त की थी, उसका ही उन्होंने प्रचार किया है—इस प्रकारसे उन्होंने ज्ञापन भी किया है।

श्रीवल्लभ सम्प्रदायमें कोई-कोई उन्हें श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदायका अनुग कहते हैं और कोई-कोई उन्हें स्वतन्त्र सम्प्रदायके प्रवर्त्तकके रूपमें मानते हैं।

श्रीवल्लभाचार्यका सिद्धान्त

वेदान्तमें जो ब्रह्मके रूपमें कीर्त्तित हैं एवं स्मृतिमें जो परमात्माके रूपमें निर्दिष्ट हैं, श्रीभागवतमें वे ही भगवान् हैं। ज्ञानमार्गीय-साधनमें 'ब्रह्म-स्फूर्त्ति' मर्यादामार्गीय भक्तिमें 'परमात्म-स्फूर्त्ति' और शुद्ध-प्रेममें 'भगवत्-स्फूर्त्ति' होती है।

माया—यह परब्रह्मकी शक्ति है, इसकी 'व्यामोहिका' और 'आच्छादिका' भेदसे दो प्रकारकी वृत्तियाँ हैं।

जीव—बहु-भवन (बहुत हो जाऊँ) के इच्छुक सच्चिदानन्द परब्रह्मका तिरोभूत आनन्दांशरूप 'चिदंश' नित्य सत्य है।

जगत्—यह भगवत्-कार्य, भगवत्-रूप है और भगवान्‌की मायाशक्ति द्वारा रचित है।

इनके मतमें भक्तिपथ—मर्यादा एवं पुष्टि भेदसे दो प्रकारका है। श्रीकृष्ण और उनके भक्तोंके एकमात्र अनुग्रह द्वारा प्राप्य जो भक्ति है, वही पुष्टिमार्ग है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु और वेदान्तभाष्य

१४०७ शकाब्द (८९२ बङ्गाब्द) फाल्गुनी पूर्णिमा तिथिमें सन्ध्या-कालमें श्रीधाम-नवद्वीप-मायापुरमें—श्रीशचीदेवी और श्रीजगन्नाथको मातृ-पितृ रूपमें स्वीकार करते हुए श्रीहरिसङ्कीर्त्तनके मध्य स्वयं-भगवान् श्रीचैतन्यदेव आविर्भूत हुए। श्रीधाम नवद्वीपमें रहते समय वे श्रीगौराङ्ग, निमाइ, विश्वम्भर, गौरसुन्दर, महाप्रभु इत्यादि नामोंसे अभिहित होते थे, संन्यास ग्रहणके बाद वे 'श्रीकृष्णचैतन्य' नामसे प्रसिद्ध हुए।

शेष लीलाय नाम धरे श्रीकृष्णचैतन्य।
श्रीकृष्ण जानाये सब विश्व कैल धन्य॥

(चै॰च॰आ॰ ३/३४)

शेषलीला (अर्थात् संन्यास ग्रहणके पश्चात्‌की लीलाओं) में उन्होंने 'श्रीकृष्णचैतन्य' नाम स्वीकार किया और श्रीकृष्णके सम्बन्धमें ज्ञान प्रदानकर सम्पूर्ण विश्वको धन्य कर दिया।

श्रीचैतन्यदेवने प्रथमतः अध्ययन-लीला, बादमें अध्यापक-लीला और गार्हस्थ्य-लीला प्रकट की। पुनः गया जाकर श्रीईश्वरपुरीके निकट दीक्षा-ग्रहण-लीलाका आविष्कारकर नवद्वीप लौटे और वहाँ सर्वक्षण श्रीकृष्ण-स्मृतिमें विभावित रहनेकी लीलाकी तथा सभीको प्रतिक्षण श्रीकृष्णनाम ग्रहण करनेका उपदेश दिया। वे स्वयं भी अद्वैतादि भक्तोंके साथ मिलकर सर्वदा श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनमें रत रहते थे। उन्होंने श्रीहरिदास और श्रीनित्यानन्दको द्वार-द्वारपर भेजकर श्रीकृष्णनामका प्रचार कराया। जगाइ-माधाइ उद्धार, काजी उद्धार

इत्यादि लीलाओंका समापन करते हुए १४३१ शकाब्दमें माघ मासकी पूर्णिमा तिथिमें कटवामें श्रीकेशवभारतीसे संन्यास-ग्रहण-लीला की और तब 'श्रीकृष्णचैतन्य' नामसे विख्यात हुए। बादमें पुरी धाम जानेपर सर्वप्रथम श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यके साथ वेदान्त-विषयमें आलोचना की।

श्रीचैतन्यदेवके आविर्भावसे पहले भारतवर्षमें नाना प्रकारके मनोधर्मोत्थित काल्पनिक मतवाद उपस्थित हुए, जिनसे नाना प्रकारकी कपटताके आवरणसे शुद्ध सनातन-धर्म आवृत हो पड़ा था। दाक्षिणात्य श्रीयामुनाचार्य और श्रीरामानुजाचार्यने जिस सनातन-वैष्णव-धर्मका प्रचार किया था, बादमें वह भी रामानन्दी शाखामें प्रवाहित होकर मायावाद दोषसे दूषित हो गया था। इतना ही नहीं, श्रीरामानुज सम्प्रदायके आचार-प्रचारमें स्मार्त्ताचार न्यूनाधिक रूपसे प्रविष्ट हो गये। श्रीरामानुजके परवर्त्ती आचार्य शुद्धाद्वैतवाद-प्रचारक देवतनु श्रीविष्णुस्वामीने जिस सनातन-धर्मका प्रचार किया था, वह भी लिङ्गायत सम्प्रदायके साथ संघर्षके परिणाम-स्वरूप विद्धाद्वैतवादके द्वारा आक्रान्त हो गया था। श्रीविष्णुस्वामी रचित 'सर्वज्ञसूक्त' नामक वेदान्तभाष्य भी कालक्रमसे केवलाद्वैतवादके भाष्य-ग्रन्थरूपमें परिणत हो गया था। इतना ही नहीं, श्रीधर एवं श्रीलक्ष्मीधरको भी केवलाद्वैतवादी कहकर प्रचार करनेकी चेष्टा की गयी। श्रीमन्मध्वाचार्यने जिस शुद्धद्वैतवादका प्रचार किया था, वह भी तत्त्ववादी शाखामें प्रवेश कर गया और उसने किञ्चित् अन्यरूप धारण कर लिया।

इसी समय श्रीमन्महाप्रभुने श्रीपुरुषोत्तम-धाममें सर्वप्रथम श्रीसार्वभौमके निकट श्रीशङ्कर-रचित शारीरक-भाष्यकी व्याख्याको सात दिनों तक सम्पूर्ण मौन रूपसे श्रवण करनेकी लीलाका प्रदर्शन किया, बादमें आठवें दिवसमें श्रीसार्वभौमको बताया कि श्रीव्यास-सूत्रका अर्थ सुस्पष्ट रूपसे समझा जा सकता है, परन्तु यह निर्मल तथा सहज अर्थ शाङ्कर-भाष्यसे आच्छादित हो गया है। अन्तमें, श्रीसार्वभौमके निकट शास्त्र-युक्ति द्वारा श्रीशङ्करके मायावादका खण्डन करके वेदान्तके प्रकृत निगूढ़ अर्थको प्रकाशित करते हुए उनका उद्धार किया और उनके निकट षड्भुज मूर्त्ति भी प्रकट की।

इस विषयमें श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

सप्त दिन पर्यन्त ऐछे करेन श्रवणे।
भालमन्द नाहि कहे वसि मात्र शुने॥
अष्टम दिवसे ताँरे पूछे सार्वभौम।
सात दिन कर तुमि वेदान्त–श्रवण॥
भालमन्द नाहि कह, रह मौन धरि।
बूझ, कि ना बूझ—इहा जानिते ना पारि॥
प्रभु कहे—मूर्ख आमि, नाहि अध्ययन।
तोमार आज्ञाते मात्र करिये श्रवण॥
संन्यासीर—धर्म लागि, श्रवण मात्र करि।
तुमि येइ अर्थ कर, बुझिते ना पारि॥
भट्टाचार्य कहे—'ना बुझि' हेन ज्ञान यार।
बुझिवार लागि सेइ पूछे पुनर्वार॥
तुमि शुनि शुनि रह मौन मात्र धरि।
हृदये कि आछे तोमार बुझिते ना पारि॥
प्रभु कहे—सूत्रेर अर्थ बुझिये निर्मल।
तोमार व्याख्या शुनि मन हयत विकल॥
सूत्रेर अर्थ—भाष्य कहे प्रकाशिया।
भाष्य कह तुमि, सूत्रेर अर्थ आच्छादिया॥
सूत्रेर मुख्य अर्थ ना करह व्याख्यान।
कल्पनार्थे तुमि ताहा कर आच्छादन॥
उपनिषद्—शब्दे येइ मुख्य अर्थ हय।
सेइ अर्थ मुख्य—व्यास सूत्रे सव कय॥
मुख्यार्थ छाड़िया कर गौणार्थ कल्पना।
अभिधा–वृत्ति छाड़ि कर शब्देर लक्षणा॥
प्रमाणेर मध्ये श्रुति–प्रमाण प्रधान।
श्रुति ये मुख्यार्थ कहे—सेइ से प्रमाण॥
जीवेर अस्थि–विष्ठा दुइ–शङ्ख–गोमय।
श्रुति वाक्ये सेइ दुइ महापवित्र हय॥

स्वतः प्रमाण वेद सत्य येइ कय।
'लक्षणा' करिते स्वतः प्रामाण्य हानि हय॥

व्यास-सूत्रेर अर्थ यैछे सूर्येर किरण।
स्वकल्पित-भाष्य-मेघे करे आच्छादन॥

वेद-पुराण कहे ब्रह्म-निरूपण।
सेई ब्रह्म-बृहद्वस्तु ईश्वर-लक्षण॥

सर्वैश्वर्य परिपूर्ण स्वयं भगवान्।
ताँरे निराकार करि करह व्याख्यान॥

निर्विशेष ताँर कहे येइ श्रुतिगण।
'प्राकृत' निषेधि करे अप्राकृत स्थापन॥

या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव॥

(हयशीर्ष-पञ्चरात्र वचन)

ब्रह्म हैते जन्मे विश्व, ब्रह्मेते जीवय।
सेइ ब्रह्मे पुनरपि हये याय लय॥

अपादान, करण, अधिकरण-कारक तिन।
भगवानेर सविशेषे एइ तिन चिह्न॥

भगवान् अनेक हैते यवे कैल मन।
प्राकृत शक्तिते तखन कैल विलोकन॥

से-काले नाहि जन्मे प्राकृत मन नयन।
अतएव अप्राकृत ब्रह्मेर नेत्र मन॥

ब्रह्म-शब्दे कहे—पूर्ण स्वयं भगवान्।
स्वयं भगवान् कृष्ण, शास्त्रेर प्रयाण॥

वेदेर निगूढ़ अर्थ बुझन ना हय।
पुराण-वाक्ये सेइ अर्थ करये निश्चय॥

(चै॰च॰म॰ ६/१२३-१४८)

श्रीमन्महाप्रभुने सात दिनों तक वेदान्त श्रवण किया, किन्तु श्रीमन्महाप्रभु अच्छा-बुरा कुछ भी न कहकर मौन होकर बस सुनते

ही रहे। तब आठवें दिन श्रीसार्वभौमने कहा, आप सात दिन तक वेदान्त सुनते रहे, पर भला-बुरा कुछ भी नहीं कहा, मौन धारण किये रहे। आप कुछ समझे कि नहीं समझे—मैं कुछ भी जान नहीं सका। श्रीमन्महाप्रभुने कहा, मैं मूर्ख हूँ, कुछ अध्ययनादि नहीं किया है। आपकी आज्ञा मानकर मात्र सुनता रहा। संन्यासीका यही धर्म है—इसलिए आपका कहा सब सुनता अवश्य रहा, परन्तु आपने सूत्रोंकी जो व्याख्या की, वह मेरी समझमें नहीं आयी। श्रीभट्टाचार्यने कहा, 'समझ नहीं सका'—जिसे यह प्रतीति होती है, वह तो उसे समझनेके लिए बार-बार पूछता है, परन्तु आप तो बस सुनते ही रहे, सुनते ही रहे, कुछ भी नहीं बोले। मैं समझ नहीं पा रहा कि आपके हृदयमें क्या है? श्रीमन्महाप्रभुने कहा—मैं व्यासकृत वेदान्तसूत्रके अर्थोंको तो स्पष्ट समझता रहा हूँ, परन्तु आपने जो व्याख्या की उससे मेरा मन व्याकुल हो उठा है। सूत्रका जो यथार्थ भाष्य है, वह भाष्य तो सूत्रके अर्थोंको प्रकाशित करता है, किन्तु आपने जो भाष्य [शङ्कर प्रणीत ब्रह्मसूत्रका निर्विशेष ब्रह्म-प्रतिपादक शारीरक-भाष्य] किया, उसने तो सूत्रोंके अर्थोंका आच्छादन कर दिया है। व्यासकृत ब्रह्मसूत्रोंकी अभिधावृत्तिका आश्रय करके जो मुख्य अर्थ है, आपने उसकी व्याख्या तो की नहीं, बल्कि सूत्रार्थका आच्छादन करके लक्षणा द्वारा कल्पितार्थ कर लिया है। उपनिषद-वाक्योंका जो मुख्य अर्थ है, श्रीवेदव्यासने निजकृत सूत्रोंमें उसीको उद्देश्य किया है अर्थात् वही मुख्य अर्थ ज्ञातव्य है। उसे छोड़कर जिस गौणार्थकी कल्पना की गयी है और शब्दकी अभिधावृत्तिको छोड़कर जो लक्षणा की गयी है, वह अमङ्गलजनक है। प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य और शब्द—इन चार प्रकारके प्रमाणोंमें श्रुति-प्रमाण अर्थात् शब्द-प्रमाण ही सबमें प्रधान है (*'दृश्यते तु'*—ब्र॰सू॰ २/१/५) सूत्रके भाष्यमें श्रीमन्मध्वाचार्यपादने 'भविष्यपुराण' वाक्यको उद्धृत किया है—*ऋग् यजुःसामथर्वाश्च भारत पञ्चरात्रकम्। मूलरामायणञ्चैव वेद इत्येव शब्दिताः पुराणानि च यानीह वैष्णवानि विदो विदुः। स्वतः प्रामाण्यमेतेषां नात्र किञ्चित् विचार्यते॥* [ऋक, यजुः, साम और अथर्व, महाभारत, पञ्चरात्र एवं मूल रामायण 'वेद' के रूपमें कथित हुए हैं पण्डितगण इन्हें ही वैष्णव अर्थात्

सात्त्विक पुराणके रूपमें जानते हैं। इनके स्वतः प्रामाण्य विषयमें कोई विचार (तर्क) चलता नहीं है।] देखो, पशुओंके अस्थि एवं विष्ठा—नितान्त अपवित्र हैं किन्तु 'शङ्ख' और 'गोमय' इनमें परिगणित होकर भी श्रुति-वाक्यके आधारपर महापवित्र हुए हैं। वैदिक-वाक्यकी लक्षणा करनेसे उसे अनुमानके अधीन करके उसका स्वतः प्रामाण्य नष्ट करना होता है। व्याससूत्रका अर्थ सूर्यकी किरणके समान देदीप्यमान है। मायावादीगणोंने स्वकल्पित भाष्यरूप मेघ द्वारा उसे आच्छादन कर दिया है। वेद एवं तदनुगत पुराण एकमात्र ब्रह्मका ही निरूपण करते हैं। वे ही अपने बृहत्त्व धर्मके कारण ईश्वर लक्षणसे लक्षित होते हैं। उन ईश्वरको उनके सर्वैश्वर्य-परिपूर्णताके साथ देखनेपर वह बृहद्ब्रह्म वस्तु ही स्वयं-भगवान् हो पड़ती है। अतएव 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' ये भगवत्-तत्त्वके अन्तर्गत क्रिया-विशेष हैं। षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् सर्वदा परिपूर्ण, श्रीसंयुक्त हैं, अतः वे नित्य सविशेष हैं। उन्हें निराकार कहकर व्याख्या करनेपर वेदार्थ विकृत हो जाता है। जो समस्त श्रुतियाँ उन्हें निर्विशेष कहती हैं, वे केवल 'प्राकृत-विशेष' का निषेध करके 'अप्राकृत-विशेष' का स्थापन करती हैं। जो जो श्रुतियाँ तत्त्ववस्तुको पहले 'निर्विशेष' कहकर कल्पना करती हैं, वे ही श्रुतियाँ अवशेषमें 'सविशेष'—तत्त्वका ही प्रतिपादन करती हैं। निर्विशेष और सविशेष—भगवान्के ये दोनों गुण ही नित्य हैं—इस प्रकारसे विचार करनेपर सविशेष तत्त्व ही प्रबल हो उठता है, क्योंकि जगत्में सविशेष तत्त्व ही अनुभूत होता है, निर्विशेष तत्त्व अनुभूत नहीं होता है। *'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'* (तै॰ २/१/१) इत्यादि श्रुति-वाक्यमें यह पाया जाता है कि, यह चराचर विश्व ब्रह्मसे उत्पन्न होता है (अपादान कारक), ब्रह्म द्वारा जीवित रहता है (करण कारक) एवं उसी ब्रह्ममें पुनः लीन हो जाता है (अधिकरण कारक)। इन सब वेद-वाक्यों द्वारा परब्रह्मके 'अपादान', 'करण' एवं 'अधिकरण'—कारकत्वरूप तीन प्रकारके लक्षण हैं। इन तीन प्रकारके नित्य लक्षणोंके द्वारा भगवान् नित्य सविशेष रूपमें प्रतीयमान होते हैं। *'बहु स्याम्'* इत्यादि श्रुतिमतसे भगवान् जब अनेक होनेकी इच्छा करते हैं, तब *'स ऐक्षत'* (ऐ॰ १/१) इस वाक्य मतसे वे प्राकृत शक्तिमें दृष्टिपात

करते हैं, उस समय प्राकृत मन और नयनकी सृष्टि नहीं होती, अतएव भगवान्ने जिस मनमें चिन्तन किया, जिस नयनसे प्रकृतिके प्रति ईक्षण किया, वह मन एवं नयन प्राकृत सृष्टिके पूर्व थे। अतः परब्रह्मके जो स्वरूपगत अप्राकृत नेत्र और मन हैं, वे सर्ववेद सम्मत हैं। उपनिषद-वाक्योंमें प्रायः सर्वत्र 'ब्रह्म' शब्द पाया जाता है। वह ब्रह्म ही पूर्णावस्थामें स्वयं-भगवान् है—यही वेद-सम्मत है एवं शास्त्र-प्रमाणसे भी यही सिद्ध होता है कि कृष्ण ही स्वयं-भगवान् हैं। यदि कहो वेदमें इस प्रकारसे स्पष्ट वाक्य नहीं देखे जाते, तब विचार करके देखो, वेद-वाक्यके अर्थ अत्यन्त निगूढ़ हैं। महर्षिगणोंने वेद-वाक्यका तात्पर्य जगत्को विज्ञापित करनेके लिए पुराण-वाक्योंमें वेद-तात्पर्यका निर्णय किया है।

श्रीसार्वभौमका उद्धार करके आलालनाथके पथसे कन्याकुमारी तक दाक्षिणात्य-भ्रमणके समय गोदावरीके तटपर श्रीराय-रामानन्दके साथ साध्य-साधन तत्त्वके समस्त सिद्धान्तोंकी आलोचना करते हुए श्रीमन्महाप्रभुने निजस्व रूपको प्रकट किया था। दक्षिण देशमें भ्रमणके छलसे बौद्ध, मायावादी, तत्त्ववादी श्रीवैष्णव इत्यादि सभीके निकट वेदान्तके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत-सिद्धान्तका प्रचार करते हुए श्रीमन्महाप्रभुने सभीको कृपाभिषिक्त किया था। उसी समय उन्होंने श्रीब्रह्मसंहिता और श्रीकृष्णकर्णामृत दोनों ग्रन्थोंका संग्रह भी किया था। श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें लौटकर भक्तोंके साथ विविध लीलाओंका प्रकाश किया। एक समय गौड़देशमें जाकर उन्होंने श्रीरूप-सनातनको अपने चरणोंमें आकर्षण किया और श्रीरघुनाथको कृपाभिषिक्त किया। श्रीबलभद्रके साथ झारिखण्डके वन-पथसे व्रजकी ओर यात्रा करते समय हिंसक जीव-जन्तुओंमें भी कृष्ण-प्रेम उदय कराया तथा काशी एवं प्रयाग होकर व्रजमण्डलकी ओर गमन किया।

व्रजमण्डलसे प्रयाग-यात्राके पथपर बहुत-से पठानोंको वैष्णवधर्मकी ओर आकृष्ट किया। प्रयागमें दशाश्वमेध घाटपर श्रीरूप-शिक्षा और काशीमें श्रीसनातन-शिक्षाका प्राकट्य करके श्रीभागवत धर्मकी असमोर्द्ध्व उज्ज्वलताका प्रदर्शन किया। इसी काशीधाममें प्रकाशानन्द सरस्वतीके साथ बहुत-से मायावादी संन्यासियोंको वेदान्तके अकृत्रिम भाष्यस्वरूप

श्रीमद्भागवत-सिद्धान्तके प्रति आकृष्ट करते हुए उनका उद्धार किया। प्रकाशानन्दका उद्धार-प्रसङ्ग श्रीचैतन्यचरितामृतकी आदि-लीलाके सप्तम परिच्छेदमें पाया जाता है। ग्रन्थ-विस्तारके भयसे मैं समग्रांशका निरूपण नहीं कर सका हूँ। किञ्चित्मात्र ही दिग्दर्शन किया है, जिससे वेदान्तके सम्बन्धमें महाप्रभुके मत एवं व्याख्याको जाना जा सकता है।

प्रभु कहे, वेदान्त-सूत्र—ईश्वर वचन।
व्यासरूपे कैला ताहा श्रीनारायण॥

भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एइ सब॥

उपनिषत्-सहित सूत्र कहे येइ तत्त्व।
मुख्य वृत्त्ये सेई अर्थ परम महत्त्व॥

गौण-वृत्त्ये येवा भाष्य करिल आचार्य।
ताहार श्रवणे नाश याय सर्व कार्य॥

ताँहार नाहिक दोष, ईश्वर-आज्ञा पात्रा।
गौणार्थ करिल, मुख्य अर्थ आच्छादिया॥

'ब्रह्म' शब्दे मुख्य अर्थ कहे 'भगवान्'।
चिदैश्वर्य-परिपूर्ण अनूर्द्ध-समान॥

ताँहार विभूति, देह,—सव चिदाकार।
चिद्विभूति आच्छादिया कहे 'निराकार'॥

चिदानन्द-देह, ताँर स्थान, परिवार।
ताँर कहे—प्राकृत—सत्त्वेर विकार॥

ताँर दोष नाहि तेंहो आज्ञाकारी दास।
आर येइ शुने, तार हय सर्वनाश॥

प्राकृत करिया माने विष्णु-कलेवर।
विष्णु निन्दा आर नाहि इहार उपर॥

ईश्वरेर तत्त्व येन ज्वलित ज्वलन।
जीवेर स्वरूप यैछे स्फुलिङ्गेर कण॥

जीव तत्त्व-शक्ति कृष्णतत्त्व शक्तिमान्।
गीता-विष्णुपुराणादि ताहाते प्रमाण॥

अपरेय मितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
(श्रीगी॰ ७/५)

× × × × ×

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥
(वि॰पु॰ ६/७/६०)

हेन जीवतत्त्व लञा लिखि परतत्त्व।
आच्छन्न करिल श्रेष्ठ ईश्वर-महत्त्व॥

व्यासेर सूत्रेते कहे परिणाम वाद।
व्यास भ्रान्त बलि तार उठाइल विवाद॥

परिणाम-वादे ईश्वर हयेन विकारी।
एत कहि विवर्त्त-वाद स्थापना ये करि॥

वस्तुतः परिणाम वाद सेइ से प्रमाण।
देहे आत्मबुद्धि-हय विवर्त्तेर स्थान॥

अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगद्रूपे पाय परिणाम॥

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥

नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥

प्राकृत-वस्तुते यदि अचिन्त्य शक्ति हय।
ईश्वरेर अचिन्त्य शक्ति—इथे कि विस्मय॥

प्रणव से महावाक्य वेदेर विधान।
ईश्वर स्वरूप प्रणव सर्वविश्वधाम॥

सर्वाश्रय ईश्वरेर करि प्रणव उद्देश।
'तत्त्वमसि' वाक्य हय वेदेर एक देश॥

प्रणव महावाक्य ताहा करि आच्छादन।
महावाक्ये करि' 'तत्त्वमसि'र स्थापन॥

सर्ववेदसूत्रे करे कृष्णेर अभिधान।
मुख्यवृत्ति छाड़ि कैल लक्षणा-व्याख्यान॥

स्वतः प्रमाण-वेद-प्रमाण शिरोमणि।
लक्षणा करिले स्वतः प्रमाणता-हानि॥

एइ मत प्रतिसूत्रे सहजार्थ छाड़िया।
गौणार्थ व्याख्या करे सब कल्पना करिया॥

एइ मते प्रतिसूत्रे करेन दूषण।
शुनि चमत्कार हैल संन्यासीरगण॥

(चै॰च॰आ॰ ७/१०६-१३४)

श्रीमन्महाप्रभुने कहा, वेदान्तसूत्र ईश्वरके वचन हैं। व्यासके रूपमें श्रीनारायणने ही इनका प्रवर्त्तन किया है। ईश्वरके वचनोंमें भ्रम (जो वस्तु जैसी नहीं है, उसके सम्बन्धमें मिथ्याज्ञान जैसे रज्जुमें सर्पभ्रम), प्रमाद (अनवधानता, किसी बातकी अन्य प्रकारसे उपलब्धि या श्रवण करना अथवा कहना), विप्रलिप्सा (वञ्चना करनेकी इच्छा), करणापाटव (इन्द्रियोंकी अपटुता) आदि दोष नहीं हैं। उपनिषदोंके साथ सूत्र जिस तत्त्वका वर्णन करते हैं, अभिधावृत्तिमें (मुख्यवृत्तिमें) उस अर्थका परम महत्त्व है। श्रीशङ्कराचार्यने गौणवृत्तिमें जिस भाष्यकी रचना की है, उसे सुननेसे सभी कार्योंका (उपनिषद-पुराणोंके तात्पर्यका) विनाश हो जाता है। इसमें उनका दोष नहीं है, ईश्वरसे आज्ञा प्राप्त होकर ही उन्होंने मुख्य अर्थको आच्छादित करके (लक्षणावृत्तिके द्वारा केवलाद्वैतवाद सिद्धान्तकी स्थापना कर) इसका गौणार्थ किया है। ब्रह्म शब्दके मुख्य अर्थमें चिदैश्वर्यसे परिपूर्ण अनूर्द्ध (उनके समान कोई नहीं, उनसे बढ़कर कोई नहीं) भगवान्‌को बतलाया गया है। उनकी विभूति, देह सब कुछ चिदाकार है। चिद्विभूतिको आच्छादित करके उन्हें 'निराकार' कहा है। उनका परिवार, देह, स्थान सब चिदानन्दमय है।

वे इन्हें प्राकृत-सत्त्वका विकार कहते हैं। इसमें उनका दोष नहीं है, वे आज्ञापालनकारी दास हैं। परन्तु जो भी इस भाष्यको सुनता है, उसका सर्वनाश हो जाता है। ये विष्णु-कलेवर (विष्णु-विग्रह) को प्राकृत मानते हैं, इससे अधिक विष्णुकी निन्दा और नहीं है। ईश्वरतत्त्व ज्वलित ज्वलनस्वरूप है। जीवोंका स्वरूप स्फुलिङ्ग (चिनगारी) के कण जैसा है। जीवतत्त्व शक्ति है, कृष्णतत्त्व शक्तिमान है। गीता एवं विष्णुपुराणादि इसके प्रमाण हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—भूमि, जल, तेज, वायु एवं आकाश—ये पञ्चभूत स्थूल-जगत्, मन, बुद्धि एवं अहङ्कार-रूप—लिङ्ग-जगत्—इन आठ प्रकारोंमें विभक्त प्रकृति 'अपरा' अथवा 'जड़ा' है। इसका नाम 'माया-प्रकृति' है। इससे अलग मेरी और एक 'परा-प्रकृति' है। वही प्रकृति ही जीवस्वरूप होकर इस जगत्में परिपूर्ण रूपसे विराजमान है।

विष्णुशक्ति तीन प्रकारकी है—संज्ञा-विशिष्ट है—परा, क्षेत्रज्ञा एवं अविद्या। विष्णुकी पराशक्ति 'चिच्छक्ति' है, क्षेत्रज्ञाशक्ति जीवशक्ति है और 'अविद्या' को 'अपरा' (भिन्ना) के रूपमें कहा गया है। 'कर्म' संज्ञारूपी अविद्या शक्तिका नाम 'माया' है।

इस प्रकारके जीवतत्त्वको परमतत्त्वके रूपमें वर्णन करते हुए श्रीशङ्करने ईश्वर-महिमाकी श्रेष्ठताको छिपाकर रख दिया। व्यासके सूत्रोंमें 'परिणाम' वादका समर्थन है। व्यास भ्रान्त हैं—ऐसा कहकर (श्रीशङ्करने) इसके ऊपर विवाद खड़ा कर दिया। परिणामवादमें ईश्वर स्वयं विकारयुक्त (विकारी) हो जाते हैं—ऐसा कहकर 'विवर्त्त' वादकी स्थापना की है। वस्तुतः परिणामवाद ही प्रमाण है। देहमें आत्मबुद्धि (देहात्मबुद्धि) को विवर्त्त कहते हैं। अविचिन्त्यशक्तियुक्त श्रीभगवान् अपनी इच्छासे जगत्रूप परिणामको प्राप्त होते हैं। फिर भी अचिन्त्यशक्तिके कारण भगवान् अविकारी रहते हैं। इस सम्बन्धमें प्राकृत चिन्तामणि दृष्टान्तस्वरूप है। चिन्तामणिसे अनेक रत्नराशि उत्पन्न होती है, फिर भी चिन्तामणि अपने स्वरूपमें अविकारी रहती है। प्राकृत वस्तुमें यदि अचिन्त्यशक्ति विराजमान है तो ईश्वरके अचिन्त्यशक्तिके सम्बन्धमें विस्मित होनेकी क्या बात है? महावाक्य 'प्रणव' ही वेदोंका निदान (आदिकारण) है। सर्वविश्व धाम प्रणव

ईश्वरस्वरूप है। (*अकारेणोच्यते कृष्णः सर्वलोकैक नायकः। उकारेणोच्यते राधा मकारो जीव–वाचकः॥*) प्रणवसे सर्वाश्रय ईश्वरको लक्ष्य किया जाता है। *'तत्त्वमसि'* वचन वेदोंका एक देश (विभाग) मात्र है। 'प्रणव' महावाक्य है, इसे आच्छादित करके *'तत्त्वमसि'* को महावाक्यके रूपमें निर्धारित किया है। सभी वेदसूत्रोंमें कृष्ण ही स्वीकृत हैं। श्रीशङ्करने मुख्यवृत्तिको छोड़कर लक्षणावृत्तिके आधारपर इसकी व्याख्या की है। स्वतः प्रमाण वेद प्रमाण–शिरोमणि हैं। लक्षणावृत्ति अपनानेसे स्वतः प्रमाणताकी हानि होती है। (*वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥* अर्थात् वेद, रामायण, पुराण एवं महाभारतके आदि, अन्त एवं मध्यमें सर्वत्र श्रीहरिका सङ्कीर्त्तन है।) इस प्रकारसे प्रत्येक सूत्रके सहज अर्थको छोड़कर उन्होंने गौणार्थकी व्याख्या की है। तत्पश्चात् प्रभु प्रत्येक सूत्रकी व्याख्यामें दोष दर्शाने लगे। ये सब सुनकर (मायावादी) संन्यासी वृन्द चमत्कृत हो गये।

श्रीमन्महाप्रभुकी व्याख्या—

बृहद्वस्तु ब्रह्म कहि—श्रीभगवान्।
षड्विधैश्वर्यपूर्ण परतत्त्व धाम्॥

स्वरूप ऐश्वर्ये ताँर नाहि मायागन्ध।
सकल वेदेर हय भगवान् से सम्बन्ध॥

ताँरे निर्विशेष कहि, चिच्छक्ति ना मानि।
अर्द्धस्वरूप ना मानिले पूर्णता हय हानि॥

भगवान्–प्राप्ति हेतु ये करि उपाय।
श्रवणादि भक्ति कृष्ण प्राप्त्येर सहाय॥

सेइ सर्व वेदेर 'अभिधेय' नाम।
साधन भक्ति हैते हय प्रेमेर उद्गम॥

कृष्णेर चरणे हय यदि अनुराग।
कृष्ण विनु अन्यत्र तार नाहि रहे राग॥

पञ्चम पुरुषार्थ सेइ प्रेम-महाधन।
कृष्णेर माधुर्य-रस कराय आस्वादन॥

प्रेमा हैते हय कृष्ण निजभक्त वश।
प्रेमा हैते पाय कृष्णेर सेवा-सुख रस॥

सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन नाम।
एइ तिन अर्थ सर्वसूत्रे पर्यवसान॥

(चै॰च॰आ॰ ७/१३८-१४६)

षड्विध ऐश्वर्यपूर्ण, परतत्त्व धाम, बृहद्वस्तु 'ब्रह्म' को श्रीभगवान् कहते हैं। उनका स्वरूप चिदानन्दमय है। उनका ऐश्वर्य उनकी चित्-शक्तिका विकार है—इसलिए उनके स्वरूप-ऐश्वर्यमें मायाकी गन्ध भी नहीं है। सभी वेदोंमें भगवान् ही सम्बन्ध हैं। चित्-शक्तिको (षड्विध ऐश्वर्यको) न मानकर उन्हें निर्विशेष माननेका अर्थ उनके अर्द्ध-स्वरूपको अस्वीकार करना है। अर्द्ध-स्वरूप (चित्-विशेष) न माननेसे पूर्णताकी हानि होती है। भगवान् निर्विशेष गुणको क्रोड़ीभूत करके नित्य सविशेष हैं। उन्हें निर्विशेष कहना उनकी चित्-शक्तिको नहीं मानना है। भगवत्-प्राप्ति हेतु उपायोंमें श्रवणादि साधनभक्ति कृष्ण-प्राप्तिकी सहायक है। उसीको वेदोंमें 'अभिधेय' कहा गया है। साधनभक्तिसे प्रेमका उद्गम (उदय) होता है। कृष्णके चरणोंमें यदि अनुराग उत्पन्न होता है तो कृष्ण बिना साधकका मन कहीं और नहीं लगता। श्रीकृष्णप्रेम महाधनस्वरूप पञ्चम पुरुषार्थ है। यह प्रेम कृष्णके माधुर्यरसका आस्वादन कराता है। प्रेमसे कृष्ण निज भक्तके वशीभूत हो जाते हैं। प्रेमसे कृष्ण-सेवासुख-रसकी प्राप्ति होती है। सभी सूत्रोंका तात्पर्य सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन नामक तीन अर्थोंमें ही पर्यवसित होता है।

श्रीकृष्णचैतन्यदेवने पुनः श्रीपुरीधाममें आकर वहाँ अवस्थान किया और नाना प्रकारकी लीलाएँ कीं। उनके द्वारा रचित शिक्षाष्टक नामक आठ श्लोकोंमें समग्र वेद, वेदान्त, पुराण, स्मृति, पञ्चरात्र इत्यादि सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार एवं जीवके चरम एवं परम प्रयोजनका वर्णन ग्रथित हुआ है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शक्तिसे सञ्चारित होकर

श्रीसनातन–श्रीरूप प्रमुख गोस्वामियोंने विपुल संख्यामें गौड़ीय साहित्यको प्रकट किया था। इसकी आलोचना करनेसे महाप्रभुके सिद्धान्त तथा भागवत सिद्धान्तसे अवगत हुआ जा सकता है।

वेदान्तके सम्बन्धमें गौड़ीय–गोस्वामीगण

श्रीभगवान्‌के शक्त्यावेशावतार श्रीमत् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास–प्रणीत वेदान्तसूत्रके बहुत–से भाष्यकार और टीकाकार देखे जाते हैं। इनमेंसे कुछ प्रख्यात भाष्यकारोंका उल्लेख प्रस्तुत भूमिकामें उद्धृत किया गया है। अब एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि किस भाष्यकारका भाष्य सूत्रकारका अभिप्रेत है? भाष्यकारोंमें परस्पर–परस्परका खण्डनादि भी परिलक्षित होता है। तब इतना तो प्रामाण्य है कि केवलाद्वैतवाद अथवा मायावादमूलक भाष्यकी प्रायः सभीने गर्हण (निन्दा) की है। आधुनिक कालके अनेक मनीषी एवं गवेषकगण भी मायावाद अथवा केवलाद्वैतवादको वेदान्तके व्यास–सम्मत भाष्यरूपमें भी स्वीकार नहीं कर पाते। अधिकांश वेदान्त–भाष्यमें भेदाभेद मतको ही समर्थन प्राप्त हुआ है। भेदाभेदवादीगण भी पुनः परस्पर विवदमान हैं। इस क्षेत्रमें श्रीव्याससम्मत भाष्य–निर्णय प्रसङ्गमें हम सर्वप्रथम देख सकते हैं कि स्वयं श्रीव्यासदेवने इसे एक समस्याके रूपमें विचार करके अपने गुरुदेव देवर्षि श्रीनारदके उपदेशके अनुसार 'श्रीमद्भागवत' की रचना की और श्रीमद्भागवतको ही उन्होंने स्वरचित वेदान्तसूत्रके भाष्यके रूपमें बहुत–से स्थानोंपर घोषणा की। इस विषयमें हमने प्रथमाध्यायकी भूमिकामें विस्तृत रूपसे प्रमाणादिके साथ आलोचना की है। पुनरूक्तिके भयसे इस स्थानपर और उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

इस सबसे ऊपर स्वयं श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने एवं उनके श्रीचरणानुचर पार्षदवृन्द सभीने श्रीव्यासदेवके सिद्धान्तानुसार श्रीमद्भागवतको वेदान्तसूत्रके अकृत्रिम भाष्यके रूपमें ग्रहण किया है। इसमें प्रथमतः अद्वितीय महाजन शिरोमणि स्वयं–भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके श्रीमुखसे निःसृत वाणी, द्वितीयतः वेदान्तसूत्रकर्त्ता जगद्गुरु भगवदवतार श्रीव्यासदेव–रचित शास्त्रवाणी एवं तृतीयतः श्रुतियोंकी मीमांसारूप वेदान्तसूत्रका सहज एवं सरल तात्पर्य स्वतःसिद्ध भाष्य श्रीमद्भागवतके

सिद्धान्तमें समन्वय प्राप्त होकर त्रिवेणी-सङ्गमके समान एक महातीर्थमें परिणत हुआ है।

वेदान्तके अकृत्रिम स्वतःसिद्ध भाष्य श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तानुसार श्रील सनातन गोस्वामी प्रभुपादने 'श्रीबृहद्भागवतामृत' और उसकी 'दिग्दर्शिनी' एवं श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धकी बृहत्-वैष्णव-तोषणी इत्यादि टीकाओंकी रचना की है और श्रीश्रीरूप गोस्वामी प्रभुपादने संक्षिप्त अथवा लघु-श्रीभागवतामृत ग्रन्थकी रचना करके तथा इस वेदान्तसूत्रके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवतकी ही व्याख्या करके अपूर्व वेदान्त सिद्धान्तको प्रकट किया है। श्रीश्रील जीव गोस्वामी प्रभुपादने भी स्वरचित श्रीभागवतसन्दर्भ अथवा षट्सन्दर्भ, यथा—श्रीतत्त्वसन्दर्भ, श्रीभगवत्सन्दर्भ, श्रीपरमात्मसन्दर्भ, श्रीकृष्णसन्दर्भ, श्रीभक्तिसन्दर्भ एवं श्रीप्रीतिसन्दर्भ इत्यादि ग्रन्थोंमें, श्रीमद्भागवतकी क्रमसन्दर्भ टीकामें एवं तत्त्व-भगवत्-परमात्म-श्रीकृष्ण-सन्दर्भकी अनुव्याख्या—श्रीसर्वसम्वादिनीमें श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तों तथा वेदान्तसूत्रका सार-तात्पर्य सुसंक्षिप्त रूपसे प्रकट किया है। अवश्य ही इनके तथा अन्यान्य गौड़ीय-गोस्वामीपादगणों द्वारा विरचित सम्पूर्ण गौड़ीय-वैष्णव-साहित्यने वेदान्तकी शोभा तथा उसके भाष्य श्रीमद्भागवतकी उज्ज्वलता एवं रमणीयताका विधान किया है। सुधी समाजके निकट हमारा निवेदन है कि यदि वे वास्तवमें वेदान्तका तात्पर्य हृदयङ्गम करना चाहते हैं तो गौड़ीय वैष्णवाचार्योंके आनुगत्यमें गौड़ीय-वैष्णव-साहित्यके अनुशीलन अथवा अनुधावनकी प्रचेष्टा करें, इससे एक ओर तो वे समस्त शास्त्रोंका सार क्या है? इससे अवगत हो सकते हैं और दूसरी ओर स्वयंका हरिभजनमय जीवन प्राप्त होनेसे वे धन्यातिधन्य हो सकते हैं।

स्वयं-भगवान् श्रीचैतन्यमहाप्रभुके आदेशसे श्रील सनातन गोस्वामी प्रभुपादने जिन समस्त ग्रन्थोंकी रचना की है, उनमें निम्नलिखित चार ग्रन्थोंका नाम सुप्रसिद्ध है—

(१) श्रीबृहद्भागवतामृत और उसकी 'दिग्दर्शिनी' टीका।

(२) श्रीहरिभक्तिविलास और उसकी 'दिग्दर्शिनी' टीका।

(३) श्रीलीलास्तव अथवा दशम-चरित।

(४) श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धकी टिप्पणी 'वैष्णवतोषणी' टीका।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ १/३५-३६) में पाया जाता है—

हरिभक्तिविलास, आर भागवतामृत।
दशम टिप्पणी, आर दशम-चरित॥

एइ सब ग्रन्थ कैला गोसाञि सनातन।

अर्थात् श्रीहरिभक्तिविलास, श्रीबृहद्भागवतामृत, दशमटिप्पणी अर्थात् दशम-स्कन्धकी 'बृहत्-वैष्णवतोषणी' टीका और दशम-चरित अर्थात् दशममें वर्णित कृष्ण-लीला-चरित (श्रीलीलास्तव)—इन समस्त ग्रन्थोंकी रचना श्रीसनातन गोस्वामीने की।

श्रीश्रीरूप गोस्वामीपाद विरचित ग्रन्थावलीके सम्बन्धमें श्रीचैतन्य-चरितामृतमें दो स्थानोंमें वर्णन हुआ है—

प्रधान प्रधान किछु करिये गणन।
लक्षग्रन्थ कैल व्रजविलास वर्णन॥

रसामृतसिन्धु आर विदग्धमाधव।
उज्ज्वलनीलमणि आर ललितमाधव॥

दानकेलिकौमुदी, आर बहु स्तवावली।
अष्टादश-लीलाच्छन्द, आर पद्यावली॥

गोविन्द-विरुदावली, ताहार लक्षण।
मथुरा-माहात्म्य, आर नाटक-वर्णन॥

लघुभागवतामृतादि के करु गणन।
सर्वत्र करिल व्रजलीला वर्णन॥

(चै॰च॰म॰ १/३७-४१)

श्रीकृष्णकी व्रजलीलाका वर्णन श्रीरूप गोस्वामीने एक लाख श्लोकोंमें किया है, उनके प्रधान-प्रधान कुछ ग्रन्थोंका उल्लेख इस प्रकार है—

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु [कृष्णभक्ति एवं भक्तिसे सम्बन्धित संग्रह-ग्रन्थ, इसमें सामान्यभक्ति, साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति—ये चार लहरियाँ वर्त्तमान हैं], विदग्ध-माधव [कृष्णकी व्रजलीला-विषयक नाटक-ग्रन्थ। इसमें सात अङ्क हैं, जिनके नाम हैं—वेणुनादविलास,

मन्मथलेख, राधासङ्ग, वेणुहरण, राधाप्रसादन, शरद्-विहार एवं गौरी-विहार], उज्ज्वलनीलमणि [अप्राकृत मधुर व्रजरस विषयक अलङ्कार-ग्रन्थ], ललित-माधव—श्रीकृष्णका द्वारकालीला विषयक नाटक-ग्रन्थ [इसमें दस अङ्क हैं—सायं-उत्सव, शङ्खचूड़ वध, उन्मत्ता राधिका, राधिकाभिसार, चन्द्रावली-लाभ, ललिता-प्राप्ति, नव-वृन्दावन-सङ्गम, नववृन्दावन-विहार, चित्रदर्शन, एवं पूर्णमनोरथ], दानकेलिकौमुदी [श्रीराधाकृष्णकी दानलीलाका वर्णन], बहुस्तवावली [स्तवमाला ग्रन्थ], अष्टादशलीलाच्छन्द [श्रीकृष्णकी मुख्य-मुख्य अट्ठारह लीलाओंका वर्णन], पद्यावली [श्रीकृष्णभक्ति-विषयक समस्त विषयोंका संग्रह], गोविन्दा-विरुदावली [स्तवमालाके अन्तर्गत—इस काव्य-ग्रन्थमें श्रीगोविन्दके गुणोत्कर्षादिका वर्णन है], मथुरा-माहात्म्य [मथुरा-महिमाका वर्णन], नाटक-वर्णन [नाटक-चन्द्रिका—इसमें नाटकके लक्षण एवं नान्दी, सूत्रधार, पात्रादिके लक्षण कहे गये हैं], एवं लघुभागवतामृत [यह ग्रन्थ कृष्णामृत एवं भक्तामृत—इन दो खण्डोंमें रचित है] इत्यादि अनेक ग्रन्थ हैं, जिनकी गणना कौन कर सकता है?

इसी प्रकारसे—

रूप गोसाञि कैला रसामृत सिन्धु सार।
कृष्ण भक्तिरसेर याहाँ पाइये विस्तार॥

उज्ज्वलनीलमणि नाम ग्रन्थ कैल आर।
राधाकृष्ण लीला-रसेर ताहाँ पाइये पार॥

'विदग्ध-माधव'—'ललित-माधव' नाटक-युगल।
कृष्णलीलारस ताहाँ पाइये सकल॥

दानकेलिकौमुदी आदि लक्ष ग्रन्थ कैला।
येइ सब ग्रन्थे व्रजेर रस विचारिला॥

(चै॰च॰अ॰ ४/२२३-२२६)

श्रील रूप गोस्वामीने भक्ति-ग्रन्थोंके सारस्वरूप भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थका प्रणयन किया, जिसमें श्रीकृष्णभक्ति-रसका विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। उन्होंने श्रीउज्ज्वलनीलमणि नामक एक अन्य ग्रन्थ रचा, जिसमें श्रीश्रीराधाकृष्णलीला-रसका विस्तारपूर्वक वर्णन है।

उनके ही द्वारा श्रीविदग्ध-माधव एवं श्रीललित-माधव नाटक—इन दोनों ग्रन्थोंकी रचना की गयी, इनमें श्रीकृष्णकी व्रजलीला एवं द्वारकालीलाका विस्तारपूर्वक वर्णन है। इन सबके अतिरिक्त श्रीरूप गोस्वामीने दानकेलि-कौमुदी आदि ग्रन्थों सहित एक लाख श्लोकोंकी रचना की है। इन सभी ग्रन्थोंमें उज्ज्वल व्रजरसका ही प्रचार किया गया है।

श्रीश्रील श्रीजीव गोस्वामी प्रभुपाद-रचित ग्रन्थोंके सम्बन्धमें 'श्रीभक्तिरत्नाकर' की प्रथम तरङ्गमें पाया जाता है—

श्रीजीवेर ग्रन्थ पञ्चविंशति विदित।
'हरिनामामृत' व्याकरण दिव्यरीत॥

'सूत्रमालिका' धातुसंग्रह—प्रकार।
कृष्णार्चन दीपिका ग्रन्थ अति चमत्कार॥

'गोपाल विरुदावली' 'रसामृत शेष'।
श्रीमाधव-महोत्सव सर्वांशे विशेष॥

'श्रीसङ्कल्प कल्पवृक्ष' ग्रन्थेर प्रचार।
'भावार्थ सूचक' चम्पू अति चमत्कार॥

'गोपालतापनी-टीका', टीका ब्रह्म-संहितार।
'रसामृत-टीका', 'श्रीउज्ज्वल-टीका' आर॥

योगसार-स्तवेर टीकाते सुसङ्गति।
अग्निपुराणस्थ श्रीगायत्री-भाष्य-तथि॥

पद्मपुराणोक्त श्रीकृष्णेर पद-चिह्न।
श्रीराधिका-कर-पदस्थित चिह्न भिन्न॥

'गोपाल चम्पू'—पूर्व-उत्तर-विभागेते।
सप्तसन्दर्भ विख्यात भागवत-रीते॥

श्रील जीव गोस्वामी द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं यथा—'हरिनामामृत' (वैष्णव-व्याकरण), व्याकरण शास्त्र (वैष्णव-रीतिसे शब्दानुशासन), सूत्रमालिका (व्याकरण सूत्रोंकी माला), धातु-संग्रह (प्रयुक्त अथवा संयोजित धातु-समुच्चय एवं उनका प्रकार), कृष्णार्चन-

दीपिका (कृष्णार्चन-प्रकाशिका), गोपाल-विरुदावली (गोपालदेवकी राजस्तुति), रसामृतशेष (रसामृतशेषांश), श्रीमाधव-महोत्सव, सङ्कल्प-कल्पवृक्ष (सेवा-सङ्कल्प कल्पतरु), भावार्थसूचक (भावार्थद्योतक), चम्पू (गद्यपद्यमय काव्य), गोपालतापनी टीका (इस नामके उपनिषदकी व्याख्या), ब्रह्म-संहिताकी टीका, भक्तिरसामृतसिन्धु एवं उज्ज्वलनीलमणिकी टीका, योगसारस्तव नामक ग्रन्थकी टीका तथा अग्नि पुराणस्थ गायत्री-विवृतिः (गायत्री-व्याख्या), पद्मपुराणमें उक्त श्रीकृष्णपदचिह्न (कृष्णचरण-रेखाओंका) विवरण, लक्ष्मी विशेष रूपा अथवा श्रीमद् वृन्दावनेश्वरी (श्रीमती राधिका) के कर-पद-स्थित चिह्न अर्थात् रेखाओंकी समाहृति (संग्रह), पूर्व-उत्तर चम्पूद्वयी (पूर्व गोपालचम्पू एवं उत्तर गोपालचम्पू), श्रीमद्भागवतके विख्यात सप्तसन्दर्भ षट्सन्दर्भ एवं क्रमसन्दर्भ (क्रमपूर्वक सन्दर्भ)। [इन सभी ग्रन्थोंमें सर्वोत्तम महाजनों द्वारा हस्तामलकीके समान सहज बोध्य रूपमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन—ये तीन तत्त्व प्रकाशित हुए हैं।]

वेदान्तसूत्र भाष्यकार—श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभु

हमारे परमाराध्यतम गौड़ीय वेदान्ताचार्य इन प्रभुवरकी अतिमर्त्त्य चरितावली धारावाहिक रूपसे कहीं भी लिपिबद्ध नहीं है। इस कारण विस्तारपूर्वक विवरण प्राप्त करना असम्भव है। तथापि इन महात्माने जिस प्रकारसे जयपुरके निकटवर्त्ती गलतामें विवदमान सभामें वादीगणोंको पराजित करके वेदान्तके गौड़ीय-भाष्यका आविष्कार करके गौड़ीय-वैष्णव-जगत्की अक्षय अतुल कीर्त्तिका स्थापन किया है, उसमें केवल गौड़ीय-वैष्णवगण ही नहीं, समग्र विश्वके मानववृन्द उनकी चरित-सुधाका पान करनेके लिए आग्रहशील हैं। इसी कारण विभिन्न प्रभुवर्गकी एवं वैष्णवगणोंकी विभिन्न लेखनियोंसे प्रसूत विषयसे किञ्चित्मात्र संग्रह करके उनके चरितामृतको सज्जनोंके निकट उपस्थापित कर रहा हूँ।

हमारे परमाराध्यतम परात्पर श्रीगुरुदेव श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरने अपनी 'सज्जन-तोषणी' पत्रिकामें जो लिखा है, उसके आश्रयसे जाना जा सकता है कि १८६८ खृष्टाब्दके अन्तिम भागमें श्रील ठाकुर

भक्तिविनोद जब पुरीमें अवस्थान कर रहे थे, उस समय श्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण प्रभुके चाक्षुष दर्शनकारी [श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुके समकालीन उन्हें अपने नेत्रोंसे देखनेवाले] किसी एक महात्मा वैष्णवके अतिवृद्ध एक शिष्यके साथ श्रीभक्तिविनोद ठाकुरका वार्त्तालाप हुआ था। इस प्रसङ्गमें ठाकुर श्रीमद्भक्तिविनोदने जो लिखा है, उसका सार यह है कि श्रीबलदेवने उड़ीसाके किसी प्रदेशमें जन्म-ग्रहण किया था और अल्प आयुमें ही वे तीर्थ-भ्रमण और विद्योपार्जनमें लग गये थे। चिल्का झीलके दूसरे तटपर विद्वानोंकी किसी बस्तीमें उन्होंने व्याकरण और अलङ्कारादि शास्त्रोंका अध्ययन किया था और बादमें न्याय-शास्त्रका अध्ययन तथा समस्त वेदका भी अध्ययन किया था। यह भी जाना जाता है कि महीशूर (मैसूर) जाकर भी उन्होंने वेदान्त-शास्त्रका अध्ययन किया था। पहले उन्होंने शाङ्कर-भाष्यादिका पाठ किया, बादमें श्रीमन्मध्व-भाष्यका विशेष रूपसे अध्ययन किया। उस समय वे तत्त्ववादियोंका शिष्यत्व ग्रहण करके मध्व सम्प्रदायके अन्तर्गत हो गये थे।

वेदान्त विशारद ये महात्मा दिग्विजयी पण्डितरूपमें दाक्षिणात्य, आर्यावर्त्त इत्यादि स्थानोंपर जाकर वहाँके पण्डित एवं संन्यासीगणोंके साथ वेदान्तादिकी आलोचना करके सभीके द्वारा सम्मानित-पूजित हुए, और अन्तमें इन्होंने श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रमें शुभागमन किया। वहाँके भी तथाकार (तथाकथित) पण्डितोंको पराजित करके तत्त्ववादी मठमें ही विराजमान रहे। उस समय अनेक गौड़ीय-वैष्णवगण श्रीबलदेवको स्व-सम्प्रदायमें लानेका यत्न कर रहे थे। तभी श्यामानन्दी श्रीरसिक-मुरारिके प्रशिष्य श्रीराधादामोदर दास नामक किसी परम पण्डित वैष्णव महात्माके संस्पर्शमें आकर श्रीबलदेव उनके साथ शास्त्र-विचार करने लगे। श्रीराधादामोदर दास कान्यकुब्ज (कन्नौज)—देशीय ब्राह्मण-कुलमें जन्म-ग्रहण करके भी महाप्रेमी वैष्णव थे। उनका श्रील जीवगोस्वामीपाद-प्रणीत षट्‌सन्दर्भमें विशेष अधिकार था। श्रीबलदेव वेद-वेदान्तादि शास्त्रमें ज्ञानवान होकर भी श्रीराधादामोदर दासजीके निकट षट्‌सन्दर्भके अतुलनीय विचारोंका श्रवण करने लगे एवं उनकी भक्ति एवं प्रेमका दर्शन करके उनके प्रति परम श्रद्धालु हो गये।

गौड़ीय–वैष्णव–सिद्धान्तमें उनका आकर्षण अभिवृद्धित हुआ तथा उन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार करते हुए गौड़ीय–आम्नायमें प्रवेश करके स्वयंको धन्यातिधन्य माना।

हमारे परमाराध्यतम श्रीगुरुदेव श्रीश्रील प्रभुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरके लेखमें भी पाया जाता है कि— "श्रीगौड़ीयजनोंके उपास्य श्रीकृष्ण चैतन्यदेवका भक्त–सम्प्रदाय यद्यपि श्रीमद् आनन्दतीर्थ मध्वमुनिके साम्प्रदायिक अधस्तन परिचयसे परिचित है, तथापि गौड़ीयजनोंके उपास्य श्रीचैतन्यदेवके आश्रित–कुल गौरपार्षदानुमोदित भाष्यमें अधिक प्रीति प्राप्त करते हैं। श्रीबलदेव विद्याभूषण श्रीगौड़ीय–वैष्णव समाजमें 'श्रीगोविन्ददास' नामसे प्रसिद्ध थे। वे गौड़ीयगणोंके वेदान्ताचार्य थे। उनका वेदान्त–न्यायानुमोदित, श्रीमध्वानुगत्य एवं अतुलनीय है। गौड़देशके उपकण्ठमें (निकटवर्त्ती) उत्कलदेशमें बालेश्वर उपविभागके अन्तर्गत रेमुणाके निकट एक पल्लीमें हमारे इन भाष्यकारका जन्म हुआ था।

श्रीबलदेवने विरक्तशिरोमणि श्रीपीताम्बर दासके निकट भक्तिशास्त्रके अध्ययनमें नैपुण्य प्राप्त किया था। अनन्तर श्रीराधादामोदर दास नामक किसी कान्यकुब्जवासी शौक्र–विप्र–कुलोद्भूत दीक्षित वैष्णवके निकट कृपा प्राप्त की थी। (पहले भी वर्णन किया गया है।) श्रीराधादामोदर श्रीरसिकानन्द मुरारीके पौत्र एवं सेवक श्रीनयनान्ददेव गोस्वामीके शिष्य थे। श्रीरसिकानन्द मुरारी श्रीबलदेवके पाञ्चरात्रिक गुरु–परम्परामें चतुर्थ पूर्वपुरुष थे। श्रीरसिकानन्द मुरारी श्रीश्यामानन्दके शिष्य थे। श्रीश्यामानन्दके गुरु श्रीहृदयचैतन्य श्रीनित्यानन्द–शिष्य श्रीगौरीदास पण्डितके शिष्य थे तथा इन श्रीश्यामानन्दने परवर्त्तीकालमें श्रीजीवगोस्वामीकी कृपा प्राप्त की थी। श्रीजीवके गुरु–पारम्पर्यमें श्रीरूप और उनके गुरु श्रीसनातन हैं। श्रीसनातन श्रीकृष्णचैतन्यदेवके सहचर हैं।

श्रीमद्बलदेव प्रभुके आविर्भावकी तारीख सटीक ज्ञात नहीं है, फिर भी यह तो निश्चित ही है कि वे खृष्टीय अठारहवीं शताब्दीमें आविर्भूत हुए थे। उन्होंने १७६४ ईस्वीमें श्रीरूप गोस्वामी प्रभु रचित स्तवमालाकी टीकाकी रचना की थी, यह लिपिबद्ध है।

श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभु श्रीकृष्णचैतन्य सम्प्रदायके एक विख्यात आचार्य एवं अद्वितीय पण्डित थे। व्याकरणमें, वेदादि शास्त्रोंमें, विभिन्न दर्शनशास्त्रोंमें और भक्तिशास्त्रोंमें उनकी असाधारण व्युत्पत्ति थी; इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है। वे जिस समय श्रीधाम वृन्दावन जाकर भजन कर रहे थे, उस समय उन्होंने श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्तीपादके निकट सम्यक् प्रकारसे श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया था, यह भी सुना जाता है।

उन्होंने जिस प्रकारसे श्रीगोविन्दभाष्यकी रचना करके रामानन्दियोंकी सभामें जो गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायकी विजय-वैजयन्ती फहरायी थी, उस विषयमें प्रस्तुत 'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थके प्रथम अध्यायकी भूमिकामें वर्णन हुआ है। पुनरुल्लेखके भयसे इस स्थलपर और विवरण नहीं किया जा रहा है। पाठकगण कृपापूर्वक उसी स्थानपर अनुसन्धान करें। इस स्थलपर मात्र इतना ही कहना चाहते हैं कि श्रीधाम वृन्दावनके अधिष्ठातृ पुरुष श्रीगोविन्ददेवने जिस प्रकारसे अत्यद्भुत रूपसे स्वप्नमें श्रीबलदेवको आदेश प्रदान करते हुए इस ग्रन्थकी रचना करवायी थी, उसके श्रवणमात्रसे ही शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। जब विद्याभूषण प्रभु पण्डित मण्डलीके अभिप्रायानुसार वेदान्तके गौड़ीय-वैष्णव विचार सम्मत भाष्यकी रचनामें कृतसङ्कल्प होकर श्रीगोविन्ददेवजीके मन्दिरमें जाकर वहाँ उनके शरणापन्न हुए थे, तब कुछ एक दिनोंके बाद श्रीगोविन्दजीने स्वप्नमें आज्ञा प्रदान की—"कुरु कुरु" (करो, करो), किन्तु इससे विद्याभूषण प्रभुका संशय दूर नहीं हुआ, वह वहीं पड़े रहे। तब श्रीगोविन्ददेवजीने पुनः आज्ञा दी, "कुरु तव भविष्यति" (करो, तुम्हारा होगा), इससे भी जब वे निःसंशय न होकर शरणागत होकर वैसे ही पड़े रहे, इस बार श्रीगोविन्दजीदेवकी आज्ञा हुई कि *"ब्रह्म सूत्राणि व्याचक्ष्व तद्भाष्यं ते सेत्स्यति।"* (ब्रह्मसूत्रोंकी आलोचना [विस्तार] करो, तुम्हारा वह भाष्य सिद्ध होगा।) श्रीबलदेव विद्याभूषणने इस बार स्पष्ट आज्ञा सुनकर तत्क्षण ही उसी स्थानमें रहकर 'श्रीगोविन्दभाष्य' लिखना आरम्भ कर दिया।

श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्यमें इस प्रसङ्गका वर्णन किया है—

विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्यातिं निन्ये तेन यो मामुदारः।
श्रीगोविन्दः स्वप्ननिर्दिष्ट भाष्यो राधाबन्धुर्बन्धुराङ्गः स जीयात्॥

अर्थात् जिन उदार-शिरोमणि पुरुषने विद्यारूप भूषण प्रदान करके उसके द्वारा मुझे जगत्में विख्यात किया एवं जिन्होंने स्वप्नमें मुझे इन ब्रह्मसूत्रोंके भाष्यका निर्देश किया है, वे त्रिभङ्गभङ्गी मनोहर श्रीराधारमण श्रीगोविन्ददेव जययुक्त हों।

कोई-कोई कहते हैं कि श्रीगोविन्ददेवजीने यह भी कहा था कि "बलदेव! तुम्हारे लिए मेरी आज्ञा हुई है। तुम केवल निमित्तमात्र हो। मैं तुम्हारे द्वारा अपने भाष्यको स्वयं लिखूँगा। इस कारण इस भाष्यका नाम गोविन्दभाष्य होगा और इस रचनाके कारण तुम 'विद्याभूषण' नामसे प्रसिद्ध होओगे।"

श्रीगोविन्ददेवजीकी कृपासे श्रीगोविन्दभाष्य जगत्में आविर्भूत हुआ। जो मधुररसरसाश्रित हैं, विशेष रूपसे परकीयरसके भक्त हैं, वे भी इस श्रीगोविन्दभाष्यके पाठसे उस रसका अनुभव कर सकेंगे। इससे पूर्व वेदान्तके अकृत्रिम अपौरुषेय भाष्य श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भागवतके भाष्यस्वरूप श्रील सनातन गोस्वामी प्रणीत श्रीबृहद्भागवतामृत, श्रील रूप गोस्वामी प्रणीत श्रीलघु-भागवतामृत और श्रील जीव गोस्वामी प्रणीत षट्सन्दर्भ एवं सर्वसंवादिनी ग्रन्थमें वेदान्तके सिद्धान्तको परिस्फुट रूपसे देखा जा सकता है। श्रीमन्महाप्रभु एवं तदनुग गोस्वामीवृन्द सभीने ही श्रीमद्भागवतको ही वेदान्तके व्यास-सम्मत अकृत्रिम भाष्यके रूपमें प्रचार किया है।

श्रीगोविन्दभाष्य केवल विरोधी मतवादियोंको परास्त करनेके लिए प्रकटित हुआ हो, ऐसा नहीं है, इसके मूल रचयिता स्वयं श्रीगोविन्ददेवजी होनेके कारण इसकी भी श्रीमद्भागवतके समान अकृत्रिमता एवं अपौरुषयेता स्थापित हुई है। यद्यपि इस भाष्यमें मध्वानुगत्य रहा है, तो भी यह मूलतः श्रीमद्भागवतके विचारानुसार है एवं श्रीचैतन्यदेवके सिद्धान्तानुमोदित है—इसे सभी सुधीगणों एवं भक्तमण्डलीने स्वीकार किया है। यह भाष्य माध्वभाष्यकी अपेक्षा अधिक प्राञ्जल है तथा गौरपार्षद गोस्वामीगणोंके ग्रन्थोंके सिद्धान्तोंके द्वारा परिपूर्ण हैं। इस भाष्यमें तर्क, युक्ति एवं तत्त्व विचार जिस रूपसे सन्निविष्ट हुए हैं, वे किसी भी प्रचलित शास्त्रमें देखे नहीं जाते।

विद्याभूषण महाशय अपनी भक्ति, प्रेम, पाण्डित्य एवं चरित्र-महिमासे वैष्णव-जगत्में सुपरिचित एवं सुविख्यात होकर चिरस्मरणीय हो गये हैं। उन्होंने केवल श्रीगोविन्दभाष्यकी ही रचना नहीं की और भी अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ, भाष्य एवं टीकादिकी भी रचना की है। उनके ग्रन्थोंकी तालिकाका हमने नीचे संयोजन किया है।

दुःखका विषय है कि उनके द्वारा विरचित कतिपय ग्रन्थ परवर्त्तीकालमें लुप्तप्राय हो गये थे। इतना ही नहीं, उन्होंने जो दशोपनिषदका भाष्य किया है, उनमें मात्र ईशोपनिषदका भाष्य ही प्राप्त होता है।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभु द्वारा विरचित ग्रन्थ इस प्रकारसे हैं—

(१) श्रीगोविन्दभाष्य (ब्रह्मसूत्र-भाष्य), (२) सिद्धान्तरत्न (भाष्यपीठक), (३) वेदान्त-स्यमन्तक, (४) प्रमेय-रत्नावली, (५) सिद्धान्त-दर्पण, (६) साहित्य-कौमुदी, (७) काव्य-कौस्तुभ, (८) व्याकरण-कौमुदी, (९) पद-कौस्तुभ, (१०) वैष्णवानन्दिनी (श्रीमद्भागवतकी टीका), (११) गोपालतापनी उपनिषद्-भाष्य, (१२-२१) ईश-उपनिषदादि दशोपनिषद्का भाष्य, (२२) गीताभूषण-भाष्य (श्रीमद्भगवद्गीताका भाष्य), (२३) श्रीविष्णुसहस्रनाम भाष्य (नामार्थसुधा), (२४) श्रीसंक्षेप-भागवतामृत-टिप्पणी—'सारङ्गरङ्गदा', (२५) तत्त्वसन्दर्भ टीका, (२६) स्तवमाला-विभूषण-भाष्य, (२७) नाटक-चन्द्रिका टीका, (२८) छन्दः कौस्तुभ भाष्य, (२९) श्रीश्यामानन्दन शतक टीका, (३०) चन्द्रालोक-टीका, (३१) साहित्य-कौमुदी-टीका-कृष्णानन्दिनी, (३२) श्रीगोविन्दभाष्य-टीका-सूक्ष्मा, (३३) सिद्धान्तरत्न-टीका-सूक्ष्मा।

कतिपय तत्त्व-विषयोंपर विभिन्न मत अथवा सिद्धान्त

परतत्त्व विषयमें—

श्रीशङ्कराचार्यका मत—एक, अद्वितीय, निर्विशेष, निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विकार, केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही 'परतत्त्व' हैं। परमार्थतः वे निर्गुण ब्रह्म हैं तथा व्यावहारिक स्तरमें वे सगुण ब्रह्म या ईश्वर हैं।

श्रीरामानुजाचार्यका मत—चित्-अचिदात्मक जगत्के जन्म, स्थिति एवं लय तथा संसार-निवर्त्तनके एकमात्र कारणस्वरूप, सभी प्रकारकी हेयतासे रहित, अनन्त कल्याणोंके आस्पद अथवा असीम उपादेयतासे युक्त, अपनेसे अतिरिक्त दूसरी समस्त वस्तुओंसे विलक्षणस्वरूप, असमोर्ध्व-अतिशय रूपमें असंख्य कल्याणगुणोंसे विशिष्ट—जो सर्वात्मा, परब्रह्म, परज्योतिः, परतत्त्व, परमात्मा, सत् आदि विभिन्न शब्द-भेदसे सम्पूर्ण वेदान्तके एकमात्र प्रतिपाद्य हैं, वे पुरुषोत्तम श्रीनारायण ही अन्तर्यामी-स्वरूप हैं।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत—विष्णु ही एकमात्र सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र तत्त्व हैं। वे अनन्त-निर्दोष-कल्याण-गुणोंके आलय हैं। वे सर्वशक्तिमान, स्वराट्, चेतन-अचेतन जगत्के नियामक हैं। वे अपने चरणकमलोंके नखसे केशके अग्रभाग तक स्वरूपज्ञानात्मक श्रीसच्चिदानन्द विग्रह हैं। वे स्वगतभेदसे रहित हैं। उनके देह और देहीमें भेद नहीं है। उनके नाम-रूप-गुण-लीलामें कोई भेद नहीं है। वे सनातन, सर्वनियामक, सर्वप्रभु, ब्रह्म-महेश-लक्ष्मी आदिके भी ईश्वर हैं, इसलिए वे ईश्वरतम अर्थात् सभी ईश्वरोंके ईश्वर हैं।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत—ह्लादिनी तथा सम्वित् शक्ति (सर्वज्ञताशक्ति) द्वारा आलिङ्गित सच्चिदानन्द विग्रह ही ईश्वर है। ईश्वर नित्यमुक्त हैं, वे किसी उपाधिके द्वारा वशीभूत नहीं होते। वे अप्राकृत गुणोंसे विशिष्ट, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता, सर्वोपास्य, सर्वकर्मफल-प्रदाता, समस्त कल्याण-गुणोंके आलय और सच्चिदानन्द वस्तु हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत—भगवत्-तत्त्व निर्दोष है। मोह, आलस्य, भ्रम आदि अट्ठारह दोष भगवत्-स्वरूपमें नहीं हैं। असीम (सम्पूर्ण) कल्याणराशि भगवत्-स्वरूपमें सम्पूर्ण रूपमें वर्त्तमान है। वह भगवत्-तत्त्व श्रीकृष्णस्वरूपमें परम-ब्रह्म हैं। वे (श्रीकृष्ण) समस्त सौन्दर्य और माधुर्यके मूल हैं। गोलोकका चतुर्व्यूह, परव्योमका चतुर्व्यूह और अन्यान्य चतुर्व्यूहगण उन श्रीकृष्णके अङ्ग होनेके कारण वे मूल अङ्गी हैं। वे स्वरूपशक्ति श्रीवृषभानु-नन्दिनीके साथ और

श्रीवृषभानु-नन्दिनीके कायव्यूहस्वरूप हजारों-हजारों सखियों द्वारा सर्वदा परिसेवित होकर जीवोंके नित्य-आराध्य हैं। वे नित्य अप्राकृत विग्रहवान हैं। वे प्राकृत हाथ-पैर आदिसे रहित होनेके कारण प्राकृत नेत्रोंके समक्ष 'निराकार' हैं और अप्राकृत हाथ-पैर आदिसे युक्त होनेके कारण अप्राकृत नेत्रोंके समक्ष 'साकार' हैं। वे स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वरेश्वर, अविचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न तथा ब्रह्मा-शिव आदि देवताओं द्वारा नित्य वन्दित हैं।

श्रीवल्लभाचार्यका मत—अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण साकार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण श्रीयशोदाकी गोदमें लालित परमतत्त्व हैं।

गौड़ीय-वैष्णवाचार्य श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत **श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार**—

कृष्णेर स्वरूप-विचार शुन सनातन।
अद्वयज्ञान-तत्त्व, व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥

सर्व-आदि, सर्व-अंशी, किशोर-शेखर।
चिदानन्द-देह, सर्वाश्रय, सर्वेश्वर॥

स्वयं-भगवान् कृष्ण, 'गोविन्द' पर नाम।
सर्वैश्वर्यपूर्ण यार गोलोक-नित्यधाम॥

(चै॰च॰म॰ २०/१५२-१५३, १५५)

[श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा—] हे सनातन! श्रीकृष्णस्वरूपके विचार सुनो। श्रीकृष्ण व्रजधाममें व्रजपति श्रीनन्दके नन्दन हैं। वे अद्वयज्ञान-तत्त्व हैं। उनके नाम, रूप, गुण और लीला—इन चार प्रकारके तत्त्वोंमें मायासे उत्पन्न परस्पर भेद अथवा विरोध नहीं देखा जाता अर्थात् श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलामें मायिक भेद-विधि कार्य नहीं कर सकती।

श्रीकृष्ण सभी विष्णुतत्त्वों एवं वैष्णवतत्त्वके आदि तत्त्व हैं, वे मूल अंशी हैं और उन्हींसे ही समस्त अंश प्रकटित हुए हैं। वे पूर्ण किशोर अवस्थावाले, सच्चिदानन्द विग्रह, सभीके प्रभु एवं सभी वस्तुओंके आश्रय हैं।

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णका ही दूसरा नाम 'गोविन्द' है। उनका वासस्थान श्रीगोलोकधाम समस्त प्रकारके ऐश्वर्योंसे पूर्ण, अविनाशी तथा नित्यकाल स्थित रहनेवाला है।

स्वयं-भगवान् कृष्ण, विष्णु-परतत्त्व।
पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द परम महत्त्व॥
'नन्दसुत' बलि यारे भागवते गाइ।
सेइ कृष्ण अवतीर्ण चैतन्यगोसाञि॥
(चै॰च॰आ॰ २/८-९)

स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र श्रीविष्णुतत्त्वके परतत्त्व हैं। श्रीकृष्ण पूर्णज्ञान अर्थात् अद्वयज्ञान, पूर्णतम आनन्दस्वरूप एवं लीला, ऐश्वर्य तथा माधुर्यमें अन्यान्य समस्त विष्णुतत्त्वोंसे परम श्रेष्ठतम हैं। श्रीभागवतमें 'नन्दसुत' के रूपमें जिनका गान सुना जाता है, वही श्रीकृष्णचैतन्यके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं।

स्वयं भगवान् कृष्ण-सर्वांशी, सर्वाश्रय।
विशुद्ध-निर्मल-प्रेम, सर्वरसमय॥
सकल सद्गुणवृन्द-रत्न-रत्नाकर।
विदग्ध, चतुर, धीर, रसिकशेखर॥
मधुर चरित्र कृष्णेर मधुर विलास।
चातुर्य, वैदग्ध करे जार लीला-रस॥
(चै॰च॰म॰ १५/१३९-१४१)

श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं, वे सबके अंशी तथा सभीके आश्रय हैं। वे विशुद्ध-निर्मल-प्रेममय तथा अखिल रसोंके मूर्त्त विग्रह हैं। श्रीकृष्ण विदग्ध, चतुर, धीर तथा रसिकशेखर आदि समस्त सद्गुणरूपी रत्नोंके सागर हैं। श्रीकृष्णके चरित्र मधुर हैं तथा उनकी लीलाएँ भी अत्यन्त मधुर हैं। उनका लीला-रस उनके चातुर्य एवं वैदग्धको प्रकाशित करता है।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणका मत—श्रीकृष्ण निरवद्य, विशुद्ध-अनन्त-गुणोंसे युक्त, अचिन्त्यशक्तिसे सम्पन्न, सच्चिदानन्द,

पुरुषोत्तम हैं। वे स्वतन्त्र ईश्वर एवं स्वरूपशक्तिसे सम्पन्न हैं। वे प्रकृति आदिमें अनुप्रवेश और उसके नियमन द्वारा जगत्‌की सृष्टिकर जीवोंको भोग और मुक्ति प्रदान करते हैं। ईश्वर एक और बहुत रूपोंमें अभिन्न होकर भी गुण और गुणी तथा देह और देही भावमें विद्वानोंकी प्रतीतिके विषय होते हैं। ईश्वर व्यापक होकर भी भक्तिके द्वारा ग्राह्य हैं।

श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं। श्रीकृष्ण सर्वकारण-कारण, विज्ञान-आनन्द-स्वरूप, मूर्त्त और विभु, अचिन्त्यशक्तिमान, सर्वज्ञ, आनन्दमय, प्रभु, सुहृत्, माधुर्यमय, सन्धिनी, सम्वित् एवं ह्लादिनी शक्तिसे समन्वित हैं। श्रीकृष्ण स्वयंरूप और समस्त अवतारोंके अवतारी हैं। श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और परिकर नित्य और अभिन्न हैं।

जीवतत्त्वके विषयमें—

श्रीशङ्कराचार्यका मत—जीव अविद्या उपाधिसे ग्रस्त भ्रान्त ब्रह्म है। जब तक आत्माका बुद्धिके साथ संयोग रहता है, तब तक ही जीवत्व या संसारित्व है। जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब या प्रतिच्छवि है। 'ब्रह्म'—अन्तःकरण या बुद्धिरूपी दर्पणमें प्रतिफलित होकर 'जीव' संज्ञाको प्राप्त होता है। ब्रह्मका यह प्रतिबिम्ब अविद्या द्वारा कृत है। परमार्थतः 'जीव' रूपमें कोई वस्तु ही नहीं है। व्यावहारिक स्तरपर जीव ब्रह्मसे भिन्न है तथा उसका ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, परिच्छिन्नत्व और असंख्यत्व है। पारमार्थिक स्तरपर जीव ब्रह्मरूपमें सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्गुण, निर्विकार इत्यादि है।

श्रीरामानुजाचार्यका मत—जीवका अणुत्व है। जीव और ईश्वरका अंश-अंशीका सम्बन्ध स्वीकृत हुआ है। जीव विशेष्यरूप परमात्माका विशेषणरूप अंश है। जीव और परमात्मा—इन दोनोंमें विशेषण-विशेष्यका भाव रहनेपर भी अंश-अंशीभाव और परस्पर स्वभावमें विलक्षणता सिद्ध है। जीव ब्रह्मका शरीर है। जीव नित्य, अनादि, अनन्त, ब्रह्मपरिणाम, ज्ञानस्वरूप और ज्ञाता, कर्त्ता तथा भोक्ता, परिमाणमें अणु किन्तु संख्यामें असंख्य और अनन्त, बद्ध और मुक्त,

एवं मुक्त-श्रेणीमें भी बद्ध-अवस्थासे मुक्त तथा नित्यमुक्त भेदसे दो प्रकारका है।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत—जीव श्रीहरिके नित्य अनुचर हैं। दो प्रकारके परतन्त्र तत्त्वोंमें जीव चेतनस्वरूप हैं। जीव ब्रह्मसे नित्य भिन्न, अनन्त, अणु परिमाणके हैं। बद्धजीव तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। शुद्धजीव विष्णुके ही निरुपाधिक प्रतिबिम्बस्वरूप है।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत—जीव ब्रह्मके अंश हैं। परमात्माकी माया द्वारा आवृत होकर जीव क्लेशोंसे ग्रस्त हैं। जीव स्वरूपतः चेतन अथवा स्व-प्रकाश होकर भी दुःखके आधार हैं। मुक्त और बद्ध भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। मुक्तजीवोंका बहुत्व है। मुक्तजीव भगवत्-इच्छासे नित्यविग्रह धारणपूर्वक श्रीभगवान्‌की सेवा करते हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत—जीव परमात्माके साथ अंश-अंशी भाव अथवा भेदाभेद सम्बन्धसे युक्त हैं। जीव ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञातृस्वरूप हैं। जीव अणुचैतन्य हैं तथा बृहत्-चैतन्य परमेश्वरके अधीन हैं। जीव संख्यामें अनन्त हैं। जीव तीन प्रकारके हैं—(१) मुक्त, (२) बद्धमुक्त और (३) बद्ध। जो श्रीहरिके चरणोंके आश्रित हैं, वे 'मुक्त' हैं। जो पहले माया द्वारा बद्ध रहकर साधु-गुरुकी कृपासे भगवत्-कृपा प्राप्त कर चुके हैं या करेंगे, वे 'बद्धमुक्त' हैं। और जो भगवत्-बहिर्मुखता स्वीकार करते हुए मायिकभोगमें प्रमत्त हैं, वे 'बद्ध' हैं। मुक्त, बद्धमुक्त और बद्ध जीवगण पुनः अवस्था भेदसे बहुत प्रकारके हैं। मुक्तगण-पार्षद और पार्षदोंके अनुगत आदि अवस्थासे विविध प्रकारके हैं। बद्धमुक्तगण-पार्षद और साधकके भेदसे बहुत प्रकारके हैं। बद्धजीवगण-विषयी, विवेकी और मुमुक्षु भेदसे विभिन्न प्रकारके हैं। भगवान्‌से बहिर्मुख होनेके कारण ही जीवोंकी मायाबद्ध अवस्था है, इसलिए एकमात्र भगवान्‌की कृपासे ही जीव मायामुक्त होते हैं, अन्य किसी उपायसे नहीं।

श्रीवल्लभाचार्यका मत—जीव बहुभवनेच्छु [मैं बहुत हो जाऊँ के इच्छुक] सच्चिदानन्द परब्रह्मका तिरोभूत-आनन्दांश-स्वरूप 'चिदंश' हैं।

वह नित्य, सत्य, परिमाणमें अणु, संख्यामें बहु और अनन्त, उच्च-नीच भावापन्न, कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता, आनन्दांशके तिरोभावके कारण मायाके वशीभूत होने योग्य हैं। भगवान्‌की कृपासे जीवमें तिरोभूत आनन्दांशका आविर्भाव होनेपर जीव ब्रह्मात्मक होता है।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीमत् कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत **श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार—**

जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर 'नित्यदास'।
कृष्णेर 'तटस्था-शक्ति', भेदाभेद-प्रकाश॥

(चै॰च॰म॰ २०/१०८)

[श्रीसनातन गोस्वामीके प्रश्न "के आमि अर्थात् मैं कौन हूँ?" के उत्तरमें श्रीमन् महाप्रभुने कहा—तुम जीव हो। क्या तुम जड़से उत्पन्न यह शरीर हो? ऐसा तो नहीं है। अथवा क्या तुम मन-बुद्धि-अहङ्कारस्वरूप लिङ्गशरीर ही हो? वैसा भी नहीं है।] जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णके नित्यदास हैं। जीव श्रीकृष्णकी तटस्थाशक्ति है अर्थात् चित्-जगत् और मायिक-जगत्‌के बीचकी सीमापर स्थित होकर दोनों जगतोंके साथ जीवका भेदाभेद-प्रकाश-स्वरूप दो प्रकारका 'सम्बन्ध' है। चिन्मय धर्मके सम्बन्धमें जीव—श्रीकृष्णके अभेद-प्रकाश एवं अणुचैतन्य-धर्मवशतः बृहत्-चैतन्यरूप श्रीकृष्णके भेद-प्रकाश हैं। श्रीकृष्णके साथ जीवका भेद और अभेद-युगपत् सिद्ध है। जीवके तटस्थ-स्वभावसे ही यह युगपत् भेदाभेद-प्रकाश सिद्ध हुआ है।

सेइ विभिन्नांश जीव—दुइ त' प्रकार।
एक—'नित्यमुक्त', एक—'नित्य-संसार'॥

'नित्यमुक्त'—नित्य कृष्णचरणे उन्मुख।
'कृष्ण-पारिषद' नाम, भुञ्जे सेवा-सुख॥

'नित्यबद्ध'—कृष्ण हैते नित्य बहिर्मुख।
नित्यसंसार, भुञ्जे नरकादि दुःख॥

(चै॰च॰म॰ २२/१०-१२)

जीव—श्रीकृष्णका विभिन्न-अंशस्वरूप है [तथा श्रीकृष्णकी शक्तिमें परिगणित है]। जीव दो प्रकारके हैं—नित्यमुक्त और नित्यसंसार

(बद्ध)। नित्यमुक्त जीवोंका कभी भी माया-सम्बन्ध नहीं रहा। वे श्रीकृष्णके चिन्मयधाममें कृष्ण-चरणोन्मुख रहकर 'श्रीकृष्णके पारिषद (परिकर)' के नामसे परिचित हैं। कृष्ण-सेवा-सुख ही उनका भोग है। नित्यबद्ध जीव श्रीकृष्णसे नित्य बहिर्मुख रहकर स्वर्ग-नरक आदि सुख-दुःखका भोग करते हैं।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणका मत—जीव अणुचैतन्य हैं। जीव बहुत हैं और विविध अवस्थाओंमें हैं। ईश्वरसे विमुखता ही उनके बन्धनका कारण है। ईश्वरका साम्मुख्य ही स्वरूप-आवरण और गुण-आवरणरूप दो प्रकारके बन्धनसे जीवका मोचनकर उसे स्वरूप-साक्षात्कार प्राप्त कराता है। जीव परमात्माका 'अंश', 'भगवद्दास' है। सभी जीव स्वरूपतः ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता हैं। बद्धजीव कर्मके अनुसार भिन्न हैं तथा मुक्तजीव भक्तिके तारतम्यसे भिन्न हैं। जीव नित्यमुक्त, बद्धमुक्त और बद्धके भेदसे तीन प्रकारके हैं। ये सभी जीव ब्रह्मात्मक हैं, किन्तु वे स्वयं ब्रह्म नहीं हैं। वे ब्रह्मकी शक्तिरूपमें ब्रह्मका अंश हैं।

माया या शक्तितत्त्वके विषयमें—

श्रीशङ्कराचार्यका मत—माया 'अनिर्वचनीय' (अर्थात् उसका स्वरूप वचनके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता) है। माया असत् भी नहीं है तथा सत् भी नहीं है। श्रौत-दृष्टिमें 'माया' तुच्छ है, युक्तिके द्वारा देखनेसे उसे 'अनिर्वचनीय' कहना होगा और लौकिक दृष्टिसे उसे वास्तव मानना होगा। यह माया जगत्‌की बीजशक्ति है तथा परमेश्वरके अधीन है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर ही अचिन्त्य अनन्त शक्तिमान हैं, ईश्वरकी शक्तियाँ अतर्क्य हैं।

श्रीरामानुजाचार्यका मत—माया परब्रह्मकी 'शक्ति', त्रिगुणात्मिका 'प्रकृति' तथा विचित्र-सृष्टि करनेवाली है। परमेश्वर मायाशक्तिके द्वारा जगत्‌की सृष्टि करते हैं। शक्तिको परब्रह्मका धर्मविशेष अथवा वृत्तिविशेष कहा जा सकता है। परब्रह्मकी शक्ति सनातन, स्वाभाविक और स्वरूपानुबन्धिनी (अर्थात् परब्रह्मके स्वरूपकी सहचर) है।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत—श्रीहरिकी शक्ति मुख्य रूपमें माया तथा अमुख्य रूपमें प्रकृति है। माया त्रिगुणात्मिका है। विष्णुके वशीभूत प्रकृति ही शक्ति है। सृष्टिकालमें उक्त प्रकृतिके सत्त्व, रजः और तम नामक तीन प्रकारके विभाग होते हैं। सद्गुण प्रकाशिका 'श्री' प्रकृति 'सत्त्वगुणस्वरूपा' हैं, भू-सृष्टिकारिणी होनेके कारण 'भू' नामसे तथा रञ्जनकारिणी होनेके कारण 'रजः' नामसे कथित है। और 'दुर्गा'—प्रकृति जीवोंके लिए दुःखदायिनी होनेके कारण 'तमः' रूपमें कीर्त्तित है। उक्त तीन प्रकृतियोंमें आबद्ध होनेके कारण जीवगण मुक्तिको प्राप्त करनेमें असमर्थ होते हैं। समस्त प्रकृतियाँ ही सभीको बद्ध करती हैं, तथापि विशेष रूपसे 'श्री'—प्रकृति देवताओंको, 'भू'—प्रकृति मनुष्योंको तथा 'दुर्गा'—प्रकृति दैत्योंको आबद्ध करती हैं।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत—माया ईश्वरके अधीन है। जीवको पीड़ित करनेके कारण वह 'अविद्या' के नामसे जानी जाती है। ईश्वर सच्चिदानन्द हैं तथा ह्लादिनी और सम्वित् शक्ति द्वारा आलिङ्गित हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत—माया-प्रधान आदि पदवाच्या है तथा त्रिगुणमयी है। परब्रह्मकी असंख्य शक्तियोंमें 'चित्' और 'अचित्'—ये दोनों शक्तियाँ मुख्य हैं। चित्-शक्ति द्वारा भगवान् जीवका तथा अचित्-शक्ति द्वारा जगत्का सृजन करते हैं।

श्रीवल्लभाचार्यका मत—माया परब्रह्मकी शक्ति है तथा यह जीवकी मोहनकारिणी एवं स्वरूपकी आच्छादिका भेदसे दो प्रकारकी वृत्तियोंसे युक्त है। श्री, पुष्टि, गीः, कान्ति, कीर्त्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, इच्छाशक्ति और माया—ये बारह श्रीभगवान्की मुख्य शक्तियाँ हैं।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत **श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार—**

माया-द्वारे सृजे तेंहो ब्रह्माण्डेर गण।
जड़रूपा प्रकृति नहे ब्रह्माण्डेर कारण॥

(चै॰च॰म॰ २०/२५९)

जड़रूपा प्रकृति जगत्‌का कारण नहीं है। श्रीकृष्ण स्वयं कारणार्णवशायी महाविष्णुके रूपमें अङ्गाभास (अङ्ग-मिलन जैसा आभास) द्वारा मायासे मिलित होकर अगण्य, अनन्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं।

एइ सब शब्द हय 'ज्ञान'-'विज्ञान'-विवेक।
माया-कार्य, माया हैते आमि व्यतिरेक॥

(चै॰च॰म॰ २५/११४)

इन सब शब्दोंसे भगवत्-तत्त्वज्ञानका एवं भगवत्-स्वरूपकी साक्षात् अनुभूतिका यथार्थ विवेक प्राप्त होता है। मायाके कार्य अर्थात् जगत् एवं माया—इन दोनोंसे मैं भिन्न हूँ।

मायार ये दुइ वृत्ति—'माया' आर 'प्रधान'।
'माया' निमित्त हेतु, 'प्रधान' विश्वेर उपादान॥

(चै॰च॰म॰ २०/२७१)

भगवान्‌की बहिरङ्गाशक्ति मायाकी दो वृत्तियाँ हैं—निमित्तांश 'गुण-रूपा माया' और विश्वका उपादान अंश 'द्रव्य-रूप प्रधान'।

अनन्तशक्ति-मध्ये कृष्णेर तिन शक्ति प्रधान।
'इच्छाशक्ति', 'क्रियाशक्ति', 'ज्ञानशक्ति' नाम॥

(चै॰च॰म॰ २०/२५२)

अद्वयतत्त्व श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमेंसे 'इच्छाशक्ति' 'क्रियाशक्ति' और 'ज्ञानशक्ति'—इन तीनोंका ही सभी कार्योंमें विशेष परिचय है।

कृष्णेर स्वाभाविक तिनशक्ति परिणति।
'चिच्छक्ति', 'जीवशक्ति' आर 'मायाशक्ति'॥

(चै॰च॰म॰ २०/१११)

श्रीकृष्णकी स्वाभाविक तीन शक्तियोंकी परिणति—चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिके रूपमें प्रकाशित होती है।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणका मत—सत्त्व, रजः और तमोगुणकी साम्य अवस्था ही प्रकृति है। वह 'तमो-माया' आदि शब्दवाच्य है तथा ईश्वरके ईक्षणसे प्रेरित (उद्बुद्ध) होकर विचित्र

जगत्का उत्पादन करती है। विचित्र-सृष्टि करनेवाली पारमेश्वरी-शक्ति 'माया' सत्य है तथा वह अनिर्वचनीय नहीं है। जीव, प्रकृति, काल और कर्म—यह चार शक्तिमद् ब्रह्मकी शक्तियाँ हैं।

श्रीहरिकी परा, अपरा और अविद्या नामक तीन प्रकारकी शक्तियाँ हैं। पराशक्ति फिर सम्वित्, सन्धिनी और ह्लादिनी शक्तिके नामसे प्रकाशित है।

जगत्-तत्त्वके विषयमें—

श्रीशङ्कराचार्यका मत—'जगत्' ब्रह्मका विवर्त्त है। मायाशक्तिसे सम्पन्न ब्रह्म ही जगत्के रूपमें अवभासित अर्थात् प्रकाशित हैं। माया उपाधिसे युक्त ब्रह्म या ईश्वर ही जगत्के स्रष्टा हैं। 'ईश्वर' कारण हैं और 'जगत्' कार्य है। व्यावहारिक दृष्टिमें जगत्की सत्ता है, किन्तु पारमार्थिक विचारसे जगत्-मिथ्या है अर्थात् 'जगत्' कहकर कुछ भी नहीं है।

श्रीरामानुजाचार्यका मत—'जगत्' ब्रह्मका स्थूलशरीर है। स्थूल-सूक्ष्मरूप सम्पूर्ण जगत् ईश्वरका शरीर होनेपर भी ईश्वरमें कर्मके सम्बन्धकी गन्ध भी नहीं है। स्थूल-सूक्ष्म चित्-अचित् ब्रह्मका शरीर है। सृष्टिके पूर्वमें अर्थात् प्रलयकालमें जगत् ब्रह्मके सूक्ष्मशरीरमें, वनमें लीन हुए पक्षीके समान नाम-रूप आदिके विभागसे रहित होकर, ब्रह्मसे अभिन्न रूपमें अवस्थित रहता है तथा सृष्टिकालमें नाम-रूप आदि द्वारा विभक्त होकर स्थूल रूपमें परिणत हुआ करता है। ब्रह्मके उपादानत्व अर्थात् जगत् रूपमें परिणति द्वारा ब्रह्मके स्वभावकी विपरीतता घटित नहीं होती है। यही ब्रह्मके स्वभावसिद्ध ऐश्वर्यका परिचायक है। ब्रह्म ही जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत—'जगत्' सत्य है। कल्पके आदिसे लेकर कल्पके अन्त तक उपादान कारण 'प्रकृति' का घटादि विविध कार्य रूपोंमें परिणाम होता है तथा कल्पके अन्तमें 'प्रकृति' की सूक्ष्म रूपमें अवस्थिति होती है। जीवके अदृष्ट (कर्म) और उसकी योग्यतानुसार भगवान् विविध रूपोंमें जगत्की सृष्टि करते हैं तथा जीवके अदृष्टकी समाप्ति होनेपर जगत्का विनाश करते हैं। तब जगत् अपने कारण

रूपमें अवस्थान करता है। यह जगत् सत्य है तथा भगवान् श्रीविष्णुके वशवर्त्ती है। इस जगत्की नित्यता प्रवाहक्रमसे अर्थात् सृष्टि-स्थिति-लयके प्रवाहक्रमसे वर्त्तमान है। जगत्की सृष्टि ब्रह्मके ईक्षण द्वारा होती है।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत—'जगत्' ब्रह्मका कार्य है। ब्रह्म समवायी (अर्थात् ब्रह्मके साथ अङ्ग और अङ्गीके सम्बन्धसे युक्त है) तथा ब्रह्मस्वरूप यह जगत्रूपी कार्य सत्य है। सर्वकारण ब्रह्म जब सत्य और नित्य हैं, तब उनका कार्यरूप यह जगत् भी सत्य और नित्य है। मिट्टीरूप कारणमें जिस प्रकार घट आदि कार्य विद्यमान रहनेके कारण मिट्टीसे घटादिकी उत्पत्ति सम्भव होती है, उसी प्रकार सृष्टिके पहले जगत्रूप कार्य सर्वकारण ब्रह्मवस्तुमें विद्यमान रहता है। उपादान-कारण ब्रह्मकी जगत्रूप कार्य-अवस्था भी उक्त प्रकारसे अवस्थान्तरकी प्राप्तिमात्र है। अतएव जगत् वस्तुका कार्य होनेपर भी वस्तुमें किसी प्रकारका विकारदोष आरोपित नहीं हो सकता है।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत—'जगत्' कार्य है, 'ब्रह्म' कारण हैं। ब्रह्म शक्तिमान हैं और जगत् उनकी शक्ति है। 'ब्रह्म' चेतन हैं और 'जगत्' अचेतन है। इसलिए ब्रह्म और जगत्में स्वाभाविक भेद और स्वाभाविक अभेद दोनों ही समान रूपमें सत्य हैं। सृष्टिके पहले जगत् सूक्ष्मशक्तिके रूपमें तथा सृष्टिके समय वास्तव-वस्तुके परिणाम रूपमें नित्य सत्य है।

श्रीवल्लभाचार्यका मत—'जगत्' भगवत्-कार्य है। यह मायाशक्तिके द्वारा सृष्ट है। ब्रह्म जगत्रूप कार्यके उपादान एवं निमित्त कारण हैं। सृष्टिके पूर्व जगत्रूप कार्य सर्व-कारण ब्रह्ममें विद्यमान रहता है। जगत् प्रवाहके समान गमनशील है।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत **श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार**—

'सेइ त' मायार दुइविध अवस्थिति।
जगतेर उपादान 'प्रधान', 'प्रकृति'॥

जगत्कारण नहे प्रकृति जड़रूपा।
शक्ति सञ्चारिया तारे कृष्ण करे कृपा॥

कृष्णशक्त्ये प्रकृति हय गौण-कारण।
अग्निशक्त्ये लौह यैछे करये जारण॥

अतएव कृष्ण मूल जगत्-कारण।
प्रकृति-कारण, यैछे अजागलस्तन॥

(चै॰च॰आ॰ ५/५८-६१)

मायाकी दो प्रकारकी अवस्थिति है। जगत्के उपादान कारण—'प्रधान' रूपमें एवं जगत्के निमित्त कारण—'माया' रूपमें। प्रकृति वास्तवमें जड़रूपा होनेके कारण जगत्का कारण नहीं है। भगवान्के ईक्षण (दृष्टिपात) द्वारा शक्ति सञ्चारित होनेपर प्रकृति उस शक्तिके बलसे जगत्की सृष्टिका 'गौण' कारण उसी प्रकार बनती है, जिस प्रकार लोहेमें प्रवेश करके अग्नि उसे जलानेकी शक्ति देती है। अतएव श्रीकृष्ण ही जगत्के मूल कारण हैं। अजागलस्तनकी भाँति प्रकृतिमें द्रव्यरूप कारणत्व है अर्थात् प्रकृति बकरीके गलेमें दिखायी देनेवाले स्तनके समान केवलमात्र दिखावेमात्रके लिए ही जगत्का कारण है।

जीवेर देहे आत्मबुद्धि, सेइ मिथ्या हय।
जगत् जे मिथ्या नहे, नश्वरमात्र हय॥

(चै॰च॰म॰ ६/१७३)

नित्य-कृष्णदास निर्मल जीव, कर्मफल-भोगपरायण स्थूल-सूक्ष्मरूपी दोनों देहोंमें भ्रमपूर्वक 'मैं' की बुद्धि करता है, यह बुद्धि-मिथ्या है। जगत् वास्तवमें मिथ्या नहीं होनेपर भी यह नश्वर है।

अविचिन्त्य-शक्तियुक्त श्रीभगवान्।
इच्छाय जगत्‌रूपे पाय परिणाम॥

तथापि अचिन्त्यशक्त्ये हय अविकारी।
प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥

नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हैते।
तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥

(चै॰च॰आ॰ ७/१२४-१२६)

अचिन्त्यशक्तिसे युक्त श्रीभगवान् अपनी स्वतन्त्र इच्छा[शक्ति]से ही जगत्के रूपमें परिणत होते हैं, तथापि वे अपनी अचिन्त्यशक्तिके

प्रभावसे अविकारी ही रहते हैं। इसमें प्राकृत चिन्तामणि दृष्टान्त है, जो अनेक रत्न प्रसव करनेपर भी स्वरूपतः अविकृत ही रहती है। प्राकृत वस्तुमें यदि इस प्रकारकी अचिन्त्यशक्ति हो सकती है, तो फिर ईश्वरमें उसकी अपेक्षा अनन्तगुण अचिन्त्यशक्ति होगी, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है?

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद् बलदेव विद्याभूषणका मत—सत्यस्वरूप ईश्वरकी शक्ति होनेके कारण जगत् 'सत्य' है। जन्मादि अनित्यतासे युक्त जगत् सत्य होनेपर भी अनित्य है। जगत् ब्रह्मके अधीन है। पारमार्थिक दृष्टिसे जगत्के निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म हैं। 'परा' नामक शक्तिसे युक्त रूपमें ब्रह्म जगत्का निमित्त कारण है तथा जीव-प्रकृति नामक शक्तिसे युक्त रूपमें ब्रह्म जगत्का उपादान कारण है।

कार्यस्वरूप जगत्के परिणामशील या अनित्य होनेपर भी जगत्की कारणस्वरूप बहिरङ्गाशक्ति अनित्य नहीं है। परमात्माके भीतर सूक्ष्म रूपमें स्थूलजगत्का कारण अवस्थित रहता है।

साधन-तत्त्वके विषयमें—

श्रीशङ्कराचार्यका मत—केवल ब्रह्मज्ञानके द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके लिए नित्य-अनित्य वस्तुका विवेक अर्थात् कौन-सी वस्तु नित्य और कौन-सी अनित्य है—इसका निश्चय करना, लौकिक और पारलौकिक विषयभोगसे वैराग्य होना, शम अर्थात् बाहरी इन्द्रियोंका संयम, दम अर्थात् अन्तर इन्द्रियका संयम, उपरति अर्थात् विषयानुभवसे विरक्ति, तितिक्षा अर्थात् शीत-ग्रीष्म आदि सहन करना, समाधि अर्थात् आत्मतत्त्वमें मनका संयोग, 'श्रद्धा' अर्थात् गुरु-वाक्य और वेदान्त-वाक्यमें विश्वास और मुमुक्षुत्व अर्थात् मुक्त होनेके लिए इच्छा आदि साधन सर्वप्रथम प्रयोजन हैं। नित्य-शुद्ध-मुक्त-सत्य स्वभावयुक्त ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष प्राप्त करनेका कारण है। इस ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए श्रवण-मनन तथा पुनः-पुनः ध्यानके द्वारा समाधिको प्राप्त करना होगा। उपासना द्वारा चित्तकी शुद्धि करनी होगी और यह उपासना सगुण और निर्गुण भेदसे

हुआ करती है। यज्ञके अङ्गकी ब्रह्मबोधसे उपासना, प्रतीकोपासना, अहंग्रहोपासना भी आश्रयणीय है।

श्रीरामानुजाचार्यका मत—भक्ति ही अत्यधिक प्रिय और एकमात्र प्रयोजनीय है तथा वह अन्यान्य समस्त वस्तुओंसे वितृष्णाको उत्पन्न करानेवाला ज्ञानविशेष है। ऐसी भक्तियुक्त आत्माके द्वारा ही भगवान् वरणीय और भक्तोंके द्वारा प्राप्य हैं। निरन्तर सम्बन्धविशिष्ट ज्ञान-पूर्वक कर्मसे अनुगृहीत भक्तियोग ही ऐसे परमभक्तिरूप ज्ञान-विशेषका उत्पादक है। वर्णाश्रमधर्मके आश्रयमें परमपुरुषकी उपासना ही भक्तियोग है। पराशर-वाक्य यथा—*'वर्णाश्रमाचारवता'* श्लोक।

उपासना पाँच प्रकारकी है—(१) अभिगमन अर्थात् देव मन्दिर-मार्ग आदि सम्मार्जन और लेपनादि, (२) उपादान अर्थात् गन्ध-पुष्प आदि पूजा सामग्रीका संग्रह, (३) इज्या अर्थात् विष्णुपूजा, (४) स्वाध्याय अर्थात् अर्थका अनुसन्धानपूर्वक मन्त्रजप, वैष्णवसूक्त-स्तोत्रादिका पाठ, नामसङ्कीर्त्तन, तत्त्वप्रतिपादक शास्त्रोंकी पुनः-पुनः आलोचना, (५) भगवदनुसन्धान अर्थात् भगवान्‌की प्राप्तिके लिए उत्कण्ठापूर्वक भक्तिके अङ्गोंका याजन।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत—भक्ति तीन प्रकारकी है—(१) साधारणीभक्ति, (२) परमाभक्ति, (३) स्वरूपभक्ति। सद्गुरुसे शास्त्रश्रवण करनेसे पहले जिस भक्तिका उदय होता है, वह 'साधारणीभक्ति' है। श्रौतपथमें सद्गुरुके चरणकमलका आश्रय पाकर भी तत्त्वज्ञानके अभावमें धन, पुत्र आदिके लिए भगवान्‌से प्रार्थना आदिको 'साधारणीभक्ति' कहना तो दूर रहे, वह अधमाधमा अर्थात् वह अधमसे भी अधम है। उसके द्वारा कभी भी ज्ञान या मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है।

अपरोक्ष-ज्ञान या भगवद्दर्शनके बाद जिस भक्तिका उदय होता है, वह 'परमाभक्ति' है। वह कर्म-अभिलाषा आदिसे वर्जित होनेके कारण 'अमलाभक्ति' के नामसे भी विख्यात है। इस 'परमाभक्ति' के द्वारा ही श्रीभगवान्‌की परम कृपा प्राप्त होती है। मोक्षके बाद जीवस्वरूपमें जो 'नित्यभक्ति' वर्त्तमान रहती है, उसे 'स्वरूपभक्ति' या 'साध्यभक्ति' कहा जाता है।

श्रीभगवान्‌की महिमाके ज्ञान द्वारा स्वात्म-आत्मीय अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' समस्त वस्तुओंसे अत्यन्त विलक्षण, सुदृढ़, निरुपाधिक स्नेह ही शास्त्रोंमें 'भक्ति' कहा गया है। इसी भक्तिके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, अन्य उपायसे नहीं।

भक्तिका साधनक्रम इस प्रकार है—पहले श्रद्धारूपा भक्ति द्वारा साधु-शास्त्रके माध्यमसे भगवान्‌की महिमाका ज्ञान प्राप्त होता है। उसके बाद अपरोक्ष-साधनके अन्तर्गत जो भक्ति है, उसका उदय होता है। अपरोक्ष-ज्ञानके प्राप्त होनेके बाद 'परमाभक्ति' तथा उसके बाद मुक्ति अर्थात् श्रीविष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्ति होती है। अन्ततः स्वरूपभक्ति या साधनभक्ति उदित होती है। यही परम सुखस्वरूपिणी है।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत—जो सत्-स्वरूप, चित्-स्वरूप, नित्य-स्वरूप और नित्य-अचिन्त्य हैं तथा पूर्ण-आनन्द ही जिनका एकमात्र विग्रह है, वे ही परदेवता हैं और उनका भजन ही भक्ति है। श्रीविष्णुस्वामी रुद्रके आनुगत्यमें नृपञ्चास्यकी (श्रीनृसिंहकी) उपासना करते हैं। श्रीविष्णुस्वामी श्रीभगवन्नामके आश्रित थे। वे उपास्य, उपासना और उपासककी नित्यताको स्वीकार करते थे। उनके द्वारा रचित भाष्यमें कथित है—*'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते'* अर्थात् मुक्तजीव भी लीलापूर्वक नित्य-विग्रहको धारण करके भगवान्‌का भजन करते हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत—श्रद्धा और निष्ठारूप भगवद्भक्तिका आश्रय ग्रहण करना कर्त्तव्य है। अनन्यभावसे एकमात्र ब्रह्मा-शिवादि द्वारा वन्दित सर्वेश्वरेश्वर श्रीकृष्णकी उपासना ही कर्त्तव्य है। विष्णुके अतिरिक्त दूसरे देवताओंकी उपासनाकी निन्दा करनेसे नरकमें पतन होना सुना जाता है।

उपासना या भक्ति दो प्रकारकी है—(१) साधनरूपी अपराभक्ति, (२) प्रेमलक्षणा उत्तमाभक्ति। श्रवण-कीर्त्तन आदि नवधा साधनभक्तिके द्वारा प्रेम-लक्षणा उत्तमाभक्तिका उदय होता है।

श्रीवल्लभाचार्यका मत—भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है। भक्ति-साधनरूपा एवं साध्यरूपा भेदसे दो प्रकारकी है। साध्यरूपा भक्ति ही प्रेम लक्षणा

है। भक्तिपथपर भगवान्‌की कृपा ही मुख्य है। भक्तिपथ—मर्यादा एवं पुष्टि भेदसे दो प्रकारका है। शास्त्रीय अनुशासनानुयायी जो वैधीभक्ति है, वही मर्यादामार्ग है तथा श्रीकृष्ण और उनके भक्तोंके अनुग्रहमात्रके द्वारा जो भक्ति प्राप्त होती है, वही पुष्टिमार्ग है—यही भक्ति सर्वश्रेष्ठ है।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत **श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार—**

कृष्णभक्ति हय अभिधेय-प्रधान।
भक्तिमुख-निरीक्षक कर्म-योग-ज्ञान॥

एइ सब साधनेर अति तुच्छ बल।
कृष्णभक्ति विना ताहा दिते नारे फल॥

(चै॰च॰म॰ २२/१७-१८)

शास्त्रोंमें अनेक स्थानोंपर कर्मको, अनेक स्थानोंपर योगको एवं अनेक स्थानोंपर ज्ञानको 'अभिधेय' कहा गया है, तथापि सर्वत्र भक्तिको सर्वप्रधान 'नित्य अभिधेय' के रूपमें वर्णन किया है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णभक्ति ही परम पुरुषार्थ (प्रेम) को प्राप्त करनेका एकमात्र प्रधान अर्थात् 'साक्षात्' अभिधेय है। कर्म, योग और ज्ञानमें जो अभिधेयत्व है, वह 'गौण' है, क्योंकि कृष्णभक्तिके आश्रयके बिना कर्म, योग और ज्ञानका बल तुच्छ है, अतः वे कोई फल नहीं दे सकते। भक्तिका आश्रय प्राप्त करनेपर ही कर्म और हठयोग भुक्तिरूपी फल एवं ज्ञान और राजयोग मुक्ति और सिद्धिरूपी फल दे सकते हैं।

केवलज्ञान 'मुक्ति' दिते नारे भक्ति बिना।
कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति हय ज्ञान-बिना॥

(चै॰च॰म॰ २२/२१)

'ज्ञानतः सुलभा मुक्तिः'—इस शास्त्र-वचनसे जाना जाता है कि ज्ञान ही मुक्ति दे सकता है, किन्तु इसमें एक गूढ़ बात है—भक्तिके आश्रयके बिना केवलज्ञान भी मुक्ति नहीं दे सकता है। पक्षान्तरमें,

कृष्णोन्मुखी भक्तिके उदित होनेपर किसी प्रकारकी ज्ञान-चेष्टा नहीं करनेपर भी वह मुक्ति स्वयं उपस्थित होती है।

'कृष्ण-नित्यदास' जीव ताहा भूलि' गेल।
एइ दोषे माया तार गलाय बान्धिल॥

ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छूटे, पाय कृष्णेर चरण॥

(चै०च०म० २२/२४-२५)

'जीव श्रीकृष्णका नित्यदास है'—इस सत्यके विस्मृत होनेपर ही माया जीवको अनेक प्रकारसे प्रलुब्ध और विमोहित करके उसके गलेको त्रिगुणरूपी पाशसे बाँध देती है। गुरुसेवा और कृष्णभजनके बलसे बद्धजीव मायाजालसे मुक्त होकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंको प्राप्त करता है।

'श्रद्धा'-शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय॥

(चै०च०म० २२/६२)

'श्रीकृष्णभक्ति करनेसे ही सब कुछ करना हो जाता है'—ऐसे सुदृढ़ निश्चयात्मक विश्वासको भक्तिमें अधिकार प्रदान करनेवाली 'श्रद्धा' कहते हैं।

श्रद्धावान् जन हय भक्ति-अधिकारी।
'उत्तम', 'मध्यम', 'कनिष्ठ'—श्रद्धानुसारी॥

(चै०च०म० २२/६४)

जिनके हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, वही भक्तिके अधिकारी हैं। वैसे श्रद्धावान व्यक्ति—'उत्तम', 'मध्यम' और 'कनिष्ठ' के भेदसे तीन प्रकारके हैं।

एबे साधनभक्ति-लक्षण शुन, सनातन।
याहा हैते पाइ कृष्णप्रेम-महाधन॥

(चै०च०म० २२/१०४)

[श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा—] हे सनातन! अब तुम साधनभक्तिके लक्षण सुनो, जिसके अनुष्ठान द्वारा श्रीकृष्णप्रेमरूपी महाधनकी प्राप्ति होती है।

श्रवणादि-क्रिया-तार 'स्वरूप'-लक्षण।
'तटस्थ' लक्षणे उपजय प्रेमधन॥

नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम, 'साध्य' कभु नय।
श्रवणादि-शुद्धचित्ते करये उदय॥

एइ त' साधनभक्ति दुइ त' प्रकार।
एक 'वैधीभक्ति', 'रागानुगा भक्ति' आर॥

रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय।
'वैधीभक्ति' बलि तारे सर्वशास्त्रे गाय॥

(चै॰च॰म॰ २२/१०६-१०९)

अनुकूल भावके साथ श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण ही उस साधनभक्तिका स्वरूपलक्षण है। अन्याभिलाष-त्याग और ज्ञान-कर्मके साथ सम्बन्ध छेदनरूप तटस्थलक्षणके द्वारा वह साधन 'प्रेमधन' को उत्पन्न कराता है। कृष्णप्रेम-नित्यसिद्ध वस्तु है, वह कभी भी [शुद्धभक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी अभिधेयके द्वारा] साध्य नहीं है, केवलमात्र श्रवण आदि द्वारा विशोधित चित्तमें उसका उदित होना सम्भवपर है। अतएव शुद्ध श्रवण-कीर्त्तनरूपी क्रिया ही प्रधानतः साधनभक्ति है। वह दो प्रकारकी है—'वैधी' और 'रागानुगा'। जिनके हृदयमें राग उदित नहीं हुआ, शास्त्रोंकी आज्ञासे उनकी जो भजनप्रवृत्ति होती है, उसे ही समस्त शास्त्रोंमें 'वैधीभक्ति' कहा गया है।

रागात्मिका-भक्ति-मुख्या व्रजवासी-जने।
तार अनुगत भक्तिर 'रागानुगा'—नामे॥

(चै॰च॰म॰ २२/१४९)

व्रजवासीजनोंकी जो राग-स्वरूपा भक्ति है, वही मुख्या है अर्थात् वैसी भक्ति और कहीं भी नहीं है। व्रजवासियोंके अनुगत होकर जो भक्ति साधित होती है, उसका नाम ही 'रागानुगाभक्ति' है।

इष्टे 'गाढ़-तृष्णा'—रागेर स्वरूप लक्षण।
इष्टे 'आविष्टता'—तटस्थ-लक्षण कथन॥
(चै॰च॰म॰ २२/१५१)

अभीष्ट वस्तुमें प्रबल तृष्णा ही रागका मुख्य अर्थात् स्वरूपलक्षण है। अभीष्ट वस्तुमें आविष्टताको यहाँपर तटस्थलक्षण कहा गया है।

बाह्य, अन्तर-इहार दुइ त' साधन।
'बाह्य' साधक-देहे करे श्रवण-कीर्त्तन॥
'मने' निज-सिद्धदेह करिया भावन।
रात्रि-दिने करे व्रजे कृष्णेर सेवन॥
(चै॰च॰म॰ २२/१५६-१५७)

रागानुगाभक्तिके 'बाह्य' एवं 'अन्तर'—ये दो प्रकारके साधन-अङ्ग हैं—'बाह्य' रूपसे साधकदेहसे श्रवण-कीर्त्तन आदिका अनुष्ठान करना और 'अन्तर' अर्थात् मनमें अपनी सिद्धदेहकी भावना करते हुए रात-दिन निरन्तर व्रजमें श्रीकृष्णकी मानसी सेवा करना।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणप्रभुका मत—ऐकान्तिक भक्ति ही मुक्तिका कारण है। भक्ति मुक्तिका कारण होकर भी स्वयं अहैतुकी है। साधुसेवा और गुरुसेवा ही भक्तिप्राप्त करनेके एकमात्र उपाय हैं। साधु-सेवादिके बिना यह भक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती है। भक्ति ही जीवोंके एकमात्र पुरुषार्थका साधन है। यह भक्ति सम्विद् और ह्लादिनी शक्तिकी सारभूता है, इसलिए भक्ति-ज्ञानरूपिणी और आनन्ददायिनी है। ज्ञानका सार ही भक्ति है।

साधनक्रम—साधुसङ्ग, साधुसेवा, उसके फलस्वरूप स्व-स्वरूप और पर-स्वरूपका बोध प्राप्त करना और उन दोनोंमें सम्बन्धज्ञान। फिर उससे अन्य वस्तुओंमें वैराग्य सहित भक्ति तथा श्रीभगवान्को श्रेष्ठ रूपमें वरण और उनका साक्षात्कार। नवविधा साधनभक्ति एवं गुरुसेवा भगवद्भक्तिको प्राप्त करनेके द्वार हैं। निष्किञ्चन महापुरुषोंके श्रीचरणोंमें सर्वस्व अर्पण करनेके अतिरिक्त हरिसेवाको प्राप्त करना असम्भव है। भगवान्से अभिन्नज्ञानके साथ गुरुकी सेवा करना, सद्गुरुसे शिक्षा-दीक्षा और सेवाको प्राप्त करना। पञ्चसंस्कारसे युक्त वैध और

रागानुगा भक्तिमें दीक्षित् व्यक्ति ही श्रीहरिके चरणकमलोंको प्राप्त करते हैं। नवधाभक्ति वैधी और रागानुगाके भेदसे दो प्रकारकी है। भक्तिके भेदसे भजनीयका भेद होता है।

साध्य या प्रयोजनतत्त्वके विषयमें—

श्रीशङ्कराचार्यका मत—ब्रह्मज्ञान ही पुरुषार्थ है। *'तत्त्वमसि'* आदि वेद-वाक्योंके श्रवण-मनन आदि के फलसे ब्रह्मज्ञानका उदय होता है तथा स्वरूपकी उपलब्धिके क्रमसे *'अहं ब्रह्मास्मि'*—इस प्रकारके ब्रह्मभावमें प्रतिष्ठित होते हैं। जो सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे ईश्वर-सायुज्यको प्राप्त करते हैं अर्थात् ईश्वरके साथ युक्त होकर अवस्थान करते हैं। वे अणिमा-लघिमा आदि सिद्धि प्राप्त करते हैं। जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें देवयान पथसे जाना नहीं होता है, वे मृत्यु होनेमात्रसे मोक्षको प्राप्त करते हैं। निर्गुण ब्रह्मविदोंकी अनावृत्ति (अर्थात् उनका पुनः संसारमें नहीं आना) नित्यसिद्ध है।

श्रीरामानुजाचार्यका मत—परव्योमके अधिपति लक्ष्मीनाथ श्रीनारायण ही स्वयं-भगवान् हैं। श्रीराधाकृष्ण उपासनाकी अपूर्व चमत्कारिताको वे देख नहीं पाये हैं। साधन-अवस्थामें कर्मके द्वारा अनुगृहीत भक्तियोग द्वारा भगवान्का प्रीतिसाधन करते-करते साध्यावस्था प्राप्त होती है। साध्यावस्थामें जीवित कालमें या जीवित कालके बाद 'श्रीलक्ष्मी-नारायण ही एकमात्र मेरे यथा-सर्वस्व हैं'—ऐसे ज्ञानके साथ ऐकान्तिक दास्य-रसात्मक-भावसे श्रीभगवान्की साक्षात् सेवा प्राप्त होती है। यही रामानुजाचार्य और उनके अनुगतजनोंका चरम प्रयोजन है।

श्रीमन्मध्वाचार्यका मत—जीवोंके स्वरूपानुगत धर्मकी अभिव्यक्ति 'मुक्ति' है। निर्मल, शुद्ध या अहैतुकी भक्ति जीवोंके स्वरूपानुगत धर्मकी अभिव्यक्तिका साधन है। श्रीविष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्ति जीवोंकी 'मुक्ति' है और इस मुक्तिका कारण श्रीविष्णुका शुद्धभजन है। 'नैजसुखानुभूति अर्थात् अपनी सुखकी अनुभूति' प्रयोजन है।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीका मत—मुक्तजीवगण भगवान्की इच्छासे नित्यविग्रहको धारणकर नित्य सच्चिदानन्द तनु-विशेष सहित श्रीभगवान्की सेवा करते हैं और उससे परम आनन्दको प्राप्त करते हैं।

आचार्य श्रीनिम्बादित्यका मत—ब्रह्म-साक्षात्कारका एकमात्र उपाय भक्तिरस है। इसके द्वारा ही जीवोंके स्वरूपधर्मका पूर्ण विकास होता है।

श्रीवल्लभाचार्यका मत—श्रीपुरुषोत्तम-प्राप्ति ही प्रयोजन है। मर्यादा-भक्तिका फल है—सायुज्यरूप ब्रह्मभाव और पुष्टिभक्तिका फल है—भजनानन्द अथवा प्रेमानन्द-प्राप्ति।

गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी द्वारा प्रणीत **श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुसार**—

एबे शुन भक्तिफल 'प्रेम' प्रयोजन।
जाहार श्रवणे हय भक्तिरस-ज्ञान॥

कृष्णे रति गाढ़ हैले 'प्रेम' अभिधान।
कृष्णभक्ति-रसेर सेइ 'स्थायीभाव' नाम॥

(चै॰च॰म॰ २३/३-४)

[श्रीमन् महाप्रभुने कहा—हे सनातन!] अब भक्तिका फल जो प्रेम है, जिसे 'प्रयोजन' भी कहते हैं, उसके विषयमें श्रवण करो। इसके श्रवणसे भक्तिरसका ज्ञान होता है। श्रीकृष्णके प्रति रति (अर्थात् प्रेमकी तरल या अङ्कुरावस्था) के गाढ़ (पक्व-अवस्थाको प्राप्त) होनेपर वह 'प्रेम' कहलाता है। उस प्रेमको कृष्णभक्तिरसका 'स्थायीभाव' कहते हैं।

साधनेर फल—'प्रेम' मूल प्रयोजन।
सेइ प्रेमे पाय जीव आमार 'सेवन'॥

(चै॰च॰म॰ २५/१०२)

साधनका फल—प्रेम ही मुख्य 'प्रयोजन' तत्त्व है। उस प्रेमको प्राप्त करके जीव मेरी सेवाको प्राप्त करता है।

गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणका मत—ऐकान्तिक भक्ति ही मोक्षका हेतु है—इह और परलोकमें कृष्ण-प्रीतिवाञ्छाके अतिरिक्त समस्त कामनाओंका परित्यागकर श्रीकृष्णके प्रेममें तन्मयता एवं समस्त उपाधियोंसे विनिर्मुक्त होकर आनुकूल्य रूपसे सभी इन्द्रियों

द्वारा कृष्णका अनुशीलनपूर्वक ऐकान्तिक कृष्णसेवाकी प्राप्ति ही भक्तिका एकमात्र फल है। वह भक्ति यदि शास्त्रीय (सम्बन्ध) ज्ञान और कृष्णसे इतर विषयोंमें विरक्तिके साथ अनुष्ठित हो, तभी शीघ्र–अतिशीघ्र कृष्णप्रेमरूप प्रयोजन सिद्ध होता है।

अन्तमें प्रस्तुत ग्रन्थकी भूमिका लिखते समय जिन ग्रन्थोंसे विविध प्रकारकी सहायता प्राप्त हुई है, उनका वर्णन हम निम्नलिखित रूपमें निवेदित करते हैं—

श्रीगौड़ीय मठसे विभिन्न समयोंपर प्रकाशित साप्ताहिक 'गौड़ीय', श्रील ठाकुर भक्तिविनोद एवं श्रील प्रभुपाद सम्पादित मासिक 'सज्जनतोषणी', श्रीगौड़ीय मठसे प्रकाशित—श्रीमद्भागवत, श्रीचैतन्यचरितामृत, श्रीचैतन्यभागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, जैवधर्म, श्रीचैतन्य–शिक्षामृत, महाप्रभुकी शिक्षा, तत्त्वसूत्र, प्रमेय–रत्नावली एवं विभिन्न स्थानोंसे प्रकाशित श्रीजीवगोस्वामी–प्रणीत षट्सन्दर्भ एवं सर्वसंवादिनी, श्रील सनातन गोस्वामी विरचित श्रीबृहद्भागवतामृत एवं श्रील रूपगोस्वामी–प्रणीत—'लघु–भागवतामृत' इत्यादि ग्रन्थ। इसके अतिरिक्त श्रीयुक्त दुर्गा–चरण सांख्य–वेदान्ततीर्थ–सम्पादित 'भामती' टीकान्वित शाङ्करभाष्य सहित 'वेदान्तदर्शनम्' और ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तदर्शन 'श्रीभाष्य'–समेत, श्रीमहेशचन्द्र पाल द्वारा प्रकाशित 'पूर्णप्रज्ञदर्शनम्' (वेदान्तमें माध्व–भाष्य), श्रीयुक्त श्यामलाल गोस्वामी महाशयका बङ्गानुवादके साथ श्रीकृष्णगोपाल भक्त द्वारा प्रकाशित 'वेदान्तदर्शनम्' (गोविन्दभाष्य–समेत), श्रीमत् सन्तदास बाबाजी महाशय द्वारा सम्पादित 'वेदान्तदर्शनम्' (श्रीनिम्बार्क–भाष्य), श्रीब्रह्मसूत्रके गोविन्दभाष्यके हिन्दी भाषानुवाद सहित श्रीवृन्दावन धामसे श्रीकृष्णदास बाबाजी महाराज द्वारा प्रकाशित संस्करण, श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय द्वारा सम्पादित—ब्रह्मसूत्र, श्रीयुक्त हरिदास गोस्वामी द्वारा प्रकाशित 'वेदान्तस्यमन्तकः' इत्यादि ग्रन्थ।

वेदान्तके चतुर्थ अध्यायके सार–मर्मका अनुधावन (गवेषणा) करें तो हम देख सकते हैं कि इस अध्यायमें विद्या अर्थात् भक्तिका फल विचारित हुआ है। इस कारण इसे 'फलाध्याय' कहा जाता है। इसमें जीवका प्रयोजन–तत्त्व बतलाया गया है।

इस अध्यायके प्रथम पादमें तेरह अधिकरणोंमें उन्नीस सूत्र हैं। इस पादमें मुक्तिका स्वरूप एवं मुक्तके प्रकार-भेद निर्णीत हुए हैं। श्रवणादि भक्तिके अङ्गोंकी पुनः-पुनः आवृत्तिकी आवश्यकता कही गयी है। इस आवृत्तिका विधान अपराध-क्षयके निमित्त भी जानना चाहिये। ईश्वरकी उपासना आत्मबुद्धिसे करनी चाहिये। मन इत्यादि इन्द्रियोंमें आत्मबुद्धि करना सङ्गत नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ कभी भी ईश्वर अथवा आत्मा नहीं हो सकतीं। ईश्वरमें आत्मदृष्टिकी भाँति ब्रह्मदृष्टि भी नित्य कर्त्तव्य है, क्योंकि ईश्वर ही अनन्त-कल्याण-गुणमय वस्तु हैं। उस श्रेष्ठ वस्तुमें ऐसी ब्रह्मदृष्टि अवश्य ही करनी चाहिये। श्रीभगवान्‌के चक्षु इत्यादि अङ्गोंका सूर्यादि जनकत्व भी चिन्तनीय है, क्योंकि इस प्रकारके चिन्तनसे (बुद्धिका) उत्कर्ष सिद्ध होता है। आसनके बिना चित्तकी एकाग्रता सम्भव नहीं होती, इसलिए स्मरणमें भी आसनकी उपयोगिता है। जिस प्रकारसे स्थान एवं काल-विशेषसे चित्तकी एकाग्रता प्राप्त होती है, उसी प्रकार भगवत्-स्मरणमें स्थानादि भी आश्रयणीय हैं, अन्यथा देश, काल, स्थानादिका कोई विशेष नियम नहीं है। मोक्ष-पर्यन्त तो उपासना करनी ही होगी—मोक्षके बाद भी उपासना करनी होगी। मुक्त व्यक्तिके लिए उपासनाकी आवश्यकता नहीं है—यह असङ्गत विचार है। भगवान्‌की उपासनाका नित्यत्व जानना होगा। विद्याके प्रभावसे क्रियमाण-पापोंका अश्लेष (असम्पर्क) एवं सञ्चित पापोंका क्षय अवश्य स्वीकार करना चाहिये। पापके समान पुण्यका भी विद्या द्वारा अश्लेष एवं विनाश होता है। अनादि भव-परम्परामें सञ्चित अनारब्ध-कार्य पाप-पुण्यका ही विद्या द्वारा विनाश होता है, आरब्ध-कार्यका विनाश नहीं होता। विद्या अत्यन्त बलवान है। वह वेगपूर्वक सभीकी निवृत्ति कर सकती है। भगवदिच्छाके अतिरिक्त कुछ भी उसे स्थिर अथवा रोध नहीं कर सकता। अतएव ईश्वरकी इच्छा द्वारा ही देह-स्थिति इत्यादि सङ्गत होते हैं। विद्योदयके पूर्व अनुष्ठित अग्निहोत्रादि कर्म विद्यारूप फल उत्पन्न होनेके पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं। ब्रह्मैकरत किसी-किसी परमातुर निरपेक्ष भक्तका भोगके बिना प्रारब्ध, पुण्य एवं पापका क्षय हो जाता है। एक तो विद्याका ऐसा स्वाभाविक सामर्थ्य है, उसके बाद यदि परमेश्वर-प्रसाद

प्राप्त हो जाय तो उसकी शक्तिके विषयमें फिर और क्या कहा गया? श्रीभगवान्‌की कृपासे ऐसे जीव स्थूल-सूक्ष्म शरीरका विनाश करते हुए पार्षद-शरीरको प्राप्त होते हैं और श्रुत्युक्त सम्पूर्ण भोगसम्पन्न होते हैं।

चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादके दस अधिकरणोंमें इक्कीस सूत्र हैं। इस पादमें देवयान-पन्था व्याख्यानके अभिप्रायमें विद्वान् व्यक्तियोंके देहसे उत्क्रमणके प्रकार पर विचार किया गया है। विद्वान्‌के वागादि स्वरूपतः मनमें सम्पन्न होते हैं अर्थात् मनमें विलीन होते हैं। मन प्राणमें सम्पन्न होता है। प्राण देह, इन्द्रियादिके अधिष्ठाता जीवमें सम्पन्न होते हैं; जीव पञ्चभूतोंमें मिलित होता है। नाड़ी-प्रवेशके पूर्व अज्ञ एवं विज्ञ दोनोंकी ही उत्क्रान्ति समान है। अज्ञ व्यक्ति एक सौ नाड़ियों द्वारा गमन करते हैं और विज्ञ व्यक्ति एक सौ नाड़ियोंसे परे ऊर्ध्वगत एक सुषुम्ना नामक मूर्द्धन्य नाड़ी द्वारा उत्क्रमण करते हैं। जिनका देहसे सम्बन्ध विनष्ट नहीं हुआ है, ऐसे विज्ञोंका पाप-राहित्यत्व भाव ही उनका अमृतत्व है, क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार पर्यन्त यह शरीर-सम्बन्ध-लक्षण-संसार है। जो ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त करते हैं, वे परव्योममें जाते हैं। विद्वान्‌की रागादि इन्द्रियाँ, प्राण और भूतसमूह सर्वात्मभूत परब्रह्ममें ही लीन होते हैं, क्योंकि ब्रह्म सभीके उपादान हैं और वे परदेवता हैं। अचिच्छक्ति विशिष्ट परमात्माके सहित प्राणादिका अविभाग अर्थात् तादात्म्यापत्ति सिद्ध है। जब जीव प्रकृतिसे विमुक्त एवं विशुद्ध हो जाते हैं, तब अप्राकृत देह प्राप्त करके परब्रह्मके नित्य-सान्निध्यरूप संयोग अर्थात् मिलनको प्राप्त होते हैं। विद्वान् व्यक्ति भगवत्कृपासे प्रकाशित इस सुषुम्ना-नाड़ीसे संयुक्त होकर सौर रश्मि द्वारा हरिलोकमें गमन करता है। विद्वान् व्यक्तिकी मृत्यु दिनमें हो अथवा रात्रिमें, उसका गमन रवि-रश्मिके अनुसार ही होता है। विद्वान् व्यक्तिकी जिस भी समय मृत्यु हो, विद्याका फल उसे प्राप्त होगा ही। अज्ञ व्यक्तिके उत्तरायणादिमें मृत होनेपर उसकी सद्गतिकी सम्भावना है, किन्तु विज्ञ अर्थात् भगवद्भक्त किसी भी समय देहत्याग करें, उन्हें श्रीहरिपदकी प्राप्ति होगी ही।

चतुर्थ अध्यायके तृतीयपादमें नौ अधिकरण एवं सोलह सूत्र हैं। इस पादमें ब्रह्मलोक-गमनका पथ एवं प्राप्य ब्रह्मस्वरूप निरूपित हुआ

है। ब्रह्मोपासकगणोंकी मृत्यु होनेपर, उनके पुत्र-शिष्यादि दाहादि-संस्कार करें अथवा न करें, वे अक्षय उपासनाके फलस्वरूप अर्चिरादिमार्गसे श्रीहरिधाममें ही गमन करते हैं। वे सर्वप्रथम अर्चिरादि देवता, बादमें अहरादि देवता, उसके बाद पञ्चाभिमानिनी देवता, फिर उत्तरायणादि अभिमानिनी देवता, उससे वत्सराभिमानी देवता, उससे आदित्य, आदित्यसे चन्द्रमा, चन्द्रमासे विद्युत्-लोकमें गमन करते हैं। वहाँपर अवस्थानके समय ब्रह्मलोकसे समागत अमानव पुरुष उन्हें हरिधाममें ले जाते हैं। यह अर्चिरादि देवताविशिष्ट पथ ही देवपथ है। इसे ब्रह्मपथ भी कहते हैं। इस पथसे जानेवालोंका फिर मनुष्यलोकमें आगमन नहीं होता।

श्रीपुरुषोत्तम अपने उपासकोंको लानेके लिए अतिवाह-कार्यमें अर्चिरादि देवताओंको नियुक्त करते हैं। अमानव पुरुष विद्युत्-लोकसे ब्रह्मोपासकगणोंको ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं। विशेष-स्थलपर भगवत्-पार्षद भूतल तक आकर उपासकोंको ले जाते हैं। बादरि ऋषिके मतमें ब्रह्मलोक-गमन कहनेसे चतुर्मुख ब्रह्माके लोक तक लाना अमानव पुरुषका कार्य है तथा ब्रह्माके लोककी प्रलयदशा होनेपर, ये सभी पुरुष ब्रह्माके साथ ही परब्रह्मधामको प्राप्त होते हैं। जैमिनि ऋषिके मतमें ब्रह्म शब्दकी परब्रह्ममें ही मुख्यवृत्ति है, इसलिए अमानव पुरुष उन्हें परब्रह्म श्रीहरिके लोकमें ले जाते हैं। ईश्वरकी इच्छासे सब कुछ ही सम्भव है—अतएव यही सत्-सिद्धान्त है। वेदव्यासके मतमें नामादिके उपासक प्रतीकाश्रय पुरुष और सनिष्ठादि अप्रतीकाश्रित ब्रह्मोपासक दोनों ही भगवत्-पदमें (भगवत्-धाममें) ले जाये जाते हैं। किसी-किसी निरपेक्ष भक्तके सम्बन्धमें स्वयं-भगवान् ही स्व-पद प्राप्तिकी व्यवस्था करते हैं। जो भक्त निरपेक्ष हैं, परन्तु भगवत्-विरहमें अत्यन्त कातर रहते हैं, भगवान् उनकी स्वपद-प्राप्तिमें विलम्ब सहन नहीं कर पाते और स्वयं ही उन्हें स्वधाम ले जाते हैं—यही विशेष व्यवस्था है। आतिवाहिक देवताओंके साथ जो परमपदकी प्राप्ति है, वह साधारण व्यवस्था है।

चतुर्थ अध्यायके चतुर्थपादमें ग्यारह अधिकरण और बाईस सूत्र हैं। इस पादमें मुक्त पुरुषोंके स्वरूप-निरूपणके अन्तमें ऐश्वर्यादि

भोगोंका विषय निरूपित हुआ है। ज्ञान-वैराग्यसे युक्त भक्ति द्वारा परज्योतिःस्वरूप प्राप्त जीवके कर्म-बन्धनसे मुक्त गुणाष्टक-विशिष्ट स्वरूपका आविर्भाव होता है। संव्योमपुरस्थ स्वरूप-प्राप्त जीवका श्रीहरिके सायुज्य अर्थमें सहयोग प्राप्त होता है। पुनः परज्योतिःस्वरूप पदार्थ ही उत्तम पुरुष श्रीहरि हैं। जैमिनिके मतमें ब्रह्मसम्पन्न जीव अपहतपाप्मत्वादि एवं सत्यसङ्कल्पत्व पर्यन्त निखिल गुणोंसे भूषित होकर ही आविर्भूत होते हैं। अवश्य ही औडुलोमि यह कहते हैं—ब्रह्मध्यान द्वारा अविद्यानिर्मुक्त जीव चिद्रूप ब्रह्मसे सम्पन्न होकर चिन्मात्र स्वरूपमें ही आविर्भूत होते हैं। जब कि श्रीमद्वेदव्यासने सिद्धान्त दिया है कि जीवके चिन्मात्रत्व निर्णीत होनेपर भी गुणाष्टक-विशिष्ट-विषयमें कोई विरोध रह नहीं सकता। मुक्त जीवके सङ्कल्पमात्रसे ही समग्र ऐश्वर्य-प्राप्ति स्वीकार्य है। सेवारस-आस्वादनलुब्ध मुक्तपुरुषगण इस सुखैश्वर्य प्रधान मुक्तिकी अपेक्षा नहीं करते, बल्कि इसमें हेयत्व ही देखते हैं। मुक्तपुरुष सत्यसङ्कल्प होनेपर भी पुरुषोत्तम श्रीभगवान्‌को ही एकमात्र आश्रय करते हैं, भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध कोई वाञ्छा नहीं रखते। जिनके साधनकालसे ही सेवा-सङ्कल्प रहता है, उस मुक्त पुरुषको अप्राकृत विग्रह प्राप्त होता है। और जिनके साधनकालमें सेवा-सङ्कल्प नहीं रहता—वे ही निराकार-लोभसे विग्रह-विहीन अर्थात् शरीर-रहित होते हैं। निराकार-निष्ठ अविग्रह (शरीर रहित) मुक्त पुरुषोंका भी मानस-सुख [स्वप्नकी भाँति] अपरिहार्य है, और सविग्रह मुक्तपुरुषोंका भोग जाग्रत अवस्थाके समान स्थूल है। [अर्थात् सगुण उपासक शरीर धारण करके आप्तकाम व्यक्तिकी भाँति भगवत्-प्रसाद रूपमें भोगोंका उपभोग करते हैं।] भक्तिहेतुक भगवत्-प्रसाद-भोगकी इच्छा भी भक्तिमें ही गण्य है, उसमें कोई दोष घटित नहीं होता। मुक्तजीवकी ईश्वरसे स्वाभाविक पुरातन प्रज्ञा प्रसूत होती है। सम्पूर्ण चित् और अचित्‌की सृष्टिादिरूप जगत्-क्रिया केवल ब्रह्मका ही कार्य है, इसके अतिरिक्त अन्यान्य कार्योंमें मुक्तपुरुषका सामर्थ्य है। जीवका अणुत्व होनेके कारण वह स्वयं अनन्तानन्द नहीं हो सकता, किन्तु ब्रह्म द्वारा उन्हें अपरिमित आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है। भगवदुपासना एवं भगवत्-तत्त्वज्ञान द्वारा भगवत्-लोकगत

जीवकी वहाँसे पुनरावृत्ति नहीं है। अतः मुक्त जीवकी मुक्ति नित्य है। जीव असंख्य जन्मोंके अतिक्रमणके बाद भाग्यक्रमसे सद्गुरुकी कृपासे निजांशी भगवान्के स्वरूपतत्त्वको जान सकता है उनसे इतर समस्त विषयोंसे निस्पृह होकर भगवदनुवृत्ति द्वारा परिशुद्ध होता है। उस समय वह अनन्त-आनन्दस्वरूप श्रीभगवान्को निजस्वामी एवं सुहृत्तम जानता है और उस परम रसस्वरूप वस्तुको प्रसादाभिमुख रूपमें प्राप्त करके उन्हें फिर स्वभावतः ही परित्याग करना नहीं चाहता। अतः इस प्रकारके मुक्तपुरुषोंकी कभी भी पुनरावृत्तिकी सम्भावना नहीं रहती।

अब चतुर्थ अध्यायके प्रत्येक पादके अधिकरणका विवरण संक्षेपमें दिया जा रहा है—

वेदान्तसूत्रके प्रयोजनतत्त्वात्मक चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादमें तेरह अधिकरणोंमें उन्नीस सूत्र निबद्ध है। इनमें—

प्रथम—'आवृत्त्यधिकरणम्' में पाया जाता है कि श्रवणादि भक्तिके अङ्गोंकी पुनः-पुनः आवृत्तिकी आवश्यकता है। महाजनोंके आचरणमें भी इसी प्रकारका प्रमाण दिखायी देता है।

द्वितीय—'आत्मत्वोपासनाधिकरणम्' में कहा गया है कि ऐश्वर्य-विशिष्ट और माधुर्य-विशिष्ट ईश्वरकी आत्मबुद्धिसे उपासना करनी चाहिये।

तृतीय—'प्रतीकाधिकरणम्' में ज्ञात होता है कि मन इत्यादि इन्द्रियोंमें आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि प्रतीक ईश्वर नहीं होता। वह ईश्वर-ज्ञानका अधिष्ठानमात्र है।

चतुर्थ—'ब्रह्मद्रष्ट्यधिकरणम्' में वर्णित है कि ईश्वरमें आत्मदृष्टिके समान ब्रह्मदृष्टि भी नित्य करनी चाहिये, क्योंकि ईश्वर अनन्तकल्याण गुणमय वस्तु हैं। उनके इसी उत्कर्षके कारण उनमें ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये।

पञ्चम—'आदित्यादिमत्यधिकरणम्' में देखा जाता है कि ईश्वरके अप्राकृत चक्षु आदिमें सूर्यादिजनकत्व ध्यानके द्वारा चक्षु आदिका उत्कर्ष सिद्ध होता है। यह सिद्धि अलौकिकत्वके कारण स्वीकार्य है।

षष्ठ—'आसनाधिकरणम्' में वर्णित हुआ है कि आसनपर बैठकर ही श्रीहरिका स्मरण करना उचित है। चित्तकी एकाग्रता-साधनेके लिए आसनादि आवश्यक हैं।

सप्तम—'एकाग्रताधिकरणम्' में देखा जाता है कि जिस प्रकारके स्थानादिमें चित्तकी एकाग्रता प्राप्त होती हो, उसी प्रकारके स्थानादिमें श्रीहरिकी ध्यानादि उपासना करनी चाहिये। इसमें दिशादिका कोई विशेष नियम नहीं है।

अष्टम—'आप्रायणाधिकरणम्' में पाया जाता है कि मोक्ष पर्यन्त उपासना करनी होगी, इतना ही नहीं, मोक्षके बाद भी उपासना करनी चाहिये।

नवम—'तदधिगमाधिकरणम्' में कहा गया है कि ब्रह्मविद्याके प्रभावसे क्रियमाण पापका अश्लेष होगा एवं सञ्चित पापका नाश होगा।

दशम—'इतराधिकरणम्' में देखा जाता है कि पापके समान पुण्यका भी अश्लेष एवं विनाश होगा।

एकादश—'अनारब्धकार्याधिकरणम्' में देखा जाता है कि पूर्वसञ्चित अनारब्ध कार्य—पाप एवं पुण्यका ब्रह्मविद्या द्वारा विनाश होता है, किन्तु आरब्ध कार्यका नाश नहीं होता। यद्यपि अति बलिष्ठ विद्या समस्त कर्मोंको निरवशेष रूपमें दग्ध करनेमें समर्थ है, तथापि ब्रह्मविद्के द्वारा उपदेशादि प्रचार कार्य करानेके लिए परमेश्वरकी इच्छासे भक्तकी देह-स्थिति है।

द्वादश—'अग्निहोत्राद्यधिकरणम्' में देखा जाता है कि विद्योदयके पूर्व अनुष्ठित नित्य अग्निहोत्रादि कर्मोंकी विद्यारूप फल-उत्पत्तिके बाद निवृत्ति हो जाती है, नित्यकर्म नष्ट नहीं होता। नित्यकर्मके अतिरिक्त अन्यान्य पुरातन कर्मोंका विनाश हो जाता है।

त्रयोदश—'अतोऽन्याप्यधिकरणम्' में पाया जाता है कि श्रीभगवान्में अनन्याभक्तिसे सम्पन्न किसी-किसी निरपेक्ष भक्तका प्रारब्ध भोगके बिना ही क्षय हो जाता है।

अब इक्कीस सूत्रोंसे समन्वित द्वितीय पादके दस अधिकरणोंका विवरण संक्षेपमें दिया जाता है—

प्रथम—'वागधिकरणम्' में कहा गया है कि वागादि स्वरूपतः ही मनसे संयुक्त होते हैं, क्योंकि वाक्के रुक जानेपर भी मनकी चेष्टा देखी जाती है।

द्वितीय—'मनोऽधिकरणम्' में पाया जाता है कि समस्त इन्द्रियोंके साथ मन प्राणसे संयुक्त होता है।

तृतीय—'अध्यक्षाधिकरणम्' में देखा जाता है कि प्राण अध्यक्षमें अर्थात् देह, इन्द्रियादिके अधिष्ठाता जीवमें प्रवेश करते हैं।

चतुर्थ—'भूताधिकरणम्' में वर्णित हुआ है कि पञ्चभूतोंमें ही जीव मिलित होता है।

पञ्चम—'आसृत्युपक्रमाधिकरणम्' में पाया जाता है कि नाड़ी प्रवेशके पूर्व विज्ञका और अज्ञका उत्क्रमण समान ही है। केवल नाड़ी-प्रवेश दशामें प्रभेद होता है। विज्ञका सुषुम्ना नाड़ी द्वारा प्रवेश होता है।

षष्ठ—'परसम्पत्त्यधिकरणम्' में कहा गया है कि विज्ञके वागादि, इन्द्रिय, प्राण और भूत सर्वात्मभूत परब्रह्ममें ही संयुक्त होते हैं।

सप्तम—'अविभागाधिकरणम्' में पाया जाता है कि अचिच्छक्ति विशिष्ट परमात्माके साथ प्राणादिका अविभाग अर्थात् तादात्म्यापत्ति ही सिद्ध होती है।

अष्टम—'तदोकोऽधिकरणम्' में वर्णित हुआ है कि विद्वान्‌की शताधिक सुषुम्ना नाड़ी-योगसे ऊर्ध्वगति असम्भव नहीं है, क्योंकि वे विद्यासामर्थ्यसे श्रीभगवान्‌के अनुग्रहसे प्राप्त उक्त नाड़ीको पहचान सकते हैं।

नवम—'रश्म्यनुसार्यधिकरणम्' में कहा गया है कि विद्वान् व्यक्तिकी दिवसमें मृत्यु हो अथवा रात्रिकालमें मृत्यु हो, उनकी गति रविरश्म्यनुसारी ही होती है। दिवस अथवा रात्रिका कोई वैशिष्ट्य नहीं हैं।

दशम—'दक्षिणायनाधिकरणम्' में पाया जाता है कि विद्वान् व्यक्तिकी जिस किसी भी समयमें मृत्यु क्यों न हो वे विद्याका फल पायेंगे ही। दक्षिणायनमें मृत्यु होनेपर भी विद्या द्वारा प्रतिबन्धक कर्मका सर्वथा क्षय होता है और भगवत्-प्राप्ति अवश्यम्भावी है। उत्तरायण शब्दके वाच्य आतिवाहिक देवता हैं।

अब सोलह सूत्रोंसे युक्त तृतीय पादके नौ अधिकरणोंका विवरण संक्षेपसे उल्लेख किया जाता है—

प्रथम—'अर्चिराद्यधिकरणम्' में पाया जाता है कि समस्त विद्वान् ही प्राथमिक अर्चिः इत्यादि पथसे ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं।

द्वितीय—'वाय्वधिकरणम्' में कहा गया है कि संवत्सर एवं आदित्यके मध्य देवलोक और वायुलोकका सन्निवेश है।

तृतीय—'तडिदधिकरणम्' में पाया जाता है कि तदितर अर्थात् विद्युल्लोकके बाद वरुणलोकका सन्निवेश है, क्योंकि विद्युत एवं वरुणका परस्पर सम्बन्ध है। अतएव अर्चिःसे आरम्भ करके प्रजापति पर्यन्त बारह स्तर अथवा किसीके मतमें तेरह पर्वयुक्त, ब्रह्मलोक अर्थात् परव्योम नामक श्रीहरिलोक गमनकी पद्धति सिद्ध हुई है।

चतुर्थ—'आतिवाहिकाधिकरणम्' में देखा जाता है कि श्रीभगवान् अपने उपासकोंको अपने समीप लानेके लिए अतिवाह-कार्यमें अर्चिरादि देवताओंको नियुक्त करते हैं।

पञ्चम—'वैद्युताधिकरणम्' में पाया जाता है कि विष्णु-पार्षदगण विद्युत्-लोक तक आकर विद्वान् पुरुष अर्थात् उपासकगणोंको पुरुषोत्तम-धाममें ले जाते हैं।

षष्ठ—'कार्याधिकरणम्' में वर्णित हुआ है कि बादरिके मतमें अर्चिरादि देवगण उपासकोंको चतुर्मुख ब्रह्माके लोकमें ले जाते हैं।

सप्तम—'परं जैमिनिरित्याधिकरणम्' में पाया जाता है कि महर्षि जैमिनिके मतमें अमानव पुरुष उपासकोंको परब्रह्म-धाममें ही ले जाते हैं।

अष्टम—'अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्' में देखा जाता है कि श्रीबादरायणके निज मतमें नामादिके उपासक प्रतीकाश्रय पुरुष एवं सनिष्ठादि अप्रतीकाश्रित भगवदुपासक दोनों ही भगवत्-धाममें ले जाये जाते हैं।

नवम—'विशेषाधिकरणम्' में पाया जाता है कि अतीव भगवत्-विरह-कातर निरपेक्ष भक्तोंके लिए श्रीभगवान्‌के द्वारा स्वपद-प्राप्तिकी विशेष व्यवस्था है। सनिष्ठादि उपासकोंका आतिवाहिक देवताओंके द्वारा परमपद-प्राप्तिका उल्लेख साधारण नियम है। किन्तु जो भगवत्-विरहमें परम आर्त्त हैं, ऐसे निरपेक्ष भक्तोंकी स्वपद-प्राप्तिका विलम्ब सहन न कर सकनेके कारण श्रीभगवान् स्वयं ही उन्हें गरुड़-वाहनपर आरोहण कराके अपने समीप ले जाते हैं।

अब बाईस सूत्रोंसे युक्त इस अध्यायके चतुर्थ पादके ग्यारह अधिकरणोंका विवरण संक्षेपमें वर्णित किया जाता है—

प्रथम—'सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्' में पाया जाता है कि ज्ञान-वैराग्यसे युक्त भक्तिके द्वारा जीव परज्योतिःसे सम्पन्न होनेपर अर्थात् उसे प्राप्त होनेपर कर्मबन्धनसे विनिर्मुक्त हो जाते हैं और उनमें गुणाष्टकविशिष्ट स्वरूपका आविर्भाव होता है।

द्वितीय—'अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम्' में कहा गया है कि परःज्योतिः प्राप्त मुक्तपुरुष परम-परात्पर-पुरुषका सायुज्य अर्थात् सहयोग प्राप्त करते हैं। सायुज्य-अर्थसे सहयोग जाना जाता है।

तृतीय—'ब्राह्माधिकरणम्' में देखा जाता है कि जैमिनिके मतमें ईश्वरके अपहतपाप्मत्वसे आरम्भ करके सत्यसङ्कल्प पर्यन्त गुणाष्टक मुक्त जीवोंमें उपन्यस्त अर्थात् आविर्भूत होते हैं। औडुलोमिके मतमें जीव अविद्यासे निर्मुक्त होकर चिद्रूप ब्रह्मको प्राप्त होकर चिन्मात्र स्वरूपमें ही आविर्भूत होते हैं।

चतुर्थ—'उपन्यासाधिकरणम्' में कहा गया है कि मुक्त जीवोंकी चिन्मात्र स्वरूपता निरूपित होनेपर भी गुणाष्टक युक्तताका विरोध नहीं है। श्रीबादरायण भी यही मानते हैं।

पञ्चम—'सङ्कल्पाधिकरणम्' में पाया जाता है कि मुक्त पुरुषके सङ्कल्पमात्रसे ही भोग-प्राप्ति होती है, किन्तु इस समस्त स्व-सुखैश्वर्य-प्रधान-मुक्तियोंकी श्रीभगवान्‌के सेवारस-आस्वादन-लुब्ध पुरुष कामना नहीं करते।

षष्ठ—'अतएव चानन्याधिकरणम्' में देखा जाता है कि श्रीपुरुषोत्तमके अनुग्रहके आविर्भावके कारण उद्भूत सत्यसङ्कल्पवशतः मुक्त जीव अनन्याधीन अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमसे भिन्न अन्य किसीके भी नियन्त्राधीन नहीं होते। वे विधि-निषेधके भी अतीत होते हैं। वे केवल श्रीपुरुषोत्तम सेवामें ही आनन्द प्राप्त करते हैं।

सप्तम—'अभावाधिकरणम्' में पाया जाता है कि परमज्योतिः प्राप्त मुक्तपुरुषोंका बादरि ऋषिके मतमें विग्रहादि नहीं है। जैमिनि ऋषिके मतमें मुक्तपुरुषोंका विग्रहादिरूप है। बादरायण श्रीव्यासदेवके निजमतमें

सत्यसङ्कल्पताके कारण मुक्तपुरुषोंके अविग्रहत्व और सविग्रहत्व—दोनों स्वरूप ही सिद्ध हैं।

अष्टम—'तन्वभावाधिकरणम्' में कहा गया है कि मुक्तपुरुषोंका अविग्रह-अवस्थामें भी मानस-सुख अपरिहार्य है और सविग्रह अवस्थामें भी जाग्रद्-दशाके समान भोग है। मुक्त जीवकी भगवत्-प्रसाद-स्वरूप भोग्यवस्तुमें भक्तिवशतः ही स्पृहाका उदय होता है और सेवा-बुद्धिसे भोग होता है।

नवम—'प्रदीपवेशाधिकरणम्' में पाया जाता है कि मुक्तपुरुषोंकी ईश्वर द्वारा प्रज्ञा प्रसूत होती है, इस कारण वे सर्वज्ञता प्राप्त करते हैं।

दशम—'जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम्' में वर्णित हुआ है कि चित्-जड़ात्मक समग्र विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं नियन्तृत्व रूपमें जगत्-क्रिया एकमात्र ब्रह्म-निष्ठ है अर्थात् केवल ब्रह्मका ही कार्य है। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त कार्योंमें मुक्तपुरुषोंका ईश्वरके समान ही सामर्थ्य है।

एकादश—'अनावृत्तिरित्याधिकरणम्' में पाया जाता है कि श्रीभगवान्के तत्त्वज्ञानके साथ उनकी उपासनाके फलस्वरूप वैकुण्ठधामगत मुक्त जीवकी फिर संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती। श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन ही संसार-तरणका एकमात्र उपाय है, यही समस्त शास्त्रोंमें वर्णित हुआ है।

मूल सार यह है कि वेदान्तसूत्रके चतुर्थ अध्यायमें जीवका साधन-फल विचारित हुआ है, इस कारण इस अध्यायका नाम फलाध्याय है।

बहुत-से लोगोंकी धारणा है कि वेदान्तशास्त्र ज्ञानशास्त्र है, यह भक्तिमूलक नहीं है, अतः भक्तके लिए अवश्य ही पठनीय नहीं है। इस सम्बन्धमें हमारी एकमात्र प्रार्थना है कि सभी एक बार श्रीगुरु-वैष्णवोंके आनुगत्यमें भक्ति-समन्वित चार-अध्यायोंसे युक्त वेदान्तसूत्रोंकी पर्यालोचना करके देखें, ऐसा होनेपर जान सकेंगे कि वेदान्त भक्तिमूलक सिद्धान्त-शास्त्र ही है। इसके अध्ययनसे जाना जाता है—जीवका कृष्ण-तत्त्व सम्बन्ध है, कृष्णभक्ति ही अभिधेय है

और कृष्णप्रेम ही प्रयोजन है। परन्तु भक्त–भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे भजनानुष्ठानके बिना तत्त्वकी अनुभूति अथवा प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतएव महाजनानुगत्यमें महाजन–प्रदर्शित पथसे निष्कपटपूर्वक काय–मन–वाक्यसे हरिभजन करना ही वेदान्त–पाठकी एकमात्र सार्थकता है।

अधमकी [श्रील भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती महाराजकी] उपलब्धि—

सम्बन्ध–अभिधेयादि आर प्रयोजन।
वेदान्तसूत्रेते ताहा आछये वर्णन॥

श्रीव्यासेर सूत्र यदि कर अध्ययन।
गोविन्दभाष्य ताहार करिवे ग्रहण॥

वेदान्तेर गूढ़–मर्मे तवे प्रवेशिवे।
मने आर कोन द्विधा नाहिक रहिवे॥

चारि अध्याय–वेदान्त आछे विरचित।
प्रथम–द्वितीय आछे सम्बन्ध–सहित॥

श्रीहरि–सम्बन्धज्ञान शास्त्रे–समन्वित।
कुतर्क–श्रुति विरोध सकल वर्जित॥

तृतीय अध्याये आछे नाम अभिधेय।
याहाते–पाइवे भाई भक्तिर विषय॥

कर्म–ज्ञान–योग नहे मुख्य अभिधेय।
अन्याभिलाषशून्यता प्रधान निश्चय॥

आनुकूल्ये कृष्ण भजि पाय कृष्णभक्ति।
सौभाग्यवानेर हय ताहाते प्रसक्ति॥

गुरु कृपाबले हय प्राप्ये तृष्णालाभ।
प्राप्येतर वैराग्य त ताहाते सम्भव॥

उपास्य गुणोपासना आछे सुवर्णित।
समग्र वेद शाखाय ताहाइ निर्णीत॥

विद्वान् व्यक्तिर यवे हय कृष्ण–ज्ञान।
ताहाइ वेदविचार प्रकृत सन्धान॥

चतुर्थ अध्याये आछे प्रयोजन-तत्त्व।
प्रेमेर महिमा आर नामेर महत्त्व॥

उपास्य पार्षदरूपा गति सर्वश्रेष्ठ।
एकान्ति-भक्तगणेर ताहाइ अभीष्ट॥

आमा हेन अधमेर किसे गतिलाभ।
गुरुकृपा-विना आर नाहिक सम्भव॥

वैष्णवेर कृपा विना ताहा सुदुर्लभ।
वैष्णवेते सेवा-बुद्धि परम दुर्लभ॥

वैष्णवगणेर पाये मोर नमस्कार।
अधमे करुन दास प्रार्थना आमार॥

अर्थात् वेदान्तसूत्रमें सम्बन्धतत्त्व, अभिधेयतत्त्व और प्रयोजन-तत्त्वका वर्णन है। यदि श्रीमद्वेदव्यासजीके सूत्रोंका अध्ययन करना चाहते हो तो श्रीगोविन्दभाष्यको स्वीकार करना होगा। श्रीगोविन्दभाष्यके धरातलपर ही वेदान्तके निगूढ़ तत्त्वमें प्रवेश हो सकेगा और मनमें किसी प्रकारकी दुविधा भी नहीं रहेगी। वेदान्तकी रचना चार अध्यायोंमें हुई है। इनमें प्रथम और द्वितीय अध्याय सम्बन्धतत्त्वात्मक हैं। श्रीहरि-सम्बन्धज्ञानका ही समस्त शास्त्रोंमें वर्णन है और वही श्रुति-सम्मत है। जो भी कुतर्क श्रुतियोंके विरोधमें हैं, वे सभी हेय, वर्ज्य एवं परित्यज्य हैं। तृतीय अध्यायमें अभिधेयतत्त्वका वर्णन है, जिसमें भक्तिका सम्पूर्ण विषय प्राप्त किया जा सकता है। यह सहज ही ज्ञात हो सकता है कि कर्म, ज्ञान एवं योग मुख्य अभिधेय नहीं हैं, भक्तिमें तो प्रधान रूपसे यही निश्चय रहता है कि हृदयमें कृष्णप्रेम-प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य कोई भी अभिलाषा न रहे। आनुकूल्यपूर्वक कृष्णभजन करनेसे ही कृष्णभक्ति प्राप्त हो सकती है, जो सौभाग्यवान जीव हैं, उनकी ही इस प्रसङ्गमें आसक्ति होती है। श्रीगुरुदेवकी कृपा-बलसे ही प्राप्य (कृष्णप्रेम) में लोभकी प्राप्ति हो सकती है और इसीसे ही कृष्णेतर विषयोंसे विरक्ति सम्भव है। समग्र वेद-शाखामें जिस उपास्यकी गुणोपासनाका वर्णन किया गया है, वह इस अध्यायमें सम्यक्रूपेण निरूपित है। विद्वान् व्यक्तिको जब

कृष्णतत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तभी वह वेद-विद्याका प्रकृत सन्धान प्राप्त कर सकता है। वेदान्तके चतुर्थ अध्यायमें प्रयोजनतत्त्वका वर्णन है। इसमें प्रेमकी महिमा और नामका महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। विद्वत्‌की (उपासककी) यही सर्वश्रेष्ठ गति है कि वह उपास्यका पार्षद-पद प्राप्त करे, वस्तुतः ऐकान्तिक भक्तगणोंका वही अभीष्ट होता है। मुझ अधमको ऐसी गतिकी प्राप्ति किस प्रकारसे होगी, श्रीगुरुदेवकी कृपाके बिना तो यह सम्भवपर ही नहीं है। वैष्णव-कृपाके बिना पार्षद-गति अत्यन्त दुर्लभ है और जब तक वैष्णव-सेवा बुद्धिका उदय नहीं होगा, तब तक तो परम दुर्लभ है। सभी वैष्णवगणोंके श्रीचरणोमें मेरा कोटि-कोटि नमस्कार है, इस अधमको आप सभी कृपापूर्वक अपने दासके रूपमें स्वीकार करें—यही मेरी कातर प्रार्थना है।

अब 'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थके पाठकोंके निकट मेरा एकान्त निवेदन है कि अत्यल्प कालमें इस प्रकारका एक विराट ग्रन्थ सम्पूर्ण होनेसे इसमें नाना कारणोंसे बहुत प्रकारके दोष-त्रुटि और भूल-भ्रान्ति रह सकती है। विशेष रूपसे, अथक चेष्टा रहनेपर भी मुद्रण-प्रमाद अनिवार्य ही रहता है। जैसा भी हो, सुधी एवं भक्त पाठकोंके निकट मेरा विशेष अनुरोध है कि वे मेरे समस्त दोषोंको निज-गुणोंसे क्षमा करेंगे और भूल-भ्रान्तिका संशोधन करते हुए ग्रन्थके तात्पर्यको हृदयङ्गम करके मुझे कृतार्थ करेंगे। अलमति विस्तरेण।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती
ठाकुर प्रभुपादकी श्रीश्रीव्यासपूजा
२६ फरवरी, १९७०

श्रीगुरु-वैष्णव-चरणरेणु-सेवा-प्रार्थी
श्रीभक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती
(ग्रन्थ-सम्पादक [बँगला संस्करण])

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीश्रील प्रभुपादकी आविर्भाव-तिथि

नमः ॐ विष्णुपादाय कृष्ण-प्रेष्ठाय भूतले।
श्रीमते भक्तिसिद्धान्त-सरस्वतीति-नामिने॥

श्रीवार्षभानवी-देवी-दयिताय-कृपाब्धये ।
कृष्ण-सम्बन्ध-विज्ञान दायिने प्रभवे नमः॥

माधुर्योज्ज्वल-प्रेमाढ्य-श्रीरूपानुग-भक्तिद ।
श्रीगौर-करुणा-शक्ति विग्रहाय नमोऽस्तु ते॥

नमस्ते गौर-वाणी-श्रीमूर्त्तये दीन-तारिणे।
रूपानुग-विरुद्धाऽपसिद्धान्त-ध्वान्त-हारिणे ॥

साक्षाद्धरित्वेन समस्त शास्त्रै,
रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।
किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

निखिल शास्त्रोंने जिनका साक्षात् हरिके अभिन्न-विग्रह रूपसे गान किया है एवं साधुजन जिनका उसी प्रकारसे चिन्तन करते हैं, तथापि जो प्रभु भगवान्‌के एकान्त प्रिय हैं, ऐसे उन (भगवान्‌के अचिन्त्य-भेदाभेद-प्रकाश-विग्रह) श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी मैं वन्दना करता हूँ।

आज अति शुभ माघी-कृष्णा-पञ्चमी-तिथि है। इस शुभ तिथिपर हमारे परमाराध्यतम श्रीश्रीगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद आविर्भूत हुए थे। इसलिए यह श्रेष्ठ तिथि हमारे लिए परम पूज्या, परम-आराध्या और परम-वरणीया है। श्रीगुरुदेव श्रीव्याससे अभिन्नतत्त्व हैं—इस कारण श्रीगुरुपूजा-वासरको नामान्तरसे श्रीव्यासपूजावासर कहा जाता है। मदभीष्ट श्रीगुरुदेवकी अहैतुकी करुणा एवं प्रेरणासे उनके द्वारा संकल्पित 'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थका चतुर्थ अध्याय आज आत्मप्रकाश

प्राप्त कर रहा है अर्थात् समग्र ग्रन्थ आज सम्पूर्ण हुआ है। इसमें श्रीगुरुदेवके किञ्चित् मनोऽभीष्ट-पूरणकी आशासे मुझ जैसे क्षुद्रसे भी क्षुद्र हतभाग्यके हृदयमें जिस आनन्दका सञ्चार हो रहा है, उसे भाषामें व्यक्त करनेमें मैं अक्षम हूँ, तथापि किञ्चित् प्रकाश किये बिना नहीं रह पा रहा हूँ। समस्त विषयोंमें अयोग्य होनेपर भी श्रीगुरुकृपासे यह विपुलाकार ग्रन्थ सम्पूर्ण होकर उन्हीं श्रीगुरुपादपद्मके उद्देश्यसे समर्पित हो सका है, यही अधमके आनन्दका विषय है। ग्रन्थके प्रत्येक खण्डमें ही एक 'उत्सर्ग पत्रम्' को प्रकाशित करके श्रीगुरुदेवके श्रीकरकमलमें इस ग्रन्थके समर्पणकी अभिलाषा ज्ञापन की गयी है। तथापि यह चतुर्थ अध्याय उनकी आविर्भाव-तिथिपर प्रकाश प्राप्त करके उनके ही श्रीचरणकमलकी अपूर्व अमृतमयी स्मृतिकी उद्दीपना जाग्रत कर रहा है। इसलिए सर्वतोरूपेण काय-मन-वाक्यसे अधमकी प्रार्थना यही है कि जन्म-जन्ममें उन प्रभुवरकी श्रीचरण-स्मृति हृदयमें धारण करते हुए गौरपार्षद श्रील नरोत्तम ठाकुरके अनुसरणमें यही गा सकूँ—

श्रीगुरुचरण-पद्म केवल भकति सद्म,
वन्दों मुँइ सावधान मते।
जाँहार प्रसादे भाई, ए भव तरिया जाइ,
कृष्ण प्राप्ति हय जाँहा हइते॥

गुरुमुख पद्मवाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य,
आर ना करिह मने आशा।
श्रीगुरुचरणे रति, एइ से उत्तमा गति,
जे प्रसादे पूरे सर्व आशा॥

चक्षुदान दिला जेई, जन्मे-जन्मे प्रभु सेई,
दिव्यज्ञान हृदे प्रकाशित।
प्रेमभक्ति जाँहा हइते अविद्या विनाश जाते,
वेदे गाय जाँहार चरित॥

श्रीगुरु करुणा-सिन्धु, अधम जनार-बन्धु,
लोकनाथ लोकेर जीवन।

हा हा प्रभु कर दया देह मोरे पदच्छाया,
तुया पदे लईनु शरण॥

भक्तिके एकमात्र आश्रयस्वरूप श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी सावधानीपूर्वक अर्थात् गुरु-अवज्ञारूप नामापराधसे बचते हुए प्रीतिपूर्वक वन्दना करता हूँ। भाइयो! उन्हींकी कृपासे इस भवसागरको पार किया जा सकता है तथा उन्हीं की कृपासे व्रजमें श्रीराधाकृष्णकी प्रेममयी सेवाकी प्राप्ति होती है। श्रीगुरुदेवके मुख निःसृत उपदेशोंको ही हृदयमें धारण करना चाहिये, इसके अतिरिक्त मनमें किसी भी प्रकारकी आशा नहीं रखनी चाहिये। श्रीगुरुके चरणकमलोंमें रति हो जानेपर उत्तम गति प्राप्त होती है और उनकी कृपासे समस्त प्रकारकी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। जो दिव्यचक्षु प्रदानकर हृदयके अज्ञानरूपी अन्धकारका विनाश करते हैं, दिव्य ज्ञानका प्रकाश कर हृदयमें प्रेमाभक्तिको उदित कराते हैं, स्वयं वेद भी जिनके अलौकिक चरित्रका गुणगान करते हैं, वे ही मेरे जन्म-जन्मान्तरोंके प्रभु हैं। श्रीगुरुदेव करुणाके सागर हैं, अधमजनोंके परमबन्धु हैं तथा जगत्के जीवनस्वरूप हैं। हे प्रभो! आप मुझपर कृपाकर अपने चरणोंकी छाया प्रदान कीजिये, मैं आपकी शरणमें आया हूँ।

मैं बद्धजीव, सर्वथा अनर्थग्रस्त—मुझ जैसे अत्यन्त अधमको भी जिन्होंने निजगुणोंसे कृपापूर्वक मेरे अति बाल्यकालमें अपने चरणोंमें आकर्षण कर लिया था, उन अतिमर्त्त्य महापुरुषकी करुणासे मैं आज भी पारमार्थिक जीवन वहन करता चला जा रहा हूँ। सब प्रकारसे अयोग्य होनेपर भी जिन्होंने अलक्षित रूपसे अहैतुकी करुणा प्रकाशित करके विविध ग्रन्थ-प्रकाशमें शक्ति सञ्चार करते हुए अपनी आश्रय-महिमा प्रकट की है, वे ही मदभीष्ट प्रभुपाद नित्यकाल मेरे आश्रय हों, मेरी सब प्रकारसे रक्षा करें। जिनकी कृपासे भगवत्-कृपा होती है, जिनकी अप्रसन्नतासे कहीं भी कोई भी गति नहीं है, वे ही प्रभुवर मुझे अपने धाममें, अपने चरणोंके तले, अपने भक्तोंके आनुगत्यमें, अपनी मनोभीष्ट सेवामें नियोजित रखें—यही अधमका कातर निवेदन है।

श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं—

यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादः,
यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।
ध्यायंस्तुवंस्तस्य यशस्त्रिसन्ध्यं,
वन्दे गुरोः श्रीचरणारविन्दम्॥

अर्थात् जिन महापुरुषप्रवरकी अहैतुकी करुणासे मुझ जैसे हतभाग्य जीवने संसार-समुद्रको उत्तीर्ण करनेका साधन प्राप्त किया है, जिनके कृपाबलसे अज्ञानान्ध मैंने ज्ञानका आलोक देखा है, जिनके करुणा-बलसे भक्ति-साम्राज्यके भक्ति-सिद्धान्त-सद्मणिका सन्धान प्राप्त किया है, जिनकी कृपादृष्टिके प्रभावसे गौड़ीय-वैष्णव-धर्मकी उज्ज्वल-विजय-पताका हाथमें लेकर द्वार-द्वारपर उपस्थित होनेमें सक्षम हो पाया हूँ, जिनकी कृपाशक्ति-कणकी महिमासे आज भुवनपावन वैष्णवगणोंके श्रीचरणोंमें आकृष्ट हो पाया हूँ; जिनकी भुवनमङ्गलमयी लीलाके दर्शनसे अधमके हृदयमें वातुल (पागल) होनेपर भी आकाशस्थ चन्द्र-ग्रहणके समान एक प्रबल आशाका सञ्चार हुआ है, जिसमें श्रीस्वरूप-रूपानुगवर श्रील रघुनाथ गोस्वामी प्रभुके 'मुक्ताचरित' ग्रन्थके मङ्गलाचरणके अनुसरणमें श्रीरूपानुग आश्रय-विग्रह-सेवकोंके पीछे अवस्थित होकर जिनके आनुगत्यमें गान करनेका प्रयास हुआ है—

नामश्रेष्ठं मनुमपि शचीपुत्रमत्रस्वरूपं,
रूपं तस्याग्रजमुरुपुरीं माथुरीं गोष्ठवाटीम्।
राधाकुण्डं गिरिवरमहो! राधिकामाधवाशां,
प्राप्तो यस्य प्रथितकृपया श्रीगुरुं तं नतोऽस्मि॥

अहो! जिनकी सुविख्यात कृपासे नामकी सर्वश्रेष्ठ धारणा (अर्थयुक्त महिमा), मन्त्र, श्रीशचीनन्दन गौरहरि, श्रीस्वरूप गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी एवं श्रेष्ठ मथुरापुरी उसके अन्तर्गत गोष्ठवाटी (सम्पूर्ण व्रजमण्डल), श्रीराधाकुण्ड, श्रीगिरिवर गोवर्धन और श्रीराधामाधवकी चरणसेवा आदि विविधि आशाओंकी हृदयमें प्राप्ति हुई है, उन श्रीगुरुदेवको मैं प्रणाम करता हूँ।

इन प्रभुवरकी कुछ करुणाकी कथा, कुछ महिमाकी कथा, कुछ अवदानकी कथा 'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थके पाठकोंके निकट उपस्थापित

करनेका प्रयास कर रहा हूँ, क्योंकि जिनके कृपा-बलसे आज आपने (पाठकवर्गने) इस विपुल ग्रन्थ-राशिको प्राप्त किया है, तथा जिन्होंने अपने प्रकटकालमें ही इस वेदान्तके प्रतिपाद्य विषयको समग्र जगत्‌की मानव मनीषाके निकट स्थापन किया है, जिन्होंने अपने भुवन मङ्गलमय अवतारमें असंख्य मठ-स्थापन द्वारा, असंख्य जीवन्त मृदङ्गस्वरूप अपने निपुण शिष्योंके द्वारा एवं असंख्य भक्तिशास्त्र-प्रकाशरूप शास्त्र-प्रचार द्वारा शत-शत कण्ठोंसे, शत-शत भावोंसे समग्र पृथ्वीपर 'वेदान्तधर्म क्या है?' इसे जिस प्रकारसे परिस्फुट करके रखा है, उसीको एकबार संक्षिप्त रूपमें वेदान्तसूत्रके पाठकोंके लिए विज्ञापन (सङ्केत-सूचन) करनेका प्रयोजन है। यद्यपि वे आज पृथ्वीपर साधारण दृष्टिसे प्रकट नहीं हैं, तथापि—'*अद्यापिह सेइ लीला करे गोरा राय। कोन कोन भाग्यवान् देखिवारे पाय।*' [अर्थात् आज भी श्रीगौरसुन्दर अपनी लीलाको कर रहे हैं, किन्तु कोई-कोई भाग्यवान ही उसे देख पा रहे हैं।] इस दृष्टान्तानुसार अप्रकट होकर भी वे भाग्यवानोंकी दृष्टिमें प्रकट हैं। विशेषतः उनकी प्रकटकालीन अतिमर्त्त्य लीलावली आज भी श्रद्धावानोंके हृदयमें अपनी आचार्योचित असमोर्द्ध महिमाका जाग्रत एवं जाज्वलयमान साक्ष्य दे रही है।

हमारे परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्म श्रीश्रील प्रभुपाद विश्ववासियोंके निकट साधारणतः श्रीधाम मायापुरस्थ श्रीचैतन्यमठ और उसकी शाखाओं—श्रीगौड़ीय-मठोंके प्रतिष्ठाता आचार्यके रूपमें परिचित हैं, किन्तु अपने अन्तरङ्ग पार्षद भक्तोंके निकट इससे भी अधिक उनके श्रीगौर-निजजनत्व एवं श्रीराधा-निजजनत्व-स्वरूपने प्रकाश प्राप्त किया है। ये महापुरुष बङ्गाब्द १२८० (६ फरवरी, १८७४) माघी-कृष्णा-पञ्चमी-तिथिमें शुक्रवार अपराह्न साढ़े तीन बजे श्रीपुरुषोत्तमधाममें श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरके हरिकीर्त्तन-मुखरित वास-भवनमें श्रीभगवती देवीके क्रोड़का आश्रय लेकर अवतीर्ण हुए थे। आविर्भाव-कालमें प्रत्यक्षदर्शियोंके द्वारा नवजात शिशुके अङ्गमें दिव्य ज्योतिः एवं स्वाभाविक यज्ञोपवीतका चिह्न देखा गया था। श्रीजगन्नाथदेवकी पराशक्ति श्रीविमलादेवीके नामानुसार श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने शिशुका नाम श्रीविमला प्रसाद रखा। संन्यास-ग्रहणके बाद वे श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरके नामसे परिचित हुए।

शिशुके आविर्भावके छह मास बाद श्रीजगन्नाथदेवके रथयात्रा कालमें श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके वास–गृहके सम्मुख जब तीन दिनों तक रथ अवस्थित रहा, तब माता भगवतीदेवीजी बालकको गोदमें लेकर रथपर उपस्थित हुईं, तब उस शिशुने हस्त–प्रसारण करते हुए श्रीजगन्नाथदेवके श्रीचरणोंका स्पर्श किया भर ही था कि श्रीजगन्नाथदेवके गलदेशसे एक प्रसादी माला शिशुके मस्तकपर आ गिरी। सुना जाता है कि अन्न–प्राशनके बाद भावी–रुचि–परीक्षा–कालमें भी इस शिशुने अन्य द्रव्यादिको हाथ न लगाकर केवल श्रीमद्भागवत ग्रन्थका ही आलिङ्गन किया था। इसीसे ही अनेक लोग समझ गये कि यह शिशु भविष्यकालमें एक भागवत–धर्मवेत्ता महापुरुषके रूपमें प्रकाश प्राप्त करेगा। महापुरुषके जिन ३२ लक्षणोंकी बात सुनी जाती है, वह सब–के–सब शिशुके अङ्गोंमें प्रकटित थे। प्रवीण ज्योतिषियोंने शिशुके जन्म–लग्नकी गणना करके भी उन समस्त लक्षणोंका वर्णन किया था।

बाल्यकालसे ही हमारे इन प्रभुवरका अतिमर्त्त्यत्व प्रकाशित हो उठा था। जब वे सप्तम श्रेणीमें अध्ययन कर रहे थे, तभी श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने इस बालकको श्रीहरिनाम और श्रीनृसिंह–मन्त्रराज प्रदान किया। इस अतिमर्त्त्य बालकने पाँचवीं श्रेणीमें अध्ययन करते समय ही फोनेटिक टाइप (Phonetic Type) जैसी एक नवीन लेखन–प्रणालीका आविष्कार किया—उसका नाम वाइक्यान्टो (Bicanto) अथवा विकृन्ति पड़ा।

इस बालककी अवस्था आठ–नौ वर्षकी ही थी कि श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने उसे श्रीकूर्मदेवकी पूजाका मन्त्र एवं अर्चन–विधिकी शिक्षा दी। उसी दिनसे यह बालक नियमित रूपसे श्रीकूर्मदेवकी पूजा–सेवा करने लगा और तिलकादि सदाचारका पालन करता रहा। भगवान् श्रीकूर्मदेवकी यह श्रीमूर्त्ति श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके गृह–भवनके भित्ति–खनन (नींव खुदाई) के समय प्राप्त हुई थी।

अति अल्प आयुमें ही इस बालककी गणित एवं फलित ज्योतिषकी आलोचनामें स्वाभाविक प्रतिभा दिखायी दी। बालकने अत्यल्पकालमें ही गणित–ज्योतिष शास्त्रमें अभूतपूर्व प्रतिभा एवं

पारदर्शिता दिखाते हुए उस विषयमें तत्कालीन पण्डितोंको मुग्ध कर दिया।

इस बालकने छात्र-जीवनसे ही किसी असत् प्रकृतिके बालकके साथ मेल-जोल नहीं रखा। असत्-सङ्ग-त्याग, सुदृढ़-सङ्कल्प और अकपट साधुसङ्गके प्रति ऐकान्तिकी निष्ठा शैशवकालसे ही उनमें परिलक्षित हुई थी। वे बाल्यकालसे ही अद्भुत मेधा एवं स्मृति-शक्ति-सम्पन्न थे। स्कूलकी पाठ्यपुस्तक न पढ़कर भक्ति-ग्रन्थकी आलोचनामें उनका सम्पूर्ण मनोयोग था। सर्वदा धर्म-प्रसङ्ग ही उन्हें रोचक लगता था। संस्कृत-कॉलेजमें ये प्रभुवर कॉलेजकी पाठ्य-पुस्तक पढ़नेके बदलेमें कॉलेज लाइब्रेरीकी प्रधान-प्रधान पुस्तकोंको पढ़ते थे। कॉलेजके अतिरिक्त समयमें वैदिक पण्डितोंके निकट वे वेदाध्ययन करते थे। कलकत्तामें रामबागानके भक्तिभवनमें स्व-स्थापित 'सारस्वत चतुष्पाठी' में अध्यापनके समय उन्होंने पृथक् रूपसे 'सिद्धान्त-कौमुदी' का अध्ययन किया और अत्यल्प-कालमें ही सिद्धान्त-कौमुदीका पाठ समाप्त कर दिया।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने जिस प्रकार विद्या-विलास-लीलामें अध्ययन और अध्यापन करके दिग्विजयादिके अन्तमें श्रीहरिकीर्त्तन-प्रचारके आदर्शका प्रदर्शन किया, हमारे इन प्रभुवरकी लीलामें उसी प्रकारका आचरण देखा जाता है।

एक बार वे श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके आनुगत्यमें तीर्थ-भ्रमण करते हुए बाहर निकले। तीर्थ-भ्रमणके अन्तमें उनमें एक अद्भुत वैराग्य-लीला दिखायी दी। उन्होंने वैष्णव-शास्त्रानुसार नियमित रूपसे चातुर्मास्य व्रत पालन करना आरम्भ कर दिया। चातुर्मास्यमें वे अपने हाथोंसे हविष्यान्न (सिद्ध चावल) रन्धन करते, बिना पात्रके ही धरतीपर रखकर भोजन करते, शय्याको ग्रहण न करके भूमिपर शयन करते तथा सदा सर्वदा श्रीनाम भजन करते। इन प्रभुवरमें भक्तिके अनुकूल वैराग्य-आचरणकी बात सुनते ही सहज रूपसे गौरपार्षद श्रील रघुनाथदास गोस्वामीके वैराग्यकी कथा मनमें स्मरण हो आती है।

कुछ दिनों बाद उन्होंने श्रील ठाकुर भक्तिविनोदके आदेशानुसार अवधूत-शिरोमणि श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी गोस्वामी महाराजके निकटसे भागवती-दीक्षा प्राप्त की।

एक बार उन्होंने श्रील हरिदास ठाकुरके अनुगमनमें प्रत्येक दिन अपतित रूपसे तीन लाख श्रीहरिनाम-महामन्त्रका कीर्त्तन करते हुए शत-कोटि महामन्त्र-कीर्त्तन व्रतका उद्यापन किया था। कभी गौड़मण्डलमें, कभी क्षेत्रमण्डलमें और कभी व्रजमण्डलमें रहकर उन्होंने भजनका आदर्श दिखलाया था। यद्यपि वे भजनमें सर्वदा निमग्न रहते थे तथापि विभिन्न तीर्थ-भ्रमण, पत्रिकादिमें प्रबन्ध-लेखन, विभिन्न स्थानोंपर श्रीचैतन्यचरितामृत आदि शास्त्रोंकी व्याख्या, विभिन्न सत्-सम्प्रदायोंकी तथ्य-आलोचना, नवद्वीपमें गौर-मन्त्रके सम्बन्धमें अथर्व-वेदान्तर्गत श्रीचैतन्योपनिषद एवं अन्यान्य शास्त्र-प्रमाणोंको उद्धृत करते हुए गौर-मन्त्रका नित्यत्व-स्थापन, विभिन्न स्थानोंपर जाकर निरपेक्ष रूपमें शुद्ध-भक्तिधर्मकी कथाका पुनः प्रचार, 'भागवत यन्त्रालय' नामक मुद्रायन्त्रका स्थापन करते हुए स्वरचित अनुभाष्यके साथ श्रीचैतन्यचरितामृत, श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादि ग्रन्थोंका प्रकाश, 'सज्जनतोषणी' नामक पत्रिकाका सम्पादन इत्यादि बहुत प्रकारके प्रचार कार्य करते थे।

पृथ्वीमें सर्वत्र गौरवाणी प्रचारके उद्देश्यसे नित्यसिद्ध विद्वत्-संन्यासी होकर भी इन महापुरुषने परिव्राजक-वेषमें दैव-वर्णाश्रम-धर्मका आदर्श स्थापन एवं गुरुवर्गके परमहंस-वेषकी असमोर्ध्व-महिमा संरक्षणके लिए ७ मार्च १९१८ ई॰ में श्रीगौर-जन्मवासरके उपलक्ष्यमें श्रीधाम मायापुरमें वैदिक विधानानुसार त्रिदण्ड-संन्यास ग्रहण किया और परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डीस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर नामसे परिचित हुए। अपने अन्तरङ्ग भक्तोंके निकट उन्होंने श्रीवार्षभानवी दयितदास नामसे भी आत्मप्रकाश किया। संक्षेपमें 'श्रीश्रीप्रभुपाद' नामसे इन्होंने सभी शिष्योंके हृदयमें स्थान प्राप्त किया। इसी दिन ही श्रीधाम मायापुरमें चन्द्रशेखर-आचार्य-भवनमें श्रीचैतन्यमठकी प्रतिष्ठा की एवं श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग एवं श्रीराधागोविन्द विग्रहकी स्थापना की। इसके बादसे ही प्रभुवरने आचार्य-लीलाको पूर्ण रूपसे प्रकाश करते हुए विश्वमें सर्वत्र श्रीगौरवाणी-प्रचारकी लीला स्वीकार की।

क्रमशः कोलकाता इत्यादि स्थानोंपर विभिन्न मठ स्थापित होने लगे, विभिन्न ग्रन्थ प्रकाशित होने लगे, सौभाग्यवान लोग नाना दिशाओंसे आने लगे और प्रभुवरके श्रीचरणकमलोंका आश्रय प्राप्त करने लगे।

बहुत-से लोग श्रीश्रीलप्रभुपादके श्रीचरणाश्रयसे आदर्श ब्रह्मचारी, आदर्श गृहस्थ, आदर्श वानप्रस्थ और आदर्श संन्यासीरूपमें प्रकाश पाने लगे। निष्कपट समर्पितात्म गुरु-सेवकगणोंने श्रीश्रीप्रभुपादके आनुगत्यमें आचरण करते हुए विश्वमें सर्वत्र विभिन्न भाषाओंमें गौरवाणी प्रचारका एक अत्युज्ज्वल आदर्श प्रकट किया। इस बातका स्मरण करनेपर कि श्रीश्रीलप्रभुपाद श्रीश्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रेरित उनके नित्यपार्षद निजजन हैं, जीवोद्धारके लिए भूतलपर अवतीर्ण हुए थे, यह सहज ही अनुभवका विषय होता है।

पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम।
सर्वत्र प्रचार हइवे मोर नाम॥

जगत् व्यापिया मोर हइवेक कीर्त्ति।
सुखी हइया लोक मोर गाइवेक कीर्त्ति॥

अर्थात् पृथ्वीपर जितने भी नगर, गाँव इत्यादि स्थान हैं, सर्वत्र ही मेरे [श्रीचैतन्यदेव एवं कृष्णके] नामका प्रचार होगा। मेरा यश इस जगत्में सर्वत्र व्याप्त होगा और लोग परम सुखी होकर मेरे यशका गान करके परम आनन्दित होंगे।

यह गौरवाणी श्रीश्रीलप्रभुपादकी लीलामें सम्पूर्णरूपसे सिद्ध हुई है, नितान्त पामरजन भी इसे अस्वीकार नहीं कर सकते। श्रीश्रीलप्रभुपादकी अतिमर्त्त्य-चरितकथाको उनके प्रिय सेवकोंने विभिन्न प्रबन्धोंमें, विभिन्न ग्रन्थोंमें, विभिन्न भाषाओंमें विभिन्न रूपोंमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। ग्रन्थ-विस्तारके भयसे मैं ऐतिहासिक वर्णनसे यहाँ निवृत्त हो रहा हूँ।

हमारे प्रभुवरकी लीलामें प्रधान रूपसे दो विषय लक्ष्यीभूत होते हैं, इनमें एक तो उनके अपने अन्तरङ्ग भजनका विषय—जो कि उनके आश्रितजनोंमेंसे वे ही समझ सके हैं, जिनके अनर्थ सम्पूर्ण रूपसे दूर हो गये हैं। इसका निदर्शन (उदाहरण) है—कुरुक्षेत्रमें मिलित होकर विरह कातर व्रजवधुओंने अखिलरसामृतमूर्त्ति श्रीकृष्णका आकर्षण

करते हुए उन्हें अपने निजस्व स्थान राधाकुण्डमें लाकर श्रीराधाके साथ माध्यह्निक-लीलामें मिलनका प्रयास किया था। राधाकुण्डमें माध्यह्निक-लीलामें सूर्य-पूजाकी छलनावशतः बाहरी लोग सूर्य-पूजाके आभ्यन्तरिक गूढ़ उद्देश्यको जिस प्रकार धारण नहीं पाते, उसी प्रकार श्रील प्रभुपादकी अन्तरङ्ग भजन-लीला-शिक्षाके बाहर जो एक वञ्चनामयी-लीलाका भाव था, वह मुझ जैसे अनेक हतभाग्य जन समझ नहीं सके। श्रीश्रीलप्रभुपादके उपदेशोंमें हम पाते हैं—"माथुर-विरह-कातर-व्रजवासियोंकी सेवा करना ही हमारा परम धर्म है।" विप्रलम्भरस-परिपोषक श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने राधाभावमें विभावित होकर कृष्ण-विरह जनित दिव्योन्माद लीलामें जगन्नाथ-दर्शनसे जिन भावोंको प्रकट किया था, उन्हें श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

ये काले करेन जगन्नाथ दरशन।
मने भावेन, कुरुक्षेत्रे पाञाछि मिलन॥

रथयात्राय आगे यवे करेन नर्त्तन।
ताहाँ एइ पद मात्र करये गायन॥

'सेइ त' पराणनाथ पाइनु।
याहा लागि मदन-दहने झुरि गेनु॥

एइ धूया गाने-नाचे द्वितीय प्रहर।
कृष्ण लञा व्रजे याइ—ए भाव अन्तर॥

एइभावे नृत्यमध्ये पड़े एक श्लोक।
सेइ श्लोकेर अर्थ केइ नाहि बूझे लोक॥

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा।
स्ते चोन्मीलितमालती सुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः॥
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ।
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

(चै॰च॰म॰ १/५३-५८)

[कृष्णने कुरुक्षेत्रमें यज्ञ करके व्रजवासियोंको निमन्त्रण दिया था। गोपियोंने वहाँ जाकर कृष्ण-दर्शन सुख प्राप्त किया था। प्रभुके

अन्तःकरणमें कृष्ण-विरह-भाव उद्दीपित रहता था।] वे जब-जब श्रीजगन्नाथका दर्शन करते, तब-तब कुरुक्षेत्र-मिलनका-भाव उनके हृदयमें उदित होता। श्रीजगन्नाथदेवकी रथ-यात्राके उत्सवके समय श्रीमन्महाप्रभु श्रीराधाजीके भावमें विभावित होकर रथके आगे-आगे नृत्य करते जाते और उस समय एक ही गीत गाते—जिनके लिए मैं अप्राकृत मदन (कामाग्नि) में जली जा रही थी, उन्हीं प्राणनाथको मैंने प्राप्त कर लिया है। इसी भावमें वे दो प्रहर तक नृत्य करते। उनमें यही भाव रहता कि मैं उन्हें (कृष्णको) कुरुक्षेत्रसे ले जा रही हूँ। इस भावसे नृत्य करते समय श्रीमन्महाप्रभु एक श्लोक पढ़ा करते थे, जिसका अर्थ कोई नहीं जानता था—हे सखि! कुमारावस्थामें ही जिसने मेरे मनको हर लिया था, वही सुन्दरवर यहाँ भी उपस्थित हैं। चैत्रमासकी सुहावनी रात्रियाँ भी वही हैं, खिली हुई मालतीकी सुगन्धि भी वही है, वही बढ़ी-चढ़ी शीतल, मन्द, सुगन्धयुक्त कदम्ब-समीर है, मैं भी वही हूँ, तथापि सुरत-लीला-विधिके लिए उपयुक्त रेवा नदीके तीरस्थ अशोक वृक्षके तलेके लिए मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है।

इन पद्योंके अनुभाष्यमें श्रीश्रीलप्रभुपादने कहा है—"श्रीमन्महाप्रभुने राधाभावमें विभावित होकर सुदीर्घ माथुर-विरह-भावको अङ्गीकार करते हुए निरन्तर सम्भोगके पुष्टिकारक विप्रलम्भरसके मूर्त्तिमान प्राकट्यको ही जीवका एकमात्र साधन बतलाया है। श्रीमद्भागवत दशम-स्कन्धके बयासीवें अध्यायमें वर्णित कृष्ण-दर्शन-उत्सुका गोकुलवासिनी व्रजगोपियोंने कुरुक्षेत्रमें स्यमन्त-पञ्चकके ग्रहण-उपलक्ष्यमें जाकर जिस प्रकार हृदयके भावोंका प्रकाश किया था, श्रीगौरसुन्दरके नीलाचलपति-दर्शनमें उन्हीं भावोंका द्वितीय बार अधिष्ठान (प्रकाशन) है। गोपललनाओंने जिस प्रकार कुरुक्षेत्रमें कृष्णके ऐश्वर्यका अपनोदन करके कृष्णको गोकुलके माधुर्यके आस्वादनके लिए ले जानेका प्रयास किया था, उसी प्रकार गौरहरि कुरुक्षेत्ररूप नीलाचल मन्दिरसे कृष्णरूप जगन्नाथदेवको वृन्दावनरूप गुण्डिचा मन्दिरके अभिमुख रथके सम्मुख श्रीगौरसुन्दररूप श्रीमती वार्षभानवीके हृदयके भावोंका गान करके परकीय विहार-स्थली गुण्डिचा ले जाते।"

श्रीश्रील प्रभुपादकी विप्रलम्भमयी लीलाके दर्शनका सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हुआ है, वे राधावन नवद्वीपके मध्यद्वीप एवं गोद्रुममें उनकी राधाकुण्डकी माध्याह्निक लीला–स्फूर्त्ति, कोणार्कके अर्क मन्दिरमें सूर्य–पूजाका भावोद्दीपन, मध्याह्न–कालमें सूर्यकुण्ड जाते हुए माध्याह्निक लीलाके नित्यसिद्ध भावमें विभावित होनेके आदर्श इत्यादिका अपनी आँखोंसे दर्शन करके धन्यातिधन्य हुए हैं।

श्रीश्रील प्रभुपादकी लीलाका और एक दिग्दर्शन है—बाह्य जगत्का लोक–आकर्षण अर्थात् कृष्ण–विमुख साधारण जीवोंकी विमुखता छुड़वाकर कृष्णकी ओर उन्हें आकर्षण करनेकी चेष्टा। जीवोंने मायाकी ओर प्रबल वेगसे अग्रसर होनेके लिए जितने भी पथोंका आविष्कार किया है, कर रहे हैं, और करेंगे, बलदेवाभिन्न मूर्त्ति श्रील प्रभुपादने उन जीवोंका कर्षण करते हुए, अर्थात् उनके हृदयोंको उपयुक्त बनाकर उन्हें उन समस्त पथोंसे हरिभजनकी ओर आकर्षण करनेके लिए उतने ही उपायोंका उद्भावन किया है, यह उनकी भुवनपावनी लीलामें परिस्फुट हुआ है।

श्रीश्रील प्रभुपादसे हम श्रीचैतन्यदेवकी 'दयाशक्ति' के अवताररूपमें भी परिचित हैं। श्रीचैतन्यदेवने एक बार जिस महावदान्यमयी लीलाका प्रकाश करते हुए जीवोद्धारके लिए कृष्णनाम–सङ्कीर्त्तनकी वन्या (बाढ़) लाकर सभीको डुबो दिया था, उसी प्रकार हमारे श्रील प्रभुपाद भी कृष्णकीर्त्तनके अकालसे प्रपीड़ित जगत्में कृष्णकथा–प्रचारके लिए एक अभिनव प्लावन (बाढ़) ले आये थे। हममेंसे अनेक मृदङ्ग–करतालके साथ कीर्त्तनको ही कीर्त्तन मानते हैं और अनेकोंकी धारणा भी है कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु सर्वदा मृदङ्ग–करतालके सहयोगसे ही कीर्त्तन करते थे। श्रीचैतन्यचरितामृत पढ़ते समय परिलक्षित होता है कि—

नानामत ग्राह ग्रस्तान् दाक्षिणात्यजनद्विपान्।
कृपारिणा विमुचैत्यान् गौरश्च सवैष्णवान्॥

(चै॰च॰म॰ ९/१)

अर्थात् बौद्ध–जैन–मायावादादि बहुविध–मतरूप कुम्भी (मगरमच्छ) द्वारा ग्रस्त गजेन्द्र स्थलीय दाक्षिण–देशवासी मनुष्योंको गौरचन्द्रने कृपाचक्र द्वारा उद्धार करके वैष्णव बना दिया था।

पुरीमें 'सार्वभौम-उद्धार', काशीमें 'प्रकाशानन्द-उद्धार' गौर-लीलाकी प्रसिद्ध घटनाएँ हैं। एक ओर जिस प्रकार उन्होंने जगाइ-माधाइ उद्धार किया था तो दूसरी ओर दिग्विजयी पण्डित केशव कश्मीरी एवं सार्वभौमादि महापण्डितोंका, प्रतापरुद्र जैसे राजाओंका, विधर्मी चाँद-काजी एवं पठानोंका भी उद्धार किया था। पुनः श्रीरूप-सनातन, रघुनाथादि अन्तरङ्ग भक्तोंको अपने चरणोंमें आकर्षण करते हुए उन्हें अनर्पितचर कृष्णप्रेम वितरण-लीलाके सहायकके रूपमें स्थापन किया है।

श्रीश्रील प्रभुपादने भी असंख्य असत्-मतोंको निरस्त करते हुए श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित विमल वैष्णवधर्मका आचरणपूर्वक प्रचार किया है। शुद्धभक्तिके प्रतिकूल जगत्में जो दो प्रबल मतवाद प्रचलित थे, उनका उन्होंने शास्त्रयुक्तियों द्वारा विविध रूपोंमें खण्डन किया है। इनमें एक है—'कर्मजड़स्मार्त्तवाद' और दूसरा है 'मायावाद'। श्रील प्रभुपादने स्वरचित 'बङ्गे सामाजिकता' ग्रन्थमें आधुनिक प्रचलित बहुत-से मतवादोंकी आलोचना करके ग्रन्थके उपसंहारमें लिखा है—उपरिलिखित धर्म-सम्प्रदायके भावोंका विचार करनेपर हम देख सकते हैं कि कामराज्यमें मायासे अभिभूत होकर अनन्त चमत्कार तत्त्व [अभिस्पृहणीय श्रीकृष्णत्तत्त्व] वादरूपी गह्वरमें निहित (पड़ा हुआ) है। स्वार्थ, प्रतिष्ठादिसे रहित होनेपर ही वास्तविक कामराज्यका मूर्त्तिमान प्रकाश [परम लावण्यमय श्रीकृष्ण] निष्काम प्रेमराज्यमें सुस्पष्ट रूपसे उदय होता है। उस समय (प्रेमराज्यमें प्रवेश होनेपर) नित्य अनन्त चमत्कार प्रकाशका किसी भी अपेक्षासे (स्वार्थादिसे) परिवर्त्तन, परिवर्जन और परिवर्द्धन करनेके लिए अनित्य मायिक कामसमूह (स्वार्थ, प्रतिष्ठाशादि) को प्रधावित कराना नहीं पड़ता। उस समय जड़ीय साकारका (स्मार्त्तवादका) विनाश करके जड़ीय निराकारकी (शाङ्कर मतानुसार मायावादीकी) प्रतिष्ठा हेतु आत्म-प्रतिष्ठाका दास्य करना नहीं होता। उस समय कामसमूहका भाव अखिल चमत्कारकारीके (श्रीकृष्णके) प्रेम-प्रकाशमें विलीन हो जाता है। [यही अनन्तशक्तिमानका अनन्त-विलास है—भक्तितत्त्व और भगवत्-तत्त्वकी रस-वैचित्री है।] उस समय वर्णगत और धर्मगत [स्मार्त्तगत] समाज एक और अद्वितीय हो जाते हैं। [प्रेमगत राज्यमें वर्णगत और धर्मगत भेद नहीं रहता] उस समय वहाँ संख्यागत [एकत्व विरोधी मायिक संसारगत] द्वित्व

(भेद) के कारण होनेवाले विरोधके परिवर्त्तमें चमत्कारिता मूर्त्तिमती हो जाती है। हेय कामराज्य और उपादेय प्रेमराज्य—दोनों अवस्थाओंमें जीवकी सत्ता रहती है। परम प्रेमकी सत्ताके रहनेके कारण ही जीवसत्ताका होना भी सिद्ध है [अन्यथा जीवसत्ताके अभावमें प्रेमके विषय और आश्रयका अभाव हो पड़ेगा और प्रेम ही अस्तित्वहीन हो जायेगा]।

कामराज्यमें जीवसत्ताकी नित्यवृत्ति स्वार्थ जड़कामवाद है। अतएव यहीं तक कामराज्यका केन्द्र है। जिस समय जीव इस केन्द्रके बाहर आकर अपनी तटस्था अवस्थामें अवस्थितमात्र ही होता है कि परम-प्रेममय (भगवान्) प्रेमवृत्तिसे परिचित जीवको मायारचित कामकी परिचर्यासे मुक्त देखकर पराभक्ति प्रदान करते हैं। जीवको पराभक्तिकी वृत्तिका परिचय प्राप्त होनेपर उसे पुनः तटस्थाशक्तिमें आकर परम निर्वाणमें अर्थात् सायुज्य मुक्तिमें बद्ध नहीं होना पड़ता। जीव भगवत्-प्रेमकी अनुक्षण सेवारूप नित्यवृत्तिमें नित्य प्रकाशित होने लगता है।

चिन्मय जीवके इस परम प्रेमराज्यमें जिन्होंने प्रापञ्चिक-कामसे जड़ीभूत जीवको उसकी क्षुद्र कामबुद्धिसे पृथक् रूपमें प्रकट कराया है, जिन्होंने विवदमान (माया-चित्-जगत्) अनन्तछायाशक्तिसे [चित्-जगत्में माया पीछे रहती है] पृथक् प्रेमशक्त्याधार विचित्र अविरुद्ध प्रेमविग्रहका प्रदर्शन किया है, उनका अनन्याश्रय परमसौभाग्यवान जीवका एकमात्र धर्म है और वही परिचय ही एकमात्र वर्ण है। कामजवर्ण और कामजधर्मसे निवृत्त होनेपर कामजप्रश्नकारी जीवके निकट उन्होंने लब्धस्वरूप होकर (परमहंस अथवा 'मुक्त' स्वरूप होकर) लब्धवृत्ति (प्रेम-परिचय) क्रमसे वर्ण एवं धर्मके मूलीभूत अद्वितीय जीववर्णमें प्रतिष्ठित होकर इस प्रकारसे निज वर्ण-धर्मगत समाजका परिचय दिया है—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो,
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यति-र्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्द पूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयो-र्दास-दासानुदासः॥

(पद्यावली ६३ श्लोक)

अर्थात् मैं [शुद्धजीवात्मा] विप्र (ब्राह्मण) नहीं हूँ, नरपति (राजा) भी नहीं हूँ, वैश्य अथवा शूद्र भी नहीं हूँ, मैं वर्ण-धर्मान्तर्गत नहीं हूँ—गृहस्थ भी नहीं हूँ, वानप्रस्थ अथवा यति भी नहीं हूँ, किन्तु जो उन्मीलित (अर्थात् नित्य स्वतः प्रकाशमान) निखिल परमानन्द पूर्णामृतसिन्धु गोपीभर्त्ता श्रीकृष्ण हैं, मैं उनके चरणकमलोंका दास-दासानुदास कहकर अपना परिचय देता हूँ।

सात्वत सम्प्रदाय-चतुष्टयके शुद्धद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तोंकी असम्पूर्णता पूर्ण करके श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने वेदान्तके प्रकृत तात्पर्यका प्रकाशन करते हुए जिस अचिन्त्य-द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेदरूप सार्वजनिक नित्य सिद्धान्तका वर्णन किया है, श्रील प्रभुपादने उसका भी 'बङ्ग सामाजिकता' ग्रन्थमें संक्षिप्त रूपमें इस प्रकार वर्णन किया है—"भगवान् ही एकमात्र परम-प्रेमके आधार हैं। भगवान्का स्वरूप नित्य प्रेममय है। भगवत्ता और जीवत्व नित्य प्रेम-प्राकट्यके कारण नित्यसिद्ध हैं। जीव अणुचैतन्य है। चिद्धर्म ही प्रेम है। चैतन्यधर्मके कारण जीवकी स्वतन्त्रता है। प्रेमराज्यमें जीवकी स्वतन्त्रताकी क्रिया ही भगवत्-दास्य अथवा भक्ति-प्राप्ति अथवा प्रेम-प्राकट्य है। तटस्थ अवस्थामें प्रेम उदित न रहनेपर स्वतन्त्र-धर्म-क्रममें जीवका स्थूल एवं सूक्ष्म दो प्रकारका कामज (इच्छा-जनित) आवरण घटित होता है। इस आवरणसे मुक्त होनेपर जीव कामके हाथोंसे विमुक्त होकर प्रेमराज्यमें नित्य प्रीति-विग्रह प्राप्त करता है।

"भगवान् अनन्त शक्तिमान हैं। स्वशक्त्याधिष्ठित भगवान्की नित्य प्रकटलीलामें अनन्त विचित्रता भी नित्य है। भगवत्ताके नित्यत्वमें जीवत्व नित्य है। शक्तिकी विचित्रताके कारण परमतत्त्व नित्य पाँच भेदोंमें अवस्थित होकर भी एक एवं अद्वितीय है—ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म। विभुचैतन्य—ईश्वर हैं; अणुचैतन्य—जीव हैं; जड़-ब्रह्माण्डको उत्पन्न करनेवाली—प्रकृति है; विभुचैतन्यका प्राकट्यात्मक स्वरूप है—काल [काल उनसे प्रकट हुआ है] और अणुचैतन्यकी प्रकट वृत्ति है—कर्म। काल एवं कर्म अप्राकृतिक एवं प्राकृतिक राज्य-द्वयमें क्रमशः परम चमत्कार और परमहेय रूपमें प्रतिष्ठित हैं। ईश्वर प्राकृत आवरणके अन्तर्गत होनेके योग्य नहीं है। जीव

अणुत्वके कारण चिन्मय होकर भी ताटस्थ्य-धर्म-क्रमसे प्रकृतिवशताके योग्य है। शक्ति त्रिविधा है, त्रिविधा होकर भी स्वरूपशक्तिके आश्रयसे प्रकटित, स्थित और उसीमें (स्वरूपशक्तिमें) ही अवस्थित है। भगवान्‌की अन्तरङ्गाशक्तिसे भगवान्‌का चिन्मय विग्रह, चिन्मय धाम और चिन्मय नित्य व्यूहसमूह प्रकटित हैं। बहिरङ्गाशक्तिके परिणामसे इस अनित्य जड़-जगत्‌की सत्य-स्थिति है। अन्तरङ्गाशक्तिसे स्वरूपशक्ति और तद्रूप वैभवशक्ति प्रकटित है। बहिरङ्गाशक्तिमें सूक्ष्म एवं स्थूल जगत् परिणत है अर्थात् वे दोनों इस शक्तिके परिणाम हैं। अन्तरङ्गा और बहिरङ्गा—इन दोनों शक्तियोंके तटपर गणितागत सूत्रस्थानपर [यह एक क्षेत्रगत विचार है] तटस्थाशक्ति है; वहीं जीवके नित्य प्राकट्यका केन्द्र है। जीवका आत्मधर्म स्वातन्त्र्यवशतः जब बहिरङ्गाशक्तिका आश्रय करता है तो काम उसे बहिरङ्गाशक्ति-स्वरूपमें उपलब्धि कराता है। भगवत्-प्रेमके कारण जब कामका त्याग हो जाता है, तब जीवके निकट अन्तरङ्गाशक्ति नित्य प्रकटित होती है। जीवकी वर्त्तमान बद्धावस्थामें बहिरङ्गाशक्तिसे विकृत असीम स्थूल ब्रह्माण्डके साथ तुलनामें उसका 'तृणादपि सुनीचत्व' भाव ही मङ्गलकर है। मोक्ष, कामादि द्वारा उसकी क्षणिक ताटस्थ्य स्वरूपकी उपलब्धि सम्भव होनेपर भी बहिरङ्गाशक्ति-स्वरूपा आसक्ति चित्-राज्यमें जानेकी प्रतिबन्धकताका आचरण करती है। आसक्तिरूप मायाके निकटसे विदा (मुक्ति) सिद्धान्तित [सिद्ध] होनेपर निष्काम प्रेमका प्राकट्य ही जीवकी नित्य परमवृत्ति है। जड़ीय-कामनाओंके कारण जीव दुःखनिवृत्तिरूप सायुज्यमुक्तिकी प्रेमरूपमें कल्पना करते हैं। वस्तुतः काम और प्रेम विरुद्ध-जातीय पदार्थ हैं। नरक-परिहार अथवा सायुज्य मुक्तिकी कामनाएँ भी मायिक क्रियाएँ हैं। उनमें प्रेम नहीं, अभावनिवृत्तिजनित काम रहता है। भक्तके निकट स्वरूपशक्तिका मूर्त्तिमान रस नित्य प्रकटित रहता है; अतएव उनमें [अन्य कोई] कामना नहीं रहती है। भक्तका भगवत्-विरहजात प्रेम, कामी जीवके लिए अभाव रूपमें कल्पित होता है, तथापि भगवत्-विरह ही प्रेममय भक्तके परमप्रेमका परिचय है। इस स्थलपर कामी व्यक्ति भगवत्-प्रेमकी काम विनाशकारी रूपमें समर्थता अनुभव करके भी वह इस भगवत्-प्रेमको कामरूपमें

ही निर्णय करता है। कामनारूपा माया विरह-जनित अवस्था द्वारा जीवके नित्यप्रेमका आच्छादन नहीं कर सकती। वस्तुतः वह माया प्राकृत द्रष्टाके निकट उच्छलित प्रेमका ही आवरण करती है। भगवन्नाम और भगवान् नित्य और एक वस्तु हैं। भक्त अनुक्षण नामाविर्भावसे [नित्य-निरन्तर नामप्रभुके प्राकट्यसे] प्राकृत कामकी उपासनाका अवसर ही प्राप्त नहीं करता। कामज-दशापराधसे रहित होकर नाम उच्चारित होनेमात्रसे ही नित्य नूतन परम-चमत्कार मूर्त्तिमान महारस (*रसो वै सः*) प्रेम—रूप, गुण, लीला-विशेषमें नित्य प्रकट होकर हेयत्वका अवसर नहीं देता। जिस समय तक प्रतिष्ठाशा एवं काम रहते हैं, तब तक नाम और भगवान्में काम-जनित भेद-बोध रहता है। अतएव नाम-नामी, चिद्विग्रह-चिद्विग्रही इत्यादि भेद भगवत्-विग्रहमें पृथक् रूपसे दिखायी देनेपर कामके हाथसे मुक्ति नहीं हुई है—ऐसा जानना होगा। इतना ही नहीं, महारसके नित्य स्वकीय भेद दर्शन करनेपर भी कामकी गन्ध रहती है।"

वर्त्तमान युगमें पण्डित समाजमें 'वेदान्त' ग्रन्थ कहनेसे निर्भेद-ज्ञान-प्रतिपादक-विचार-ग्रन्थ ही निर्दिष्ट होता; किन्तु हमारे श्रीश्रील प्रभुपादने अपने असामान्य, अलौकिक पाण्डित्य प्रतिभा द्वारा समग्र विश्ववासियोंको बतलाया है कि भक्ति ही वेदान्तका एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है एवं श्रीचैतन्यदेवका चरितामृत ही सहज अथवा अकृत्रिम वेदान्त-निर्यास (वेदान्तसार) है। श्रीचैतन्यदेव, उनके पार्षद-भक्त और श्रीकृष्ण-चैतन्याम्नायमें समस्त भक्तोंका चरित्र इस प्रकारसे है जैसे स-भाष्य ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्त [वेदान्त उनके चरित्रोंमें जीवन्त है]।

वर्त्तमान युगमें पण्डित समाजमें अनेककी धारणा है कि श्रीमद्भागवतादि पुराण-ग्रन्थ वेदके परवर्त्तीकालमें प्रकाशित हुए हैं, इस कारण उनका प्रतिपाद्य विषय और उनका प्रतिपाद्य धर्म आधुनिक है, परन्तु हमारे श्रील प्रभुपादने पण्डित-मण्डलीके निकट घोषणा की है—श्रीमद्भागवतादि सात्वत-पुराणोंका प्रतिपाद्य 'विषय' एवं 'धर्म' संहितादि अति प्राचीन ग्रन्थोंसे भी पूर्वसे अनादि सत्य रूपमें प्रचारित रहे हैं। उन्होंने यह भी दिग्दर्शन किया है कि श्रीमन्महाभारत एवं श्रीमद्भागवतादि पुराण-ग्रन्थोंका प्रतिपाद्य विषय जगत्के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋक-संहिताके

प्रकाश-कालसे भी बहुत पहलेका है। पुराणके आकर ग्रन्थ (मूल वेद) जिस भाषामें लिखे गये थे, उन समस्त वैदिक ग्रन्थोंमेंसे अनेक ग्रन्थ कालक्रमसे तिरोहित हो गये हैं। पुराण-रचना-कालके परवर्त्तीकालमें अनादृत होनेके कारण भारतीय प्राचीन ऐतिह्यके आकर वे सब ग्रन्थ अब नितान्त दुर्लभ हो गये हैं। हमारे श्रीगुरुदेवने वर्त्तमान भागवत-विमुख-युगमें श्रीमद्भागवतकी सर्वश्रेष्ठताका जिस प्रकारसे प्रचार किया है, वह उनका एक विशेष वैशिष्ट्य है।

हमारे इन श्रीश्रील प्रभुपादने शब्दकी अविद्‌वद्‌-रूढ़िसे (अविद्वानों या अभक्तों द्वारा प्रचलित परम्परासे) प्लावित विश्वमें शब्दकी विद्वद्‌-रूढ़ि (विद्वानों या भक्तों द्वारा प्रचलित परम्परा) का प्रचार करके एक महाविप्लव (क्रान्ति) की उद्‌घोषणा की थी। जगत्‌की समग्र मानव जातिके निकट 'परोपकार', 'परार्थिता', 'नीति', 'धर्म', 'सेवा', 'मुक्ति', 'साधना', 'योग', 'भक्ति', 'प्रेम', 'विद्या', 'सत्य', 'समन्वय', 'उदारता', 'वैष्णवता', 'दैन्य', 'सुख', 'दुःख', 'उन्नति', 'अवनति', 'स्वदेश-प्रियता', 'स्पृश्यता', 'अस्पृश्यता', 'प्रकृतिजन', 'हरिजन' इत्यादि शब्दमूलक परिभाषाएँ बहिर्मुखताकी जिन समस्त वृत्तियोंको लेकर प्रचारित हैं, हमारे श्रील प्रभुपादने इन समस्त शब्दोंके उद्दिष्ट विषयोंको एकमात्र कृष्ण-सम्बन्धसे निर्बन्ध करनेका आदर्श आविष्कार करके एक विप्लवकारी वाणीको प्रकट किया है।

हमारे श्रील प्रभुपादने हमें शिक्षा दी है—"श्रीगौरहरिके कैङ्कर्यसे ही व्रजकी प्राप्ति होती है। गौरपदाश्रय और कृष्णसेवा एक ही बात है। गौर-विग्रह राधाकृष्ण मिलित तनु है। एक ही वस्तुको कम-ज्यादा माननेसे नहीं चलेगा। गौरसुन्दरकी दया अत्यधिक है, कृष्णचन्द्रकी मधुरिमा अतुल्य है।"

गौर-निजजन श्रील प्रभुपादने हमें बतलाया है कि वैकुण्ठकी अपेक्षा मधुपुरी—श्रीधाम नवद्वीप-मायापुर श्रेष्ठ है, उससे गौरलीलाकी रासस्थली श्रीवास-आङ्गन श्रेष्ठ है, उससे गोवर्द्धनस्वरूप श्रीचैतन्यमठ श्रेष्ठ है एवं उससे श्रीराधाकुण्ड व्रजपत्तन श्रेष्ठ है। व्रजपत्तन श्रीराधाकुण्डके तटपर श्रीराधाकी प्रिय सखियोंके विभिन्न कुञ्ज और श्रीराधागोविन्दकी माध्यह्निक-लीला-विचारका अद्भुत वैशिष्ट्य है। पुनः

व्रजमण्डल और व्रजपत्तनमें तलवकार (केनोपनिषद) उपनिषदके 'तद्वन' (केनोपनिषद ४/५) [वह ब्रह्म ही वन-वननीय अर्थात् सम्भवनीय है] शब्दके तात्पर्यकी व्याख्या करके श्रील प्रभुपादने द्वादश रसात्मक, द्वादश व्रजवन एवं नवधाभक्ति रसात्मक नवद्वीप-वनकी कथाका प्रदर्शन किया है। उन्होंने केनोपनिषदके *'तद्वनमित्युपासितव्यम्'* [उनकी 'वन' इस नामसे उपासना करनी चाहिये] मन्त्रमें कामदेव (अप्राकृत कामदेव) की उपासनाके विषयमें भी बतलाया है, इससे उनके गौर नित्य-जनत्वका वैशिष्ट्य भी प्रकाशित हुआ है।

श्रील प्रभुपादके श्रीनाम, रूप, गुण, परिकर, वैशिष्ट्य एवं लीला—सभी कुछ उनके राधा-नित्यजनत्वको ही प्रकाशित करते हैं। उनका—'वार्षभानवी-दयितदास' नाम, श्रीरूपका मनोभीष्ट-परिपूरणकारी—अप्राकृतरूप, गुण-मञ्जरीकी सेवा-पराकाष्ठाके उपयोगी गुण, भक्ति विनोद-वाणी कुञ्जका सेवामय परिकर-वैशिष्ट्य एवं कुण्डेश्वरीकी नित्यसेवार्थ उनकी प्रियतमा श्रीललिताके कुण्डभागके स्वानन्दसुखदकुञ्जमें नित्य हरिकीर्त्तन-प्रकाशादि महावदान्य लीलाओंने उनके नित्य राधाजनत्वके गम्भीर एवं गूढ़भावको प्रकाशित कर दिया है।

श्रील प्रभुपादने हमें यह भी बतलाया है कि जिस प्रकार पाञ्चरात्रिक विचारमें पाञ्चरात्रिक दीक्षा-प्राप्तिके बाद द्विजत्व प्राप्त होता है, उसी प्रकार मधुररतिमें रागमार्गीय साधककी गुरुकृपासे जो स्वरूप-सिद्धि है, वही गोपी-गर्भमें जन्म-ग्रहण है। पुरुषाभिमान-परित्यागसे जब किसीकी नित्यसिद्ध अप्राकृत मधुररति प्रकाशित होती है, उस समय वह निज अप्राकृत-सेवामय-प्रकृति-स्वरूपसे ज्ञात होकर अप्राकृत गोपीके आनुगत्यमें कृष्ण-सेवा करता है। उन्होंने हमें और भी बतलाया है कि गोपीगर्भ-जात न होनेपर तारुण्यामृत, कारुण्यामृत तथा लावण्यामृत स्नानका विचार नहीं आता।

श्रील प्रभुपादने हमें बतलाया है कि श्रीकृष्ण पक्षपातित्वकी अपेक्षा श्रीराधाका पक्षपातित्व अर्थात् सर्वश्रेष्ठ सेविकाका पक्षपातित्व निरपेक्षताकी (पक्ष-राहित्य होनेकी) अपेक्षा अनन्तगुणा श्रेष्ठ है। सेव्यकी अपेक्षा सेवकका पक्षपातित्व करना सेव्यकी और अधिक सेवाके अनुकूल होता है।

श्रील प्रभुपादने श्रीराधा एवं सखियोंकी अनुगामिनी मञ्जरियोंमें परस्पर सम्बन्ध तात्पर्य भी श्रीरूपानुग-विचारके द्वारा प्रदर्शन किया है। यद्यपि मञ्जरियाँ श्रीराधाके निरन्तर दास्यकी कामना करती हैं, तथापि दूसरे सेवक मञ्जरियोंको कभी भी श्रीराधाकी श्रीचरणसेवामें नियुक्त करनेकी दाम्भिकताका प्रदर्शन करके मञ्जरियों तथा श्रीराधाके श्रीचरणोंमें अपराध नहीं करेंगे। श्रीराधा और मञ्जरियाँ दोनों ही अप्राकृत आश्रय जातीय वस्तु हैं। श्रीराधा स्वयंरूपा मूल आश्रयविग्रह हैं, मात्र इतना ही पार्थक्य है। इसी कारण श्रीराधाके चरणोंमें अथवा कृष्णशक्तियोंके चरणोंमें कभी भी तुलसी प्रदान नहीं करनी चाहिये।

श्रीश्रीलप्रभुपादने एक बार श्रीरूप-शिक्षास्थलीपर आधुनिक युगके युक्तिवादियोंको भी उनकी ही उपयोगी परिभाषामें श्रीराधागोविन्दके भजनकी सर्वोत्तमताको बतलाते हुए—"True and proper adjustment for being dovetailed with Krishna" इसे मानव-जीवनके चरम कर्त्तव्यके रूपमें निर्देश किया है। वैज्ञानिकोंकी परिभाषामें "True and proper adjustment" है—'अकृत्रिम सुसंस्थिति' एवं वही गौड़ीय-वैष्णव-दर्शनकी परिभाषामें सम्बन्ध-अभिधेय है। Adjustment को श्रीरूपकी भाषामें युक्त-वैराग्य कहा जा सकता है। इस adjustment का आधिक्य अथवा न्यून होनेपर *'च्यवते परमार्थतः'* अर्थात् परम प्रयोजनसे विच्युति हो जाती है। Dovetailed होना (कृष्णसे युक्त होना) ही श्रीमद्भागवतोक्त (१२/१३/१२) *'कैवल्यैक प्रयोजनम्'* [प्रेम ही केवल एक प्रयोजन] है। यह कैवल्य व्रजलीलाकी तुङ्गविद्या (श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती) द्वारा कथित *'कैवल्यं नरकायते'* (कैवल्य नरकके समान प्रतीत होता है) नहीं है, परन्तु उनकी प्रेममयी सेव्या ईशा (ईश्वरी राधिका) का केवल प्रेम है। श्रुतिमें *'आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः'* मन्त्रोक्त 'आहार-शुद्धि' शब्द द्वारा adjustment अथवा सुसंस्थितिको लक्ष्य किया गया है। इस सुसंस्थिति द्वारा सत्त्वशुद्धि अर्थात् वासुदेवका आविर्भाव होता है। अखिलरसामृतमूर्त्ति, माध्यमिक-विग्रह श्रीकृष्णके साथ adjustment होनेपर अपरापर रस विग्रह—मत्स्य, कूर्मादि स्वांश तत्त्वकी सेवा श्रीकृष्णमें क्रोड़ीभूत होकर सेवकको सर्वोत्तम अवस्थामें ले आती है।

वेदान्तसूत्रकार श्रीमद्वेदव्यासने चार अध्यायोंसे समन्वित वेदान्तसूत्रमें जिस सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन तत्त्वका विषय वर्णन किया है, गौड़ीय वेदान्ताचार्य भाष्यकार श्रीमद् बलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्यमें जिसे परिस्फुट किया है एवं हमारे श्रील प्रभुपादने इन समस्त तथ्योंको अपनी शत-शत वाणियोंमें, शत-शत लेखनियोंमें उसका अनुपम वैशिष्ट्यके साथ कीर्त्तन किया है। उनके इस असंख्य-दान-वैशिष्ट्यमें 'सम्बन्ध विषयक', 'अभिधेय विषयक' एवं 'प्रयोजन विषयक' दान-वैशिष्ट्यका उल्लेख किये बिना रहा नहीं जा सकता। उन्होंने 'सम्बन्ध विषयक' दानमें 'अधोक्षजका' एवं उससे उन्नत अधिकारमें 'केवल' अथवा 'अप्राकृत' के विषयमें हमें बतलाया है।

वैशेषिक, न्याय, सांख्य, पातञ्जल, पूर्व मीमांसा इत्यादि प्रत्यक्ष और परोक्ष दर्शनमें आचार्योंने सम्बन्ध विषयमें जो दान दिया, उस दानकी गति चतुर्दश ब्रह्माण्ड पर्यन्त है और वह अश्रौत है। 'प्रच्छन्न बौद्धाचार्य' श्रीशङ्करने जिस अपरोक्ष दानके विषयमें बतलाया है उस अपरोक्षानुभूतिके दानकी सीमा—निर्गुण विरजा अथवा उससे ऊर्ध्व क्लीव ब्रह्मलोक पर्यन्त है। वह भी वस्तुतः श्रौतबुव अश्रौत दान है। प्रत्यक्ष (न्याय, वैशेषिक आदि), परोक्ष (मीमांसा, पातञ्जल, शाङ्कर-भाष्य, सामवेदकी जैमिनीय शाखा), अपरोक्ष (क्लीव ब्रह्मकी अनुभूति) दान—ये तीनों स्वरूप-सम्बन्ध-रहित मनोधर्म विषयक हैं। [मनोधर्मसे श्रुतिका तात्पर्य पूर्ण नहीं होता है।]

हमारे श्रील प्रभुपादका दान आरम्भ होता है अधोक्षजके श्रीचरणतलका आश्रय करके। इस अधोक्षज-दानकी गति आरम्भ होती है—परव्योमसे जहाँ श्रुतिका गान आरम्भ होता है। अतएव यह श्रौत-दान है।

यह अधोक्षज (मनादि इन्द्रियोंसे अतीत) वस्तु अर्चा, अन्तर्यामी, वैभव, व्यूह और पर—इन पाँच प्रकारसे प्रकाशित है। सेवककी सेवावृत्तिके क्रमविकासके अनुसार यह आत्म-प्रकाश करती है।

श्रीगौर-निजजन श्रील प्रभुपादने श्रीविष्णुस्वामी एवं तत्सम्प्रदाययुक्त श्रीश्रीधर स्वामीपाद, श्रीरामानुज, तत्त्ववादगुरु श्रीमन्मध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य इत्यादि पूर्वाचार्योंके अधोक्षज-दानकी अपेक्षा श्रीस्वरूप-रूपानुगी

भक्तिविनोद-धारामें आगत 'केवल अथवा अप्राकृत' दानका उत्कर्ष एवं वैशिष्ट्य प्रदर्शन किया है। प्राचीन पूर्वाचार्योंका दान परव्योमके निम्नार्द्ध (अर्थात् वैकुण्ठके निम्न आधे भागका) दान है, परन्तु परव्योमके उत्तरार्द्ध—केवल अथवा अप्राकृत राज्यका दान-उज्ज्वल रसकी आचार्या श्रीमती राधिकाके भावका अङ्गीकार करनेवाले श्रीगौरसुन्दरकी, एकमात्र भक्तिरसामृतदाता श्रीरूपगोस्वामी प्रभुकी एवं उनके निजजनोंकी कृपासे ही लभ्य होता है। इसी कारण हमारे श्रीश्रील प्रभुपादने सर्वक्षण यही गीत हमारे निकट सङ्कीर्त्तन किया है—

आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः।
श्रीमद्रूप पदाम्भोज धूलिः स्याज् जन्मजन्मनि॥

अर्थात् मैं दाँतोंमें तृण धारण करके पुनः-पुनः यही याचना करता हूँ कि मैं जन्म-जन्मान्तरमें श्रीमद्रूपगोस्वामीके चरणकमलोंकी धूल बनूँ।

श्रील प्रभुपादने 'अभिधेय विषयक' दान-वैशिष्ट्य विषयमें हमें बताया है कि भोग अथवा कर्म—जो बुभुक्षा नामसे परिचित हैं, त्याग अथवा ज्ञान—जो मुमुक्षा—मायावाद नामसे विदित हैं और अष्टाङ्गयोग—जो सिद्धि—वाञ्छा नामसे कीर्त्तित है, इन्हें कोई-कोई अभिधेय अथवा उपाय (साधन) रूपमें प्रचार करते हैं, परन्तु उन सबका फल आत्म-वञ्चना अथवा कैतव है। पृथ्वीकी समस्त वस्तुओंको एकमात्र भगवत्-सेवामें ही नियोजित करना होगा। भोग अथवा त्यागमें जीवका अधिकार नहीं है। विश्वके एकमात्र भोक्ता हैं—व्रजेन्द्रनन्दन, आश्रय-विग्रहके आनुगत्यमें आत्म निक्षेपपूर्वक (अर्थात् पूर्ण शरणागतिके साथ सर्वस्व समर्पण करते हुए) आश्रय समाश्लिष्ट विषयकी (राधालिङ्गित विग्रह श्रीश्यामसुन्दरकी) सेवामें समस्त द्रव्योंका विनियोग (सेवामें लगा देना) जीवका स्वरूपधर्म है। यह स्वरूपधर्म ही अभिधेय अथवा 'भक्ति' है। यह वैधी अथवा रागानुगा भेदसे दो प्रकारकी है। नाम अथवा वाणीके श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणादि द्वारा इस अभिधेय-भक्तिका याजन होता है। वैधीभक्तिमें श्रीरूप-कथित युक्त-वैराग्य-आश्रयके उपदेशकी उन्होंने हमें सर्वदा ही शिक्षा दी है। रागानुगाभक्तिके निदर्शनस्वरूपमें *'परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु'* [उपपतिमें मनका नियोग करनेवाली नारीका

चित्त घरके कार्य करते हुए उसीमें लगा रहता है]—श्रीमन्महाप्रभुके मुखसे निःसृत इस वाक्यको भी जानना चाहिये।

श्रीगौरसुन्दरने श्रीरूप-शिक्षामें जिस 'पञ्चरात्र' और 'भागवत'—इन दोनोंको भगवत्-भक्तिका पथ बतलाया है, श्रील प्रभुपादने इन दोनों पथोंका अपूर्व चित्-समन्वय किया है। पञ्चरात्र-पथमें जो श्रीमन्दिर-निर्माण, श्रीविग्रह-अर्चन एवं अर्चन-विषयक समस्त वैभव-विस्तार है, वह सान्तर अर्थात् व्यवधान युक्त है। इस मतमें आनुष्ठानिक सेवा निरन्तर नहीं की जा सकती, किन्तु भागवत-पथमें श्रीहरिके श्रीनाम, रूप, गुण, परिकर एवं लीलादिका विप्रलम्भ रसमें निरन्तर श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण किया जा सकता है। *'बहुभिर्मिलित्वा यत् कीर्त्तनं तदेव सङ्कीर्तनम्'* [बहुत लोग मिलकर जो कीर्त्तन करते हैं, वही सङ्कीर्त्तन है], *'परं विजयते श्रीकृष्ण-सङ्कीर्तनम्'* [श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन परम (विशेष) रूपसे विजयी हो] इस श्रीगुरु-गौराङ्गकी वाणीको ही श्रीगौड़ीय मठका एकमात्र उपास्य जानकर श्रील प्रभुपादने श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन विग्रह श्रीगौरसुन्दर प्रकटित चेतोदर्पणमार्जनादि सप्तजिह्वायुक्त (१) चेतोदर्पण मार्जनम्, (२) भवमहादावाग्नि-निर्वापणम्, (३) श्रेयः कैरवचन्द्रिका वितरणम्, (४) विद्यावधूजीवनम्, (५) आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदम्, (६) पूर्णामृतास्वादनम्, (७) सर्वात्मस्नपनम् रूप सङ्कीर्त्तन-यज्ञाग्निकी आराधनाके लिए पाञ्चरात्रिक क्रियाको क्रमशः मङ्गलके उद्देश्यसे उत्साह प्रदान किया है। [इससे कुसंस्कार भी सङ्कुचित होंगे]। श्रील प्रभुपादने पञ्चरात्र एवं भागवतका अपूर्व समन्वय करते हुए कहा है कि अर्चन कीर्त्तनके अनुगत है और यह भी बतलाया है कि कीर्त्तनकी सेवा अथवा आनुगत्य करना और ह्लादिनी-आश्रय-विग्रहकी सेवा अथवा आनुगत्य करना—इसका पाञ्चरात्रिकोंको अनुक्षण लक्ष्य रखना चाहिये।

श्रील प्रभुपादके 'प्रयोजन-विषयक' दानका वैशिष्ट्य भी अभूतपूर्व तथा अद्वितीय है। प्रयोजन दो प्रकारका है—सकैतव और अकैतव। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी अभिलाषाओंसे युक्त दान कैतवपूर्ण है—इसे श्रीमद्भागवत और पूर्वके सात्वत आचार्योंने वर्णन किया है। श्रीगौरसुन्दरने और तदनुगत गोस्वामीवृन्दने भी धर्म, अर्थ, काम और

मोक्षाभिसन्धिमूलक दानको सर्वतोभावसे निन्दित किया है। जिस युगमें 'भोग' ही भक्ति है, इन्द्रिय-तर्पण ही 'प्रेम' है, क्षुद्र जीव 'नारायण' हैं, देह 'आत्मा' है, देहात्मवाद 'सेवा' है, कपटता 'सत्यता' है, अपस्वार्थपरता 'उदारता है, लोकवञ्चना 'धर्मका प्रतीक' है और *'यत मत तत पथ'* नामसे एक कैतवगर्भ (कपट) मतवादने आन्तर्जातिक [अन्तर्राष्ट्रीय] ख्याति अर्जन करके बहिर्मुख मानवके मनपर विपुल प्रभावका विस्तार किया है, ऐसे युगमें भी हमारे श्रील प्रभुपादने प्रोज्झित-कैतव [त्यक्त कपट] भागवत-धर्मकी विजय-वैजयन्तीको प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी दिशाओंमें फहराया है। उन्होंने अपने आचार और प्रचारके द्वारा हमें यही बतलाया कि विषय-विग्रह और आश्रय-विग्रहके परस्पर उद्दीपनके कारण मिलनमें रस उद्भूत होता है और उस मिलनके उपकरणस्वरूप तदनुग (मञ्जरी) रूपमें आश्रयभेदका [आश्रय भिन्न राधासे इतर मञ्जरियोंका] जो आश्रयसे अभिन्न सुख है, वही हमारा एकमात्र आराध्य है। (यह समस्त विषय श्रीगौड़ीय मठसे प्रकाशित साप्ताहिक 'गौड़ीय' पत्रिकामें मुद्रित प्रबन्धादिके आश्रयसे प्रस्तुत किया गया है।)

परमाराध्यतम श्रीश्रीलप्रभुपादकी असंख्य वैशिष्ट्य-श्रीमें हम साधारण रूपसे 'अष्टोत्तरशतश्री' १०८ का गान करते हैं। उन्हीं अष्टोत्तरशतश्री श्रील प्रभुपादकी महिमा-सूचक श्री-गणोंके विषयमें श्रीगौड़ीय मठके श्रीमन्दिरके गात्र-प्रस्तरफलक पर अङ्कित है और साप्ताहिक 'गौड़ीय' पत्रमें भी मुद्रित हुआ है, इसे हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रभुपाद

—अर्चन-प्रधान पञ्चरात्र एवं कीर्त्तन प्रधान भागवतके समन्वय गुरु।

—अविद्वद्-रूढ़ि-प्लावित विश्वमें शब्दकी विद्वद्-रूढ़िके प्रचारकवर।

—*'कीर्त्तनीयः सदा हरिः'*—श्रीचैतन्यवाणीके मूर्त्तविग्रह।

—श्रुतेक्षित भक्तिसिद्धान्त-कीर्त्तन प्रचारकवर।

—श्रीगौर-किशोर-विनोद-मनोभीष्ट संस्थापक।

—सार्वजनीन, सार्वत्रिक और सार्वकालिक परधर्मके सर्वश्रेष्ठ आचार्य।

—गौर-धाम, गौर-नाम एवं गौर-कामके सर्वश्रेष्ठ सेवक और परिपूरक।

—पारमहंस्य दैव-वर्णाश्रम धर्मके मर्यादा-संस्थापक।

—कार्ष्णभजन-विभजन प्रयोजनावतार।

—श्रीस्वरूप-रूप-सिद्धान्त साम्राज्यके प्रधान सेनापति।

—माधुर्य-औदार्य प्रेममय तनु।

—वैधमार्गके आदरकारी एवं रागमार्गके अनुशीलनकारी शिक्षक।

—रागमार्गमें श्रीराधागोविन्दकी सेवा-विरोधीके फल्गुत्वके प्रचारक।

—श्रीराधाकृष्ण-सेवामें पारतम्य-धारणा-विहीनकी सङ्कीर्णताके प्रदर्शक।

—श्रीजीव प्रभुकी सेवाके आदर्शमें जीवकी अधिकतर प्रयोजनीयता-प्रदर्शनकारी।

—श्रील रघुनाथकी सेवामें अधिकतर आदरयुक्त अनुशीलनकारी।

—शुद्ध-सङ्कीर्त्तनमय हरि-गुरु-वैष्णव-स्मृत्युत्सवके प्रचारकारी।

—श्रीमद्भागवत-वेदान्त-श्रौतभाष्य-वैष्णव-सार्वभौमकोष-निर्माणकारी।

—श्रीचैतन्य-गौड़ीय प्रतिष्ठान और सार्वकालिक हरि-गुरु-वैष्णव सेवा चैतन्यमय सेवकमण्डलीके प्रकटनकारी।

—सरस्वतीपति-तीर्थमें (श्रीधाम मायापुरमें एवं श्रीनवद्वीपधाममें) परसरस्वती पीठमें (श्रीचैतन्य मठमें) परसाहित्य (पराविद्या अर्थात् भक्ति-साहित्य)—ऐतिह्य—(परम्परागत) सम्प्रदाय-वैभव-भक्तिशास्त्र—वेदान्त-एकायनासनके (पाञ्चरात्रिक-भागवतीय परम्पराके समन्वयकारी) प्रतिष्ठाता।

—श्रीमद्भागवत-प्रदर्शनी-प्रकटनकारी।

—श्रीगौड़मण्डल-नवद्वीपमण्डल-परिक्रमाके प्रवर्त्तनकारी।

—श्रीक्षेत्रमण्डलमें कृष्णानुसन्धान-लीलादर्श-प्रकटनकारी।

—नामापराध, धामापराध, सेवापराध, गुर्वापराध, वैष्णवापराधके स्वरूप विश्लेषण एवं परिवर्जनके (त्यागके) आदर्शके शिक्षक।

—श्रीरूप-रघुनाथ-दास्यके सर्वोत्तमभावके शिक्षागुरुवर्य।

—चिद्विलासविरुद्ध-सिद्धान्त-ध्वान्तके मार्त्तण्डस्वरूप।

—भूत-भविष्यत् रहित नित्य अखण्डकालमें कृष्ण-सेवा-शिक्षा-दाता।

—असद्वार्त्ता, असत्चेष्टा, असत्सङ्ग, असत्प्रतिष्ठा, असत्-सिद्धान्त, असत्-शिष्यानुबन्ध, कपटता-कुटिनाटि, भुक्ति-मुक्ति-कामना परिवर्जनके अद्वितीय आदर्श।

—श्रीकृष्णसेवामें निखिल ज्ञान-विज्ञानके नियोग द्वारा (नियुक्ति अथवा उपयोगके द्वारा) ऐक्यतान, समन्वय एवं मिलन-विज्ञानके एकमात्र महा-वैज्ञानिक।

—'सज्जनतोषणी', 'गौड़ीय', 'नदीया-प्रकाश' वैकुण्ठवार्त्तावहके अवतारणकारी।

—श्रीश्रीजीव, श्रीरूप-श्रीसनातनके आनुगत्यमें मर्यादा एवं श्रीरघुनाथ-श्रीरूप-श्रीसनातनके आनुगत्यमें सौन्दर्यके प्रकाशक।

—गौड़पुरके पूर्वगौरवके उद्धारकारी।

—गौड़के आदि नाट्य-मञ्चके पुनः प्रकटनकारी।

—गौड़ीय सहस्रार [गौड़ीय-आत्मा-गर्भ] में फल्गुवैराग्य—अन्धपथ और युक्त-वैराग्य—राजपथके पार्थक्य-प्रदर्शक।

—गौरधाम-कृष्णधाम-राधाकुण्ड गौर विप्रलम्भ-भजनक्षेत्रकी सर्वोत्तमताके प्रदर्शक।

—श्रीराधिका-मुख्या-गोपीयोंका कृष्णमाधुर्य और प्रेमसेवाकी सर्वोत्तमताके प्रचारकवर।

—श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन-प्रीतिके तारतम्यानुसार वैष्णवताके तारतम्य-निर्देशकारी।

—श्रीनाम-भजन ही जिनका जीवातु (प्राण) है, ऐसे अकृत्रिम-भजन-रसिक श्रेष्ठ।

—विप्रलम्भमूर्त्ति श्रीगौरसुन्दरके विप्रलम्भके अद्वितीय परिपोष्टा (परिपुष्टकारी)।

—श्रीविश्व-वैष्णव-राजसभाके श्रेष्ठ सभाजन-भाजन।

—श्रीसनातन-श्रीरूप-श्रीरघुनाथ-श्रीगौर-विनोद-प्रीतिविशेष-पात्रराज।

—कृष्ण-भोग्य कनक-कामिनी-प्रतिष्ठामें आदर और जीव भोगबुद्धि-परिचालित कनक-कामिनी-प्रतिष्ठामें अनादर-प्रदर्शक शिक्षागुरु।

—अकृत्रिम परदुःखदुःखी, अनभीप्सु बहिर्मुख-जनमें अमन्दोदयदयामृत-वितरणकारी।

—महाप्रसाद-गुरु-गौराङ्ग-गोविन्द-नामब्रह्म-वैष्णवचरणमें वास्तव विश्वास-विस्तारकारी।

—श्रीविग्रहमें शिलाबुद्धि, आचार्यमें मर्त्त्यबुद्धि, वैष्णवमें जातिबुद्धि, विष्णु–वैष्णव पादोदकमें जलबुद्धि, विष्णुनाम मन्त्रमें शब्द–सामान्य बुद्धि, सर्वेश्वर विष्णुको देवान्तर (अन्य देवताके समान मानना) सामान्य बुद्धिरूपी पाखण्डताके शिरच्छेदनमें सुदर्शनस्वरूप।

—वैष्णवकी सर्वोत्तमता–निर्दोषत्वके प्रकाशक।

—शुद्ध–वैष्णव और वैष्णवधर्ममें जितने भी दोषारोपण एवं आक्रमण हैं, उनके निरासके लिए आग्नेयास्त्र।

—कीर्त्तन–मात्रैकास्त्र—कृष्णतत्त्ववित्तम युगाचार्य जगद्गुरु।

—श्रीगुरुदेवका मुकुन्द–प्रेष्ठत्व, श्रीराधाभिन्न–विग्रह–ज्ञानसे तदानुगत्यमें सेवा–सौन्दर्यके प्रचारकारी।

—श्रीगुरुसेवाके बिना *'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'* (भगवत्–प्राप्तिके लिए दूसरा कोई पथ नहीं है) श्रौतवाणीके अद्बितीय प्रचारक।

—विषय–विग्रह सेवाकी अपेक्षा आश्रय–विग्रहकी सेवामें सौन्दर्याधिक्यके प्रकाशक।

—[जीव] शक्तिके भेद–सम्बन्धरूप अभिधानके आदर्श अभिमानी, आश्रय भेदाभिमानसे [गुरु रूपसे] जीवका मङ्गल, पुनः आश्रय–विग्रहाभिमानसे [आचार्य रूपसे] पाखण्डता प्रतिपादनपरक सिद्धान्तके निरसनकारी आदर्श शिक्षकवर।

—सम्पद्–विपद्में कृष्णाधीनता, कृष्णानुकम्पा, सर्वावस्थामें नियामक कृष्णके इन्द्रिय–तर्पण–दर्शन–विचारके अद्बितीय आचारवान शिक्षक।

—श्रीरूपोपदेशामृत–मूर्त्ति, षड्वेगविजयी, रूपानुगवर, जगद्गुरु गोस्वामीवर्य।

—व्यवहारमें युक्तवैराग्य, उपाय–उपेय विचारमें श्रीनामैक सेवापरताके अद्बितीय रूपानुगवर आचार्य।

—आत्माके स्वास्थ्यमें ही देह–मनका स्वास्थ्य है—इस वास्तव सिद्धान्तके एकमात्र वैद्यराज।

—प्राकृत भावना–वाक्य–चिन्तन–मुद्राके फल्गुत्वके प्रचारक।

—भक्तिविनोद अर्थात् भक्तिदेवीका विनोदन करनेवाले भागवत–परराष्ट्रके [परव्योम अर्थात् वैकुण्ठके] साहित्यके प्रचारक।

—आउल–बाउलादि तेरह (आउल, बाउल, कर्त्ताभजा, नेड़ा, दरवेश, साँई, सहजिया, सखीभेकी, स्मार्त्त, जात–गोसाञि, अतिवाड़ी,

चूड़ाधारी, गौराङ्ग–नागरी), गौरानुगब्रुव अपसम्प्रदायोंके अपसिद्धान्त, प्राकृत सहजियावाद, कर्मजड़स्मार्त्तवादादि समस्त कलिमतोंके निरसनकारी, पाषण्डदलनवान्, प्रेम–प्रचारकवर नित्यानन्दपादपद्म।

—श्रीनाम–सङ्कीर्त्तनाधीन भजन–प्रणाली, कृष्णानुरागीके आनुगत्यमें व्रजवास एवं रूपानुग शिक्षाके अद्वितीय शिक्षक।

—त्रिविध वैष्णवसेवा [प्रणिपात, परिप्रश्न एवं परिसेवन], वैष्णवोंमें अप्राकृत दृष्टि, कृष्णनामानुशीलनमें सहिष्णुता प्रचारके अद्वितीय लोकगुरु।

—गौरकृष्णनाम–प्रचारकवर–श्रीगौर–करुणाशक्ति, कृष्णार्थ अखिल चेष्टामय नैष्कर्म्येके आविष्कारकारी। [जिनकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ कृष्णके लिए हैं, वे प्राकृत कर्मके कर्त्ता नहीं हैं।]

—वैकुण्ठ–मथुरा–वृन्दावन–गोवर्द्धन–राधाकुण्डके उत्तरोत्तर–उत्कर्ष–प्रदर्शक।

—संशय–सगुण–निर्गुण–क्लीव–पुरुष–मिथुन–स्वकीय–परकीय विलासके उत्तरोत्तर क्रमोत्कर्ष–प्रदर्शक।

—सत्कर्मी–त्रिगुणवर्जितज्ञानी–शुद्धभक्त–प्रेमैकनिष्ठभक्त–गोपीकुल–गोपीश्रेष्ठा वार्षभानवीके उत्तरोत्तर कृष्णप्रियत्व–प्रदर्शक।

—निखिल स्थान–काल–पात्रके कृष्ण–कार्ष्ण सेवामें नियोगके कारण अतिमर्त्त्य अर्थ–नीतिज्ञ।

हमारे परमाराध्यतम श्रीश्रील प्रभुपादकी विभिन्न वक्तृताओंमें, पत्रावलीमें, प्रबन्धोंमें, संलापमें, उपदेश–प्रदानकालमें जो समस्त सारगर्भ अमूल्य उपदेश विभिन्न अवसरोंपर विभिन्न रूपोंसे प्रदान किये गये हैं तथा जो गौड़ीय–इतिहासमें, गौड़ीय–साहित्यमें, गौड़ीय–दर्शनमें, गौड़ीय–भावराज्यमें एक अत्युज्ज्वल महा–अवदान स्वरूपमें विराजित हैं, उनमेंसे कुछ उपदेशोंको विभिन्न स्थानोंसे उद्धृत करते हुए अष्टोत्तरशत उपदेशमालामें सुसज्जित करके वेदान्तपाठक–वर्गके समक्ष एक दिग्दर्शन रूपमें उपस्थितमात्र किया जा रहा है। निम्न वर्णित इन कुछ उपदेशोंके आस्वादनमें जिन्हें प्रसन्नता होगी, वे असंख्य उपदेशोंकी आशासे गौड़ीय मठसे प्रकाशित ग्रन्थावलीकी आलोचनाके लिए मनोयोगसे प्रस्तुत होंगे। ऐसा होनेपर श्रीश्रील प्रभुपादने किस प्रकारसे

वेदान्तके अकृत्रिम भाष्यको श्रीमद्भागवतमें कथित निरस्त-कुहक वास्तव-सत्यकी वाणीका जगत्में प्रचार करके वेदान्तके धर्मका औज्ज्वल्य विधान किया है, सारग्राही व्यक्ति मात्र उसकी उपलब्धि कर सकेंगे। यही अधमका विनीत निवेदन है।

श्रीश्रील प्रभुपादके कतिपय उपदेशामृत

(१) श्रीमन्महाप्रभुके शिक्षाष्टकमें लिखित *'परं विजयते श्रीकृष्ण सङ्कीर्त्तनम्'* ही गौड़ीय मठका एकमात्र उपास्य है।

(२) विषय-विग्रह श्रीकृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं, उनके अतिरिक्त सब उनके भोग्य हैं।

(३) हरिभजनकारीके अतिरिक्त सभी निर्बोध (मूर्ख) और आत्मघाती हैं।

(४) सहनशीलताकी शिक्षा प्राप्त करना मठवासीका एक प्रधान कर्त्तव्य है।

(५) श्रीरूपानुग भक्तगण अपनी शक्तिके प्रति कोई आस्था स्थापन न करके आकर-स्थान [मूल-आश्रय] पर समस्त महिमाका आरोप करते हैं।

(६) जो पञ्च-मिश्रित धर्मोंका [पञ्चदेवोपासनाका] पालन करते हैं, वे भगवान्की सेवा नहीं कर सकते।

(७) सब परस्पर मिलकर तथा एक तात्पर्यपर होकर (एक उद्देश्य लेकर) हरि-सेवा करें।

(८) जहाँ हरिकथा होती है, वहीं तीर्थ है।

(९) हम सत्कर्मी, कुकर्मी अथवा ज्ञानी-अज्ञानी नहीं हैं; हम तो अकैतव (निष्कपट) हरिजनोंके पाद-त्राण वाहक [पादुका वहनकारी], *'कीर्त्तनीयः सदा हरिः'* मन्त्रमें दीक्षित हैं।

(१०) दूसरोंके स्वभावकी निन्दा न करके आत्म-संशोधन (अपना सुधार) करना ही हमारा परम धर्म है। यही मेरा उपदेश है।

(११) माथुर-विरह-कातर व्रजवासियोंकी सेवा करना ही हमारा परम धर्म है।

(१२) महाभागवत जानते हैं—सभी उनके गुरु हैं, इसलिए महाभागवत ही एकमात्र जगद्गुरु हैं।

(१३) यदि हम श्रेय-पथ चाहते हैं, तो असंख्य जनमतका परित्याग करके भी श्रौतवाणीका ही श्रवण करना चाहिये।

(१४) श्रेयः (नित्यमङ्गलमय) वस्तुका ही प्रेयः होना उचित है।

(१५) रूपानुगजनोंके कैङ्कर्य (दासत्व) के बिना अन्तरङ्ग भक्तोंकी और कोई लालसा नहीं होती।

(१६) निर्गुण-वस्तुका साक्षात्कार करनेके लिए एकमात्र कानको छोड़कर अन्य कोई पथ (उपाय) नहीं है।

(१७) जिस क्षण हमारा रक्षाकर्त्ता नहीं रहेगा, उस क्षण हमारी पारिपार्श्विक (निकटवर्तिनी) सभी वस्तुएँ शत्रु होकर हम पर आक्रमण करेंगी। प्रकृत (वास्तव) साधुकी हरिकथा ही हमारी रक्षक है।

(१८) खुशामद (चापलुसी) करनेवाला व्यक्ति गुरु अथवा प्रचारक नहीं है।

(१९) पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग इत्यादि लाख-लाख योनियोंमें रहना अच्छा है, परन्तु कपटताका आश्रय करना अच्छा नहीं है; कपटता-रहित व्यक्तिका ही मङ्गल होता है।

(२०) सरलताका नामान्तर ही वैष्णवता है, परमहंस वैष्णवोंके दास सरल होते हैं, इसलिए वे ही सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण हैं।

(२१) जीवोंकी विपरीत रुचिको परिवर्त्तन करना ही सर्वापेक्षा दयालु जनोंका एकमात्र कर्त्तव्य है। महामायाके दुर्ग (जाल) के बीचसे यदि एक जीवकी भी रक्षा कर सकते हो, तो अनन्त कोटि अस्पताल बनानेकी अपेक्षा भी अनन्त गुणा परोपकारका कार्य होगा।

(२२) जिनकी आत्मविद्के पास स्वतः ही भगवत्-सेवाकी प्रवृत्ति सब समय उदित (जाग्रत) नहीं हुई, उन सब व्यक्तियोंका सङ्ग कितना ही प्रीति युक्त क्यों न हो, वह कभी भी वाञ्छनीय नहीं है। [अपितु परित्यज्य है।]

(२३) केवल आचार-रहित प्रचार कर्माङ्गके अन्तर्गत है।

(२४) भगवान् और भक्तकी सेवा करनेसे ही गृहव्रत-धर्म क्षीण होता है।

(२५) श्रीकृष्णके अतिरिक्त [अन्य] विषयोंका संग्रह करना ही हमारी मूल व्याधि है।

(२६) हम इस जगत्में कोई काठ-पत्थरके कारीगर होने नहीं आये हैं; हम तो श्रीचैतन्यदेवकी वाणीके वाहकमात्र हैं।

(२७) हम इस जगत्में अधिक दिन नहीं रहेंगे, हरिकीर्त्तन करते-करते हमारा देहपात होनेसे ही इस देह-धारणकी सार्थकता है।

(२८) श्रीचैतन्यदेवके मनोऽभीष्ट-संस्थापक श्रीरूप गोस्वामीके चरणकमलोंकी धूल ही हमारे जीवनकी एकमात्र आकाङ्क्षाकी वस्तु है।

(२९) भगवत्-विमुख-प्रपञ्च—यन्त्रणामय परीक्षाका स्थल है। सहिष्णुता, दैन्य एवं पर-प्रशंसा इत्यादि यहाँ हरिभजनके सहायक हैं।

(३०) प्रत्येक जन्ममें माता-पिता प्राप्त किये जा सकते हैं, किन्तु समस्त जन्मोंमें मङ्गल (कल्याण) का उपदेश प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(३१) [वास्तव] भक्तकी क्रिया और ढोंगी-दिखावटी भक्तका दौरात्म्य बाहरसे एक जैसा दिखायी देनेपर भी वास्तवमें दोनोंमें दूध और सफेदी (चूना) के समान जमीन आसमानका अन्तर है।

(३२) जो असाधु-वृत्तिको साधु-वृत्तिके रूपमें भ्रम करते हैं, वे लुहारको इस्पात (नकली लोहे) के नामपर ठगनेकी भाँति असुविधामें ही पड़ेगे।

(३३) सत्यको जाननेमात्रसे ही उसमें हमारा निष्ठायुक्त होना उचित है। हमारे जीवनका समय—जिसका भी जितना है—उसका एक मुहूर्त्त भी विषय-कार्यमें नियुक्त न करके हरिभजनमें नियुक्त करना उचित है।

(३४) अनेक 'अनुकरण' कार्यको 'अनुसरण' समझकर भ्रम करते हैं। 'अनुकरण' और 'अनुसरण'—दो अलग विषय हैं। यात्रादल द्वारा (विभिन्न नाट्य-मण्डलियों द्वारा) मञ्चपर 'नारद' का वेश बनाना 'अनुकरण' है और श्रीनारदके द्वारा प्रकाशित भक्तिपथपर गमन करना 'अनुसरण' है। [अर्थात् नाटक-समाजके 'नारद' को भक्तराज 'श्रीनारद' नहीं कहते तथा उसकी 'भक्ति' के अभिनयको 'भक्ति' नहीं कहते।]

(३५) सर्वक्षण हरिकथामें निमग्न व्यक्तिका नाम ही साधु है, सर्वक्षण श्रीभगवान्की सेवाके लिए व्यस्त व्यक्ति ही साधु हैं। सर्वदा, सर्वक्षण जो अपनी समस्त चेष्टाओंसे कृष्णके लिए व्यस्त रहते हैं एवं जिनकी समस्त चेष्टाएँ ही भगवान्की सेवाके लिए हैं, वे साधु हैं।

(३६) स्वयं नारायण यदि स्वयंको स्वयं ही दें तो भी उनका कुछ देना बाकी रह जाता है, किन्तु भगवत्-भक्त सम्पूर्ण रूपसे ही भगवान्को दे सकते हैं।

(३७) हिंसा करनेके लिए 'गुरुगिरि' मत करो। स्वयं ही विषयोंमें डूब जानेके लिए 'गुरुगिरि' मत करो। किन्तु यदि तुम मेरे निष्कपट सेवक बनकर मेरी शक्ति प्राप्त करते हो, तो तुम्हें कोई भय नहीं है।

(३८) महान्त गुरुदेवको भगवान्से अभिन्न—भगवान्की प्रकाशमूर्त्ति नहीं समझोगे तो किसी भी दिन भगवान्का नाम मुखसे उच्चारित नहीं होगा।

(३९) भगवान् स्वयं ही अपनी सेवाकी शिक्षा प्रदान करनेके लिए जगत्में गुरुरूपमें अवतीर्ण होते हैं।

(४०) जीव स्वयं शत-शत ग्रन्थादि पाठ करके अथवा स्वयंके मनके अनुसार भजनका अभिनय करके स्वयंका मङ्गल साधन नहीं कर सकता।

(४१) हरिकथाके नामपर आधुनिक समयमें जो लोगोंको विपथगामी कर रहे हैं, उनके निकट वञ्चित होना ही आजका एक युगधर्म बनकर सामने आया है।

(४२) निर्भीक होकर जो निरपेक्ष सत्यकथा बोली जाती है, शत-शत जन्मोंके बाद ही तथा शत-शत युगोंके बाद ही कोई-न-कोई उसके निगूढ़ तत्त्वको समझ सकता है। जब तक कष्टोंसे अर्जित शत-शत गैलन रक्त [ऊर्जा] खर्च नहीं होगा, तब तक एक व्यक्तिको भी सत्यकथा समझायी नहीं जा सकती।

(४३) जो प्रतिदिन लक्ष [एक लाख] हरिनाम ग्रहण नहीं करते, उनकी दी हुई कोई भी वस्तु भगवान् ग्रहण नहीं करते।

(४४) सङ्ग ही मानव-जीवनमें प्रधान हरिभजनकी वृत्ति है। अवैष्णव-सङ्ग-क्रमसे जीवकी संसारमें उन्नति [बन्धन] होती है और साधुसङ्गके प्रभावसे आत्मा उत्तरोत्तर हरिसेवामें प्रमत्त होती है। मानव-जीवनमें यही एक सर्वप्रधान अवलम्बन है। अतः साधु-सङ्गसे विमुख नहीं होंगे।

(४५) सांसारिक असुविधा होनेपर ही भगवान् उस समय आश्रय-स्थल होकर अपनी सेवाका अधिकार देते हैं।

(४६) अनर्थयुक्त अवस्थामें श्रीराधाके दास्यका सौभाग्य कभी भी प्राप्त नहीं होगा। जो अनर्थयुक्त अनधिकार-अवस्थामें परम प्रेष्ठ सेविका श्रीराधाजीकी अप्राकृत-लीलाकी चर्चामें तत्पर रहते हैं, वे इन्द्रियारामी, प्रच्छन्नभोगी और प्राकृत सहजिया हैं।

(४७) श्रीनाम ग्रहण करते-करते अनर्थ-निवृत्ति होनेपर श्रीनामके द्वारा ही रूप, गुण और लीलाकी अपने आप स्फूर्त्ति प्राप्त होगी। चेष्टा करके कृत्रिम भावसे रूप, गुण और लीलाका स्मरण नहीं करना चाहिये।

(४८) सभी लोग श्रीरूप-रघुनाथकी कथाका परमोत्साहके साथ प्रचार करें। श्रीरूपानुगगणोंकी चरणकमलोंकी धूलि होना ही हमारी चरम-आङ्क्षाक्षाका विषय है।

(४९) शत-शत विपदाओं, शत-शत निन्दाओं और शत-शत लाञ्छनाओंमें भी हरिभजन नहीं छोड़ना। जगत्के अधिकांश लोग अकैतव [कपटता रहित] कृष्ण-सेवाकी बातोंको ग्रहण नहीं करते, यह देखकर निरुत्साहित नहीं होना। कृष्ण-कथाका श्रवण-कीर्त्तन ही अपना भजन, अपना सर्वस्व है, इसे कभी नहीं छोड़ना। 'तृणादपि सुनीच' और 'तरुके समान सहिष्णु' होकर सर्वक्षण हरिकीर्त्तन करना।

(५०) हम किसी भी प्रकारके कर्मवीरत्व अथवा धर्मवीरत्वके अभिलाषी नहीं हैं, किन्तु जन्म-जन्ममें श्रीरूप प्रभुके चरणकमलोंकी धूलि ही हमारा स्वरूप—हमारा सर्वस्व है।

(५१) सप्तजिह्व श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तन-यज्ञके प्रति किसी भी अवस्थामें हम विरागका प्रदर्शन न करें। इसमें ऐकान्तिक रूपसे निरन्तर वृद्धमान अनुराग होनेसे ही सर्वार्थ-सिद्धि होगी। आप श्रीरूपानुगगणोंके एकान्त आनुगत्यमें श्रीरूप-रघुनाथकी कथाका परमोत्साह और निर्भीक कण्ठसे प्रचार करें।

(५२) मेरा 'निरपेक्ष सत्य' भाषण अन्य मनुष्योंको अप्रीतिकर होगा, इस भयसे यदि सत्यकथाके कीर्त्तनका परित्याग करता हूँ, तब तो मेरा श्रौत-पथका परित्यागकर अश्रौत-पथका ग्रहण करना हो गया,

मैं अवैदिक—नास्तिक हो गया—सत्यस्वरूप भगवान्में मेरा विश्वास नहीं रहा।

(५३) इस प्राकृत जगत्में भगवान्का प्रतिनिधित्व या प्रकाश मात्र केवल दो रूपोंमें है—प्रथम—अप्राकृत शब्द अथवा श्रीनामके रूपमें और द्वितीय—भगवान्के नित्य चिद्विलास सविशेषरूपके अर्चावतार रूपमें।

(५४) 'श्रीनाम' द्वारा मूर्त्तिकी सेवा होती है—चेतनके द्वारा चेतनकी सेवा होती है।

(५५) भगवान्के भक्तगण भगवान्को नाम-सङ्कीर्त्तनके द्वारा भगवान्के सुखके लिए—भगवान्की सेवाके लिए ही पुकारते हैं, अपनी किसी कामनाकी परितृप्तिके लिए नहीं।

(५६) श्रीविग्रह वैकुण्ठस्थ चिद्विलास भगवान्के नित्य रूपका ही प्रापञ्चिक जगत्में करुणामय अवतार है। वह भगवत्-स्वरूपका साक्षात् निदर्शन है। वैष्णवगण जड़के आकार अथवा जड़-निराकारके अन्तर्गत ईशस्वरूपके कल्पनाकारी—पौत्तालिक नहीं होते।

(५७) ब्रह्मसूत्रमें जिस प्रकार संक्षेपमें श्रुतिका तात्पर्य कहा गया है, श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर रचित 'तत्त्व-सूत्र' में भी उसी प्रकार वेदान्त भाष्य—भागवतके सिद्धान्त और तात्पर्य स्वाल्पक्षरमें अति सुष्ठु रूपसे कथित हुए हैं।

(५८) आचारवान वैष्णवाचार्योंके निकट भागवत अध्ययन न करनेसे ब्रह्मसूत्रका प्रकृत तात्पर्य कभी भी हृदयङ्गम नहीं हो सकता। भागवत ब्रह्मसूत्रका अकृत्रिम भाष्य है।

(५९) भागवत ही वेदान्तसूत्रका मूल भाष्य है—श्रीजीव गोस्वामीने इस बातको विशेष रूपसे बतलाया है। शङ्कराचार्यका भाष्य विजातीय (foreign) भाष्य है और भागवत स्वयं सूत्रकर्त्ताके सूत्रभाष्यके रूपमें होनेके कारण वही एकमात्र प्रकृत भाष्य है। वेदान्तका प्रकृत तात्पर्य एकमात्र भागवतमें पाया जाता है।

(६०) 'कृष्ण' शब्दके बिना अन्यत्र 'भक्ति' शब्द प्रयोज्य हो नहीं सकता। कृष्ण ही एकमात्र भक्तिके विषय हैं। ब्रह्म—ज्ञानकी वस्तु है, परमात्मा—सानिध्यकी वस्तु है, किन्तु कृष्ण ही एकमात्र सेव्य वस्तु हैं।

(६१) शब्दमात्रकी ही दो प्रकारकी वृत्तियाँ हैं—विद्वद्रूढ़िवृत्ति एवं अज्ञरूढ़िवृत्ति। जिस शब्दकी वृत्ति कृष्ण, विष्णु, श्रीचैतन्यदेवसे भिन्न होकर अन्य कुछ उपदेश करती है, वह शब्दकी अविद्वद्रूढ़ि है। विद्वदरूढ़िवृत्तिमें समस्त कथा ही कृष्ण-वाचक—कृष्णोद्देशक है।

(६२) 'कृष्ण' शब्दके द्वारा गणगड्डलिका [भेड़ोंकी कतारके समान अन्धानुकरण करनेवाले] जो समझते हैं, वह कृष्ण शब्दका उद्दिष्ट विषय नहीं है। भाषान्तरमें गॉड, अल्लाह इत्यादि शब्द, इतना ही नहीं, संस्कृत भाषामें 'ईश्वर', 'परमात्मा' इत्यादि शब्द कृष्णसे मिश्रित एक महः (तेजपुञ्ज) के वाचकमात्र हैं। वे 'कृष्ण' शब्दकी पूर्णप्रग्रह वृत्ति धारण नहीं कर सकते। [पूर्णप्रग्रह वृत्तिसे तात्पर्य है जैसे घोड़ेको लगामसे वशमें किया जाता है, यदि लगाम न लगाकर घोड़ेको मुक्त कर दिया जाये तो वह कहाँ जाकर रुकेगा। अतः समस्त ईश्वरवाचक शब्द कृष्ण शब्दमें जाकर विराम प्राप्त करेंगे, यही समझना चाहिये।]

(६३) गुरुसेवाके समान मङ्गलप्रद कार्य कोई और नहीं है। समस्त आराधनाओंकी अपेक्षा भगवान्‌की आराधना श्रेष्ठ है। भगवान्‌की आराधनाकी अपेक्षा गुरुदेवके चरणकमलोंकी सेवा श्रेष्ठ है—ऐसी प्रतीति सुदृढ़ न होने तक हमारा सत्सङ्ग—'गुरुदेव हमारे आश्रय हैं'—ऐसा विचार नहीं आता। हम आश्रित हैं 'वे हमारे पालक हैं'—यह विचार नहीं आता।

(६४) श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करनेपर मैं निर्मोह, निर्भय और शोकरहित हो सकता हूँ। यदि हम निष्कपट रूपसे अपने सम्पूर्ण प्राणोंकी चेष्टासे आशीर्वादके प्रार्थी होते हैं, तो श्रीगुरुदेव बिना किसी वञ्चनाके सर्वप्रकारसे मङ्गल प्रदान करते हैं।

(६५) साधारण गुरु हमें मरनेसे बचा नहीं सकते—नित्य जीवन दे नहीं सकते—इस कारण उनका गुरुत्व आंशिक है। परन्तु जो हमारी मरण-धर्मसे रक्षा करते हैं—हमें नित्यत्वकी उपलब्धि देते हैं, वे ही पूर्ण एवं नित्यगुरु हैं।

(६६) श्रीगुरुदेवके प्रति साधारण मरणशील बुद्धि कभी नहीं करना। वे तुम्हारे अनन्त-जीवन-दाता हैं, तुम्हारे भवरोगके सद्वैद्य हैं, सर्वतोभावसे तुम्हारे एकमात्र उपकारक हैं।

(६७) मानव जब तक तर्कपथ ग्रहण करता है, तब तक गुरुका दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता।

(६८) समस्त मङ्गलोंके मङ्गलस्वरूप भगवान्‌ने हमारा समस्त मङ्गल जिनके हाथोंमें अर्पण किया है, मैं यदि उनके निकट शत-प्रतिशत, शत-परिमाणमें अपनेको समर्पण करता हूँ, तो वे मुझे सम्पूर्ण मङ्गल प्रदान करते हैं। और यदि कपटता, द्विहृदयता, लोक-दिखावा, दिखावटी भक्ति अथवा भण्डामी (ढोंग) करता हूँ, तो वे भी वञ्चना करते हैं।

(६९) श्रीगुरुदेव हमारे लिए निष्कपट रूपसे जो व्यवस्था करते हैं, उसे नतमस्तक होकर ग्रहण करना ही हमारा कर्त्तव्य है—यही शरणागतका लक्षण है।

(७०) यदि हमारा ऐसा सौभाग्य होता है कि हम भगवत्-भक्तोंका सङ्ग पाते हैं, तो यह सुयोग बनानेमें एकमात्र मालिक (कर्त्ता) हैं—कृष्णचन्द्र। श्रीगुरुदेवके हाथोंमें सौंपकर उन्होंने अभय वर प्रदान करके अपने गुणको सार्थक किया है। जिनका भाग्य प्रबल है—वे ही ऐसी सुविधा पाते हैं। जो जिस भावसे शरणागत होते हैं, उनके निकट तदुपयोगी (वैसे ही) गुरु उपस्थित होते हैं।

(७१) निर्भेद-ज्ञानीगुरु, कर्मीगुरु, योगीगुरु, व्रतीगुरु, तपस्वीगुरु, ऐन्द्रजालिक-गुरु, कपट-गुरु कभी भी 'गुरु' पदवाच्य नहीं हो सकते, वे सभी लघु हैं। वे जीवके उपकारक नहीं—आत्महिंसक और परहिंसक हैं। एकमात्र महाभागवत वैष्णव-गुरु ही जीवके लिए अहैतुक दयामय, परदुःख-दुःखी होते हैं।

(७२) निर्विशेषवादियोंकी धारणामें जो ब्रह्म हैं, उसमें 'ब्रह्म-दर्शन' नामक कोई वस्तु हो नहीं सकती। योगियोंके विचारमें परमात्मा-दर्शन अथवा ईश्वर-सायुज्य ब्रह्म-सायुज्यकी अपेक्षा और अधिक अपराधका विषय है। ब्रह्म-सायुज्यमें तो जीवका अस्तित्व ही स्वीकृत नहीं होता, किन्तु ईश्वर-सायुज्यमें जीवात्माका अस्तित्व स्वीकार करके जीवात्माके द्वारा परमात्माका आसन अधिकार करनेकी चेष्टा और भी अधिक परमेश्वर-द्रोहिता है। इसलिए महाप्रभुने कहा है—ब्रह्म-सायुज्यसे भी अधिक ईश्वर-सायुज्यको धिक्कार है।

(७३) चिज्जड़ समन्वयवादी सत्सङ्ग और असत्सङ्ग, धानका पौधा और श्यामा घास, भक्ति और अभक्तिको समान मानते हैं। मायावादकी विकृति ही चिज्जड़-समन्वयवाद है। मायावादीगण मुखसे तो कहते हैं कि हम सबको मानते हैं, किन्तु वे परमेश्वर वस्तुको मानते नहीं—परमेश्वर तत्त्वके नित्य नाम, नित्य रूप, नित्य गुण, नित्य परिकर-वैशिष्ट्य, नित्य लीला आदिको स्वीकार नहीं करते।

(७४) वास्तवमें राम-नृसिंह-वराह-मत्स्य-कूर्मादि-श्रीनारायण—नित्यनाम, नित्यरूप, नित्यगुण, नित्यपरिकरवैशिष्ट्ययुक्त, नित्य लीलामय, मायाधीश अप्राकृत विष्णु-वस्तु हैं। इनमेंसे प्रत्येकका नित्य वैकुण्ठ है। वैकुण्ठसे कृपापूर्वक स्वेच्छावशतः समस्त जीवोंके लिए कुण्ठजगत्में स्व-प्रकाश-प्रदर्शन करते हुए अवतीर्ण होकर भी वे सर्वदा पूर्ण वैकुण्ठस्थ रहते हैं; वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रता-धर्मका सम्पूर्ण रूपसे संरक्षण करते हैं।

(७५) वर्त्तमान विपन्न मानवजातिका एकमात्र मङ्गलमय कृत्य है—मूर्खतासे ग्रस्त संसारसे उद्धार प्राप्त करके—नित्य कृष्ण-संसारमें प्रविष्ट होना। श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंका आश्रय करनेपर उस मूर्खताके हाथोंसे उद्धार-प्राप्त होता है, अन्य उपायसे नहीं।

(७६) भगवत्-भक्ति ही परमधर्म है। यह भक्ति क्या वस्तु है—प्राकृत प्रेयः पथावलम्बी तो इसे जान नहीं सकते।

(७७) श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरकी भक्तिमें ही 'प्रेयो बुद्धि' है। भक्ति ही 'श्रेयः' है—यही बात पूर्व-पूर्व आचार्योंने भी कही है। भक्ति ही 'प्रेयः' है—यह श्रीरूपानुगवर श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरने जगत्को विशेष रूपसे बतलाया है।

(७८) हरिकीर्त्तन—महाध्यान है। कृतयुग (सत्ययुग) में स्वल्प ध्यान प्रचलित था, किन्तु उसमें औदार्य विग्रह श्रीगौरसुन्दरका दर्शन नहीं होता, अतः कलिकालमें महाध्यान है। ध्यानमें दोषने प्रवेश किया था, इसीलिए त्रेतायुगमें यज्ञका प्रवर्त्तन हुआ था। अतः कलिमें महायज्ञ—सङ्कीर्त्तनकी विधि है। यज्ञमें दोष आरोपित होनेके कारण द्वापरमें अर्चन-विधि प्रवर्त्तित हुई। अतः कलिमें महा-अर्चन विधि है। महा-अर्चन—श्रीनाम-कीर्त्तन है। समस्त चिकित्साओंसे निराश होनेपर

अन्तिमकालमें अत्यन्त मुमुर्षु [मरनेके इच्छुक] रोगीको विषवटी खिला देते हैं, क्योंकि उस विषवटीमें बहुत शक्ति (potency) है। उसी प्रकार कलिकालमें जीवकी दुर्दशाकी चरम अवस्था देखी जानेसे श्रीनाम-सङ्कीर्त्तनकी व्यवस्था हुई है। श्रीनाम-कीर्त्तनमें सर्वशक्ति समर्पित है—समस्त शक्ति पूर्णमात्रामें है। अतः कीर्त्तन ही—महाध्यान, महायज्ञ और महार्चन है।

(७९) भगवत्-प्रेम ही जो एकमात्र आराध्य है—इस तत्त्वको सुष्ठु रूपसे प्राप्त करनेके लिए और उनके [प्रेमाधिष्ठात्री देवी श्रीराधारानीके] गणोंमें परिगणित होनेकी प्रबल आशासे ही हम जीवित रहेंगे, अन्यथा हजार बार मर जाना ही हमारे लिए अच्छा है।

(८०) जो अखिलरसामृतमूर्त्ति नन्दनन्दनकी सर्वस्व हैं, उन श्रीराधाजीकी सेवा और उनके आनुगतजनोंकी सेवासे वञ्चित होकर कभी भी गोविन्द-सेवामें अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।

(८१) श्रीकृष्णनाम—पूर्णज्ञान, पूर्णसत् और पूर्ण आनन्दस्वरूप है। अतएव हम श्रीकृष्णनामके साथ जड़जगत्की मलिनता मिश्रित करनेकी चेष्टाका प्रदर्शन न करें। कृष्णनामके प्रभुत्वका वैशिष्ट्य हमारे सम्पूर्ण ज्ञानके मूलके ऊपर प्रभुत्वका विस्तार करता है।

(८२) श्रीकृष्णचैतन्य जीव-हृदयमें पुनः-पुनः आघात करके कहते हैं—समस्त प्राकृत विचारोंके हाथोंसे मुक्त होकर एकमात्र उद्‌बुद्ध निर्मल चेतन-स्वरूपके अप्राकृत सहज-प्रीतिमय सर्वाङ्गीण भजनके द्वारा ही अखिल रसामृतमूर्त्तिके निकटतम प्रदेशमें जाना होगा। अप्राकृत राज्यमें प्राकृत राज्यके चिन्ता-स्रोत अथवा अनुमान वहन करके नहीं ले जा सकेंगे—यह बात सदा स्मरण रहे।

(८३) सन्देहवादी, नास्तिक्यवादी, सगुणवादी, क्लीव-ब्रह्मवादी सभी चरम स्थितिमें एक नास्तिकतामें ही आत्म-विलीनताकी आकाङ्क्षा करते हैं।

(८४) विष्णुमन्त्रमें दीक्षित विष्णु-उपासक निरन्तर स्वयंको चित्कण जीव कृष्णका नित्यदास जानकर जगत्‌में प्रत्येक जीवको कृष्ण भोग्य और प्रत्येक वस्तुको कृष्ण-सेवाके उपकरणके रूपमें जानते हैं। वे कर्मीके समान जड़ोन्नतिवादी अथवा रावणके सीढ़ी बनाने [रावण

सीढ़ी बनाकर स्वर्ग जाना चाहता था पर बना नहीं सका] के समान निर्विशेषवादी ज्ञानी नहीं हैं।

(८५) भगवद्भक्त गणगड्डलिकाके [भेड़चालके समान] चिन्तास्रोतमें अपनी देहको बहा नहीं देते [निमग्न नहीं करते]। वे जागतिक कनक-कामिनी-प्रतिष्ठा-लोलुप नहीं हैं—इसी कारण लोगोंकी प्रशंसा अथवा निन्दामें समदर्शी एवं अदोषदर्शी रहते हैं—लोकधर्म, वेदधर्म, सामाजिक-ताड़न, भर्त्सन, घृणा, लज्जा इत्यादिसे उदासीन रहकर वे सदैव विप्रलम्भभावसे कृष्ण-कीर्त्तनमें सर्वदा व्यस्त रहते हैं।

(८६) सर्वकाल कृष्ण-कीर्त्तनके बिना जीवके लिए अन्य कोई कृत्य नहीं है। श्रीकृष्णके स्वरूप, श्रीनामके स्वरूप एवं स्वयंके स्वरूपसे अवगत होकर जो श्रीकृष्ण-कीर्त्तन है, वही श्रीकृष्णचैतन्यका उद्दिष्ट नाम-सङ्कीर्त्तन है। जिस समय तक बिन्दुमात्र भी देह और मनकी स्मृति रहती है, उस समय तक कृष्ण-कीर्त्तन नहीं होता। साधु-गुरु-वैष्णवोंकी कृपासे सम्बन्धज्ञानके उदयके परिमाणमें देह और मनकी स्मृतिके शिथिल होनेपर श्रीनामप्रभु जीव-हृदयमें उदित होते हैं। तब क्षण-क्षणमें नाम हृदयसे उच्चारित होते हैं, जिह्वाके अग्रभागपर चलते हैं, नाम शब्द रूपमें क्षण-क्षण नृत्य करते हैं।

(८७) श्रीनामका स्वरूप—साक्षात् सच्चिदानन्द विग्रह है; श्रीनाम प्रभुकी कृपासे नामका स्वरूप जीवके शुद्धसत्त्वमें [शुद्ध हृदयमें] स्फूर्त्ति प्राप्त करता है। सरलतापूर्ण हृदयमें, चिन्मय नयनमें, सेवोन्मुख जिह्वामें, श्रवणोन्मुख कर्णमें, कृष्णेन्द्रिय प्रीतिवाञ्छामूल इन्द्रियोंमें अखिलरसामृत-सिन्धु श्रीकृष्णस्फूर्त्ति प्राप्त करते हैं।

(८८) नाम-भजनकारी अष्ट प्रकारसे भजन विधिका पालन करेंगे—(१) श्रीगुरु-वाक्यमें एवं शास्त्र-वाक्यमें विश्वास—श्रद्धा है, (२) नामपरायण रहना साधु-सङ्ग है, (३) साधुमुख-विगलित हरिकथाका श्रवण और कीर्त्तन ही—भजन क्रिया है। (४) उसका फल समस्त प्रकारके अनर्थोंकी निवृत्ति है; साधनराज्यमें साधकको इस चतुर्विध प्राथमिक भजन-प्रणालीका अवलम्बन करना आवश्यक है। उसके बाद (५) नाम-भजनकारीकी श्रीनाममें ऐकान्तिकी निष्ठा होना आवश्यक है। निष्ठाका अर्थ 'नैरन्तर्य' अर्थमें है, (६) स्वारसिकी

रुचिके साथ नाम-ग्रहण, (७) नाममें आसक्ति, (८) भावभक्ति अर्थात् प्रेमका प्राग्भाव; भावरति—इसीको स्थायीरति कहते हैं।

(८९) प्रेमाभक्ति सम्पूर्ण रूपसे अप्रतिहत कैवल्य है। अद्वयज्ञान (स्वगत, सजातीय, विजातीय भेदसे रहित) व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा ही प्रेम है। इसमें अमङ्गलका कोई विषय ही नहीं है।

(९०) आध्यक्षिक दार्शनिक मत भारतीय हों अथवा अभारतीय हों—अवास्तव विचारोंकी असुविधामें (दोषोंमें) ही फँस गये हैं।

(९१) गीतामें अट्ठारह अध्यायोंमें श्लोकोंकी संख्या ७०० (सात सौ) हैं और भागवतमें १८००० (अट्ठारह हजार) श्लोक हैं। श्रीमद्भागवत बादरायण-सूत्रका अकृत्रिम भाष्य है। जिनका सूत्र, उनका ही भाष्य। आनन्दतीर्थ मध्वाचार्यने इस भाष्यकी पुनः टीका भी लिखी है, जिसमें उन्होंने अपनी बात कुछ भी नहीं कही है, केवल श्रीमद्व्यासदेवके वाक्योंको ही उद्धृत किया है।

(९२) हरिभजन न करनेपर जीव ज्ञानी, कर्मी अथवा अन्याभिलाषी हो जाता है, इस कारण महामन्त्रका उच्चारण करते हुए सर्वदा भगवान्को पुकारते रहें।

(९३) श्रीनाम-ग्रहण करते समय जड़चिन्ताका उदय होता है—इस कारणसे श्रीनाम-ग्रहणमें शिथिलता न करें। श्रीनाम-ग्रहणके अवास्तव (गौण) फलस्वरूप इसी प्रकारकी वृथा चिन्ताएँ क्रमशः दूर होंगी—अतः चिन्तित न हों।

(९४) जो नाम उच्चारण करते हैं, उनकी निज अस्मितामें स्थूल-सूक्ष्म शरीरका व्यवधान क्रमशः निरस्त हो जाता है और निज सिद्धरूप उदित होता है। निज सिद्धस्वरूप उपस्थित होनेपर नाम उच्चारित होते-होते कृष्णरूपका अप्राकृतत्व दृग्-गोचर होता है।

(९५) अपराध-त्याग करके हरिनाम ग्रहण करनेकी इच्छा करनेपर—सब समय हरिनाम करते-करते अपराध चले जायेंगे।

(९६) मूलवस्तु भगवान्की सेवाकी अपेक्षा उनके सेवकोंकी सेवा अधिक लाभजनक है। उनकी सेवासे ही हमारी और अधिक सुविधा होगी। गुरु-वैष्णवोंकी सेवा करना आवश्यक है उनकी सेवा करनेसे पतित जीवोंका उद्धार होता है।

(९७) महाजनोंका अनुसरण ही हमारा एकमात्र सेतु है।

(९८) दीक्षाका अभिनय और दिव्यज्ञान प्राप्ति एक नहीं है।

(९९) जो भगवान्‌की सेवा करते हैं, वे ही धन्य हैं। सभी असुविधाओंमें भगवत्-कथा श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण करें।

(१००) जो एक बार भी मनमें यह विचार करते हैं—'हे कृष्ण! मैं आपकी सेवा करूँगा, आप ही मेरे एकमात्र आश्रय हैं।' ऐसे व्यक्तिको ही सुविधा हो जाती है [कि कृष्ण उसे ग्रहण कर लेते हैं।]

(१०१) वैष्णव और अवैष्णव समान नहीं हैं, दाल-भात और महाप्रसाद समान नहीं हैं। गोविन्द और इतर वस्तु समान नहीं हैं, भगवन्नाम और अन्यनाम समान नहीं हैं।

(१०२) कृष्ण और कार्ष्ण-सेवा (कृष्णके सेवकोंकी सेवा) ही एकमात्र कृत्य है—जब तक हमें यह उपलब्धि नहीं होती, तब तक हम वञ्चित हैं।

(१०३) जो कृष्णके चरणकमलोंका आश्रय करते हैं, उन्हें मायासे उद्धार प्राप्त होता है। जीवका कृष्णसेवाके अतिरिक्त अन्य कोई भी कृत्य नहीं है, कृष्णनामके अतिरिक्त अन्य कोई उपास्य वस्तु नहीं है।

(१०४) काल-प्रभावसे चतुर्दश भुवनपति श्रीगौरसुन्दरके प्रचारित सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनात्मक यथार्थ वेदान्तसिद्धान्तके प्रतिकूल जो चतुर्दश प्रकारके प्रबल मतवाद कलिकालमें प्रचारित हुए हैं—श्रीसायण-माधवने 'सर्वदर्शन-संग्रह' में उनका उल्लेख किया है, उनका संक्षेपमें वर्णन इस प्रकार है—

(१) वेद विद्वेषी अन्याभिलाषी, आध्यात्मिक गुणोपासक नास्तिक चार्वाक सम्प्रदाय।

(२) क्षणिकवादी गुणोपासक नास्तिक तार्किक बौद्ध-सम्प्रदाय।

(३) स्याद्वादी गुणोपासक तार्किक जैन-आर्हत-सम्प्रदाय।

(४) निरीश्वर निर्गुणात्मवादी तार्किक सांख्यवादी कपिल-सम्प्रदाय।

(५) सेश्वर निर्गुणात्मवादी तार्किक पातञ्जल-सम्प्रदाय।

(६) चिज्जड़ समन्वयवादी श्रौतब्रुव केवलाद्वैत-विचारपर (हरि-विमुख) शाङ्कर-सम्प्रदाय।

(७) वाक्यार्थवादी श्रौतबुव सगुणोपासक मीमांसक-सम्प्रदाय।

(८) उत्पत्ति-साधना दृष्टवादी शब्द प्रमाणान्तराङ्गीकारी सत्वगुणोपासक नैयायिक-सम्प्रदाय।

(९) उत्पत्ति-साधना दृष्टवादी शब्दप्रमाणान्तरानङ्गीकारी सत्त्वगुणोपासक वैशेषिक-सम्प्रदाय।

(१०) पदार्थवेदी श्रौतबुव-सत्त्वगुणोपासक वैयाकरण-सम्प्रदाय।

(११) निरस्ततर्क भोगसाधनादृष्टवादी जीवन्मुक्त विचारपर सगुणोपासक शैव रसेश्वर-सम्प्रदाय।

(१२) भोगसाधना दृष्टवादी विदेहमुक्तिवादी आत्मैकावादी सगुणोपासक प्रत्यभिज्ञ-सम्प्रदाय।

(१३) भोगसाधनादृष्टवादी आत्मभेदवादी विदेहमुक्तिवादी कर्मानपेक्ष ईश्वरवादी सगुणोपासक नकुतीश-पाशुपत शैव-सम्प्रदाय।

(१४) भोगसाधना दृष्टवादी विदेहमुक्तिवादी आत्मभेदवादी कर्मसापेक्ष ईश्वरवादी सगुणोपासक शैव-सम्प्रदाय।

(१०५) कृष्णप्रेम—समस्त प्राप्याधिकारोंमें सभीकी अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ प्राप्य है। इसे प्राप्त करनेके लिए श्रवण-कीर्त्तन-लिप्सु सेवोन्मुख इन्द्रियोंकी सहायता ग्रहण करनी होती है।

(१०६) 'श्रीकृष्ण' और 'श्रीकृष्णनाम'—दो पृथक् वस्तु नहीं हैं। विभिन्न रूपोंमें प्रतीत और विभिन्न रूपोंमें ग्राह्य होनेपर भी कृष्णका रूप, गुण, परिकर वैशिष्ट्य और लीला—सभी श्रीनाम हैं।

(१०७) सर्वस्व कृष्णसेवामें नियुक्त करो। सावधान! 'हरिसेवा' के नामपर कनक, कामिनी, प्रतिष्ठा अथवा कुटीनाटीका आश्रय मत करना। ऐसी चेष्टाएँ हरि-विमुखताको छोड़कर और कुछ नहीं हैं। हरिसेवोन्मुख जीवन्मुक्त पुरुष यथासर्वस्व देकर हरिसेवा करते हैं। जो कृष्णार्थके लिए अखिलचेष्टासे युक्त हैं, वे ही मुक्त हैं।

(१०८) वैष्णव निष्किञ्चन होते हैं। उन्हें कोई भी वस्तु लुब्ध नहीं कर सकती। पर-जगत्में अथवा इस जगत्में ऐसी कोई भी लोभनीय वस्तु नहीं है जो कृष्णके चरणनखाग्रकी शोभासे अधिक

लोभनीय हो सके। जहाँ हम भगवान्‌की सेवामें लुब्ध नहीं होते, वहीं पर जानना होगा—माया बहुरूपिणी होकर हमें झपट रही है—आक्रमण कर रही है।

श्रीश्रील प्रभुपाद रचित एवं सम्पादित ग्रन्थावली

(१) प्रह्लाद-चरित्र (५ अध्यायोंमें बङ्गला पद्यमें रचित)

(२) (क-च) भास्कराचार्यकृत सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय वासना-भाष्य, बङ्गानुवाद एवं विवृत्ति सहित; पाश्चात्यगणित रविचन्द्र-सायण-स्पष्ट, लघुजातक, भट्टोत्पल-टीका और बङ्गानुवाद; लघुपाराशरीय अथवा औडुदाय-प्रदीप, भैरव-दत्त टीका, बङ्गानुवाद एवं विवृत्ति सहित; रघुनन्दन भट्टाचार्यकृत ज्योतिषतत्त्व बङ्गानुवाद सहित; पाश्चात्यमतमें कुस्पष्ट साधक समग्र भौमसिद्धान्त; आर्यभट्टका समग्र आर्य-सिद्धान्त; परमादीश्वर-कृत भट्टदीपिका-टीका, दिनकौमुदी, चमत्कार-चिन्तामणि, ज्योतिषतत्त्व-संहिता ('बृहस्पति' एवं 'ज्योतिर्विद' मासिक पत्रमें प्रकाशित)

(३) संस्कृत भक्तमाल (समालोचना)।

(४) श्रीमन्नाथमुनि।

(५) 'निवेदन' साप्ताहिक पत्रमें पारमार्थिक अंश।

(६) यामुनाचार्य ('सज्जनतोषणी' पत्रिकामें प्रकाशित)।

(७) श्रीरामानुजाचार्य ('सज्जनतोषणी' पत्रिकामें प्रकाशित)।

(८) 'बङ्गे सामाजिकता' (समाज एवं धर्म सम्प्रदायका समालोचना-ग्रन्थ)।

(९) ब्राह्मण एवं वैष्णवका तारतम्य-विषयक सिद्धान्त।

(१०) श्रीचैतन्यचरितामृतका अनुभाष्य।

(११) उपदेशामृतकी अनुवृत्ति।

(१२) गौरकृष्णोदय (सम्पादित)।

(१३) श्रीमद्भगवद्गीता (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी टीका एवं श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरके बङ्गानुवादके साथ सम्पादित)।

(१४) नवद्वीप-पञ्जिका।

(१५) सङ्गीतमाधव-महाकाव्य ('सज्जनतोषणी' में प्रकाशित)।

(१६) श्रील भक्तिविनोद ठाकुर प्रतिष्ठित 'सज्जनतोषणी' पत्रिकामें सम्पादन एवं विविध मूल्यवान सारगर्भ प्रबन्धावलीका प्रकाश।

(१७) शिक्षाष्टकका लघु-विवरण।

(१८) वैष्णव-मञ्जुषा-समाहृति (वैष्णव-परिभाषाका अभिधान)।

(१९) श्रीमद्भागवत (गौरकिशोरान्वय, स्वानन्दकुञ्जानुवाद, अनन्त गोपाल तथ्य एवं सिन्धुवैभव-विवृत्ति सहित)।

(२०) श्रीचैतन्यभागवत (गौड़ीय-भाष्य सहित)।

(२१) भक्तिसन्दर्भ (गौड़ीय-भाष्य सहित)।

(२२) प्रमेयरत्नावली (गौड़ीय-भाष्य सहित)।

(२३) श्रीचैतन्यचन्द्रामृत और नवद्वीपशतक (श्रील प्रबोधानन्द-सरस्वती-प्रणीत, अन्वय-बङ्गानुवाद एवं गौड़ीय-भाष्य सहित)।

(२४) वेदान्त-तत्त्वसार (श्रीरामानुजाचार्य-प्रणीत बङ्गानुवाद सहित)।

(२५) मणिमञ्जरी।

(२६) श्रीमन्मध्वाचार्य कृत 'सदाचार स्मृतिः' (बङ्गानुवाद एवं परिशिष्ट सहित)।

(२७) श्रीनवद्वीपधाम-ग्रन्थमाला।

(२८) सज्जनतोषणी अथवा Harmonist (अँग्रेजी, संस्कृत एवं हिन्दी भाषामें मासिक पत्रिका)।

(२९) श्रीचैतन्यभागवत (अँग्रेजी अनुवाद)।

(३०) प्रेमभक्ति-चन्द्रिका (श्रील नरोत्तम ठाकुर कृत)।

(३१) श्रीहरिनामामृत-व्याकरण (श्रील जीव गोस्वामी कृत)।

(३२) श्रीचैतन्यमङ्गल (श्रील लोचनदास ठाकुर विरचित)।

(३३) हरिभक्ति-कल्पलतिका (बङ्गानुवाद)।

(३४) Rai Ramananda (अँग्रेजीमें)।

(३५) Shree Brahma Samhita (अँग्रेजीमें)।

(३६) Relative Worlds (अँग्रेजीमें)।

(३७) A Few Words on Vedanta (अँग्रेजीमें)।

(३८) The Vedanta -- Its Morphology and Ontology (अँग्रेजीमें)।

(३९) परतन्त्र जगत्-द्वय।

(४०) पुरुषार्थ-विनिर्णय।

(४१) व्यासपूजामें प्रत्यभिभाषण।

(४२) विज्ञप्ति इत्यादि।

इन सबके अतिरिक्त श्रीश्रील प्रभुपाद प्रतिष्ठित 'गौड़ीय' साप्ताहिक पत्रमें उनके द्वारा लिखित प्रबन्धावली। श्रील ठाकुर भक्तिविनोद—ग्रन्थावली जिसकी तालिका तृतीय अध्यायमें प्रकाशित है, उन समस्त ग्रन्थोंका सम्पादन।

श्रीश्रील प्रभुपाद सम्पादित एवं प्रवर्त्तित साप्ताहिक पत्रसमूह

(१) सज्जनतोषणी अथवा Harmonist (मासिक अँग्रेजी)।

(२) गौड़ीय (बाङ्‌ला साप्ताहिक)।

(३) दैनिक-नदिया-प्रकाश (बाङ्‌ला दैनिक)।

(४) भागवत (हिन्दी मासिक)।

(५) कीर्त्तन (असमिया भाषामें मासिक)।

(६) परमार्थी (उत्कल भाषामें पाक्षिक) ।

इन सबके अतिरिक्त श्रील प्रभुपादके अध्यापन-लीलाकालमें निम्नलिखित पत्रिकाओंका सम्पादन—

(१) बृहस्पति अथवा Scientific India (गणित एवं फलित ज्योतिष विषयक मासिक पत्र)।

(२) ज्योतिर्विद (गणित एवं फलित ज्योतिष-विषयक मासिक पत्र)।

(३) निवेदन अथवा Sign Board (साप्ताहिक पत्र)।

श्रील प्रभुपाद द्वारा सङ्कल्पित कुछ ग्रन्थोंकी तालिका

(१) श्रील सनातन गोस्वामी रचित 'बृहद्भागवतामृत'

(२) श्रील रूप गोस्वामी प्रणीत 'संक्षेप-भागवतामृत'

(३) श्रील जीव गोस्वामी विरचित 'भागवत' सन्दर्भ अथवा षट्‌सन्दर्भ

(४) सर्वसंवादिनी

(५) श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धु विवृत्ति

(६) श्रील रूप गोस्वामी प्रभुकी 'स्तवमाला' (अन्वय एवं अनुवाद)

(७) श्रील रघुनाथ दास गोस्वामी प्रणीत स्तवावली (अन्वय एवं अनुवाद)

(८) श्रील रूप गोस्वामीकी पद्यावली

(९) श्रीगौड़ीयाचार्यगणोंके समस्त ग्रन्थोंका अन्ततः मूल-मुद्रण

(१०) वैष्णव-स्मृतिकल्पद्रुम अथवा अष्टोत्तरशततत्त्व

(११) वेदान्तकल्पद्रुम

(१२) Shree Rupa Gosvami (अँग्रेजीमें)

(१३) पारमार्थिक भारत

(१४) प्रधान-प्रधान कुछ उपनिषद् (वैष्णवाचार्य-भाष्य एवं गौड़ीय व्याख्या)

(१५) वेदान्तदर्शन (गौड़ीय भाष्य)

(१६) श्रीमद्भागवतके दशम-स्कन्धके श्रील सनातन, श्रीजीव, श्रीविजयध्वज इत्यादिकी टीकाएँ एवं स्वरचित विवृत्ति

(१७) Hints on the Study of Bhagavatam

(१८) श्रीहरिभक्तिविलास-सार

(१९) श्रीकृष्णकर्णामृत

(२०) श्रीमद्भक्तिविनोद-कृत 'स्वनियम-द्वादशकम्'

(२१) वेदान्तस्यमन्तक

(२२) सिद्धान्तरत्न अथवा भाष्यपीठक

(२३) श्रीमद्भगवद्गीता (श्रीरामानुज एवं श्रीधरकी टीका)

(२४) वैष्णवमञ्जूषा

(२५) श्रीमहाभारत (श्रीवादिराजगोस्वामीकृत टीका)

(२६) श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरका 'श्रीआम्नाय-सूत्र' (श्रौत, स्मार्त्त एवं प्रकरण भाष्य सहित)

(२७) श्रीकृष्णसंहिता (संस्कृत टीका), इत्यादि

श्रीश्रील प्रभुपाद द्वारा प्रतिष्ठित शुद्धभक्ति मठ और प्रतिष्ठान

(१) श्रीचैतन्य मठ (आकर मठराज) श्रीधाम मायापुर, नदीया

(२) श्रीगौड़ीय मठ, बागबाजार, कोलकाता

(३) श्रीयोगपीठ—श्रीमन्दिर (श्रीमन्महाप्रभुका आविर्भाव-पीठ) श्रीधाम मायापुर, नदीया

(४) श्रीअद्वैत-भवन, श्रीधाम मायापुर

(५) श्रीवास-अङ्गन, श्रीधाम मायापुर

(६) चाँदकाजीका समाधि-पाट, श्रीधाम मायापुर

(७) श्रीमुरारी गुप्तका श्रीपाट, श्रीधाम मायापुर

(८) परविद्यापीठ, श्रीधाम मायापुर

(९) ठाकुर भक्तिविनोद इंस्टीट्यूट, श्रीधाम मायापुर

(१०) अनुकूल कृष्णानुशीलनागार अथवा ठाकुर भक्तिविनोद-रिसर्च इंस्टीट्यूट, श्रीधाम मायापुर

(११) जयदेव गौड़ीय मठालय, श्रीनाथपुर, नदीया

(१२) स्वानन्द-सुखद-कुञ्ज, श्रीगोद्रुम, स्वरूपगञ्ज, नदीया

(१३) सुवर्ण विहार गौड़ीय मठ, गौड़पुर, नदीया

(१४) श्रीकुञ्ज-कुटीर, कृष्णनगर, नदीया

(१५) तेतिया-कुञ्जकानन, कृष्णनगर, नदीया

(१६) श्रीभागवत आसन, कृष्णनगर, नदीया

(१७) श्रीगौर-गदाधर मठ, चाँपाहाटी, वर्द्धमान

(१८) श्रीमोदद्रुम-छत्र, मामगाछि, वर्द्धमान

(१९) श्रीसार्वभौम गौड़ीय मठालय, विद्यानगर, वर्द्धमान

(२०) रुद्रद्वीप गौड़ीय मठ, श्रीधाम मायापुर, नदीया

(२१) श्रीएकायन मठ, हाँसखालि, नदीया

(२२) श्रीमहेशपण्डितका पाट, चाकदह, नदीया

(२३) श्रीमाधव गौड़ीय मठ, ढाका (वर्त्तमानमें बंगलादेश)

(२४) श्रीगोपालजी मठ, कमलापुर, ढाका (बंगलादेश)

(२५) श्रीगदाई-गौराङ्ग मठ, बालियाटी, ढाका (बंगलादेश)

(२६) श्रीजगन्नाथ गौड़ीय मठ, मयमनसिंह (बंगलादेश)

(२७) आमला-योड़ा-प्रपन्नाश्रम-मठ राजबाँध, वर्द्धमान (प॰ब॰)

(२८) श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ, डुमुरकुण्डा, मानभूम (प॰ब॰)

(२९) श्रीभागवत-जनानन्द मठ, वासुदेवपुर, मेदिनीपुर (प॰ब॰)

(३०) अमर्षि गौड़ीय मठ, अमर्षि, मेदिनीपुर (प॰ब॰)

(३१) ब्राह्मणपाड़ा प्रपन्नाश्रम मठ, ब्राह्मणपाड़ा, हावड़ा (प॰ब॰)

(३२) दार्जिलिङ्ग गौड़ीय मठ, दार्जिलिङ्ग (प॰ब॰)

(३३) राणाघाट गौड़ीय मठासन (प॰ब॰)
(३४) पुँड़ा श्रीगौड़ीय मठ, पुँड़ा चौबीस परगना (प॰ब॰)
(३५) गोयाल पाड़ा प्रपन्नाश्रम, आसाम
(३६) सरभोग गौड़ीय मठ, आसाम
(३७) श्रीपुरुषोत्तम मठ, पुरी, उड़ीसा
(३८) भक्तिकुटी, पुरी, उड़ीसा
(३९) त्रिदण्डी गौड़ीय मठ, भुवनेश्वर, उड़ीसा
(४०) श्रीब्रह्म–गौड़ीय मठ, आलालनाथ, पुरी, उड़ीसा
(४१) श्रीसच्चिदानन्द मठ, कटक, उड़ीसा
(४२) श्रीरामानन्द गौड़ीय मठ, कबूर, माद्रास
(४३) माद्राज गौड़ीय मठ, माद्रास
(४४) पटना गौड़ीय मठ, बिहार
(४५) गया गौड़ीय मठ, गया, बिहार
(४६) श्रीसनातन गौड़ीय मठ, बनारस सिटी, उत्तर प्रदेश
(४७) श्रीरूप गौड़ीय मठ, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश
(४८) श्रीपरमहंस मठ, नैमिषारण्य, उत्तर प्रदेश
(४९) श्रीव्यास गौड़ीय मठ, कुरुक्षेत्र, हरियाणा
(५०) श्रीसारस्वत गौड़ीय मठ, हरिद्वार, उत्तराञ्चल
(५१) श्रीकृष्णचैतन्य मठ, श्रीधाम वृन्दावन, उत्तर प्रदेश
(५२) श्रीमथुरा गौड़ीय मठालय, मथुरा, उत्तर प्रदेश
(५३) श्रीकुञ्जबिहारी मठ, श्रीराधाकुण्ड, उत्तर प्रदेश
(५४) व्रज स्वानन्द सुखदकुञ्ज, श्रीराधाकुण्ड, उत्तर प्रदेश
(५५) सङ्केतबिहारी मठ, बरसाना, मथुरा, उत्तर प्रदेश
(५६) नन्दग्राम गौड़ीय मठालय, नन्दग्राम, मथुरा, उत्तर प्रदेश
(५७) बरसाना गौड़ीय मठालय, बरसाना, मथुरा, उत्तर प्रदेश
(५८) गोष्ठबिहारी मठ, शेषशायी, उत्तर प्रदेश
(५९) दिल्ली गौड़ीय मठ, नई दिल्ली
(६०) बॉम्बे गौड़ीय मठ, मुम्बई
(६१) लन्दन गौड़ीय मठालय, लन्दन
(६२) रङ्गून मठालय, रङ्गून, इत्यादि

सर्वान्तमें अधमकी विज्ञप्ति

गुरुदेव !

जानि ना भकति, करमे प्रगति,
किरूपे उद्धार पाइ।
तोमार दयाय, पतित तड़ाय,
आश्रय लयेछि ताइ॥

करुणा-प्रकाशे, बालक वयसे,
दर्शन दियाछ मोरे।
तोमार करुणा, तथापि बुझि ना,
रहिया मायार घोरे॥

करे वा बुझिब, निस्तार मागिब,
तोमार चरण स्मरि।
जीवन-सन्ध्याय, पौछिया हेथाय,
सर्वदा प्रार्थना करि॥

तुमि त' ठाकुर, तोमार-कुकुर,
बसिया आछये द्वारे।
करुणा करिया, राखह धरिया,
पालह यतन करे॥

तोमार भारती, करुणा-मुरति,
आनिया तोमारे दिल।
कतना यतने, तोमार सेवने,
आमारे शिक्षित कैल॥

तोमार 'आसन', करिया स्थापन,
अधमे छाड़िया गेल।
वेदना पाइया, कातरे काँदिया
हृदये पाइनु शेल॥

यखन तोमार, ग्रन्थेर प्रचार,
करिते आदेश हय।

शरण लइया, मिनति करिया,
प्रार्थना करिनु ताय॥
कि रूपे आदेश, पालिब विशेष,
चिन्ताय भावित मन।
हृदये बसिया, कहिले डाकिया,
आमार वचन शुन॥
तोमार यतन, देखिब यखन,
शक्तिर सञ्चार हबे।
तखन स्फुरिबे, लेखनी चलिबे,
प्रकाश हइबे तबे॥
तोमार आपन, 'कुञ्जदा' तखन,
आमारे प्रकाश कैल।
वेदान्त-प्रकाश, करिते आदेश,
प्रभुर विशेष छिल॥
प्रभुर आदेश, पालिते विशेष,
तोमार सङ्कल्प हैल।
ताँहार करुणा, दियाछे प्रेरणा,
ताहाइ प्रकाश पेल॥
सूत्रेर प्रमाण, भागवत पुराण,
सर्वत्र रहये यदि।
ताहाते सवार, सन्तोष अपार,
बहिबे, प्रेमेर नदी॥
तोमार प्रेष्ठेर, आदेशे आमार,
वर्द्धित हइल आशा।
तखन आमार, सिद्धान्त-कणार,
स्फुरित हइल भाषा॥
तोमार अभिन्न, भक्तिते अनन्य,
श्रीभक्तिविलास तीर्थ।

ताँहार महिमा, नाहिक-तुलना,
सर्वस्व गुरुर स्वार्थ॥
आमार जीवन, सार्थक यखन,
वैष्णव-सेवार फले।
गुरुर सेवक, आमार पालक,
ताड़िबे आमारे हेले॥
वैष्णव-सेविब, जीवन यापिब।
करे वा हइबे मोर?
ताँदेर करुणा, कदापि भूलि ना।
एहो कि हइबे मोर?
श्रीरूप-सिद्धान्ति! करो ना विभ्रान्ति,
बुझिया देखह सब।
संसार-भाविते, नाहिक धराते,
वैष्णव-विहीन रब॥
वैष्णव-सेवन, श्रीनाम-ग्रहण,
सकल उपाय-सार।
अनन्य भजन, अनन्य चिन्तन,
सौभाग्ये हइबे याँर॥
वैष्णव-चरण, करिया वन्दन,
मागिब कृपार लेश।
ताँदेर करुणा, नाहिक तुलना,
जीवन आमार शेष॥
वैष्णव-गोष्ठीते, आश्रय लइते,
बड़इ वासना मोर।
अयोग्य बलिया, आछिगो पड़िया,
विपदे घिरेछे घोर॥
वैष्णव-आश्रय, सकल समय,
सकल मङ्गल दिवे।

आमित' तोमार, तुमित' आमार,
विचार यखन हबे॥
श्रीगुरु-सेवक, धर्मेर धारक,
ताँदेर चरणे रति।
सर्वदा प्रार्थना, करिते वासना,
सतीर्थ गणेर प्रति॥

वेदान्त-पठन, सकले यखन,
करिते इच्छुक हबे।
व्यासेर रचना, नाहिक तुलना,
अन्तरे आनन्द पाबे॥

भाष्येर विचार, करिते अपार,
गोविन्द-स्मरण हबे।
गोविन्द-भाष्येरे, सौभाग्ये आदरे,
तत्त्वेर विचार पाबे॥

एमत हबे ना, कि दिव तुलना,
पड़िया देखह भाई।
आमित अधम, सकले उत्तम,
भाष्येर महिमा गाइ॥

करुणा करिया, देखगो पड़िया,
विशुद्ध सिद्धान्त पाबे।
सुतत्त्व जानिबे, आनन्द पाइबे,
सर्वत्र विराग हबे॥

भक्तिर सन्धान, पाइबे तखन,
जीवन सार्थक हबे।
शाश्वत जीवन, लभिबे तखन,
पार्षद हइबे तबे॥

अर्थात् हे गुरुदेव! मैं भक्ति नहीं जानता, कर्ममें ही मैं अग्रसर हूँ, मेरा उद्धार किस प्रकारसे होगा? आपकी कृपासे पतितको भी त्राण मिल जाता है, इसलिए मैंने आपका आश्रय ग्रहण किया है।

मेरे बाल्य–कालमें अपनी करुणा प्रकाशित करके आपने मुझे दर्शन दिया था, परन्तु तथापि आपके करुणा–औदार्यको मैं समझ नहीं सका और मायाके जालमें ही फँसा रहा। [हे देव!] आपकी अमन्द–दयाको मैं कब समझूँगा, कब मेरा निस्तार होगा, इसी हेतु मैं आपके चरणकमलका स्मरण करता है। अब तो जीवनका सन्ध्या–काल उपस्थित हो गया है, जीवनकी इस अन्तिम बेलामें आकर मैं आपसे सर्वदा यही निवेदन करता हूँ—आप मेरे ठाकुर (आश्रयदाता) हैं और मैं आपके द्वारपर बैठा हुआ आपका कुक्कुर हूँ। मैं आपके कृपा–वारि–वर्षणकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। [हे परम दयालु!] करुणापूर्वक मुझे बाँधकर यत्नपूर्वक आप मेरा पालन कीजिये।

आपके शिष्यवर 'श्रीभारती' [श्रीश्रीमद्भक्तिविवेक भारती गोस्वामी महाराज] जो साक्षात् करुणाकी मूर्त्ति हैं, उन्होंने मुझे आपके श्रीचरणोंमें लाकर अर्पित कर दिया था तथा बड़े यत्नपूर्वक उन्होंने मुझे आपकी सेवाके लिए सुशिक्षित किया था। आपके आदेशसे उन्होंने आपका 'आसन' [श्रीसारस्वत गौड़ीय आसन और मिशनरूपी शुद्धभक्ति प्रचारकेन्द्रों] की स्थापना की और मुझ अधमको छोड़कर [इस जगत्से] चले गये। आज पर्यन्त उनका विरह मेरे हृदयमें शूलकी भाँति चुभता रहता है, मैं इस विरह–वेदनाको सहते हुए कातरतापूर्वक रात्रि–दिन रोता रहता हूँ।

जिस समय ग्रन्थ–प्रचारके लिए आपका आदेश प्राप्त हुआ, तब मैं आपके श्रीचरणारविन्दमें शरणागत होकर मिनतिपूर्वक प्रार्थना करने लगा। मन इसी चिन्तामें निमग्न रहता था कि किस प्रकारसे इस आदेश–विशेषका पालन करूँगा। तब आप मेरे अन्तःकरणमें विराजमान हुए और मुझे बुलाकर मुझसे कहा,—मेरी बात सुनो, जब इस कार्यके लिए मुझे तुम्हारी प्रचेष्टा दिखायी देगी, तब तुम्हारे हृदयमें शक्तिका सञ्चार हो जायेगा। हृदयमें विचारोंका स्फुरण होगा, वेदान्तार्थ प्रकाशित होगा और लेखनी चलती रहेगी।

उसी समय आपके प्रिय कुञ्जदा [श्रीश्रीमद्भक्तिविलास तीर्थ गोस्वामी महाराज] ने मेरे निकट प्रकाशित किया कि वेदान्त–प्रकाशनार्थ आपका [श्रील प्रभुपादका] विशेष आदेश था। [अहे सिद्धान्ती

महाराज!] श्रील प्रभुपादके इस आदेश-विशेषका पालन करनेके लिए आपके हृदयमें सङ्कल्प हुआ है। तब उन्होंने आपकी ही कृपा-करुणासे प्रेरणा प्राप्त करके मुझे उसके लिए अनुप्राणित किया जिसके फलस्वरूप यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। [श्रील भक्तिविलास तीर्थ गोस्वामी महाराजका आदेश था—] यदि भागवत पुराणके वचन प्रत्येक सूत्रके प्रमाण स्वरूपमें रहेंगे, तो इससे सभीके हृदयमें अपार सन्तोष अनुभव होगा और हृदयमें प्रेम-सरित् प्रवाहित होकर आनन्द-वन्याको उच्छलित करेगी।

आपके प्रेष्ठ [श्रीकुञ्जदा] के आदेशसे मुझमें आशाकी अभिवृद्धि हुई और सिद्धान्त-कणाकी भाषा मेरे हृदयमें स्फुरित हुई। 'श्रीभक्तिविलास तीर्थ' आपसे अभिन्न हैं, उनकी शक्ति अनन्य है, उनकी महिमाकी तुलना किसीसे नहीं की जा सकती। उन्होंने अपना सर्वस्व आप [श्रील प्रभुपाद] की सेवाके उद्देश्यसे आपके चरणोंमें समर्पण कर दिया था। जब मेरा जीवन वैष्णव-कृपाके फलस्वरूप सार्थक होगा, श्रीगुरुदेवके सेवक जो कि मेरे पालक हैं, वे मेरा सहज ही उद्धार कर देंगे। कब मेरा ऐसा समय आयेगा, जब मेरा सम्पूर्ण जीवन वैष्णव-सेवामें ही अतिवाहित होगा—जीवनका उत्सर्ग उनके लिए ही होगा। ऐसा कब होगा, जब उनकी कृपा-करुणाको मैं एक क्षणके लिए भी नहीं भूल पाऊँगा? [अहे] श्रीरूपसिद्धान्ति! कोई भूल मत कर बैठना। सारे कार्य देख-समझकर करना। वैष्णवोंके अतिरिक्त इस संसारसे तारण करनेवाला इस धराधाममें अन्य कोई नहीं है। समस्त साधनका सार है—श्रीवैष्णव-सेवन एवं श्रीनाम-ग्रहण। जो इस साधन-सारको अपने जीवनमें पालन करेगा उसीका अनन्य भजन और अनन्य चिन्तनमें सौभाग्य होगा। वैष्णवोंके श्रीचरणोंकी वन्दना करते हुए मैं उनकी कृपालेशके लिए प्रार्थना करता हूँ। वैष्णवकृपा अप्रतिम है, इसके बिना तो जीवन निरर्थक है।

वैष्णव-सङ्गका, वैष्णव-गोष्ठीका आश्रय लेनेकी मेरी अपार अभिलाषा है। अयोग्य होनेके कारण मैं इस संसारमें आ पड़ा हूँ और चारों ओर घोर विपद्से ग्रस्त हूँ। जब वैष्णवोंके प्रति ऐसा विचार आयेगा कि 'मैं आपका हूँ और आप मेरे हैं', तभी वैष्णवोंके

चरणाश्रयसे सभीका सदा-सर्वदा मङ्गल होगा। श्रीगुरुदेवके सेवक धर्म-धारक हैं—मेरी सदा-सर्वदा प्रार्थना एवं अभिलाषा है कि सभी सतीर्थगण-गुरु-भाइयोंके चरणकमलोंमें मेरी रति हो।

जब सभीकी वेदान्त-पठनकी इच्छा होगी, तब श्रीवेदव्यास रचित इस अतुलनीय रचनाको पढ़नेसे अन्तरमें अत्युल्लास तरङ्गायित होगा एवं हृदय परमानन्द प्राप्त करेगा। वेदान्तके भाष्यका विचार करनेके साथ ही श्रीगोविन्ददेवजीका अपार स्मरण होगा। जिनका सौभाग्य होगा, वे ही श्रीगोविन्दभाष्यका आदर कर सकेंगे और तत्त्व-विचारको हृदयङ्गम कर पायेंगे। ऐसा होगा? कि नहीं होगा? इसपर मैं क्या कहूँ, क्या तुलना दूँ। मेरे भाईयो! पढ़कर तो देखो। मैं अधम हूँ, और आप सभी उत्तम हैं, [तथापि] मैं इस भाष्यकी महिमाका गान कर रहा हूँ। करुणा करके इस भाष्यको पढ़कर तो देखिये, इसके पठनसे ही विशुद्ध सिद्धान्तमें प्रवेश कर पायेंगे, विशुद्ध तत्त्वका विज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, विशुद्ध आनन्दकी उपलब्धि होगी और सर्वत्र विशुद्ध वैराग्यका उदय होगा। [भाईयो!] ऐसा होनेपर ही आप भक्तिका सन्धान प्राप्त करेंगे और तभी जीवन सार्थक होगा। भक्तिसे ही पार्षद-पदकी प्राप्ति द्वारा शाश्वत, नित्य एवं आनन्दमय जीवनकी प्राप्ति होगी।

श्रील प्रभुपाद आविर्भाव-तिथि
२६ फरवरी, १९७०

श्रीगुरु-वैष्णव-चरणरेणु-सेवाकाङ्क्षी
श्रीभक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती
[ग्रन्थ-सम्पादक बँगला संस्करण]

श्रीगोविन्दभाष्यका कथासूत्र

[कोलकत्ता विश्वविद्यालयके संस्कृत विभागके अध्यक्ष आशुतोष अध्यापक। श्रीअद्वैतवंश्य डॉक्टर श्रीकृष्णगोपाल गोस्वामी शास्त्री, एम॰ए॰, पी॰आर॰एस॰, डि॰फिल॰, एफ॰आर॰ए॰एस॰ (लन्दन) स्मृति-मीमांसातीर्थ महोदय द्वारा लिखित]

श्रीचैतन्यदेवके आविर्भावने बङ्गालियोंके अध्यात्म-बोध एवं जीवन-चर्याके सभी क्षेत्रोंको अपूर्व रूपसे प्लावित किया है। काव्यके नन्दनकाननमें, शास्त्रकी कन्दरामें स्थित रहस्यमय लोकमें, साधनाके अन्तरलालित भावकल्पलोकमें, महिमामय जीवनादर्शके सार्थक रूपायनमें (रूपान्तरणमें)—सर्वत्र एक नव जागृतिका तडित्-प्रवाह सञ्चारित हुआ है। जीवनके सर्वान्तरमें, मननकी प्रत्येक शाखामें—धर्म और दर्शनमें, काव्य और अलङ्कारमें, चर्चा और चर्यामें, भाव और कर्ममें एक अफुरन्त (अप्रतिहत) पर्याप्तिकी प्रेरणाने प्रकाश प्राप्त किया है। श्रीचैतन्यके नव-उद्बोधित प्रेमभक्तिके उत्ससे ही यह अभूतपूर्व उत्सार (स्रोत-प्रवाह) है।

वृन्दावन-लीलाके महाकवि ऋषि बादरायणने श्रीमद्भागवतकी हृत्कर्णरसायन कथाके रूपमें श्रीकृष्णके रसघन माधुर्यका एक अनवद्य वाङ्मयरूप उपहार प्रदान किया है। आराधिका-शिरोमणि श्रीराधिका अखिल रसामृतमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी-भावमूर्त्ति हैं। अगाधप्रेममयी श्रीराधिका आदि गोपियोंके आनुगत्यमें रसधन श्रीगोविन्दकी सेवामें ही जीवनकी चरितार्थता है। जीवनका धर्म है—अनन्त माधुर्यमय लीलामयके अखण्ड प्रीतिरसको अपने हृदयमें अनुभव करना और उस अपार्थिव प्रेमानुभूतिकी अपरिसीमित ह्लाद-धाराको विश्ववासियोंमें वितरण करना। श्रीमन्महाप्रभुके द्वारा आचरित और प्रचारित प्रेमसम्पद्का यह तत्त्व पहले अनाविष्कृत था, किन्तु कालक्रमसे श्रीगौराङ्ग-लीला, श्रीवृन्दावन-लीलाके निगूढ़ साङ्केतिक भावोंमें अभिनव भाव-व्यञ्चना प्राप्त करके समृद्ध हुई है।

श्रीचैतन्यकी प्रेरणाप्रसूत दिव्य दृष्टि प्राप्त करके रूप, सनातन इत्यादि गोस्वामियोंने श्रीश्रीराधाकृष्णके उन्नतोज्ज्वलरसकी अलौकिक

रूपच्छटा एवं प्रेमभक्तिकी शाश्वत द्युतिको अपूर्व रचनासम्भार (रचनाओं) में विकीर्ण किया है। वैष्णव मनीषीवृन्द मात्र भावावेगके स्थायित्वके विश्वासी नहीं थे। दार्शनिक प्रतिष्ठाकी भित्तिसे भिन्न कोई भी सत्य कालजयी महिमाका गौरव-अर्जन नहीं कर सकता। नीलाचलकी ध्यान-तन्मयतामें श्रीमन्महाप्रभुने रूप-सनातनके प्रति तत्त्वाश्रयकी प्रतिष्ठाको इङ्गित किया था। श्रील रूप-सनातनके सुयोग्य भतीजे श्रीजीवगोस्वामीने उन दोनोंके पद-प्रान्तमें रहकर और उनके ही पदाङ्कका अनुसरण करके अगाध पाण्डित्य, विराट मनीषा एवं सुगम्भीर सूक्ष्मानुभूतिके आश्चर्यजनक समाहारमें गौड़ीय-वैष्णव-दर्शनकी शोधपरक रचनाएँ रची थीं। उन्होंने दार्शनिक शास्त्ररत्न 'षट्सन्दर्भ' और उसका परिपूरक 'सर्वसंवादिनी' ग्रन्थका प्रणयन किया था। उनके द्वारा प्रणीत 'तत्त्व', 'भगवत्', 'परमात्म' और 'श्रीकृष्ण'—इन चार सन्दर्भोंमें सम्बन्धतत्त्व आलोचित हुआ है। मूल प्रतिपाद्य वस्तुके साथ अन्यान्य पदार्थोंका जो सम्पर्क है, उसीको सम्बन्ध कहा जाता है; प्रथम चारका मूल प्रतिपाद्य विषय है—भगवान् श्रीकृष्णरूप परमतत्त्व। वे ही एकमात्र तत्त्व हैं और उसी तत्त्वका सर्वप्रमाण सार—श्रीमद्भागवत अविसंवादित (बिना किसी विवादके) रूपसे एकमात्र प्रमाण और प्रधान उपजीव्य है। यही ग्रन्थ ब्रह्मसूत्रका अकृत्रिम भाष्य है। भक्ति जो कि अभिधेय अथवा साधन है—भक्तिसन्दर्भमें वही प्रतिपादित हुआ है। प्रथमोक्त सन्दर्भ-चतुष्टयका मूल प्रतिपाद्य स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उस तत्त्वको प्राप्त करनेका जो स्वाभाविक उपाय है, वही अभिधेय है। भक्ति जीवकी स्वरूप-उपलब्धिका साधन है और वही उसकी स्वाभाविक वृत्ति है। *'कृष्ण-भक्ति अभिधेय सर्वशास्त्रे कय'* (चैतन्यचरितामृत) 'सभी शास्त्र कहते हैं कि—कृष्णभक्ति ही अभिधेय है।' कृष्ण-प्रेम होना भक्तिका प्रयोजन अथवा फल है। यही जीवका परम-पुरुषार्थ है। 'प्रीतिसन्दर्भ' में इसीकी आलोचना है। आनन्दघन श्रीभगवान्‌को प्राप्त करके जीव अपने यथार्थ आनन्द-कण स्वरूपकी उपलब्धि करता है—*'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'* (तैत्तिरीय उपनिषद)।

वेद वेदान्तवेद्य दार्शनिक प्रस्थान (सिद्धान्त) के विषयमें भूतकालके इतिहासमें जो मतवाद गढ़े गये थे, उन प्राचीन मतोंके साथ गौड़ीय-

वैष्णव-दर्शनका इतिहासगत साम्प्रदायिक योग अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतीत-दर्शनके चिन्तनकी दुर्बलता अथवा असारताके प्रति श्रीजीवगोस्वामीकी सतर्क दृष्टि थी। उन्होंने युक्तिमत्ताके साथ उसका खण्डन करके श्रीचैतन्य प्रवर्त्तित धर्मचेतनाके साथ सङ्गतिकी रक्षा करते हुए असामान्य समन्वयी मनीषाका परिचय दिया था। इस सिद्धान्त-स्थापनमें श्रीमद्भागवतको ही उन्होंने ब्रह्मसूत्रके अकृत्रिम भाष्यके रूपमें ग्रहण किया था। कहा गया है कि व्यासदेवने वेदान्तसूत्र रचनाके बाद जब देखा कि उसकी नानाविध अपव्याख्याएँ हो रही हैं, तभी नारदके उपदेशसे वेदान्तके अकृत्रिम भाष्य रूपमें समाधिस्थ-अवस्थामें उन्होंने श्रीमद्भागवतकी रचना की। श्रीमन्महाप्रभुके अनुगामी गोस्वामीवृन्द श्रीमद्भागवतको ही ब्रह्मसूत्रके एकमात्र अकृत्रिम भाष्यके रूपमें मात्र शिरोधार्य करते हैं, ऐसा नहीं है, उसे हृदयमें अनुभूतिके रूपमें ग्रहण भी करते हैं।

वेदान्तसूत्रके प्राचीन इतिहासमें ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या-प्रसङ्गमें नाना मतोंकी प्रतिष्ठा हुई है। श्रीशङ्कराचार्यने अपने बलिष्ठ युक्तिजालसे निर्विशेष ब्रह्मवादकी स्थापना की। उनके मतमें निर्गुण एवं निरुपाधिक ब्रह्म ही एकमात्र त्रिकालवेद्य सत्य है। जीव और जगत्के रूपमें ब्रह्मसे भिन्न पृथक् अस्तित्व कुछ नहीं है। रज्जुमें सर्पकी प्रतीतिके समान यह जगत् ब्रह्मका विवर्त्त कार्य है, माया अथवा मिथ्या ज्ञान दूर होनेपर नित्य सत्यस्वरूप उस ब्रह्मकी उपलब्धि होती है। ब्रह्मकी उपलब्धि होनेपर मोक्ष होता है, किन्तु वैष्णव वेदान्तकी अध्यात्म साधनाकी आकुति (आर्त्त प्रार्थना) जगन्मिथ्यात्वकी मरीचिकामें अथवा रूप-रस-माधुर्य-रिक्त निर्गुण ब्रह्मकी औसर भूमिमें निःशेषित (सम्पूर्ण रूपसे) वपित अथवा सिञ्चित नहीं होती। अतएव वैष्णव-वेदान्तके पूर्वाचार्य-गण भगवान् और भक्तमें सेव्य-सेवक भावकी प्रत्यय-प्रतिष्ठाके लिए आचार्य शङ्करके मायावाद-खण्डनमें व्यापृत हो गये एवं कालक्रमसे श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनक—ये चार सम्प्रदाय प्रतिष्ठित किये गये।

श्रीसम्प्रदायके आचार्य श्रीरामानुजने स्वप्रणीत 'श्रीभाष्यमें' 'विशिष्टाद्वैत-वादकी' भूमिका रची। उनके मतमें ब्रह्म सगुण हैं, जगत् एवं जीवके

साथ उनका शरीर–शरीरी सम्बन्ध है। जीव और जगत् उनके बाह्य शरीर हैं एवं वे दोनों सर्वदा ही ब्रह्मके अधीन हैं। उनमें जीव चित् है, माया अथवा जगत् अचित् है एवं सगुण ब्रह्म अथवा ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हैं। ब्रह्म जीव–जगत्–रूप विशेषणोंसे विशिष्ट होकर, एक अद्वैतरूपमें विद्यमान है। अतएव उनमें जिस प्रकारसे भेद है, उस प्रकारसे विशेष्यके सहित विशेषणका अपृथक् सम्बन्ध रहनेके कारण पुनः अभेद भी है। कार्यतः रामानुजका विशिष्टाद्वैतवाद स्वाभाविक भेदाभेदका भी सङ्केत देता है।

ब्रह्म सम्प्रदायके आचार्य श्रीपाद मध्वाचार्य हैं (अन्य नाम आनन्दतीर्थ है)। उनके 'सूत्रभाष्य' और 'अनुव्याख्यान' में जीव और ब्रह्म जो एक नहीं हैं—उसीको प्रतिष्ठित किया गया है। उन्होंने अपने 'न्याय विवरण' ग्रन्थमें 'ब्रह्म' पदके व्युत्पत्तिगत अर्थकी आलोचनामें भी जीव और ब्रह्मके पार्थक्यका सङ्केत किया है। ब्रह्म पूर्ण गुणविशिष्ट हैं और जीव अणु गुणविशिष्ट है। अतएव वे एक और अभिन्न नहीं हो सकते। वे यदि एक और अभिन्न होते तो ब्रह्म जिज्ञासाका कोई प्रयोजन ही न होता। वे भिन्न हैं, इस कारण उन्हें जाननेकी साधनामें उनका अनुग्रह प्राप्त होता है।

विष्णुस्वामी रुद्र सम्प्रदायके प्रवर्त्तक हैं। श्रीपाद वल्लभाचार्य इस सम्प्रदायके अन्तर्भुक्त हैं फिर भी उन्होंने 'वल्लभी'—इस नामसे एक सम्प्रदायका गठन किया है। इनके मतमें ब्रह्म जो जगत्के समवायी अथवा निमित्त कारण हैं—इसका एक विशिष्ट तात्पर्य है और इसी युक्तिके आधारपर उनके द्वारा ब्रह्मके साथ तादात्म्य सम्बन्धकी भित्तिकी रचना की गयी है। शुद्ध जीव और ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न हैं। रुद्र सम्प्रदायका यह मत शुद्धाद्वैतवादके रूपमें चिह्नित है। जगत् असत्य नहीं है और माया भी मिथ्या नहीं है। ईश्वर सर्वान्तर्यामी वस्तु हैं। जीवका कर्मफल उन ईश्वरके नियन्त्रणाधीन है। अतएव वल्लभ सम्प्रदाय मुख्य रूपसे पुष्टि भक्तिवादको ही स्वीकार करता है। साधन अथवा मर्यादा भक्तिमार्गसे यह भिन्न है। इनके मतमें साधनके बिना ही ईश्वर–अनुग्रहसे भक्ति उद्बुद्ध होती है, वह पुष्टि भक्ति है और साधन चेष्टाके द्वारा जो भक्ति अर्जित होती है, उसे

मर्यादा भक्ति कहते हैं—*'कृति साध्यसाधन साध्य-भक्ति-मर्यादाभक्तिः तद्रहितानां भगवदनुग्रहैक प्राप्य पुष्टि भक्तिः'* (भक्ति-मार्तण्डः पृष्ठ १५१) भगवत्-कृपासे भक्तिके बीज रूपमें जो प्रेम उत्पन्न हुआ, वह अवश्य ही भगवन्नाम-कीर्त्तन इत्यादि क्रियाओंके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होता है। ईश्वर-भजनकारी भक्तके शुद्धाद्वैत स्वभावके परिचय द्वारा इस सम्प्रदायके दार्शनिक मतवादमें जीव, जगत् और मायाको भी ईश्वराश्रयत्वरूप—तत्त्व-प्रतिष्ठाके अनुकूल रूप दृढ़ता प्रदान की गयी है।

निम्बादित्याचार्य प्रसिद्ध सनक सम्प्रदायके आचार्य हैं, वे स्वाभाविक द्वैताद्वैतवादी थे। चित्-स्वरूप जीव एवं अचित्-स्वरूप जगत्—ये ब्रह्मसे भिन्न होकर भी अभिन्न हैं। इसका कारण है—जीव और जगत् ब्रह्मके एक पादमात्र, अंश-विशेष हैं। अंशी ब्रह्म अंशभूत जीव-जगत्को मात्र एक अंशमें धारण करते हैं और इस जीव-जगत्को अतिक्रम करके नित्य विराजमान हैं। अंश सम्पूर्ण रूपसे अंशीके अन्तर्भुक्त है, अतएव अंश अंशीसे अभिन्न है, परन्तु अंशी जब अंशको अतिक्रम करके भी विद्यमान रहता है, तब अंशमात्रमें अंशीकी सत्ता पर्याप्त नहीं है। अतएव अंशीको अंशसे भिन्न तो होना ही चाहिये। इसी बातको ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें श्रीनिम्बार्क कहते हैं—*'सर्वाभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषयः'* (ब्रह्मसूत्र १/१/४) (सभीसे भिन्न और अभिन्न भगवान् वासुदेव ही विश्वके आत्मा और जिज्ञासाके विषय हैं) ब्रह्म जगत्के कारण हैं। कारणायत्त (कारणाधीन) सत्ताका धर्म कारणसे अपृथक् सिद्ध रूपमें (कारण ब्रह्मसे जगत्) अभिन्न तो है, किन्तु कारणाधीन जड़जगत्से स्वतन्त्र सत्ताविशिष्ट ब्रह्म पुनः भिन्न भी हैं, उसी प्रकार जीवसे भी ब्रह्मका स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध है। भास्कराचार्य भी निम्बार्कके समान भेदवादी हैं किन्तु वे औपाधिक भेदाभेदवाद स्वीकार करते हैं। कारण है कि उनके मतमें ब्रह्म स्वरूपतः भेदरहित, निर्विशेष, एक, अद्वितीय, शुद्ध एवं कारणस्वरूप हैं। कार्यावस्थामें उपाधिवशतः ब्रह्मका बहुत्व इत्यादि सविशेष भेद दिखायी देता है। भास्करके मतमें सृष्टिकी अभिव्यक्त अवस्थामें ही जीव और जगत्के साथ ब्रह्मका औपाधिक भेदाभेद सम्बन्ध है किन्तु

कारणावस्थामें जीव और जगत्से ब्रह्म सम्पूर्ण अभिन्न एकीभूत अवस्थामें विद्यमान हैं एवं प्रलयके बाद भी ब्रह्मके साथ एकीभूत है। तब शङ्करके मतमें उपाधि सम्पूर्ण मिथ्या है, भास्करके मतमें यह सत्य है, परन्तु सत्य होनेपर भी वह अनित्य है।

उपर्युक्त आलोचना प्रधानतः ब्रह्मके सहित जीव एवं जगत्के सम्बन्धतत्त्वमें नाना दृष्टिभङ्गीका सङ्केत देती है और उसीके फलस्वरूप वैष्णव-वेदान्तके सम्प्रदाय-भेदसे नाना भित्तियोंकी भूमि प्रतिष्ठित होती है। किन्तु भगवत्-धाम, भगवत्-परिकर, गोष्ठी इत्यादि भगवत्-स्वरूपके चिच्छक्तिगत अन्तरङ्गा शक्तिके अप्राकृत तत्त्वकी आलोचना उन्होंने बहुत कम की है। रसामृतमूर्त्ति परब्रह्मकी ही समस्त शक्तियाँ हैं और शक्ति और शक्तिमानका सम्बन्ध जो अचिन्त्यभेदाभेद सम्पर्कके ऊपर प्रतिष्ठित है—उस तत्त्व और तथ्यके दार्शनिक समर्थनके लिए श्रीमन्महाप्रभुकी उपदेश-परम्परामें श्रीजीवगोस्वामीका षट्सन्दर्भ विवेचित होता है।

अनन्तकल्याण गुणमय, आनन्दमय एवं मधुमय श्रीभगवान् जीव-जगत्को जिस प्रकार एक अंशमें धारण करते हैं, उसी प्रकार इसे (जीव-जगत्को) अतिक्रम करके भी वे नित्य विराजित हैं। उनकी अन्तरङ्गा चिच्छक्तिके प्रभावसे ही यह सम्भवपर है। उपनिषद कहते हैं—*'परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते'* (श्वेताश्वतर) किन्तु यह शक्तितत्त्व अचिन्त्य ज्ञानगोचर है। प्रधानतः उनकी तीन प्रकारकी शक्तियाँ हैं—परा (अन्तरङ्गा), अपरा (बहिरङ्गा) और तटस्था (जीवशक्ति)। श्रीभगवान्के अंशभूत परमात्मा सृष्टि-स्थिति-विनाशके नियन्ता हैं। परमात्मा माया और मायिक वस्तुमें अन्तर्यामी रूपसे प्रविष्ट होकर भी मायामें आसक्त नहीं हैं। जीवात्मा श्रीभगवान्की तटस्थाशक्ति है—बहिरङ्गा माया और अन्तरङ्गा चिच्छक्तिके मध्यकोटिमें उसका स्थान है। अनादिबहिर्मुख होनेके कारण मायाकल्पित मनकी वृत्तिमें आसक्त होकर जीव दुःख भोग करते हैं जब कि भक्तिके द्वारा शुद्ध जीवके साथ श्रीभगवान्का नित्य सम्पर्क है। अद्वैतवेदान्तीके मतका खण्डन करके श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—जीव श्रीभगवान्की अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे सत्य है एवं श्रीभगवान्के अंशभूत एवं मायाकल्पित यह

जगत् भी मिथ्या नहीं है, क्योंकि माया भी श्रीभगवान्‌की शक्ति है। माया ईश्वर-बहिर्मुख जीवके ऊपर आवरणके प्रभावका विस्तार कर सकती है किन्तु स्वरूपस्मृतिके विषयमें जागरुक जीव मायासे अतीत है। सूर्यकी किरणके समान ही जीव श्रीभगवान्‌की जीवशक्ति रूप-अंश है। जगत् भी उनकी मायाशक्तिका ही परिणाम है और भगवत्-धाम, भगवत्-परिकर इत्यादि सब कुछ ही श्रीभगवान्‌की स्वरूपशक्तिके विलास हैं। भगवत्-सेवारूप प्रेमानन्दसे ही जीवके स्वरूपकी उपलब्धि होती है। भक्ति ही इसका साधन है। श्रीभगवान् और उनकी शक्तियोंके मध्य जो सम्पर्क रहा है, वह एकाधारमें भेद और अभेद तत्त्वके ऊपर प्रतिष्ठित है। इसे अचिन्त्य कहा गया है, इसी कारण इसके हेतुका निर्णय नहीं किया जा सकता, किन्तु उसी कारणसे उसे अस्वीकार करनेका उपाय भी नहीं है।

रसिकशेखर परब्रह्म श्रीकृष्णमें ही अखिल रस-वैचित्रीका समावेश है। रस-आस्वादनके लिए उन्होंने अपनी चिच्छक्तिकी विशेष वृत्ति ह्लादिनीशक्तिको अपने ही परिकर भक्तोंके हृदयमें सञ्चारित करके रसिकशेखर रूपमें लीलाको प्रकटित किया है। गौड़ीय-सिद्धान्तमें श्रीराधा आदि परिकरवृन्द अखिल रसामृतमूर्त्ति श्रीकृष्णकी ह्लादिनीशक्तिके मूर्त्त-विग्रह हैं एवं ये परिकर ही श्रीकृष्ण-प्रीतिरसके विलास-वैचित्र्यकी परम चमत्कारिता एवं पराकाष्ठा हैं। व्रजलीलाके सहायक नित्यपरिकर-वृन्दके आनुगत्यमें रसघन श्रीगोविन्दकी सेवा ही जीवकी भगवत्-सेवारूप भक्तिकी सार कथा है। श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रवर्त्तित वैष्णवधर्मके उसी तत्त्वको गोस्वामियोंने अपूर्व मनीषा एवं हृदयकी सुगम्भीर भावनिष्ठा द्वारा प्रतिष्ठित किया है। प्रस्तुत प्रबन्धकी स्वल्प-सीमामें इन समस्त तत्त्वोंकी सुसम्बद्ध आलोचनाके विस्तृत क्षेत्रमें प्रवेश सम्भव नहीं है।

श्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषणने श्रीगोविन्दकी कृपासे 'वेदान्तसूत्र' के श्रीगोविन्दभाष्यका प्रणयन करके गौड़ीय-वैष्णव-दर्शनकी विजय-वैजयन्ती स्थापित की है। उन्होंने गोस्वामियोंके जिस भित्ति-स्तम्भके ऊपर इस विजय-पताकाको फहराया है—मात्र इसे सूचित करनेके लिए ही इस आलोच्य विषयके द्वारा गौड़ीय-दर्शनके इतिवृत्तका सूत्र यत्किञ्चित् उल्लेख किया है।

श्रीबलदेव विद्याभूषणने उड़ीसाके बालेश्वर जिलेके रेमुणाके निकटवर्त्ती एक ग्राममें जन्म-ग्रहण किया था। श्रीजीव गोस्वामीके शिक्षाधन्य शिष्य श्रीश्यामानन्द प्रभुके शिष्य थे श्रीरसिकानन्द मुरारि। श्रीरसिकानन्दके प्रशिष्य 'वेदान्तस्यमन्तक' ग्रन्थके रचयिता कन्नौज ब्राह्मण श्रीराधादामोदरदास श्रीबलदेवके गुरु हैं। श्रीबलदेव गोविन्ददास नामसे प्रसिद्ध थे। श्रीगोविन्ददेवके अशेष कृपाधन्य श्रीबलदेव प्रभुने ब्रह्मसूत्रके 'श्रीगोविन्दभाष्य' की रचना करके गौड़ीय-वेदान्तके भाष्यकार रूपमें प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने अपनी असाधारण विद्यावत्ता एवं भावसाधनाकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिके प्रभावसे गोविन्दभाष्यकी सूक्ष्मा नामकी टीका की रचना की। उनके रचित ग्रन्थ और टीका इत्यादिमें 'सिद्धान्तरत्न', 'गीताभूषण', 'कान्तिमाला' (रूपकृत स्तवावलीकी टीका), जीवकृत तत्त्वसन्दर्भकी टीका एवं 'प्रमेयरत्नावली' उल्लेखनीय हैं। श्रीमद्बलदेवने गोविन्दभाष्यके परिशिष्ट वाक्यमें श्रीगोविन्ददेवकी कृपाके विषयमें घोषणा करते हुए कहा है—

विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्यातिं निन्ये तेन यो मामुदारः।
श्रीगोविन्दः स्वप्ननिर्दिष्ट भाष्यो राधाबन्धुबन्धराङ्गः संजीयात्॥

अर्थात् जिन्होंने मुझे 'विद्याभूषण' रूप उपाधिसे अलंकृत कराके जगत्‌में प्रसिद्ध किया और जिन्होंने स्वप्नमें ब्रह्मसूत्रोंका भाष्य मुझसे लिखवाया, वे उदार शिरोमणि त्रिभङ्ग मनोहर श्रीराधापति श्रीगोविन्ददेव जययुक्त हों।

श्रीबलदेव विद्याभूषणने गौड़ीय-वैष्णव-दर्शनके अचिन्त्यभेदाभेदवादको सुदृढ़ तात्पर्य दिया है। जीव ईश्वरांश, ज्ञानस्वरूप और ज्ञाता है—*'ज्ञातुरपि जीवस्य ज्ञानस्वरूपत्वेन व्यपदेशः'* (गोविन्दभाष्य २/३/२७) (ज्ञाता जीवका ज्ञानस्वरूपमें व्यपदेश होता है)। परन्तु जीव ब्रह्मका शक्तिरूप अंश है। दृष्टान्त रूपमें कहा जा सकता है कि सूर्यकी किरण अथवा प्रभा द्वारा सूर्य खण्डित अथवा परिच्छिन्न नहीं होता फिर भी सूर्यकी किरण सूर्यका ही अङ्गीभूत अंशमात्र है—*'परेशस्यांशो जीवः अंशुरिव अंशुमतस्तद्भिन्नस्तदनुयायी तत्सम्बन्धापेक्षी'*—जीव भी इसी प्रकार ब्रह्मका अंश है। इनमें भेद और अभेद—दोनों ही सम्बन्ध विद्यमान हैं। दण्डधारी पुरुषकी पुरुष रूपमें अभिन्नता है, किन्तु दण्ड

और पुरुषमें स्वरूपगत भेद है, इसी प्रकार शक्तिरूप जीव और शक्तिमान् ब्रह्ममें शक्तिकी अभिन्नता होनेपर भी शक्ति और ब्रह्ममें स्वरूपगत भेद है। गोविन्दभाष्यकी यह उक्ति प्रणिधान (भाव-चिन्तन) योग्य है—*'लोके यथा दण्डिनः पुरुषाभेदेऽप्यस्ति दण्डपुरुषयोः स्वरूपतो भेदस्तथा शक्तिमतो ब्रह्मणः शक्त्यभेदेऽपि शक्तिब्रह्मणोः सोऽस्तीति'* (२/१/१३)। लोकमें जिस प्रकार दण्डधारी पुरुषसे दण्डका भेद स्थिर न होनेपर भी दण्ड और दण्डधारी पुरुषका स्वरूपतः भेद स्वीकार करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार शक्तिमद् ब्रह्मसे शक्तिके अभिन्न होनेपर भी शक्ति और ब्रह्ममें भेदके स्वीकार करनेमें कोई क्षति नहीं है। ब्रह्मके साथ जीव-जगत्का यह जो भेदाभेद सम्बन्ध है, वह अचिन्तनीय अथवा अप्रतर्क्य है। कारण इसका हेतु निर्णय नहीं किया जा सकता। तो भी इसके अनुकूल श्रुति-वाक्योंका सुदृढ़ समर्थन है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। *'अविचिन्त्यार्थस्य शब्दैक प्रमाणत्वात्'* (ब्रह्मसूत्र, गोविन्दभाष्य २/१/२७) (अविचिन्त्य विषयमें श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है)। श्रीबलदेवके मतमें ब्रह्मके साथ जीव-जगत्का भेद प्रसिद्ध है। ब्रह्म नियन्ता है। जीव-जगत् नियन्त्रणाधीन है। जीव पाप-पुण्य एवं सुख-दुःखादिसे युक्त रहता है, किन्तु ब्रह्म ऐसे नहीं हैं। पुनः जीव, जगत् कार्य हैं और ब्रह्म कारण हैं। कार्य और कारणकी अनन्यता भी एक प्रकारसे युक्ति सिद्ध है। अतएव जीव-जगत्के साथ ब्रह्मका अभेद सम्बन्ध ही माना जाता है, किन्तु ब्रह्म किस प्रकारसे एक होकर भी बहुत हुए, किस प्रकार स्वयं 'अविकारी' रहकर भी जगत् रूपमें परिणत हुए, 'निरंश' होकर भी 'सांश' हुए—यह समस्त विरुद्ध धर्मकारिता हमारी धारणासे अतीत होनेपर भी श्रुतिके आधारपर उन ब्रह्मकी अविचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे सर्वदा स्वीकार्य है।

आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति तथा परमानन्दकी उपलब्धि ही मनुष्यका लक्ष्य होता है। आनन्दमय श्रीभगवान्के उस यथार्थ सविशेष स्वरूपके अनुभवके बिना उस लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव नहीं है; श्रीभगवान्का स्व-विग्रह उनके स्वरूपसे पृथक् नहीं है—*'न तु स्वरूपाद्विग्रहस्य अतिरेकः'* (सिद्धान्तरत्न)। उनकी अविचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे उनकी

लीलामें सब कुछ ही सम्भव है। एक ही भगवान्‌का स्वरूप अपनी अचिन्त्यशक्तिके कारण एक ही समय समस्त स्थानोंपर प्रकाश प्राप्त कर सकता है। नाना प्रकारकी लीलाओंमें उनका आविर्भाव-स्थान और विविध भाव-विशिष्ट भक्तोंमें भी उनके एक ही स्वरूपका प्रकाश देखा जाता है—*'स्थान-भेदेऽपि स्थानि विशेष्यं न भिद्यते इत्यर्थः। हि यस्मादेकमेव स्वरूपमचिन्त्य शक्त्या युगपत् सर्वत्रावभात्येकोऽपि सन्निति श्रुतेः'* (गोविन्दभाष्य ३/२/११) (स्थान-भेदसे उसका भेद सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ही स्वरूप अपनी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा युगपद् सर्वत्र प्रकाशित होता है। *'एकोऽपि सन्'*—यह श्रुति प्रमाण है)। उनके आत्मस्वरूप और विग्रहमें भेद नहीं है, इस कारण उनके श्रीविग्रहमें ही भक्तिके अनुभव द्वारा उनके सच्चिदानन्द स्वरूपकी उपलब्धि होती है। उनकी आत्मा अथवा स्वरूप ही श्रीविग्रह है। श्रीभगवान्‌में देह-देहीका भेद नहीं है। विग्रह-स्वरूप श्रीकृष्णरूप ब्रह्मके प्रति जीवकी भक्ति होनी चाहिये। इसीसे ही परतत्त्वानुभव और जीवके भी स्वरूपकी उपलब्धि होती है।

श्रीभगवान् उपास्य-तत्त्व हैं और जीव है श्रीहरिका उपासक, सेवक और दास। *'दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन।'* जीव विभु-चैतन्यका अणुमात्र अंश है। प्रतिबिम्बवादका खण्डन करके श्रीजीव गोस्वामीने जीव और ब्रह्ममें स्वरूपगत भेद दिखाया है। इस भेदको अस्वीकार करनेपर स्वयंसे अभिन्न श्रीभगवान्‌में आराध्य बुद्धि उदित नहीं हो सकती। इसीको बलदेव विद्याभूषण महाशय अपने भाष्यमें कहते हैं—*'अथ भजद्भयो भजनीयस्य भेदः प्रतिपाद्यते। इतरथा स्वाभेदावभासे स्वस्मिन्नाराध्यत्व बुद्धेरनुदयाद् भक्तिर्नोपजायते'* (ब्र॰सू॰ ३/२/१८) [अब इसके बाद उपासकसे उपास्यका भेद प्रतिपादन किया जाता है। अन्यथा भेदको अस्वीकार करनेसे भगवान्‌में आराध्यत्व बुद्धिके उदय न होनेके कारण भक्तिकी उत्पत्ति भी नहीं होगी।]

एकमात्र भक्तिके द्वारा ही श्रीहरिको प्रत्यक्ष रूपसे प्राप्त किया जा सकता है—*'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'* (ब्र॰सू॰ ३/२/२४) (इस प्रकारसे अव्यक्त होनेपर भी आराधना करनेपर उपासक परमेश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं—यह बात वेद तथा स्मृति-शास्त्रोंके कथनसे

सिद्ध होती है) सूत्रके भाष्य-व्याख्यामें यही प्रतिपादित हुआ है। श्रीमद्भागवतमें भी श्रीभगवान्‌ने कहा है—*'भक्त्याहमेक ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्'* अर्थात् मैं साधु-भक्तोंका परमात्मा एवं प्रिय स्वरूप हूँ। श्रद्धाजनित अनन्य भक्तिके प्रभावसे मेरी प्राप्ति होती है। (श्रीमद्भा॰ ११/१४/२१) श्रीभगवान् अपनी निज शक्तिमें ही असाधारण करुणावश ह्लादिनीके सारभूत भक्तिरस आस्वादनके लिए नित्य ही आग्रहवान हैं। मनुष्यकी ओरसे भक्ति उसके एकाधारमें साधन और साध्य है और श्रीभगवान्‌की ओरसे यह उनकी करुणा एवं आनन्दरसकी अभिव्यक्ति है।

'विशेषत्व'—जिसे कहा जाता है, 'भेद-प्रतिनिधिरूप अवस्था'—उससे भेद-बोध उत्पन्न होता है। 'विशेष' स्वीकार करनेके फलसे ही धर्म और धर्मीरूपमें भेद-व्यवहार दिखायी देता है—*'विशेषस्तु भेद प्रतिनिधिर्भेदाभावेऽपि भेद कार्यस्य धर्मधर्मिभावादेर्व्यवहारस्य निर्वर्त्तकः'* (ब्र॰सू॰ ३/२/३१) (गुण और गुणीका परस्पर भेद नहीं रहनेपर भी भेदके प्रतिनिधि स्वरूप एक विशेषताको स्वीकार करना पड़ता है। इस 'विशेष' भेदके अभावमें भी भेदकार्य धर्म-धर्मीका व्यवहार सम्पादन करता है)। श्रीभगवान्‌में गुण और गुणी एक होनेपर भी जो भेद प्रतीति होती है, उसका प्रतिनिधि होना विशेष है, भेद न रहनेपर यह विशेष ही धर्म-धर्मी भाव इत्यादि व्यवहार निष्पन्न करता है। यह 'विशेष' तत्त्व श्रीमध्वाचार्यके द्वारा प्रतिष्ठित हुआ है। इस तत्त्वकी अनुप्रेरणासे ही श्रीबलदेवने इस 'विशेष' तत्त्वके साथ समन्वित अविचिन्त्य अभेदतत्त्वको एकाधारमें अचिन्त्यभेदाभेदवादके भित्ति-स्तम्भपर परिणत किया है। श्रीगोविन्दभाष्यकी सूक्ष्मा-टीकामें वे कहते हैं—*'तेनैव तस्य वस्तुभिन्नत्वं स्वनिर्वाहकत्वं च स्वस्य तादृशे तदभावोजृम्भकम् अचिन्त्यत्वं सिध्यति।'* (अर्थात् इसी प्रमाणके द्वारा तीनों प्रकारके भेदसे रहित ब्रह्ममें धर्म और धर्मी—इन दोनों भावोंका प्रकाशक विशेष रूप धर्मी सिद्ध होता है।) यदि 'विशेष' को अप्रतर्क्य न कहा जाय, तब भेदहीन ब्रह्ममें गुण-गुणी भावरूपमें उभयविधत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

जीव-जगत् ब्रह्मके अंश हैं—इस मतवादकी प्रतिष्ठामें श्रीबलदेव विद्याभूषण परब्रह्मको उपादान-कारण और निमित्त-कारणके रूपमें

ग्रहण करते हैं। परब्रह्मकी त्रिविध शक्ति है—विष्णुशक्ति, क्षेत्रज्ञशक्ति एवं अविद्याशक्ति। अपनी विष्णुशक्ति अथवा अन्तरङ्गा चिच्छक्तिके प्रभावसे वे स्वरूपतः अविकारी हैं, किन्तु दूसरी दो शक्तियाँ ही जीव और जगत् रूपमें परिणत होती हैं। सांख्यमतमें कार्यको कारणसे पृथक् नहीं माना जा सकता, क्योंकि कारणमें ही कार्य लीन रहता है। किन्तु श्रीबलदेव विद्याभूषण महाशयने सांख्यके इस मतवादका खण्डन करके दिखाया कि ब्रह्म जगत्-रूपमें परिणत होनेपर भी दोनोंमें निर्विशेष अभिन्नता सम्भव नहीं है। यदि ऐसा (सम्भव) होता तो तत्त्वतः जो कार्य है, कारण भी वही है—इस प्रकारसे होता। मिट्टीके पिण्डसे घट निर्मित होनेपर घटावस्थामें मृत्तिका और कारणावस्थामें मृत्तिका स्वरूपतः एक नहीं कहे जाते। कारण-अवस्थामें यदि कार्य विद्यमान रहता है तो कार्यमात्रका ही नित्यत्व स्वीकार करना होता है। यदि कहा जाय—कारणकी ही कार्य रूपमें अभिव्यक्ति है, तो कार्यरूप अभिव्यक्तिको भी और एक अभिव्यक्तिके ऊपर निर्भर करना होगा। इससे अनवस्था दोष हो पड़ेगा। श्रीबलदेव विद्याभूषण महाशय द्वारा परिणाम और अभिव्यक्तिवादको स्वीकार करनेपर भी कार्यको वे कारणसे पृथक् रूपमें ग्रहण करते हैं। उन्होंने *'स्वतन्त्राभिव्यक्तित्वं कार्यत्वम्'* कहकर सिद्धान्त किया है। ईश्वरकी इच्छा अथवा लीलावशतः जगत्की सृष्टि संघटित होती है। कार्य रूपमें ईश्वरके नियन्त्रणाधीन जगत् ईश्वरसे भिन्न है, किन्तु क्योंकि यह ईश्वरकी शक्ति है, मात्र इसी कारणसे ही शक्ति अंशमें ईश्वरके सहित अभेद सम्बन्ध है। जीव, जगत् और ईश्वरमें अचिन्त्यभेदाभेद सम्पर्कका सिद्धान्त एकमात्र समस्त समस्याओंके समाधानमें समर्थ है। नाना दृष्टिकोणोंसे श्रीबलदेव विद्याभूषण महाशयने प्रमाण और बलिष्ठ युक्तियों द्वारा उस तत्त्वको प्रतिष्ठित किया है।

भक्तिको उन्होंने *'भगवद्वशीकार हेतुभूता शक्तिः'* कहकर वर्णन किया है (सिद्धान्तरत्न)। यह ह्लादिनीकी सारभूता शक्ति है। इस शक्तिके बलपर स्वयंमें ह्लादरूप होकर भी श्रीभगवान् स्वयं आनन्दका आस्वादन करते हैं और दूसरोंको भी आनन्दका आस्वादन कराते हैं। भक्ति भक्तमें ही पृथक् विशेषण रूपसे सिद्ध है। अतएव इसमें भक्त

और भगवान् इन दोनोंको ही आनन्द प्राप्त होता है— *'तयोरानन्दाभिशयो भवति'* (सिद्धान्तरत्न)। इस ह्लादधाराका विस्तार ही रसामृतमूर्त्ति श्रीभगवान्के करुणाघन माधुर्यका स्वभाव-सिद्ध वैशिष्ट्य है एवं मनुष्यकी भक्ति-साधना ही उसकी स्वरूप उपलब्धिका उपाय है। श्रीभगवान् और जीवका संयोग-सेतु ही भक्ति है—इसीने दोनोंको अचिन्त्यभेदाभेद सम्पर्कमें अनुस्यूत करके रखा है। गौड़ीय-वैष्णवधर्मके इस तत्त्वको सुदृढ़ प्रतिष्ठा-पदवीमें उत्तीर्ण किया है—श्रीगोविन्दकृपा धन्य श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने।

श्रीबलदेव विद्याभूषण महाशयका श्रीगोविन्दभाष्य गौड़ीय-वैष्णव-दर्शनकी अमूल्य निधि है। इस ग्रन्थके भाष्य, टीका, भाष्य-विवृत्ति एवं टीकानुवाद एवं विशेषतः प्रत्येक सूत्रकी व्याख्यामें श्रीमद्भागवतके प्रमाण-वचनोंकी उद्धृति एवं समर्थन श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण महाशय द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक तत्त्वको दिग्-दिगन्तमें अखण्ड रूपसे उद्भासित करेगा। अपने इस क्षुद्र प्रबन्धमें मैं इसकी विच्छुरित (अति विस्तृत) दीप्तिके कुछ आलोक-बिन्दुओंके प्रति ही दृष्टि डाल पाया हूँ। इस तत्त्वालोककी समग्रताकी व्याप्ति इस ग्रन्थमें हो रही है। इस शास्त्रनिधिके प्रचारका पवित्रव्रत ग्रहणकर परम श्रद्धेय परिव्राजकाचार्य त्रिदण्डी-स्वामी श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराजने बङ्गला भाषामें अनुवादित इस ग्रन्थके दुष्प्राप्य भाष्यका सम्पादन किया है, तदर्थ वे रसपिपासु भक्त, तत्त्वजिज्ञासु पाठक और गवेषकवृन्द—सभीके लिए अशेष धन्यवादार्ह हैं।

श्रीनित्यानन्द-त्रयोदशी
१९ फरवरी, १९७०

वैष्णव-कृपा-प्रार्थी
श्रीकृष्णगोपाल गोस्वामी
कलकत्ता विश्वविद्यालयके संस्कृत
विभागके अध्यक्ष एवं आशुतोष अध्यापक

प्रस्तावना

[यादवपुर विश्वविद्यालयके संस्कृत विभागके प्रवीणतम रीडर श्रीविष्णुप्रिया परिवार सम्भूत डा॰ श्रीसीतानाथ गोस्वामी एम॰ए॰, डि॰फिल॰, वेद-वेदान्त-व्याकरण-तीर्थ महोदय द्वारा लिखित]

वेदान्तके विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्यगणोंने परस्पर भिन्न मतवादोंका प्रचार करनेपर भी उन सभीने प्रस्थान-त्रयका प्रामाण्य स्वीकार किया है। उपनिषदको श्रुति-प्रस्थान कहा जाता है, श्रीमद्भगवद्गीताको स्मृति-प्रस्थान और ब्रह्मसूत्रको न्याय-प्रस्थानके रूपमें अभिहित किया जाता है। शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व इत्यादि सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक आचार्योंने अन्यान्य प्रस्थानोंके साथ न्याय-प्रस्थानके अर्थात् ब्रह्मसूत्रके भाष्यकी रचना की है। साक्षात् भगवत्-स्वरूप श्रीमन्महाप्रभुने अपरापर वैदान्तिक सम्प्रदायके मतवादका सारांश ग्रहण करके जीवके प्रति करुणावशतः एक अभिनव सिद्धान्त उपस्थापित किया—यही सिद्धान्त गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके अचिन्त्यभेदाभेदवाद नामसे प्रसिद्ध है। श्रीमन्महाप्रभुने ब्रह्मसूत्रके किसी भी भाष्यका प्रणयन नहीं किया क्योंकि वे श्रीमद्भागवतको ही ब्रह्मसूत्रके अकृत्रिम भाष्यके रूपमें मानते थे। तत्त्वसन्दर्भमें श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—*'ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः। ब्रह्मसूत्राणामर्थः तेषामकृत्रिम-भाष्यभूत इत्यर्थः॥'* अर्थात् श्रीमद्भागवतमें अट्ठारह हजार श्लोक विद्यमान हैं। ब्रह्मसूत्रोंका अर्थ होनेसे श्रीभागवत ब्रह्मसूत्रका अकृत्रिम भाष्यस्वरूप है। ब्रह्मसूत्रोंके भाष्योंके रचयिता विभिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतसे सूत्रोंकी व्याख्या की और प्रयोजनके अनुसार स्थल-विशेषकी व्याख्याओंमें लक्षणादिके द्वारा स्वमतकी सिद्धि भी की है। किन्तु ब्रह्मसूत्रके रचयिता व्यासदेवने जो व्याख्या प्रदान करेंगे, वही उनके सूत्रोंका तात्पर्य है; इस विषयमें कोई सन्देह रह नहीं सकता। इसीलिए व्यास रचित ब्रह्मसूत्रकी यथार्थ व्याख्याके रूपमें गण्य हो सकता है एकमात्र व्यासदृष्ट कोई भी ग्रन्थ और वह ग्रन्थ है—श्रीमद्भागवत।

गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायने श्रीमद्भागवत ग्रन्थपर विशेष श्रद्धा प्रकटित की है। यह ग्रन्थ एक ओर तो पुराणके रूपमें प्रसिद्ध है और इस

कारण इसे श्रुतिकी अपेक्षा हीन–प्रमाण–रूपमें प्रतिपन्न करनेका अपप्रयास अन्यान्य दार्शनिकोंमें दिखायी देता है। परन्तु गौड़ीय वैष्णवगण मानते हैं कि पुराण–ग्रन्थ भी श्रुति–ग्रन्थोंमें ही गण्य हैं और वे भी अपरापर श्रुति–ग्रन्थोंके समान अपौरुषेय हैं। इनके मतमें कठादि श्रुति जिस प्रकार कठ अथवा कलाप इत्यादि आचार्यों द्वारा रचित नहीं है, किन्तु उनके निकट प्रतिभात होनेके कारण उन–उन आचार्योंके नामसे अभिहित होती है, उसी प्रकार स्कान्द, आग्नेय इत्यादि पुराण भी स्कन्द, अग्नि इत्यादि द्वारा रचित न होकर भी उनके निकट प्रतिभात हुए हैं—इस कारण इस प्रकारके नाम प्राप्त किये हैं। श्रीमद्भागवतादि पुराणोंका श्रौतत्व प्रतिपादनके लिए उन्होंने श्रुति–प्रमाण भी उद्धृत किये हैं—*'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः …'* (बृ॰आ॰ २/४/१०)। अर्थात् बृहदारण्यकोपनिषदमें कहा गया है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद—ये सब इन्हीं महद्भूत श्रीपरमेश्वरके निःश्वास रूपमें बाहर प्रकाशित हुए हैं। अतः महाभूत परमात्माके निःश्वास स्वरूपमें ऋग्वेदादिके समान इतिहास, पुराण इत्यादि भी निर्गत होनेके कारण पुराणोंका भी श्रौतत्व एवं अपौरुषेयत्व सिद्ध होता है। यह अपौरुषेय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत व्यासदृष्ट होनेके कारण एवं ब्रह्मसूत्र व्यासरूपी श्रीभगवान् द्वारा उक्त होनेके कारण श्रीमद्भागवतको ब्रह्मसूत्रके भाष्य रूपमें ग्रहण करनेपर स्वकपोलकल्पनाका कोई दोष रह नहीं सकता और पौरुषेय दोष भ्रम–प्रमादादि की भी कोई सम्भावना नहीं रहती। इस प्रसङ्गमें और भी एक बात सुस्पष्ट रूपसे उल्लिखित होना उचित है कि श्रीमद्भागवतको अन्यान्य भाष्योंके साथ समपर्यायके रूपमें चिन्तन करना असङ्गत है क्योंकि श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मसूत्रोंके आक्षरिक अर्थोंकी व्याख्या नहीं है किन्तु ब्रह्मसूत्रके मूल तात्पर्यको अति सुन्दर भावसे इस ग्रन्थमें विधृत किया गया है। प्रसङ्ग क्रमसे यह भी लक्षणीय है कि श्रीमद्भागवतरूप अपौरुषेय नित्य ग्रन्थको दूसरे अपौरुषेय ग्रन्थके अर्थात् ब्रह्मसूत्रका भाष्य कहनेसे भी उसमें दोष नहीं है, क्योंकि यह भाष्य प्रसिद्ध अपरापर भाष्योंसे विलक्षण होनेपर भी

भाष्य लक्षणाक्रान्त अवश्य ही हुआ है। (भाष्यके लक्षण सम्प्रदाय क्रमसे निम्न रूपमें स्वीकृत होकर आये हैं—*'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुकारिभिः। स्वपदानि च वर्णयन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥'* अर्थात् जिसमें सूत्रका अनुसरण करनेवाले वाक्योंसे सूत्रका अर्थ स्पष्ट किया जाता है और जिसमें भाष्यकारके अपने शब्दोंका भी वर्णन किया जाता है, उसे भाष्यवेत्ता भाष्य कहते हैं।) इस दृष्टिसे श्रीमद्भागवत भाष्य रूपमें निर्दिष्ट होता है—(वेदके मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनोंके अपौरुषेय होनेपर भी ब्राह्मणभागको मन्त्रभागका व्याख्यास्वरूप कहकर स्वीकार किया जाता है, इसी प्रकार अपौरुषेय श्रीमद्भागवत भी अपौरुषेय वेदान्तसूत्रके भाष्य रूपमें गृहीत होनेसे किसी भी असङ्गतिकी सम्भावना नहीं है) ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तसूत्र जो कि ईश्वरप्रोक्त हैं अतः इसमें किसी भी प्रकारका पुरुषदोष आ नहीं सकता, यह स्वयं महाप्रभुने कहा है। (श्रीमन्महाप्रभुके श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें कहा है—*'प्रभु कहे—वेदान्तसूत्र-ईश्वर वचन। व्यासरूपे कैल ताहा श्रीनारायण। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव। ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एइ सब॥'* [चै॰च॰आ॰ ७/१०६-१०७]। प्रभुने कहा, वेदान्तसूत्र ईश्वरके वचन हैं। व्यासके रूपमें श्रीनारायणने ही इसका प्रवर्त्तन किया है। ईश्वरके वचनोंमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव आदि दोष नहीं होते।)

जैसा भी हो, श्रीमद्भागवत ही ब्रह्मसूत्रोंका अकृत्रिम भाष्य है—वैष्णवाचार्योंने इसका पुनः-पुनः उल्लेख किया है। फिर भी अन्यान्य सम्प्रदायके अनुगामियोंने उन-उन सम्प्रदायोंके प्रसिद्ध भाष्यके समान एक प्रत्यक्षर-व्याख्यात्मक भाष्य-ग्रन्थ देखनेकी अभिलाषाका प्रदर्शन किया है। श्रीमन्महाप्रभुने मध्वाचार्य-प्रणीत भाष्यको ही स्वमतके साथ बहुलांशमें सदृश लक्ष्य करके उस भाष्य-पाठके लिए अनुगतजनोंको निर्देश दिया था। किन्तु परवर्त्तीकालमें देखा गया कि प्रत्यक्षर-व्याख्या-स्वरूप भाष्य-ग्रन्थ न रहनेके कारण गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके आचार्यगण किस प्रकारसे समालोचनाके सम्मुखीन हो गये थे। इस विशेष प्रयोजनकी उपलब्धि करके श्रीमद्बलदेव विद्याभूषणने अति स्वल्प समयमें ही भगवान् श्रीगोविन्ददेवके निर्देशसे एक अनवद्य

भाष्य-ग्रन्थ लिखकर सम्पूर्ण कर दिया। यही ग्रन्थ 'गोविन्दभाष्य' नामसे पण्डित-समाजमें समादृत होकर आया है—

भाष्यमेतद् विरचितं बलदेवेन धीमता।
श्रीगोविन्द निदेशेन गोविन्दाख्यामगात्ततः॥

(प्रारम्भ श्लोक, गोविन्दभाष्य)

अर्थात् विद्वानोंकी सम्मतिके अनुसार परम बुद्धिमान श्रीबलदेवप्रभुने श्रीगोविन्ददेवके निर्देशसे इस भाष्यकी रचना की है, इसलिए इस भाष्यका नाम 'गोविन्दभाष्य' प्रसिद्ध हुआ है।

गोविन्दभाष्यके प्रारम्भिक मङ्गलाचरण-श्लोकोंको देखनेपर ज्ञात हो सकता है कि आचार्य बलदेव अन्यान्य मतोंके खण्डनके साथ शङ्कराचार्य प्रदर्शित केवलाद्वैतवादको खण्डित करनेके लिए विशेष रूपसे प्रयासी हुए हैं। श्रीशङ्कराचार्यके मायावादने मनुष्यको जो विभ्रान्त किया है, वह एक असच्छास्त्र है, यह हम पद्मपुराणके प्रारम्भ श्लोक (४-५) में देखते हैं। (*'मायावाद महान्धकार पटलीसत्पुष्पन्तौ सदा'*—मायावादरूप महान्धकार-पटलको सूर्य एवं चन्द्रमाने [श्रीरूप एवं श्रीसनातन गोस्वामीने] तथा *'विवर्त्तगर्त्तेन च लुप्तदीधितम्'* [प्रारम्भ श्लोक ४, ५] केवलाद्वैतवादी शङ्कराचार्यके विवर्त्तवादरूप गर्त्तमें पतित होनेसे जिसकी किरणें लुप्त हो गयी थीं।) और भी दुःखका विषय है कि यह मायावाद वस्तुतः प्रच्छन्न बौद्धमत है तथा इसके द्वारा मनुष्य क्रमशः वेद-विरोधी बौद्धमतकी दिशामें धावित होने लगता है। आचार्य शङ्कर ब्राह्मणवंशमें जन्म ग्रहण करके इस वेद-विरोधी-कार्यमें लिप्त हो गये थे—यह नितान्त दुःखजनक है। (*'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्त्तिना॥'* [पद्मपुराण ३/२५/७] अर्थात् यह मायावाद असत् शास्त्र है इसे प्रच्छन्न बौद्धमत भी कहा जाता है। हे देवि! ब्राह्मण शरीरसे मैंने ही इस मतवादको कहा है।) शङ्करकी यह प्रचेष्टा भी श्रीभगवान्‌की इच्छानुसार ही हुई थी। श्रीशङ्करके अवतार श्रीशङ्कराचार्य यदि भगवत्-स्वरूपको सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित करेंगे तो अकाल ही यह सृष्टि विलयको प्राप्त हो जायेगी—इसलिए श्रीकृष्णने शङ्कराचार्यको निर्देश दिया जिससे शङ्कराचार्यने भगवान्‌के स्वरूपको गोपन करके लोगोंको भगवत्-विमुख करके

रखा। तब शङ्कराचार्यकी स्वयंकी श्रीकृष्णतत्त्व पर चरमोत्कर्षमें जो अगाध श्रद्धा थी, उसे श्रीजीवगोस्वामीने अपने तत्त्वसन्दर्भ ग्रन्थमें प्रदर्शन किया है। शङ्कराचार्यने 'गोविन्दाष्टकादि' की रचना करके गोविन्दको ही परतत्त्व बतलाकर अपनी वागिन्द्रियकी सफलता एवं सार्थकताका अनुभव किया था। इस प्रकारसे स्वयं शङ्कराचार्य भी जो श्रीकृष्णको परतत्त्वके रूपमें स्वीकार करते हैं, उसे प्रकट करनेसे प्रधानमल्लनिर्वहण न्यायसे (प्रधान मल्लकी पराजयमें अन्य गौण मल्लोंकी पराजय भी स्वीकृत ही है) अन्यान्य वादीगण भी अनायास ही पराभूत होंगे, ऐसा सूचित किया गया है। तत्त्वसन्दर्भमें श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—जैसा कि (पद्मपुराण उत्तरखण्ड ६२/३१) में कहा गया है—

प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशञ्च मां कुरु।
स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु।
माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा॥

"भगवान्ने कहा, हे शङ्कर! तुम जगत्में जाकर अवतार लो, किन्तु मेरा प्रकाश नहीं करना। तुम अपने कल्पित आगम शास्त्रके द्वारा लोगोंको मेरे विमुख करो, किन्तु मुझे गोपन करना अर्थात् मेरे सविशेष परम माधुर्यमय स्वरूपको प्रकाशित मत करना, इससे सृष्टिका कार्य उत्तरोत्तर बढ़ता रहेगा।" आगे श्रीजीव प्रभुने कहा है—*'शङ्करावतारतया प्रसिद्धेन वक्ष्यमाण स्वगोपनादि हेतुक भगवदाज्ञा'*—प्रवर्त्तिताद्वयवादेनापि तन्मात्र वर्णित विश्वरूप दर्शनकृत व्रजेश्वरी विस्मय—*'श्रीव्रजकुमारी वसन चौर्यादिकं गोविन्दाष्टकादौ वर्णयता तटस्थीभूय निज वचः साफल्याय स्पृष्टमिति'*—भगवान्ने अपने तत्त्वको गोपन रखनेकी आज्ञा दी थी। अतः श्रीशङ्कराचार्यने अद्वैतवादका अवलम्बन किया। अद्वैतमतावलम्बी होते हुए भी उन्होंने श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीयशोदाजीका विश्वरूप देखनेपर विस्मित होना एवं व्रजकुमारीगणके वस्त्रहरणादि लीलाओंको अपने द्वारा रचित श्रीगोविन्दाष्टक नामक ग्रन्थमें वर्णन करके अपनी वाणीको सफलता प्रदान की है और तटस्थ भावसे श्रीभागवतका स्पर्श किया है।

केवलाद्वैतवादी शङ्कर सम्प्रदाय *'एकमेवाद्वितीयम्'* इस श्रुति-वाक्यके प्रामाण्यका अवलम्बन करके एवं अपरापर श्रुति-वाक्योंके तात्पर्यका निरूपण करके इस सिद्धान्तपर पहुँचे हैं कि सजातीय-स्वगत-विजातीय-भेद-रहित ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व हैं। इस मतमें जीव एवं ब्रह्म स्वरूपतः अभिन्न हैं एवं जगत् माया-निर्मित है, मिथ्या है। जगत्की मिथ्या-सिद्धिके लिए उन्होंने विवर्त्तवादका अवलम्बन किया है और ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्वके रूपमें स्वीकृत होनेके कारण ब्रह्मके गुण, धर्म, विशेष इत्यादि अङ्गीकृत नहीं किये गये। फलस्वरूप सर्वशक्तिमान ईश्वर इस मतमें शक्तिहीन, गुणादि रहित हैं।

आचार्य बलदेवने अपने गोविन्दभाष्यके प्रारम्भमें ही पूर्वपक्ष स्वरूपसे अद्वैतवादियोंके मतका उल्लेख करके यह द्विधाहीन रूपमें व्यक्त किया है कि इस प्रकारका चिन्तन दुर्गतिवानोंके निकट ही प्रतिभात होता है। तदनन्तर उन्होंने गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके अभिमत तत्त्वका अति संक्षेप रूपसे उल्लेख किया है। अवतरणिका भाष्यमें जिन सिद्धान्तोंको विनिवेशित किया है, उनकी ही विस्तृति परवर्त्ती महाग्रन्थमें एवं उसकी सूक्ष्मा-टीकामें दिखायी देती है। गौड़ीय-वैष्णव सिद्धान्तमें पाँच तत्त्व अङ्गीकृत हैं—ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म। ये पाँच तत्त्व अनादि हैं। पहले चार तत्त्व निश्चित रूपमें अनन्त हैं किन्तु कर्म अनादि होनेपर भी सान्त है। कर्म अनादि हैं, यह ब्रह्मसूत्रके *'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्'* (ब्र॰सू॰ २/१/३५) (सृष्टिसे पूर्व एक ब्रह्म थे, उनके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी न रहनेसे कर्मकी सत्ता ही नहीं थी, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मकी ही भाँति कर्म और क्षेत्रज्ञ जीव अनादि हैं)। ब्रह्म जिस प्रकार अनादि हैं, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव और कर्म भी अनादि हैं। इस कर्मके ही जड़, अदृष्ट, नियति इत्यादि बहुत-से नाम शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। ईश्वर स्वतन्त्र एवं सर्वशक्तिमान हैं; जीवादि दूसरे चार तत्त्व ईश्वरके शक्तिस्वरूप एवं ईश्वर-वश्य है।

गौड़ीय-वैष्णवगण भी अद्वयवादी हैं, क्योंकि भागवतमें अद्वयतत्त्व स्वीकृत हुआ है—*'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वम्'* (श्रीमद्भा॰ १/२/११) अर्थात् जो अद्वयज्ञान है—तत्त्वविद्गण उसे ही 'तत्त्व' कहते हैं। इस

स्थलपर ज्ञानको अद्वयतत्त्वके रूपमें स्वीकार करनेपर भी ईश्वरको ज्ञानमात्रस्वरूप अथवा चिन्मात्रस्वरूप नहीं कहा जा सकता। प्रकाशस्वरूप सूर्य जिस प्रकार प्रकाशक भी होता है और प्रकाशवत् भी होता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप ईश्वर ज्ञानवत् भी होंगे, इसमें कोई असङ्गति नहीं है। इस प्रसङ्गमें अहिकुण्डलाधिकरण (३/२/१३) द्रष्टव्य है। बलदेवने कहा है—*'ज्ञानस्यापि ज्ञातृत्वं प्रकाशस्य स्वप्रकाशकत्ववदविरुद्धम्'* (अवतरणिका भाष्य)। ईश्वरके धर्मस्वरूप ज्ञानको ईश्वरसे अभिन्न रूपमें जानना होगा। इस प्रसङ्गमें यह भी विचारणीय है कि श्रुतिमें ब्रह्मको बहुत रूपोंमें उल्लिखित किया गया है, जिस प्रकार *'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'* ब्रह्म विज्ञान आनन्दस्वरूप हैं। (बृ०आ० ३/९/२८), *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (तै० २/१) इत्यादि। सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्द स्वरूप ब्रह्मके सत्यत्वादि धर्म क्या ब्रह्मसे भिन्न हैं? इस स्थलपर वैष्णवगणोंका वक्तव्य है—ब्रह्मके धर्म सत्यत्वादि ब्रह्मसे भिन्न नहीं हो सकते, क्योंकि ब्रह्ममें समस्त प्रकारका भेद श्रुतिमें निषिद्ध हुआ है; *'एकधैवानुद्रष्टव्यम्'* (बृ०आ० ४/४/२०) (उन ब्रह्मको [आचार्योपदेशके] अनन्तर एक प्रकारसे ही देखना चाहिये), *'नेह नानास्ति किञ्चन'* (कठ० २/१/११) (गुरुकृपा प्राप्त व्यक्ति जानते हैं कि भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला एक तात्पर्यपर हैं अर्थात् वे अभिन्न हैं, स्वरूपगत उनमें कोई भेद नहीं है), इत्यादि श्रुतियाँ इसी उद्देश्यसे उद्धृत की गयी हैं।

अब प्रश्न होता है कि यदि ब्रह्मके सत्यत्वादि धर्म ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, तब किस प्रकारसे धर्म-धर्मी भाव उपपन्न (सिद्ध) हो सकता है? इसके उत्तरमें गौड़ीय-वैष्णवगण कहते हैं—विशेषके द्वारा ही धर्म-धर्मीका एकत्व तथा बहुत्व सिद्ध होता है। विशेष एक असाधारण वस्तु है जो भेद विद्यमान न रहनेपर भी भेदकार्यको सम्पन्न कर देती है, इसी कारण इसे अर्थात् विशेषको भेद-प्रतिनिधि कहा जाता है। सत्ता एक जाति है, जातिमें जाति विद्यमान नहीं रहती फिर भी हम अनुभव करते हैं कि सत्ता सती अथवा सत्ता विद्यमान है। काल, कालमें विद्यमान नहीं रह सकता, क्योंकि कोई भी वस्तु अपना निजका आधार हो नहीं सकती, फिर भी हम अनुभव करते

हैं कि काल समस्त कालोंमें विद्यमान है। इन समस्त स्थलोंपर अभिन्न वस्तुओंमें भेद कार्य विशेषण-विशेष्य भाव अथवा धर्म-धर्मी भाव एकमात्र विशेषण द्वारा सिद्ध होता है। इस प्रकार ब्रह्मसे अभिन्न सत्यत्वादिकी ब्रह्म धर्मस्वरूपमें प्रतीति सम्भव होगी—ब्रह्मगत विशेषणके द्वारा।

अद्वैतवादी यह स्वीकार नहीं करते। इसलिए वे ब्रह्मको निर्विशेष कहते हैं। उनके मतमें कालके स्वभाव द्वारा ही 'कालः सर्वकाले विद्यमान'—यह सिद्ध होता है, इस प्रकार 'सत्ता सती' व्यवहार भी स्वभावके द्वारा ही सिद्ध होगा किन्तु विशेषको स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। *'विशेषश्च भेदप्रतिनिधि र्भेदाभावेऽपि तत्कार्यं प्रत्याययन् दृष्टः। सता, सती भेदो भिन्नः कालः सर्वदास्तीत्यादौ। तमन्तरा विशेषण विशेष्य भावादिकं न सम्भवेत्'* (वेदान्तस्यमन्तक, पृष्ठ २३)। अर्थात् जो विशेष है, वह भेदका प्रतिनिधि है, वह भेद नहीं है। अभिन्न पदार्थ अर्थात् भेदके अभावमें भी वह (विशेष) भेदका निर्वाह करता हुआ दिखायी देता है। जिस प्रकार 'सत्ता सती' (सत्ता है अर्थात् अस्तित्व विद्यमान है) भेदोभिन्नः (भेदमें भिन्नता होती है) 'कालः सर्वदास्तीति' (काल सदैव होता ही है) अर्थात् काल सब समय है इत्यादि स्थलोंमें यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। इस प्रतीतिका निर्वाह भी विशेष ही करता है। 'तमन्तरा' (उस विशेषके बिना) विशेषण एवं विशेष्य इत्यादि भाव सम्भव नहीं हो सकते।

इस प्रकार 'सता सती' व्यवहार भी स्वभावके द्वारा ही सिद्ध होगा किन्तु विशेषको स्वीकार करना निष्प्रयोजन है तो इस पर वैष्णवगण कहते हैं कि विशेष स्वीकार न करके यदि स्वभाव स्वीकृत होता है तो मात्र नाम-भेद घटता है उसमें वस्तु-भेद नहीं होता। वैष्णवगण भेद-प्रतिनिधि विशेषको स्वीकार करते हैं। *'न च सत्तादेः सत्ताद्यन्तराभावेऽपि स्वभावादेय सतीत्यादि व्यवहारस्यैवेह तच्छब्देनोक्तेः। तस्मान्निर्भेदेऽपि हरौ भेदप्रतिनिधिः सोऽभ्युत्पन्नः'*—(वेदान्तस्यमन्तक, पृष्ठ २४)। 'सत्ताका न होना' ऐसा व्यवहार कभी भी नहीं होता है। सत्तादिमें सत्तान्तरका अभाव होनेपर भी 'स्वभावसे ही सती है' यह व्यवहार होता है—ऐसा कहना ठीक नहीं है। यहाँ उस स्वभावके समान ही विशेष पदार्थको

माना गया है। इससे श्रीहरिमें ही समस्त अभिन्न होनेपर भी भेद-प्रतिनिधि विशेषके द्वारा भेद निर्वाह होता है, अतः विशेष पदार्थको मानना आवश्यक है।

इस आलोचनाके द्वारा यही सिद्ध हुआ कि अद्वैतवादी अभिनिवेशके कारण ब्रह्मको निर्विशेष कहते हैं, किन्तु युक्तिमें वे विशेष स्थानीय स्वभाव स्वीकार करनेमें बाध्य हैं। इस विशेषको गौड़ीय-वैष्णवगण अचिन्त्यशक्ति कहकर उल्लिखित करते हैं।

पूर्वोद्धृत भागवत-पंक्तिमें अद्वयतत्त्व स्पष्ट रूपसे स्वीकृत हुआ है, किन्तु वैष्णवमतमें पाँच तत्त्व ही सिद्धान्त रूपमें गण्य होते हैं। पाँच तत्त्वको स्वीकार करनेपर अद्वयवाद रक्षित नहीं होता। इसीलिए वैष्णवाचार्य श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—*'अद्वयत्वञ्चास्य स्वयं सिद्ध तादृशातादृशतत्वान्तराभात्'* (तत्त्वसन्दर्भ) अर्थात् अद्वयतत्त्व अपने स्वरूपभूत ज्ञानयुक्त है, स्वयं सिद्ध हैं, उसके सदृश अथवा असदृश कोई तत्त्व नहीं है। पाँच तत्त्वोंमें ईश्वर और जीव चैतन्यस्वरूप हैं, दूसरे तीन जड़ हैं। ईश्वरके सदृश तत्त्व हुआ जीव और ईश्वरके साथ असदृश तत्त्व हुए—प्रकृति, काल और कर्म। एक तादृश-तत्त्व और तीन अतादृश-तत्त्वोंमें कोई भी स्वयं सिद्ध नहीं है, बल्कि ईश्वराधीन हैं। अतः ईश्वरके बिना कोई भी स्वयं सिद्ध तादृशतत्त्व विद्यमान नहीं है और कोई भी स्वयं सिद्ध अतादृश-तत्त्व भी नहीं है। स्वयं सिद्ध तादृश-अतादृश तत्त्वान्तर न रहनेके कारण ईश्वरको अद्वयतत्त्व कहकर उपनिषद और श्रीमद्भागवतमें उल्लिखित किया गया है।

जीव ईश्वर सदृश तत्त्व है, इस कारण दोनों ही चित्-स्वरूप हैं। अद्वैतवादीगण इन दोनोंकी चित्-स्वरूपताको लक्ष्य करके ही दोनोंमें अभेद स्वीकार करके भ्रममें पड़े हुए हैं। दोनोंका भेद अति सहज रूपसे लक्ष्य किया जा सकता है, क्योंकि *'विभुचैतन्यमीश्वरोऽणुचैतन्यं तु जीवः।'* अद्वैतवादीगण *'जीवो ब्रह्मैव नापरः'* कहते हैं तो भी सूत्र-ग्रन्थ इत्यादि आलोचना करनेपर पुनः-पुनः जीव और ब्रह्मके पार्थक्यकी उपलब्धि की जाती है। इतरव्यपदेशाधिकरण (अ॰ २/१/९) में जीवकी अपेक्षा परमेश्वरका उत्कर्ष कहा गया है, उत्क्रान्ताधिकरण

(अ॰ २/३/१३) में ईश्वरको विभु-परिमाण एवं जीवको अणु-परिमाणके रूपमें उल्लेख किये जानेसे इन दोनोंका भेद अनायास ही ग्राह्य होता है। अंशाधिकरण (अ॰ २/३/१७) में अति स्पष्ट रूपसे जीवको परमेश्वरका अंश कहकर स्वीकार किया गया है। अंशाधिकरणके सूत्र ऐसे स्पष्टार्थक हैं कि जीव ब्रह्मैकवादी शङ्कर भी इस सूत्रके भाष्यमें जीवको परमात्माके अंश रूपमें स्वीकार करनेके लिए बाध्य हुए हैं। *'मन्त्र वर्णाच्च'* (सूत्र २/३/४२) (मन्त्रके शब्दोंसे भी जीव ब्रह्मका अंश सिद्ध होता है) सूत्रकी व्याख्याके समय शङ्कराचार्य छान्दोग्यमन्त्रको उद्धृत करके *'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिति'* (छा॰ ३/१२/६) मन्त्रके प्रामाण्यसे जीवको ब्रह्मका अंश कहते हैं। पुनः *'अपि च स्मर्यते'* (सूत्र २/३/४५) की व्याख्यामें उल्लेख है—*'ईश्वर गीतास्वपि चेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्यते। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'* (श्रीगी॰ १५/७) अर्थात् ईश्वर-गीता (भगवद्गीता) में भी जीवके ईश्वरांशत्वका स्मरण किया जाता है कि जीवलोक-संसारमें सनातन जीव-स्वरूप मेरा ही अंश है। *'तस्मादप्यंशत्वावगमः'*—इससे भी अंशत्वका अवगम होता है। पुनः अतएव चोपमाधिकरणमें (अ॰ ३/२/९) अब उपासकसे उपास्यका भेद प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार जीव और ईश्वरका भेद प्रदर्शित हुआ है। जल सूर्यकादि उपमाओंके द्वारा शास्त्रमें बहुत-से स्थलोंपर (द्रष्टव्यः श्रीमद्भा॰ ११/१८/३२) प्रतिपादित हुआ है कि एक चन्द्रमा जिस प्रकार बहुत-से जल-पात्रोंमें प्रतिबिम्बित होकर बहुत-से रूपोंमें प्रतिभात होता है, उसी प्रकार एक परमेश्वर बहुत-से शरीरोंमें अन्तर्यामी रूपसे विद्यमान रहते हैं। इस उपमाके द्वारा ईश्वरका बिम्बत्व एवं जीवका प्रतिबिम्बत्व कहा गया है। किन्तु बिम्ब-प्रतिबिम्बकी सिद्धिके लिए दोनोंका भेद स्वीकार करना होगा, क्योंकि दो अभिन्न वस्तुओंका बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव नहीं होता। यदि यह सम्भव होता तो अग्निकी छायाके द्वारा दाह होता और खड्गकी छायाके द्वारा छेदन-कार्य सम्पन्न किया जाता।

जीव एवं ईश्वरका भेद सिद्ध करनेके लिए वैष्णवोंने श्रुति-प्रमाण भी दिखलाये हैं। मोक्षावस्थामें विद्वान् ब्रह्मके साथ परम साम्य प्राप्त करता है—(*'परमं साम्यमुपैति'*—मु॰ ३/१/३) अथवा तादृश होकर

जाता है (*'तादृगेव भवति'*—कठ० २/१/१५) इस प्रकार जीव और ब्रह्मकी मोक्षावस्थामें भी पार्थक्य सूचित होता है। दो भिन्न वस्तुओंका ही साम्य एवं सादृश्य सम्भवपर है। इस प्रकार कठश्रुति एवं मुण्डकश्रुतिके द्वारा मोक्षमें भी जीव-ब्रह्मैक्य सिद्ध नहीं होता। बद्धावस्थामें जो जीव है, वह ब्रह्मसे भिन्न है—यह हम सभी अनुभव करते हैं। अतः शङ्कर द्वारा जीव ब्रह्मैक्य स्वीकार करना दुराग्रहके अलावा और क्या हो सकता है? प्रमेय-रत्नावली (४/२) में कहा गया है—*'एषु मोक्षेऽपि भेदोक्तेः स्याद् भेदः पारमार्थिकः'* अर्थात् इन श्रुति-वाक्योंमें मोक्षमें भी जीव एवं ब्रह्मका भेद कहे जानेपर जीव एवं ब्रह्मका भेद पारमार्थिक (परम सत्य) ही है।

जीव और ब्रह्मका भेद भागवतीय प्रमाणके द्वारा भी अति सहजतासे प्रतिपादित हो सकता है—भागवतमें कहा है—

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले।
अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्॥

यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥

(श्रीमद्भा० १/७/४-५)

अर्थात् भक्तियोगके प्रभावसे शुद्ध हुए मनके भलीभाँति समाहित होनेपर श्रीव्यासदेवने पूर्णपुरुष अर्थात् अंश तथा स्वरूपशक्ति समन्वित श्रीकृष्णके दर्शन किये एवं उनके पीछे लज्जित होकर आश्रित हुई बहिरङ्गाशक्ति मायाको भी उन्होंने देखा। उन्होंने देखा कि उसी माया द्वारा सम्मोहित जीव स्वरूपतः त्रिगुणातीत होते हुए भी अपनेको त्रिगुणात्मक मानता है अर्थात् वह अपनेको जड़देह, मन और बुद्धियुक्त मानता है।

'मायां च तदपाश्रयाम्' कहनेसे ईश्वर अथवा पूर्णपुरुष जो मायावश नहीं हैं, ऐसा कहा गया है। परवर्त्ती श्लोकमें *'यया सम्मोहितो जीवः'* अंशके द्वारा जीवको मायाके द्वारा सम्मोहित माना गया है। मायाधीन जीव किस प्रकारसे माया-प्रभाव-विरहित ईश्वरके साथ अभिन्न हो सकता है? इस प्रसङ्गमें और भी वक्तव्य है कि ईश्वर मायाके परिचालक अर्थात् मायावी हैं। जो मायावी हैं, वे कभी भी मायावश

नहीं होते, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, किन्तु जीव एवं ईश्वरका अभेद स्वीकार करनेपर ईश्वर अर्थात् मायावी भी मायावश हो जाता है। अतः जीव-ब्रह्मैक्य सिद्धान्त अद्वैतवादियोंकी कुकल्पनाके रूपमें ही जानना चाहिये।

वैष्णवगण और भी कहते हैं कि सूर्य और सूर्य-रश्मि-परमाणु जिस प्रकार अभिन्न नहीं कहे जाते और भिन्न भी नहीं कहे जाते, उसी प्रकार जीव और ब्रह्मके विषयमें भी जानना होगा। जीव एवं ब्रह्मकी अभिन्नताका कारण है—दोनोंका चैतन्य होना, पुनः दोनों भिन्न भी हैं, इसका कारण है—जीव ईश्वरका अंश है। इस प्रकार तथाकथित परस्पर विरोध परमेश्वरके क्षेत्रमें दूषणीय नहीं है, क्योंकि वे अचिन्त्यशक्ति समन्वित हैं। शक्तिका स्वभाव ही है कि वह अचिन्त्य है। शक्ति और शक्तिमानमें भेद या अभेद कोई भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि भेद और अभेद दोनों ही विद्यमान हैं। अग्नि एवं उसकी दाहिकाशक्ति अभिन्न नहीं है, क्योंकि अग्नि धर्मी है एवं दाहिकाशक्ति उसका धर्म है; अग्नि प्रत्यक्ष है, शक्ति अनुमेय है। पुनः अग्नि और शक्ति भिन्न भी नहीं हैं, क्योंकि वे गौ-महिषके समान अत्यन्त भिन्न होनेपर एक-दूसरेका धर्म नहीं हो सकते। महिष कभी भी अत्यन्त भिन्न गायका धर्म नहीं हो सकती। पुनः लक्ष्य किया जाता है कि अग्नि और दाहशक्ति अभिन्न हैं, क्योंकि जब दाह नहीं होता, तब उनमें कोई भी पार्थक्य अनुभव नहीं होता। ये भिन्न भी हैं, क्योंकि दाहकालमें अग्निके धर्म रूपमें अर्थात् अग्निसे भिन्न रूपमें दाहिकाशक्तिकी प्रतीति होती है। शक्ति अचिन्त्य ज्ञानगोचर होनेके कारण तथा शक्ति और शक्तिमानका भेद अथवा अभेद कुछ भी निर्दिष्ट रूपमें उल्लेख करना सम्भव न होनेके कारण गौड़ीय वैष्णवगणों द्वारा प्रतिपादित इस दार्शनिक मतने अचिन्त्यभेदाभेदवाद नामसे प्रसिद्धि प्राप्त की है।

भगवान्‌की अचिन्त्यशक्तिको केवल गौड़ीय ही स्वीकार करते हों, ऐसा नहीं है, अद्वैतवादी शङ्कर भी ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें उसे स्पष्टतः अङ्गीकार न कर सकनेमें समर्थ नहीं हुए अर्थात् स्वीकार किये बिना रह नहीं सके। *'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'* (सूत्र २/१/२७) सूत्रके भाष्यमें शङ्कर कहते हैं—*लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधि प्रभृतीनां देशकाल*

निमित्त वैचित्र्य वशाच्छक्त्यो विरुद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते, ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्तेऽस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत्प्रयोजनाश्च शक्त्य इति। किमुताचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणो रूपं बिना शब्देन न निरुप्येत। तथाचाहुः पौराणिकाः—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

(महाभारत भीष्मपर्व ५/१२)

अर्थात् लौकिक मणि-मन्त्र-औषधादिकी भी देश-काल और निमित्तकी विचित्रताके कारण अनेक कार्य विषयक विरोधी शक्तियाँ देखी जाती हैं। जब ये शक्तियाँ भी प्राथमिक उपदेशके बिना केवल तर्कसे नहीं समझी जा सकती हैं अर्थात् इस वस्तुकी इतनी इस सहायकवाली एतद्-विषयक और इस प्रयोगवाली शक्तियाँ हैं, तब यदि अचिन्त्य प्रभाववाले ब्रह्मका रूप (स्वरूप) श्रुतिके बिना नहीं निरूपित हो सके तो इसमें आश्चर्य क्या है? और क्या कहना है? इसी प्रकार पौराणिक भी कहते हैं—

जो भाव या शक्तिसमूह अचिन्त्य हैं, जिनका निर्णय तर्क-युक्तिसे नहीं किया जा सकता, जो प्रकृतिसे अतीत अर्थात् प्राकृतेन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर हैं, उन्हें अचिन्त्य कहते हैं। (श्रीपाराशरने विष्णुपुराण १/३/२-३ में कहा है—)

शक्त्यः सर्वभावा नामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्त्यः॥
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता।

अर्थात् हे तपस्वी श्रेष्ठ! समस्त भावों एवं पदार्थोंकी शक्तियाँ जैसे अचिन्त्य अगोचर हैं, उसी प्रकार ब्रह्मकी जगत्-सृष्ट्यादि भाव शक्ति भी अचिन्त्य ज्ञानगोचर है। अग्निकी दाहिकाशक्तिकी भाँति उसकी भी वह शक्ति स्वभावसिद्धा है। पुनः *'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'* (ब्र०सू० २/१/३०) सूत्रमें शङ्कराचार्यने ब्रह्मकी विचित्र शक्तिको स्वीकार किया है और सर्वशक्तिसम्पन्न परम ब्रह्म—श्रुतियोंमें उनकी सर्वशक्ति-सम्पन्नताको देखा जाता है। ब्रह्म सर्वशक्तिसे युक्त हैं।

शङ्कराचार्यने उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण (अ० २/२/८) में जिस प्रकारसे पाञ्चरात्र मतका खण्डन करनेका प्रयास किया है उससे पाञ्चरात्र मत खण्डित नहीं हुआ—यह वैष्णवगण मानते हैं। यथार्थ पाञ्चरात्र मतको उपस्थापित न करके उसे खण्डन करनेपर उसे यथार्थतः मतका खण्डन करना नहीं माना जा सकता। (उन्होंने पाञ्चरात्र-वर्णित उत्पत्ति प्रसङ्गके विषयमें अनुमान तो किया किन्तु आगे चलकर इस पाञ्चरात्र मतको वेदविहित मानकर अपने अनुमानको स्वयं असङ्गत माना) इस विषयपर इस अध्यायमें पर्याप्त विस्तारके साथ वर्णन किया गया है।

ब्रह्मसूत्रके द्वितीय अध्यायमें जब अन्यान्य मतवाद खण्डित हुए हैं, तब मायावाद खण्डित न होनेके कारण मायावादीगण मायावादमें ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य प्रतिपादित करनेकी चेष्टा करते हैं। इसपर वैष्णवगण कहते हैं कि शङ्कर प्रोक्त मायावाद वस्तुतः प्रच्छन्न बौद्धमत है। अतः बौद्धमतके निरासके द्वारा भङ्ग्यन्तरमें (प्रकारान्तरसे) मायावाद खण्डित हो ही जाता है।

शङ्कराचार्यने अपने शारीरक-मीमांसा भाष्यमें व्यासरचित सूत्रोंकी अन्यथा (लक्षणा वृत्तिका अवलम्बन करके) व्याख्या करके सूत्रकारके प्रति अश्रद्धाका ज्ञापन किया है। आनन्दमयाधिकरण (अ० १/१/६) में शङ्कर सूत्रकी अन्यथा व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आनन्दमय कहनेसे परमात्माको जाना नहीं जा सकता। गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके आचार्यगण इससे अत्यन्त मर्माहत होते हैं, क्योंकि भाष्यप्रणेता होकर भी शङ्करने सूत्रोंकी अवमानना की है। श्रीबलदेव विद्याभूषणने स्वरचित गोविन्दभाष्यमें सूत्रोंकी मर्यादाकी रक्षा करके आनन्दमय कहनेसे परमात्मा ही प्रतिपादित हैं, यह प्रदर्शित किया है। शङ्कर-प्रोक्त युक्ति नितान्त अकिञ्चित्कर है, इसे भी श्रीबलदेवने आनन्दमयोऽभ्यासात् (अ० १/१/१२) सूत्रके भाष्यमें संक्षेपमें एवं सूक्ष्मा-टीकामें विस्तारपूर्वक कहा है।

आलोच्य महाग्रन्थमें ग्रन्थ-सम्पादकने जिस प्रकारसे प्रत्येक सूत्रकी विस्तृत आलोचना की है, उसे देखकर पद-पदपर विस्मित होना पड़ता है। प्रत्येक सूत्रके पदोंके अर्थोंका निर्देश करते हुए सूत्र-वाक्योंके

अक्षर–अक्षरमें मर्मार्थका निरूपण किया गया है, जिससे इस ग्रन्थमें उनका गहन प्रवेश सूचित होता है। इस ग्रन्थसे पूर्व अन्यान्य सम्प्रदायों द्वारा इस प्रकारसे किसी सूत्रके प्रत्येक पदकी अर्थोल्लेखके द्वारा वाक्यार्थ अवधारणकी चेष्टा की गयी हो, ऐसा सुना नहीं जाता। इस ग्रन्थमें ग्रन्थ–सम्पादकने श्रीबलदेव रचित गोविन्दभाष्यको यथासम्भव शुद्धरूपसे मुद्रिताकारमें प्रकाशित करनेके लिए पर्याप्त प्रचेष्टाका आश्रय लिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। विशेषतः इस गौड़ीय सम्प्रदायमें अद्यावधि पर्यन्त इस प्रकारका व्यापक प्रयत्न न होनेके कारण इस मुद्रित गोविन्दभाष्य ग्रन्थका हस्तगत होना ही कष्टकर था। एक मात्र मुद्रित संस्करण भी दीर्घकालसे दुर्लभ हो रहा था। ऐसी अवस्थामें परिश्रम स्वीकार करके दुर्बोध्य मुद्रण–अशुद्धियोंका संशोधन करके ग्रन्थका प्रकाशन एक प्रकारसे असम्भव ही था। उसपर भी भाष्यका अनुवाद, सूक्ष्मा–टीकाका सम्पादन एवं उसका अनुवाद—इन सब विशेषताओंसे यह ग्रन्थ गौड़ीय–वैष्णव सम्प्रदायके निकट एक अमूल्यरत्नके रूपमें विवेचित होगा। भक्तिसर्वस्व भक्त भक्तिको ही प्रथम स्थान देते हैं, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु जब प्रतिवादीके साथ वाग्–युद्धमें अवतीर्ण न होनेका कोई उपाय नहीं रहता, जब दार्शनिक दृष्टिकोणसे विपक्षका अथवा पूर्वपक्षका मत जानकर उसका खण्डन करना ही होता है, तब युक्ति–तर्ककी भित्ति यथेष्ट सुदृढ़ न होनेपर दार्शनिक समाजमें हेय (उपेक्षित अथवा अवहेलनीय) होना पड़ता है। इन समस्त बातोंको अन्तःकरणमें रखकर ही विचार–मल्ल आचार्यगणोंने भाष्य, टीका, टिपण्णी, व्याख्या, अनुव्याख्या इत्यादि लेखनीबद्ध किये हैं। वर्त्तमान कालमें बहुत–से वैष्णवोंके इस दार्शनिक विचारसे पराङ्मुख तथा उदासीन रहनेके कारण इस शास्त्रके प्रचारका किञ्चित् ह्रास हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। युक्तिवादी मनुष्य कभी भी युक्तिकी उपेक्षा नहीं कर सकते। साधनाकी उच्चकोटिमें उपस्थित होनेपर वही युक्तिवादी, हो सकता है कि, पुनः युक्तिको निष्प्रयोजन जानकर उसका परित्याग कर दे, किन्तु उसके पूर्व तक युक्ति अवश्य ही अवलम्बनीय है। गौड़ीय आचार्यगण इस शास्त्रके प्रचार एवं युक्ति–मार्गका अवलम्बन करते हुए भक्तिके पथको उन्मुक्त करनेका

प्रयास करके देशवासियोंके निकट श्रद्धाभाजन हुए हैं, इसमें बिन्दुमात्र भी सन्देह नहीं है।

इस ग्रन्थका सर्वश्रेष्ठ वैशिष्ट्य ग्रन्थ–सम्पादक रचित सिद्धान्तकणा व्याख्या [गोविन्दतोषणीवृत्ति] ही प्रतीत होता है। इस प्रस्तावनाके प्रारम्भमें ही प्रतिपादित हुआ है कि श्रीमद्भागवत ही व्याससूत्रोंका अकृत्रिम भाष्यस्वरूप है। किन्तु प्रत्येक सूत्रका तात्पर्य जो श्रीमद्भागवतके श्लोक द्वारा प्रमाणित हो सकता है, वह सम्प्रदाय–क्रमसे कर्ण–गोचर होनेपर भी इस प्रकारसे किसी भी ग्रन्थमें देखनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ अथवा ऐसे किसी भी आचार्यका सान्निध्य प्राप्त नहीं हुआ, जिससे कोई विशेष सूत्र किसी विशेष भागवतीय श्लोकके द्वारा व्याख्यात हुआ हो, यह स्पष्ट जाना जा सके। ग्रन्थ–सम्पादकने इस ग्रन्थमें आद्योपान्त इसका प्रदर्शनकर समस्त गौड़ीय–वैष्णवोंकी आन्तरिक श्रद्धाका समाकर्षण किया है।

वैष्णव–शास्त्रोंमें मेरा प्रवेश न होनेपर भी एवं प्रेमभक्तिका अधिकार बिन्दुमात्र न रहनेपर भी सारस्वत–गौड़ीय–आसनके कर्त्तृपक्षने क्यों मेरे द्वारा इस महाग्रन्थकी प्रस्तावना लिखवानेका विचार किया, वह मैं समझ नहीं पाया। उनकी अकृत्रिम प्रीति एवं निर्व्याज अनुरोधकी उपेक्षा करना जिस प्रकार मेरे लिए सम्भवपर नहीं हुआ, उसी प्रकार व्यक्तिगत योग्यताका अभाव होनेपर भी वंशगत एवं स्थानगत योग्यता विस्मृत नहीं हो सकी। श्रीधाम नवद्वीपका अधिवासी होनेके कारण एवं सर्वोपरि श्रीविष्णुप्रिया–परिवारमें सम्भूत होनेके कारण श्रीमन्महाप्रभुके विषयमें आलोचना करनेका स्वाभाविक आग्रह जागता है, तब अपनी अयोग्यताकी बातको भूल जाता हूँ, विपद एवं सम्पदमें उन्हें ही पुकारकर संतृप्त होता हूँ। इसी कारण उनके नाम और उनके मतकी आलोचना करके यह अन्तरकी स्वाभाविक प्रक्रिया बाहर प्रकाशित हुई है। यहाँ विद्याका अभाव प्रधान अन्तराय होगा इस प्रकारसे विचार करना सङ्गत होनेपर भी दायित्व–ग्रहणके समय इसे सामयिक रूपसे भूल बैठा था। किन्तु ग्रन्थ–सम्पादकके अक्लान्त सेवकका पुनः–पुनः आग्रह होनेसे स्याही–कलम लेकर बैठनेको बाध्य हुआ हूँ। श्रीमन्महाप्रभुको स्मरण करके लिखा है, इस भरोसेसे ही

नितान्त अयोग्य होनेपर भी मेरे द्वारा लिखित इस प्रस्तावनाको मुद्रणके लिए प्रदान करनेका साहस प्राप्त हुआ है। श्रीमन्महाप्रभुके चरणोंमें असंख्य प्रणाम करता हूँ, उनका नाम और मतधारा प्रसारित हो, ऐसी ही कामना करता हूँ जिससे मैं भी उसमें अङ्गीभूत हो सकूँ।

८ फरवरी, १९७० श्रीगौर-विष्णुप्रिया-श्रीचरणाश्रित
श्रीसीतानाथ गोस्वामी

वेदान्तसूत्र

[कोलकाता राष्ट्रीय संस्कृत महाविद्यालयके अध्यक्ष परम पण्डित श्रीविष्णुपद भट्टाचार्य एम॰ए॰, पी॰आर॰एस॰ (लन्दन) महोदय द्वारा लिखित]

यह ग्रन्थ श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण कृत गोविन्दभाष्य एवं सूक्ष्मा-टीकासे समन्वित है। इस ग्रन्थके चारों खण्ड वेदान्त-दर्शनके एक-एक अध्याय द्वारा समाप्त हुए हैं। वेदान्तसूत्रके चार वैष्णवाचार्य भाष्यकार विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुज, शुद्धाद्वैतवादी श्रीरुद्र [वल्लभ], भेदाभेदवादी श्रीनिम्बार्क एवं भेदवादी श्रीमध्वमें मध्वाचार्यके मतानुसार श्रीबलदेव विद्याभूषणने गोविन्दभाष्यकी रचना करके अचिन्त्यभेदाभेदवादका स्थापन किया है। इसलिए श्रीबलदेवका यह भाष्य वेदान्तके ब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सिद्धान्तका प्रतिष्ठापक है। गोविन्दभाष्य-मतमें ईश्वर सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, सर्वकर्त्ता, सविशेष, विभु, ज्ञानस्वरूप होकर भी ज्ञानादिगुणसम्पन्न सच्चिदानन्द हैं। उनका शरीर अहंपद वाच्य है। इस प्रकार ईश्वर ही ब्रह्मपद वाच्य हैं। जीव अणु, नित्य ज्ञानादिगुणक, अहंपद वाच्य, ब्रह्मसे भिन्न है। सत्त्व, रजः और तमः गुणकी साम्यावस्था प्रकृति जड़ है, फिर भी नित्य है। वर्त्तमान, भूत एवं भविष्यदात्मक काल नित्य है। धर्म और अधर्म रूप कर्म अनादि हैं, फिर भी सान्त हैं। जीव, प्रकृति, काल और कर्म—ये चारों पदार्थ ईश्वरकी शक्ति हैं, इसलिए शक्ति-विशिष्ट ईश्वरको एक कहा जाता है। अद्वैत-श्रुतिका इस प्रकार अचिन्त्यशक्ति-विशिष्ट ईश्वरमें तात्पर्य है। केवलाद्वैतवाद श्रुतिका अभिप्रेत नहीं है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म—ये पाँचों तत्त्व गोविन्दभाष्यमें व्याख्यात हुए हैं। इस वेदान्त-दर्शनका विषय—अचिन्त्य, अनन्त शक्तिमान ईश्वर हैं। ईश्वरका साक्षात्कार अथवा प्राप्ति प्रयोजन है। सत्सङ्गजनित भाग्यवान शमादि गुणयुक्त मनुष्य अधिकारी हैं। वेदान्त-दर्शनके प्रथम अध्यायमें समस्त वेदका सच्चिदानन्द ईश्वरमें समन्वय अर्थात् तात्पर्य रूपमें सम्बन्ध दिखाया गया है। गोविन्दभाष्यके ऊपर श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण कृत

सूक्ष्मा–टीका भाष्यको समझनेके लिए उपादेय एवं साम्प्रदायिक तत्त्वज्ञानके लिए विशेष सहायक है। भाष्यानुवाद इतना प्राञ्चल है कि गौड़ीय सम्प्रदायके लिए यह अपरिहार्य रूपमें पाठ्य प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ, ग्रन्थ–सम्पादक कृत सिद्धान्तकणा [गोविन्दतोषणीवृत्ति] एवं भूमिकाने माध्व–गौड़ीय सम्प्रदायके तत्त्वार्थको समझनेमें विशेष उपकार किया है।

श्रीविष्णुपद भट्टाचार्य
अध्यक्ष,
कोलकाता राष्ट्रीय संस्कृत महाविद्यालय

श्रीबलदेव–कृत–भाष्यतात्पर्यम्

[कोलकाता राष्ट्रीय संस्कृत महाविद्यालयके महाचार्य पण्डित श्रीनृत्यगोपाल पञ्चतीर्थ वेदान्तरत्न, भक्तिभूषण द्वारा विरचित—]

स्वप्ने भक्ताय भगवान् यथा भाष्यं समादिशत्।
बलदेवस्तथा चक्रे व्यासवेदान्त सूत्रके॥

भगवान् श्रीगोविन्ददेवने भक्त बलदेव आचार्यको स्वप्नमें जैसे भाष्यका आदेश दिया, व्यासजीके वेदान्तसूत्रपर उन्होंने वैसे ही भाष्यका प्रणयन किया।

दुर्बोधं परतो जानन् सूक्ष्मां टीकां ततान सः।
विद्धाद्वैततमच्छन्न–लोकान् बोधयितुं पुनः॥

इसके बाद उस भाष्यको अन्योंके लिए दुर्बोध्य जानकर, पुनः अद्वैत–मत–अन्धकारसे आच्छन्न–विद्ध (प्रताड़ित) लोगोंके भी बोधके लिए श्रीबलदेवने सूक्ष्मा–टीकाका विस्तार किया।

अचिन्त्यभेदाभेदाख्य–वादस्तेन प्रकाशितः।
विष्णुर्निनाय तं विद्याभूषणोपाधिमादरात्॥

श्रीबलदेवने अचिन्त्यभेदाभेद नामक वाद प्रकाशित किया। भगवान् विष्णुने स्वयं उन्हें आदरके साथ विद्याभूषण उपाधि प्रदान की।

यथा भक्तस्य श्रीविष्णुः प्राणास्तस्य तथैव सः।
जीवसख्यं सदापन्नो हृदि तस्य वसन् हरिः॥

जैसे भगवान् विष्णु भक्तोंके हृदयमें निवास करते हैं, वे उनके प्राणस्वरूप हैं, वैसे ही श्रीबलदेव एवं उनकी टीका भगवान्के प्राणस्वरूप हैं। भगवान् हरि उनके हृदयमें विराजमान होकर सदैव जीव–सख्य प्राप्त करते रहे।

पक्षिणाविव तौ वृक्ष एकस्मिन् कृतनीडऽकौ।
एकः कर्मफलं भुङ्क्ते परः साक्षितया स्थितः॥

जिस प्रकार दो पक्षी एक ही वृक्षपर घोंसला बनाकर निवास करते हैं, इनमें एक (जीवात्मा) कर्मफलका भोग करता है और दूसरा (परमात्मा) साक्षी रूपसे अवस्थित है।

जीवश्चिदंश ईशस्य प्रतिबिम्बो न कर्हिचित्।
तथात्वे न हि चैतन्यं प्रतिबिम्बोह्यचेतनः॥

जीव ईश्वरका चिदंश है, वह कभी भी प्रतिबिम्ब नहीं है, यदि प्रतिबिम्ब होता तो चैतन्य नहीं होता क्योंकि प्रतिबिम्ब अचेतन होता है।

सलिल-प्रतिबिम्बस्थः सूर्यो न हि मयूख भाक्।
दृष्टान्तेन स्फुलिङ्गानां जीवानां चिदभिन्नता॥

जलमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पूर्ण नहीं है, परछाईंमात्र है, यह प्रतिबिम्ब सूर्यकी किरण भी नहीं है, इसी दृष्टान्तस्वरूप जीवको अग्निका स्फुलिङ्ग कहा गया है। जीव चिदंश है और इस चेतन जीवकी परम चेतन-चिन्मय वस्तु ईश्वरसे अभिन्नता है।

उत्क्रान्तिमत्त्वा जीवोऽणुः तिरोधानं विभोर्भवेत्।
अचिन्त्यशक्त्या जीवो न लीयते हि घटाभ्रवत्॥

भगवान् जीवोंके उद्गम स्थान हैं। उत्क्रमणके कारण जीव अणु है, भगवान् विभु हैं। भगवान्का तिरोधान होता है अर्थात् अपनी अचिन्त्यशक्तिके कारण वे अन्तर्हित होते हैं। जीव घटाकाशके समान महाकाशमें लीन नहीं होता—अर्थात् जीव कभी भी परमात्मामें लीन नहीं होता।

श्रुतेर्विरोधात् साम्याच्च वायोस्तत्त्वेन तुल्यता।
जीवज्ञानं नित्यधर्मो न मनोयोग सम्भवि॥

श्रुतिमें विरोध एवं साम्यके कारण ब्रह्म एवं जीवकी तुल्यता वायु तत्त्वके साथ की गयी है (यह प्रपञ्च प्रलयकालमें ब्रह्ममें वर्त्तमान रहता है और सृष्टिकालमें उनसे पुनः उसी प्रकार उदित होता है—जिस प्रकार प्राणादिवायु संयमित होकर मुख्य प्राणमें अवस्थित रहते हैं और मुख्यप्राणसे ही प्राण-अपानादि स्वरूपमें अभिव्यक्त होते

है—'*यथा च प्राणादि*' ब्र॰सू॰ २/१/२०) जो जीव-ज्ञान है, वह नित्य धर्मस्वरूप है, उसमें मनके द्वारा आरोप करना सम्भव नहीं है।

नित्यांशयोः कथं योगः श्रुतिरप्याह नित्यताम्।
प्रत्यग् ब्रह्म स्वतोऽव्यक्तम् आहतुस्तत् श्रुतिस्मृती॥

जीव परमात्माका नित्य अंश है, श्रुति भी जीवकी नित्यता बतलाती है। तब नित्य अंशी और अंशका योग कैसे होगा? श्रुति एवं स्मृति शास्त्रने जिन्हें प्रत्यग् ब्रह्म (जीव अन्तर्दृष्टिसे परमात्माके प्रत्यग् रूपका ध्यान करते हैं) कहा है, वे अपने मूल-स्वरूपमें स्वाभाविक रूपसे अव्यक्त हैं।

लभ्यत्वात् शुद्धभक्त्याहि नैराश्यं तत्र नोदयेत्।
तद्ध्याननिर्मितार्चादावभ्यासेन प्रकाश्यता॥

भगवान् निश्चित् रूपसे शुद्धभक्तिसे प्राप्त होते हैं, इसलिए इसमें निराशा कभी सम्भव नहीं है। उनके ध्यान-निर्मित अर्चा-सेवनके निरन्तर अभ्याससे वे प्रकाशित हो जाते हैं (उन्हें निर्विकार निर्विशेष कहना कदापि उचित नहीं है)।

देवस्य परमेशस्य निःस्नेहे तु निगूढता।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या तस्यारोपो न युज्यते॥

जिनके हृदयमें भगवान्के लिए स्नेह नहीं है, उनके लिए परमात्मा सदैव अव्यक्त एवं निगूढ़ रहते हैं। ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, इस प्रकारसे उनका आरोप उचित नहीं है।

अध्यासो मिथ्याभूतस्य कुत्रापि न हि दृश्यते।
विवर्त्तो न जगद्-रूपो ब्रह्मणि यो विवक्ष्यते॥

मिथ्याभूत अध्यास वस्तुका अध्यास जगत्में कहीं भी दिखायी नहीं देता। ब्रह्ममें जो जगत्-रूप विवर्त्त कहा गया है, अर्थात् जो कहते हैं कि ब्रह्मका जगत् रूपमें विवर्त्त हुआ है (ब्रह्म विकारी होकर जगत् बना है)—यह ठीक नहीं है।

विवर्त्तः प्रकृतेरूपमपहाय न तिष्ठति।
जलस्य बुद्बुदो यद्वद् विवर्त्तो न जलात् पृथक्॥

अपने मूल विषयमें अपना रूप छोड़कर विवर्त्त (एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका भ्रम होना अथवा दूसरी वस्तुके अस्तित्वकी प्रतीति होना) कभी स्थिर नहीं रह सकता—जैसे जलका बुदबुदा जलका विवर्त्त है, लेकिन वह जलसे पृथक् नहीं है।

जगद् ब्रह्मविवर्त्तश्चेत न ब्रह्मरूपता कथम्।
अद्वैतं केवलं ब्रह्म यदि स्याद् द्वा सुपर्णकौ॥

यदि जगत् ब्रह्मका विवर्त्त है तो (हे मायावादियो! आपसे हम प्रश्न करते हैं कि) जगत्की ब्रह्मरूपता क्यों नहीं है। यदि ब्रह्म केवल अद्वैत है तो *'द्वा सुपर्णा'* श्रुतिसे आप सामञ्जस्य कैसे करेंगे?

विरोधः श्रुतिवाक्येन निरसोऽद्वैतवादिभिः।
सर्वत्र यदि मुख्यार्थ त्यागात् स्याल्लक्षणाश्रिता॥

श्रुति-वाक्योंसे जो विरोध दृष्टिगोचर होता है, अद्वैतवादियोंको उसका निराकरण (परिहार) करना चाहिये। सर्वत्र ही यदि मुख्यार्थको छोड़कर लक्षणाका ही आश्रय करना है तो इस प्रकार वेदकी ही अप्रामाणिकता हो जायेगी।

वेदाप्रामाण्यं पतितं वार्यतां तैर्हि वादिभिः।
गुण मुख्यव्यतिक्रमे मुख्येन वेदसङ्क्रमः॥

ब्रह्मवादियोंने जिस वेदको प्रमाण रूपमें स्वीकार किया था, उसकी ही अप्रामाणिकता होने लगे तो अद्वैतवादियोंको उसे रोकना होगा। गौणी लक्षणा एवं अभिधाके व्यतिक्रममें वेदका अनुसरण मुख्या अभिधासे ही माना जाता है।

विधिकाण्डे तथैवोक्तं चिन्त्यतां तद्गतिः कथम्।
व्यवहारे द्वैतवादो मतमेतन्न युज्यते॥

विधिकाण्डमें उसी प्रकारसे सर्वत्र यही बात (मुख्या वृत्तिका आश्रय) कही गयी है तब इसकी गतिका—इस विषयका निराकरण कैसे होगा? इस विषयका चिन्तन कीजिये। यदि इसके उत्तरमें कहते हो कि व्यवहारमें द्वैतवाद (और परमार्थमें अद्वैतवाद) तो यह मत भी तो उचित नहीं है।

श्रुतौ तादृक् पदाभावात् अनुवादो न सम्भवी।
तस्य मानान्तरा प्राप्तेर्विशिष्टं ब्रह्म दिश्यते॥

श्रुतिमें इस प्रकारके किसी (निर्णायक) पदके अभावमें ऐसा (मनोवाञ्छित) अनुवाद सम्भव नहीं हो सकता है। (श्रुतिमें ब्रह्म एवं भगवान्‌के विषयमें यह अप्राकृत है, यह प्राकृत है—ऐसा कोई भेद नहीं किया है) ब्रह्मके समान किसी भी तत्त्वकी प्राप्तिके अभावमें ब्रह्मको विशिष्ट कहा जाय, ऐसा कोई पदार्थ प्राप्त नहीं होता।

आनन्दो ब्रह्मणोरूपमित्युक्तिर्भेद संश्रया।
भेदं बिना कथं षष्ठी श्रुतिवाक्ये न लक्षणा॥

आनन्द ब्रह्मका रूप है, यह उक्ति भी नित्य भेदपर आश्रित है। भेदके बिना षष्ठी कैसे होगी? (भक्ति कैसे होगी, सेवा कैसे होगी) श्रुति-वाक्यमें लक्षणा नहीं होती।

अद्वैतं ब्रह्मणस्तत्त्वमि त्युपासन-सङ्गतिः।
कथं स्यात् तेन ब्रह्म निर्विशेषं भवेत् क्वचित्॥

यदि ब्रह्मका तत्त्व अद्वैत है, तो उपासनाकी सङ्गति कैसे हो सकती है? इस 'उपासना' वचनसे ब्रह्म निर्विशेष, निर्गुण कैसे सम्भव हो सकते हैं?

प्राकृत-रूपहीनत्वादरूपमिति कथ्यते।
विशेषोऽपि प्राकृतश्चेत्तन्निषेधोऽपि तत्र वै॥

यथार्थमें प्राकृतरूप हीन होनेसे ब्रह्मको अरूप कहा गया है। वे विशेष हैं—(विशेषताके कारण परमात्माके स्वरूपको हानि नहीं पहुँचती) यह उनके रूपको कोई प्राकृत समझता है तो श्रुतिमें यह प्रतिपादन कर दिया गया है कि कोई उनके स्वरूपको प्राकृत न समझे।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मस्वरूपं पश्यति श्रुतम्।
उपपन्नं कथं भक्त्या दर्शनं तस्य सम्भवेत्॥

कोई धीर प्रत्यगात्म-स्वरूप ब्रह्मका अपने हृदयमें दर्शन करता है—यह वेदमें सुना जाता है। तो यह बिना भक्तिके कैसे प्रमाणित होगा?

यदि परमात्माके स्वरूपको कोई देखनेवाला न होता तो कोई किसे क्या देखता? यदि वे रूपसे परे होते, भेद रहित होते तो भक्तिसे कौन किसके दर्शन करेगा?

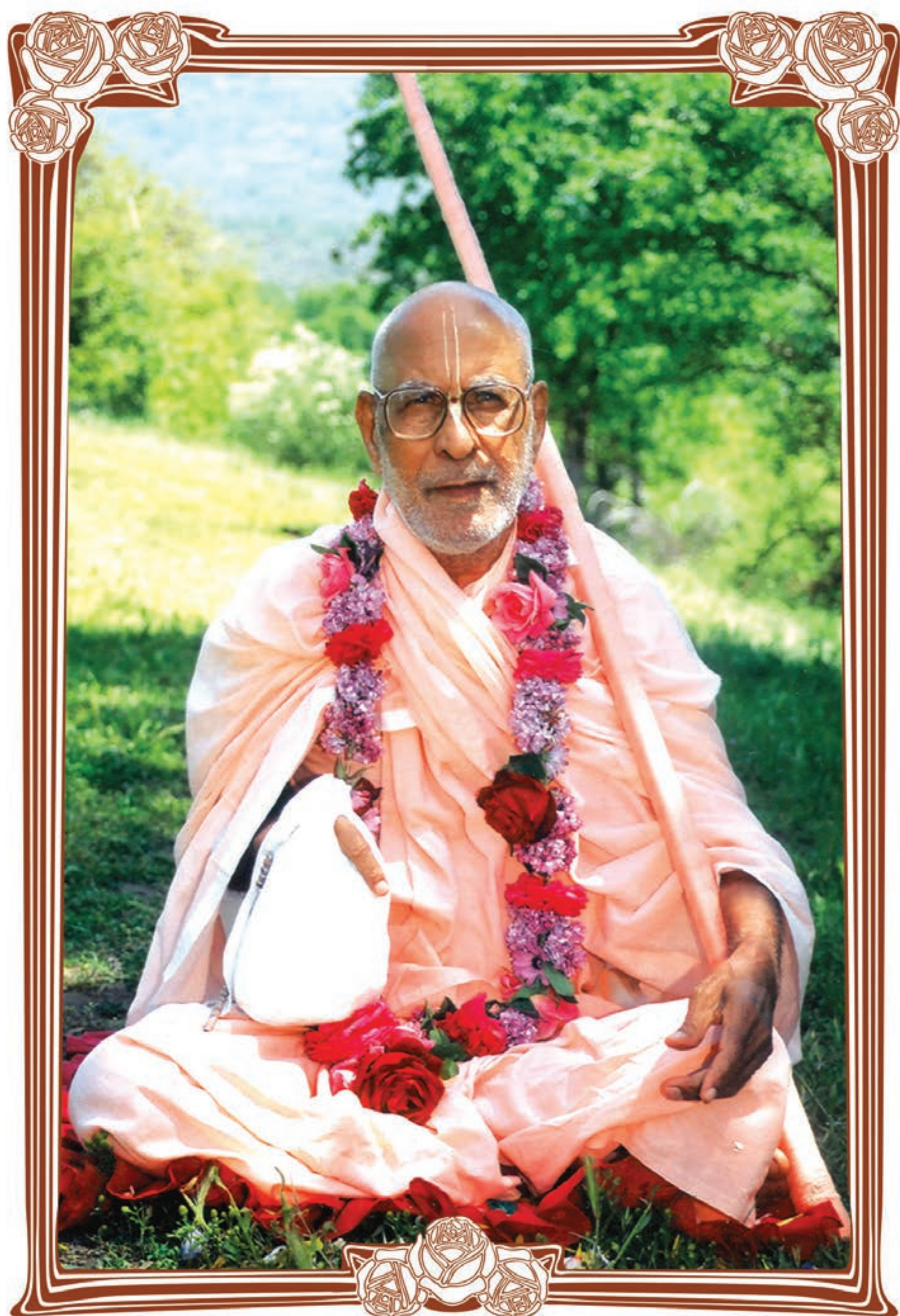
निर्विशेषस्य किं पश्येत्—केन पश्येत् विलोकनम्।
कः कुर्यात् यदि सगुण ब्रह्मवाद परा श्रुतिः॥

निर्विशेष, निराकारका क्या देखना है? उसे कैसे और कौन देखे? आप क्या करेंगे यदि श्रुतियाँ सगुण-ब्रह्मपरा हैं। भक्तगण सगुण ब्रह्मका दर्शन करते हैं।

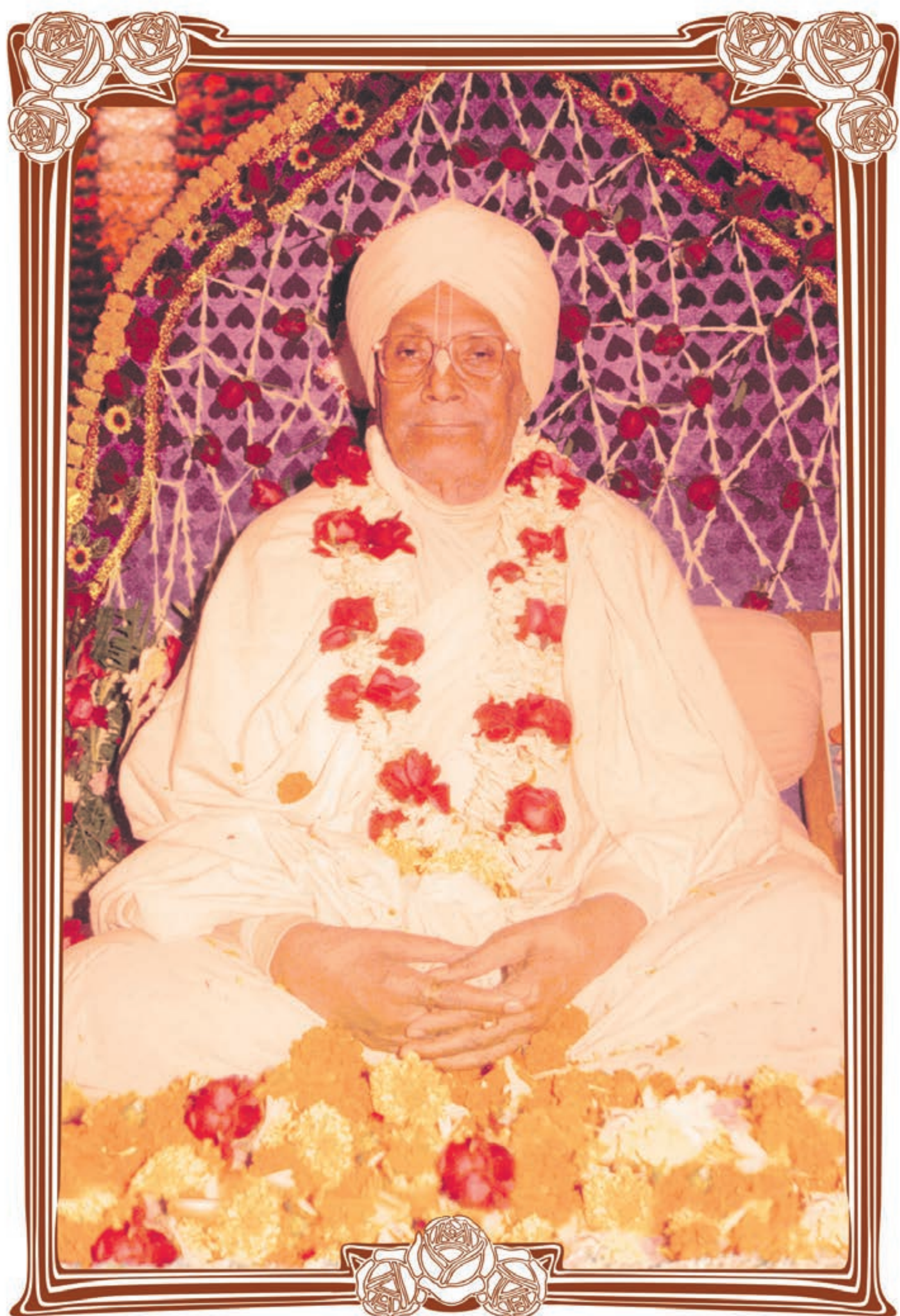
तदाऽस्य द्वैतधर्मस्याभावात् केन गुणान्विता।
तस्मान्न केवलाद्वैतवादो युक्ति सहो मतः॥

ब्रह्मके स्वरूपमें द्वैतधर्मका अभाव होता तो वे किस प्रकारसे गुणान्वित होते, अतः केवलाद्वैतवाद सम्पूर्ण युक्तियुक्त विचार नहीं है, यह अपूर्ण विचार है इस मतको किसी भी युक्तिसे सिद्ध नहीं किया जा सकता।

२६ फरवरी, १९७० श्रीगोविन्द-पादपद्म-मधुपसम्प्रेक्षकः
श्रीनृत्यगोपाल पञ्चतीर्थ देवशर्मा



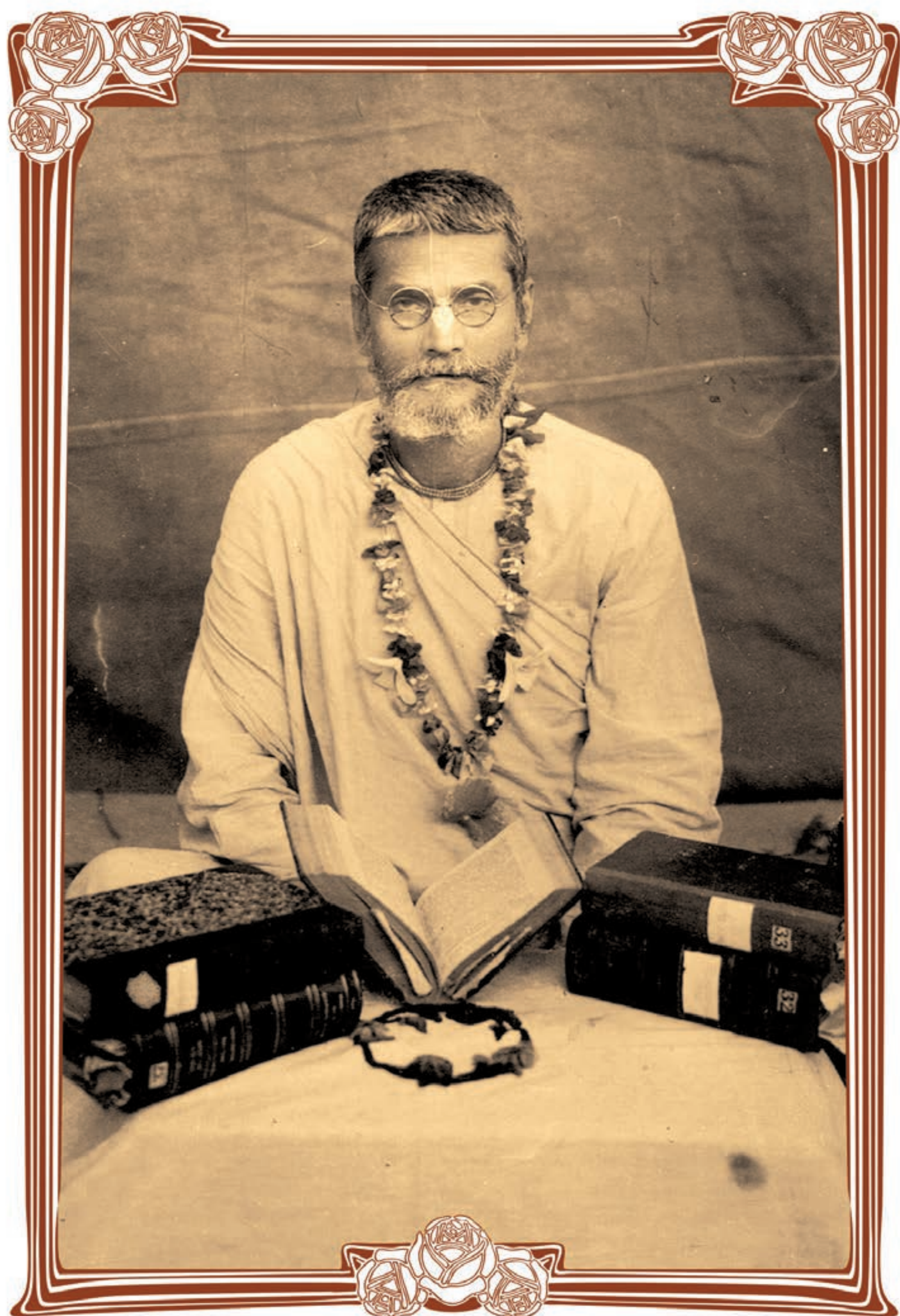
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज



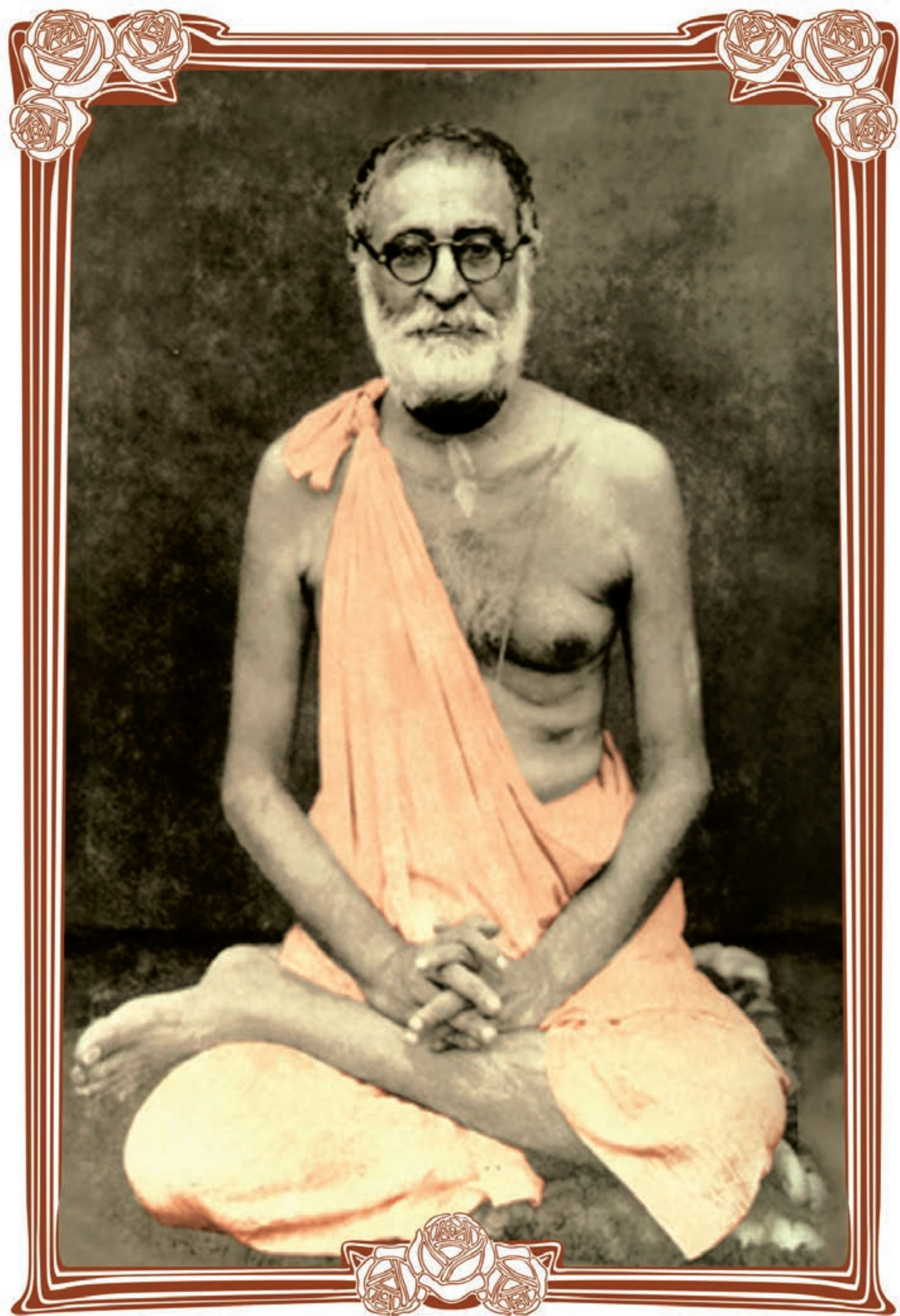
नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन गोस्वामी महाराज



नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती गोस्वामी महाराज

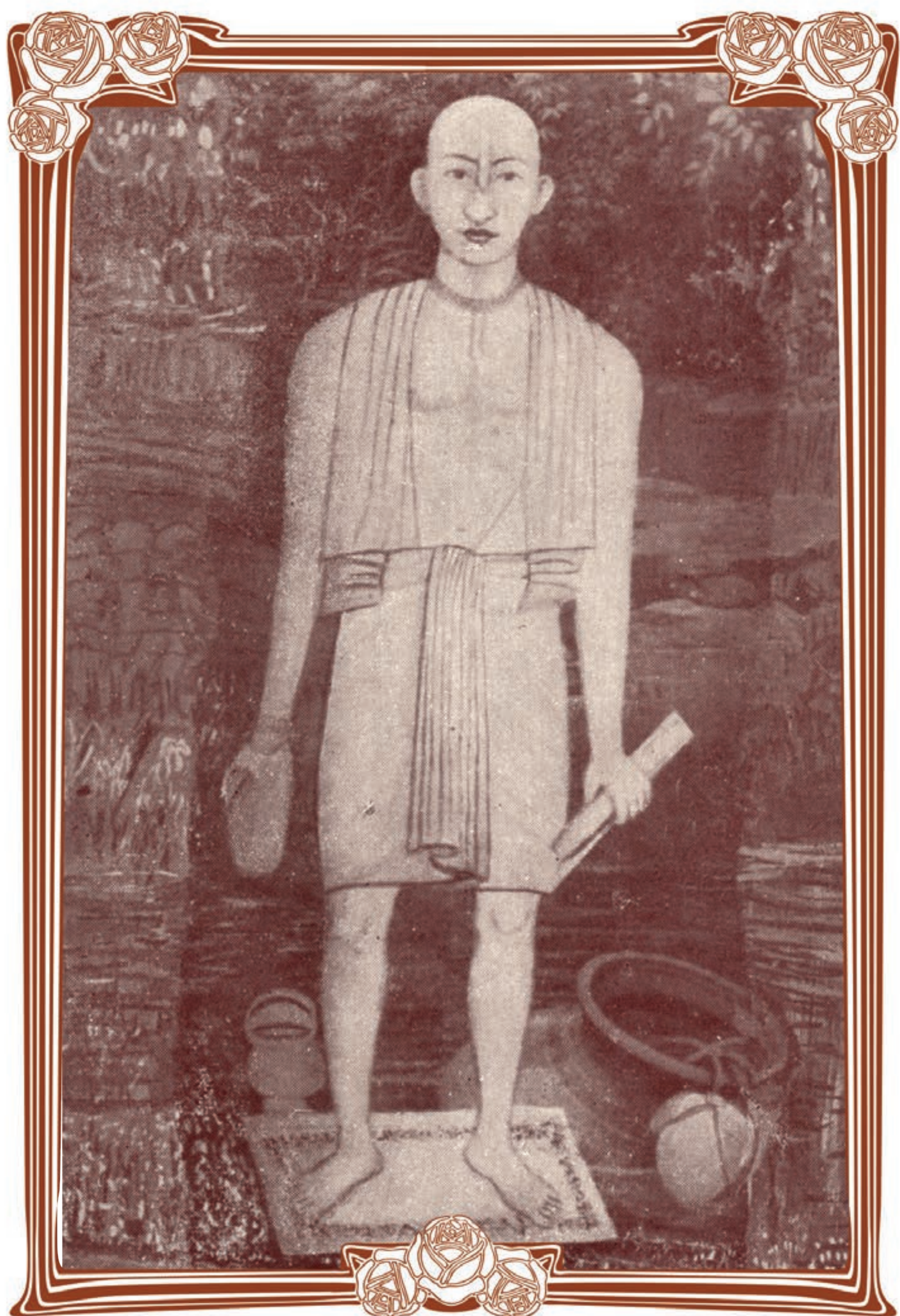


नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री
श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज



नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपाद



श्रीगौड़ीय–वेदान्ताचार्य
श्रील बलदेव विद्याभूषण प्रभु



श्रीचैतन्य मनोऽभीष्ट संस्थापक
श्रील रूप गोस्वामी प्रभु



जयपुरमें विराजमान श्रीश्रीराधागोविन्ददेवजी

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

(श्रीश्रीमद्भगवदवतार-महर्षि-श्रीकृष्णद्वैपायन-वेदव्यासेन विरचितम्)

वेदान्तसूत्रम्

[गौडीय-वेदान्ताचार्य श्रीश्रीमद्बलदेव विद्याभूषण-कृत
सटीक श्रीगोविन्दभाष्य समेतम्]

प्रयोजनतत्त्वात्मक

चतुर्थोऽध्यायः (फलाध्यायः)

प्रथमः पादः

मङ्गलाचरणम्

दत्त्वा विद्यौषधं भक्तान् निरवद्यान् करोति यः।
दृक् पथं भजतु श्रीमान् प्रीत्यात्मा स हरिः स्वयम्॥

अनुवाद—जो विद्या-रूप-औषध प्रदान करके भक्तोंको अविद्यारोगसे रहित कर देते हैं, वे आनन्दमय श्रीहरि स्वयं मेरे दृष्टिगोचर हों।

मङ्गलाचरण टीका—अथ फलाध्यायं व्याचक्षाणो विशुद्धिपूर्वक-श्रीहरिदर्शनस्पृहारूपं मङ्गलमाचरति दत्त्वेति। यो विद्यौषधं दत्त्वा भक्तान्निरवद्यान-विद्यारोगशून्यान् करोतीति क्लेशहानिरुक्ता। स प्रीत्यात्मा सुखमयः श्रीहरिर्दृक्पथं भजत्विति सुखप्राप्तिश्चेति निःशेषदुःखहानिपूर्वकस्तत्साक्षात्कारलक्षणो मोक्ष एवात्रार्थो व्यज्यते। दत्त्वौषधमित्यत्र भक्तेभ्य इति सम्प्रदानविभक्तिर्नस्यात्। पश्य मृगो धावतीत्यत्र कर्मविभक्तिवत्। *"अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम्। कर्त्तुश्चान्योन्यसन्देहे परमेकं प्रवर्त्तत"* इत्युक्तेः।

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—अब इसके बाद भाष्यकार फलाध्याय व्याख्याके प्रारम्भमें अविद्या-नाशरूप विशुद्धिपूर्वक श्रीहरिके दर्शनकी कामनासे मङ्गलाचरण करते हैं—जो विद्यारूप औषधका दान करके भक्तोंको निरवद्य अर्थात् अविद्या रोगसे रहित करते हैं—इस वाक्यके द्वारा यह कहा गया है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश रूप क्लेशोंका क्षय उन परमेश्वरसे ही होता है। *'स प्रीत्यात्मा'* अर्थात् आनन्दमय श्रीहरि दृष्टि-पथ पर रहें और सुख प्राप्त हो—इससे निःशेष दुःखोंकी समाप्ति (पुनरुत्पत्ति-रहित—त्रिविध—आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्ति) पूर्वक परमेश्वर-साक्षात्कार रूप मुक्ति अर्थ सूचित होता है। आपत्ति यह है कि *'दत्त्वौषधम् भक्तान्'* यहाँ *'भक्तेभ्यः'* इस प्रकारसे सम्प्रदानार्थक चतुर्थी किसलिए नहीं हुई? इसके उत्तरमें कहते हैं—*'पश्य मृगो धावति'* इस वाक्यमें जैसे 'मृग' पदमें कर्म विभक्ति है, उसी प्रकारसे यहाँ भी है। अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म और कर्त्तृ कारक जब एकत्र प्राप्त हों, तब सन्देह होनेपर कारक-क्रमके अनुसार एक ही कारक निर्दिष्ट होगा। अतएव यहाँ सम्प्रदान और कर्मकारकके सन्देह होनेपर 'करोति' क्रियायोगमें कर्मकारकमें द्वितीया हुई है, सम्प्रदानार्थक चतुर्थी नहीं।

विद्याका फल-विचाराध्याय

अवतरणिका भाष्य—विद्याफलविचारोऽयमध्यायः। यद्यप्यत्र कतिपयैः सूत्रैरादितः साधनविचारोऽस्ति तथापि फलप्राधान्यात् फलाध्यायो भण्यते। *"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"* (बृ॰आ॰ २/४/५, ४/५/६) इत्यादि श्रूयते। एतद्विहितस्य श्रवणादेरावृत्तिः कार्या न वेति संशये सकृदनुष्ठितादग्निष्टोमादेः स्वर्गादिवत् सकृत् कृतादपि श्रवणादेरात्मदर्शनं स्यादतो नेति प्राप्ते।

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यह चतुर्थ अध्याय विद्याका फल-विचारस्वरूप है। अतः इस अध्यायमें विद्याके फलका विचार किया जायेगा। यद्यपि इस अध्यायमें पहले कतिपय सूत्रों द्वारा मुक्तिके साधनका विचार किया गया था, तो भी फलकी प्रधानताके कारण इसे फलाध्याय कहा जा सकता है। *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'*

(आत्माका दर्शन करना चाहिये) इत्यादि जो श्रुति है—इसमें संशय यह है कि श्रुतिविहित श्रवणादि क्या पुनः-पुनः करना चाहिये? अथवा एक बार? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जिस प्रकार अग्निष्टोमादि-याग एक बार अनुष्ठित करनेसे स्वर्गादि फलकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार सकृत्-कृत (एक बार किये गये) श्रवणादिसे ही आत्म-दर्शन (आत्म-साक्षात्कार) हो जायेगा। अतएव पुनः-पुनः श्रवणादिका प्रयोजन नहीं है। इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वाध्याये विद्यायाः साधनान्युक्तानि, इह तस्याः फलं चिन्त्यमित्यनयोर्हेतुहेतुमद्भावः सङ्गतिः। पूर्वत्र प्रारब्धनाशे मुक्तिरुक्ता। तद्वत् सकृत्कृते श्रवणादिके विद्या स्यादिति पूर्वोत्तरन्याययोर्दृष्टान्तः सङ्गतिः। इह प्रथमे पादे ब्रह्मविदः प्रारब्धातिरिक्तसर्वकर्मनिवृत्तिः। द्वितीये म्रियमाणस्योत्क्रान्तिः। तृतीयेऽर्च्चिरादिमार्गेण श्रीहरिणा च तदुपासकस्य तल्लोकगतिः। चतुर्थे मुक्तानां भोगैश्वर्यावाप्तिरपुनरावृत्तिश्च निरूप्यते। पादसङ्गत्यादयश्चोह्याः। अथाश्लेषन्याय-पर्यन्तोऽवशिष्टः साधनविचारो दर्श्यते इत्याह यद्यप्यत्रेति। अथोनविंशतिसूत्रकं त्रयोदशाधिकरणकं प्रथमं पादं व्याख्यातुमारभत आत्मेत्यादिना। पूर्वपक्षे श्रवणादेर-दृष्टफलकत्वं सिद्धान्ते तु दृष्टफलकत्वं बोध्यम्। सकृत्कृतादिति। प्रयाजादिवदिति बोध्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाध्यायमें विद्याके साधन बतलाये गये थे, यहाँ उसी विद्याका फल विचारणीय है। इस प्रकारसे दोनों अध्यायोंमें हेतुहेतुमद्भाव सङ्गति है। पहले अधिकरणमें कहा गया था कि प्रारब्ध कर्मका नाश होनेपर मुक्ति होती है, उसी प्रकार एक बार श्रवण-मननादि करनेपर विद्या प्राप्त हो सकती है, इस प्रकारसे पूर्वापर दोनों अधिकरणकी परस्पर दृष्टान्त-सङ्गति जाननी चाहिये। इस चतुर्थाध्यायके प्रथमपादमें ब्रह्मविद्के प्रारब्धसे भिन्न समस्त कर्मोंके क्षयका प्रतिपादन होगा, द्वितीय पादमें म्रियमाण व्यक्तिका अर्थात् आसन्न मृत्युग्रस्तके देहसे निर्गमका प्रकार, तृतीय पादमें अर्चिः इत्यादि मार्गमें श्रीहरिकी कृपासे उनके उपासकोंकी वैकुण्ठधाम-प्राप्ति तथा चतुर्थ पादमें मुक्त पुरुषोंके भोगैश्वर्यकी प्राप्ति एवं पुनरावृत्तिका अभाव वर्णित होगा। पादसङ्गति इत्यादि स्वतः कल्पनीय हैं। अतःपर अश्लेषाधिकरण पर्यन्त अवशिष्ट साधन विचार प्रदर्शित हुआ है,

इसीको अवतरणिका भाष्यमें *'यद्यप्येत्रत्यादि'* वाक्य द्वारा कहा गया है। भाष्यकार ऊनविंश (उन्नीस) सूत्रात्मक तेरह अधिकरणोंसे युक्त प्रथम पादकी व्याख्या *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'* इत्यादि श्रुति द्वारा आरम्भ करते हैं। पूर्वपक्षमें आत्मविषयक श्रवणादिका फल अदृष्ट है, जब कि सिद्धान्तीमतमें यह फल दृष्ट है। सकृदनुष्ठितात् इति—जिस प्रकार प्रधान यागका अङ्ग प्रयाजादि एक बार अनुष्ठान करनेसे होता है, उसी प्रकार।

आवृत्यधिकरणम्

सूत्र—आवृत्तिरसकृदुपदेशात्॥ १॥

सूत्रार्थ—'आवृत्तिः' बार-बार श्रवणादि आवश्यक हैं, क्योंकि 'असकृदुपदेशात्' श्वेतकेतुके प्रति नौ बार वही उपदेश किया गया है॥ १॥

सूत्रानुवाद—श्रवणादि अङ्गोंकी पुनः-पुनः आवश्यकता है—यही श्रुतिका विधान है॥ १॥

गोविन्दभाष्य—श्रवणादेरावृत्तिरावश्यकी। कुतः? असकृदिति। *"स य एषोऽणिमा", "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्", "तत् सत्यम्", "स आत्मा", "तत्त्वमसि"* (छा॰ ६/१४/३) इति श्वेतकेतुं प्रति नवकृत्वः कथनात्। न च सकृत् कृतेन कृतः शास्त्रार्थ इति न्यायविरोधः, तस्यादृष्टफलविषयत्वात्। अत्रात्मसाक्षात्कारलक्षणस्य दृष्टफलस्य सम्भवात् वैतुष्यदृष्टफलकावघातादिवत् फलपर्यन्तं श्रवणाद्यावर्त्तनीयमिति॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रवणादि बार-बार आवश्यक हैं। कारण क्या है? क्योंकि श्रुतिमें बहुत बार उपदेश है, इसलिए। यथा *'स य एषोऽणिमा', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्', 'तत्सत्यम्', 'स आत्मा', 'तत्त्वमसि'* इति अर्थात् *'स एषोऽणिमा'*—यह जो अणुपरिमाण है, यही वह आत्मा है, *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'*—यह समस्त चराचर विश्व ही ब्रह्मस्वरूप है, *'तत् सत्यम्'*—वे ब्रह्म ही एकमात्र सत्स्वरूप हैं, *'स आत्मा'*—वे ही आत्मा हैं, *'तत्त्वमसि'* श्वेतकेतो!—तुम ही 'तत्'—वही अर्थात् वही ब्रह्म हो—इस प्रकार इन श्रुतियोंमें श्वेतकेतुके प्रति नौ बार आत्मतत्त्व कहा गया है। यदि कहो, एक बार अनुष्ठान करनेसे शास्त्र-विधिका (न्यायका) पालन हो जाता है—तब तो इस न्यायके साथ विरोध होता

है, तो नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि वह न्याय अदृष्ट-फल-विषयक है, जो क्रिया-स्थलपर है। यहाँ तो आत्म-साक्षात्काररूप दृष्ट फल सम्भव है। (पूर्वपक्षमें आत्मविषयक श्रवणादिका फल अदृष्ट है।) अतः अवघातका (कूटनेका) फल वितुषीकरण (कूट-कूट कर धानसे भूसा हटा देना) जब तक नहीं हो जाता, तब तक दृष्ट-फल-विषयक अवघात करते रहना चाहिये (कूटते जाना चाहिये)। इस प्रकार फलोदय (विद्योत्पत्ति अथवा आत्मसाक्षात्कार) तक श्रवणादि पुनः-पुनः आचरणीय हैं॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—आवृत्तिरिति। षड्जादिस्वराणामावृत्तिविशिष्टश्रवणादिसाध्य-सात्क्षाकारदर्शनादिति दुर्गमस्य श्रीहरेरपि साक्षात्कारस्तादृशश्रवणादिति साध्य इत्यर्थः। दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पना नोपयुक्तेतिभावः। तस्य न्यायस्य॥ १॥

सूक्ष्मा-सार—आवृत्तिरित्यादि सूत्रमें। षड्ज इत्यादि सात स्वरोंके (षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत एवं निषादके) आवृत्ति विशिष्ट श्रवणादिसे जिस प्रकार साक्षात्कार दिखायी देता है, उसी प्रकार अति दुर्ज्ञेय श्रीहरिका भी साक्षात्कार उसी प्रकार (पौनः पुनिक) श्रवणसे होता है; इसीलिए बहुत बार श्रवण-साध्य कहा गया है। दृष्ट-फल सम्भव होनेपर अदृष्ट-फलकी कल्पना अनुपयुक्त है। कहा गया है—*'लभ्यमाने फले, दृष्टे नादृष्टपरिकल्पना। कल्प्यस्तु विधिसामर्थ्यात् स्वर्गो विश्वजिदादिववत् इति'* अर्थात् विश्वजित्-न्यायकी भाँति (विश्वजित् यागमें स्वर्गका स्पष्ट उल्लेख नहीं है) विधिकी सामर्थ्यसे स्वर्गकी कल्पना कर लेनी चाहिये। (अध्ययन-विधिमें इतना सामर्थ्य है कि उससे स्वर्ग मिल सकता है।) *'तस्या दृष्टफलविषयत्वात्'* में 'तस्य' अर्थात् सकृत् कृतेन कृतः शास्त्रार्थः—इस न्यायका॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादके आरम्भमें भाष्यकारने मङ्गलाचरणमें कहा है कि जो विद्यारूप ओषधि प्रदान करके भक्तोंको निरवद्य अर्थात् अविद्या रूप रोगसे रहित करते हैं, वे सुखमय श्रीमान् श्रीहरि स्वयं मेरे दृष्टिगोचर हों।

इस अध्यायमें विद्याके फलका विचार होगा—इस कारण इसे फलाध्याय कहा है। यद्यपि प्रथम पादके आरम्भमें कुछ सूत्रोंमें साधनके विषयमें विचार हुआ है, तथापि फल-विचारका ही आधिक्य

देखा जाता है। पूर्व अधिकरणमें कहा गया था कि प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेपर मुक्ति होती है, यहाँ इस अध्यायमें प्रतिपादन होगा कि प्रारब्धसे भिन्न समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है।

श्रुतिमें जो कहा गया है कि *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, निदिध्यासितव्यः'* इत्यादि (बृ॰आ॰ २/४/५) (अरी मैत्रेयि! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय, और ध्यान किये जाने योग्य है।) इस स्थलपर संशय यह है कि वेदान्तविहित श्रवणादिका पुनः-पुनः अनुष्ठान करना होगा? अथवा एक ही बार करना होगा? पूर्वपक्षी कहते हैं कि अग्निष्टोमादि यज्ञका एक बार ही अनुष्ठान करनेसे स्वर्गादि फलकी प्राप्ति होती है, अतएव श्रवणादिका भी 'सकृत्' अर्थात् एक ही बार अनुष्ठान कर लेनेसे आत्मदर्शन होगा, पुनः-पुनः श्रवणादिका प्रयोजन नहीं है। पूर्वपक्षके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रवणादि की पुनः-पुनः आवृत्तिकी आवश्यकता है क्योंकि श्रुतिमें यही उपदेश है। *'स य एषोऽणिमा'* (छा॰ ६/१४/३, ६/९/४ इत्यादि), *'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'* (छा॰ वही), *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (छा॰ वही), *'तत् सत्यम्', 'स आत्मा'* (छा॰ वही) इत्यादि श्रुति वाक्योंमें श्वेतकेतुके प्रति नौ बार उपदेश किया गया है।

यदि कहा जाय कि शास्त्रमें उल्लिखित है कि एक बार अनुष्ठान करनेसे ही शास्त्र-विधिका पालन करना हो जाता है; इस न्यायके साथ विरोध होगा तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि यह न्याय अदृष्टफल-विषयक है। इस स्थलपर आत्मसाक्षात्कार-लक्षणरूप दृष्टफलकी सम्भावना रहनेके कारण धान्यको तुषरहित करनेके समय तक जिस प्रकार उसपर अवघात किया जाता है—इसी प्रकार विद्याकी उत्पत्तिरूप फलोदय पर्यन्त अर्थात् आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त श्रवणादिकी आवृत्ति करनी चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें है—

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां
न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम्।

नान्यत्त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं
मायागुणव्यतिकराद् यदुरुर्विभासि॥

(श्रीमद्भा॰ ३/९/१)

अर्थात् ब्रह्माजीने कहा—हे भगवन्! आज बहुत समय तक उपासना करनेके बाद मैं आपको जान सका हूँ। अहो! देहधारी जीवोंका कैसा दुर्भाग्य है कि वे आपके तत्त्वको जान नहीं सकते। आप ही एकमात्र जाननेके योग्य पुरुष हैं क्योंकि आपके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुका पृथक् अस्तित्व नहीं है और जो अस्तित्व पृथक् रूपसे प्रतीत भी होता है, वह बस प्रतीतिमात्र है, स्वरूपतः सत्य नहीं है। आप इस जगत्में बहुत रूप होकर प्रकाशित होते हैं। यह जगत् भी आपकी बहिरङ्गा प्रधानरूप मायाके गुणोंके परिणामसे ही प्रतीत होता है; अर्थात् उसमें भी सत्यता नहीं है।

और भी,

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्
पुराकथानां भगवत्कथासुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहा-
महो विरज्येत बिना नरेतरम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/१३/५२)

अहो! इस जगत्में एकमात्र पशुके अतिरिक्त पुरुषार्थके सारको (भगवत्-प्रेमको) जाननेवाला ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो प्राचीन वृत्तान्त अर्थात् आवागमनको छुड़ा देनेवाले भगवत्-कथामृतका कर्णपुटोंके द्वारा पान करनेसे अपने आपको विरत कर ले (अरे! जो विरत कर ले, वह तो पशु ही है)।

श्रीचैतन्यचरितामृत (अ॰ ३/१३६) में भी पाया जाता है—

निरन्तर नाम कर, तुलसी सेवन।
अचिरात् पावे तबे, कृष्णेर चरण॥

अर्थात् निरन्तर श्रीहरिके नामका जप करो और श्रीतुलसीजी सेवा-पूजा करो। इसीसे तुम्हें अविलम्ब श्रीकृष्णके चरणोंकी प्राप्ति हो जायेगी। इसी प्रकार,

अतएव भागवत करह विचार।
इहा हैते पारे सूत्र-श्रुतिर अर्थ-सार॥

निरन्तर कर कृष्णनाम-सङ्कीर्त्तन।
हेलाय मुक्ति पारे, पावे प्रेमधन॥

(चै०च०म० २५/१४६, १४७)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुने कहा—हे सरस्वतीपाद! भागवतका विचार करनेपर ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदोंके प्रकृत सार-अर्थको जाना जा सकता है। भागवतका विचार किये बिना जो वेदान्त पढ़ना चाहते हैं अथवा उपनिषदोंका अर्थ जानना चाहते हैं, उन्हें असार अर्थकी प्राप्ति अवश्य ही होगी। आप निरन्तर श्रीकृष्णनामका सङ्कीर्त्तन कीजिये; इससे आपको अनायास ही मुक्ति मिल जायेगी और कृष्ण-प्रेम-संपत् भी सहसा ही प्राप्त हो जायेगी।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—

पुनः-पुनः वेदन ही शास्त्रका अभिप्रेत अर्थ है, क्योंकि ऐसा ही उपदेश है अर्थात् ध्यान और उपासना इत्यादि एकार्थ (पर्याय) बोधक शब्दोंके द्वारा यही उपदिष्ट हुआ है। ध्यान और उपासना आदि शब्दसमूह 'वेदन' के ही समानार्थक हैं—वेदनोपदेशपरक वाक्योंसे यही अवगत होता है। पुनः-पुनः चिन्तनके प्रवाहको ध्यान अथवा उपासना कहते हैं। *'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* (तै० २/१), *'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'* (मु० ३/२/८), ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है, और तब ध्यान करनेपर वह उस निष्कल (मायातीत नराकृति परब्रह्म) आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करता है। इस प्रकार वेदमें जिन ब्रह्मके वेदन अर्थात् जाननेकी बात कही गयी है—उसका अर्थ ब्रह्मका ध्यान अथवा उपासना करना है। ध्यान करनेपर उस निष्कल आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होता है, *'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'* (मु० ३/२/९) जो कोई उन परब्रह्मको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है इत्यादि।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

असकृत् साधनावृत्तिः कर्त्तव्या 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो' इत्यादि ब्रह्मदर्शनयोपदेशात्।

अर्थात् इन श्रवण, मनन, निदिध्यासन (निरन्तर ध्यान) आदि भगवत्-प्राप्तिके साधनोंकी बार-बार आवृत्ति करनी चाहिये। ब्रह्मदर्शनके लिए अर्थात् परमात्म-साक्षात्कारके लिए यही उपदेश है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

"फलं निगद्यतेस्मिन् अध्याये। कर्मनाशाख्यं फलमस्मिन् पादे। नित्यशः कार्यं सर्वथा भाव्यं साधनं प्रथमत उच्यते। प्रायिकत्वाच्चाध्यायानां पादानाञ्च न विरोधः। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृ॰आ॰ २/४/५) *इत्यादीनां नाग्निष्टोमादिवदेकवारणैव फलप्राप्तिः किन्त्वावृत्तिः कर्त्तव्या 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वम्'* (छा॰ ६/८/७) *इत्याद्यसकृदुपदेशात्।"*

अर्थात् वैराग्यादि साधनों द्वारा ब्रह्म-दर्शन करना चाहिये—यह पूर्वाध्यायमें कहा गया था। अब इस अध्यायमें उस ब्रह्मदर्शनका फल निरूपित करते हैं। ज्ञानसे समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है, इसके विषयमें पूर्व अध्यायमें कहा गया था, परन्तु यह पुरुषार्थ है कैसा?—इसका विचार इस पादमें होगा। इस पादमें कर्मनाश नामक कर्मका निरूपण करेंगे। सर्वप्रथम नित्य कर्म करनेवाले साधनोंका निरूपण करते हैं—जिनसे फल-प्राप्ति होती है। अध्यायों तथा पादोंका विरोध नहीं होता, वे एक-दूसरेके पूरक ही होते हैं। श्रवणादिकी पुनः-पुनः आवृत्ति करनी चाहिये, निदिध्यासन करना चाहिये—इत्यादि साधनोंको बार-बार करना चाहिये—अग्निष्टोम आदिकी तरह एक बार करनेमात्रसे फल-प्राप्ति नहीं होती। उद्दालकने श्वेतकेतुको नौ बार ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था। यदि अग्निष्टोमादिके समान एक अनुष्ठानसे ही फलकी सिद्धि होती तो उद्दालकका पुनः-पुनः (*'स य एषोऽणिमा', 'ऐतदात्म्यमिदंसर्वम्'* इत्यादि) उपदेश ग्रहण करनेका कोई प्रयोजन न था॥ १॥

सूत्र—लिङ्गाच्च॥ २॥

सूत्रार्थ—'च'—और, 'लिङ्गात्'—महाजनोंका आचरण भी ज्ञापक (प्रमाण) है, अतएव श्रवणादिकी 'असकृत्' अर्थात् बार-बार आवृति आवश्यक है॥ २॥

सूत्रानुवाद—भृगु इत्यादि महाजनोंके आचरणसे भी यही ज्ञापित होता है कि श्रवणादिकी आवृत्ति पुनः-पुनः आवश्यक है॥ २॥

गोविन्दभाष्य—तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससारेति भृगोरावृत्तिलिङ्गाच्च सा सिद्धा। इदमावृत्तिविधानमपराधसत्त्वापेक्षयेति बोध्यम्॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—उस आत्मतत्त्वको (ब्रह्मज्ञानको) जानकर भी वरुणनन्दन भृगु पुनः पिता वरुणके निकट आये थे। भृगुके इस आवृत्तिरूप ज्ञापक प्रमाणसे अर्थात् महज्जनके आचरण लिङ्गसे (चिह्नसे) भी ये असकृत् (पुनर्बार) श्रवणादि सिद्ध होते हैं। यह जो बार-बार आवृत्तिका विधान है—यह तब तक ही है, जब तक साधकका अपराध रहता है, अन्यथा एक बार श्रवणादिसे भी आत्मसाक्षात्कार होता है, यह जान लेना चाहिये॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—लिङ्गाच्चेति। तद्विज्ञायेति। जानातिरुपासनार्थः। संवर्गविद्यायां विदितेनोपक्रम्योपास्तिनोपसंहारात्। आवृत्ताविदं लिङ्गं सिद्धम्। इदमिति। नामापराधभाजां तदपराधपरिक्षयाय श्रवणादेरावृत्तिस्तद्रहितानान्तु सकृत् कृतेनापि तेन स स्यादेव। *"सकृदुच्चारितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति"* (पद्मपुराण उत्तरखण्ड ४६ अध्याय) इत्यादिवाक्येभ्यः। नामापराधाश्च दश पाद्मे नामापराधभञ्जनस्तोत्रे विज्ञेयाः। नामापराधपरिक्षयाय नामावृत्तिः कार्येति तत्स्तोत्रे दर्शितम्। *"नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्। अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि यदिति"* (पद्मपुराण स्वर्गखण्ड ११/४८)॥ २॥

सूक्ष्मा-सार— *'लिङ्गाच्चेति'* सूत्रमें। तद्विज्ञायेत्वादि भाष्यके विज्ञाय-पदमें 'ज्ञा' धातुका अर्थ है 'उपासना', क्योंकि संवर्ग-विद्यामें ज्ञान द्वारा उपक्रम करके उपास्ति—अर्थात् 'उप' पूर्वक 'आस' धातुके द्वारा—उपासना द्वारा उपसंहार करते हैं। उपक्रम और उपसंहार एक प्रकारसे होना उचित है, इसलिए ज्ञानको उपासना अर्थमें लेना चाहिये। आवृत्ति-विषयमें यह ज्ञापक लिङ्ग सिद्ध हुआ। *'इदमावृत्तिविधानमित्यादि'* जो नामापराध करते हैं, उनके उस अपराध-भञ्जनके लिए श्रवणादिकी आवृत्ति आवश्यक है किन्तु जिनका वैसा नहीं है (अर्थात् अपराध नहीं है) उनके एक बार श्रवणके द्वारा ही वह मोक्ष होगा। इस विषयमें बहुत-से प्रमाण हैं यथा— *'सकृदुच्चारितं येन हरिरित्यक्षरद्वयमित्यादि'*—जो व्यक्ति 'हरि' इन दो अक्षरोंका एक बार भी उच्चारण करता है, उस

व्यक्तिका मोक्षपथमें गमन बद्ध परिकर (दृढ़) होता है अर्थात् उसकी कभी भी बुरी गति नहीं होती है, वह मुक्तिके पथानुसरणमें दृढ़ होता है—इत्यादि और भी बहुत-से वाक्य हैं। नामापराध दस हैं—पद्मपुराणमें *'नामापराध भञ्जनस्तोत्र'* से यह ज्ञातव्य है। इस स्तोत्रमें दिखाया गया है—नामापराध-क्षयके लिए पुनः-पुनः नामोच्चारण करणीय है यथा नामापराधी व्यक्तियोंके लिए नाम ही उनके अपराधका नाश करता है। नाम अविश्रान्त रूपसे उच्चारित होनेपर वे अपराधी कार्यको सिद्ध कर लेते हैं॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें महाजनोंके आचरणरूप दृष्टान्त लिङ्ग (प्रमाण) के विषयमें कहते हैं। वरुणतनय भृगु ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके बाद पुनः पिता वरुणके निकट उपदेश-प्राप्तिके लिए गये थे। इससे आवृत्तिकी निरन्तरताकी आवश्यकता ज्ञात होती है। पुनः-पुनः आवृत्तिका विधान अपराधोंके क्षयके लिए ही व्यवस्थापित है। अपराध-रहित होनेपर एक बार श्रवण-कीर्त्तनसे ही आत्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

'एक' कृष्णनाम करे सर्वपाप नाश।
प्रेमेर कारण भक्ति करेन प्रकाश॥

प्रेमेर उदये हय प्रेमेर विकार।
स्वेद-कम्प-पुलकादि गद्गादाश्रुधार॥

अनायासे भव क्षय, कृष्णेर सेवन।
एक कृष्णनामेर फले पाइ एत धन॥

हेन कृष्णनाम यदि लय बहुवार।
तबु यदि प्रेम नहे, नहे अश्रुधार॥

तबे जानि, अपराध ताहाते प्रचुर।
कृष्णनाम-बीज ताहे ना करे अङ्कुर॥

(चै॰च॰आ॰ ८/२६-३०)

अर्थात् एक कृष्णनाम सभी पापोंका नाश कर देता है और प्रेमको उदय करानेवाली भक्तिको प्रकाशित कर देता है। प्रेमके उदय

होनेसे स्वेद, कम्प, पुलक, तथा गद्गद् अश्रुधारा आदि प्रेमके विकार उत्पन्न होते हैं। संसार-बन्धन अनायास छूट जाता है एवं श्रीकृष्णसेवाकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार एक कृष्णनामके फलस्वरूप इतने प्रकारके धन प्राप्त होते हैं। ऐसे कृष्णनामको असंख्य बार ग्रहण करनेपर भी यदि प्रेम उदय नहीं होता और न ही अश्रुधाराएँ बहती हैं, तब समझ लेना चाहिये कि उस व्यक्तिमें प्रचुर अपराध हैं, जिससे कृष्णनामका बीज अङ्कुरित नहीं हो रहा है।

श्रीमद्भागवत (५/१/३५) में भी प्राप्त है—*'चित्रं विदूरविगतः सकृदादतीत यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम्।'* अर्थात् अन्त्यज भी मात्र एक बार श्रीभगवान्का श्रीनाम ग्रहण करे तो वह भी उसी मुहूर्त्त अविद्या-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

और भी,

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा॰ २/४/१५)

अर्थात् जिनका कीर्त्तन, स्मरण, श्रीविग्रह-दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं अर्चन शीघ्र ही लोगोंके अनर्थों एवं कल्मषोंका विनाश करता है, ऐसे मङ्गलमय-यश-स्वरूप-माधुर्यमय श्रीभगवान्को मैं पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ।

स्कन्दपुराणमे देखा जाता है—'*सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।*' (ह॰भ॰वि॰ ११/२३४ संख्याधृत स्कन्दपुराण वाक्य) अर्थात् हे भार्गवश्रेष्ठ! श्रद्धासे हो अथवा अवहेलनासे मनुष्य यदि स्पष्ट रूपसे एकबार भी निरपराध होकर कृष्णनामका आचरण करे, तो वह नाम उसी समय मनुष्यको तार देता है।

श्रीमद्भागवत (६/२/१०) में और भी पाया जाता है—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥

अर्थात् जो बड़े-से-बड़े महापापी हैं—उनके लिए भगवान् श्रीविष्णुके नामोंका उच्चारण ही सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित है। जो इन नामोंका उच्चारण करता है, उसके सम्बन्धमें भगवान् विष्णुकी 'यह व्यक्ति मेरा निजजन है, इसकी सर्वतोभावसे रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है'—इस प्रकारकी आत्मीय बुद्धि हो जाती है।

इस श्लोकको टीकामें श्रीलचक्रवर्तीपादने एक स्थानपर लिखा है—*'यथा नामाभासबलेनाजामिलो दुराचारोऽपि वैकुण्ठं प्रापितस्तथैव स्मार्त्तादयः सदाचाराः शास्त्रज्ञा अपि बहुशो नामग्राहिणोऽप्यर्थवादकल्पनादि नामापराधबलेन घोरसंसारमेव प्राप्यन्ते इत्यतो नाममाहात्म्यदृष्ट्या सर्वमुक्तिप्रसङ्गोऽपि नाशङ्क्यः।'*

अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त दुराचारी होनेपर भी अजामिलने नामाभासके बलसे वैकुण्ठ-लोकको प्राप्त किया था, स्मार्त्त लोग सदाचारसम्पन्न, शास्त्रज्ञ तथा बहुत नाम ग्रहण करनेपर भी उस गतिको प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि वे नाममें अर्थवाद और अर्थ कल्पना आदि नामापराध करते हैं और इस कारण घोर-संसारमें (पुनः-पुनः जन्म-मरणमय संसार-प्रवाहमें) ही पतित होते हैं। अतएव नाम-माहात्म्य देखकर सभीको मुक्ति होगी—इस प्रकारकी आशङ्का करना उचित नहीं है। निरपराध होकर नाम ग्रहण करनेपर ही श्रीनाम करुणा करते हैं और इसीसे ही भगवत्-सेवाके अधिकाररूप मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

दस प्रकारके नामापराधके विषयमें पद्मपुराणमें प्राप्त है—

सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते
यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हणम्॥
शिवस्य श्रीर्विष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥
गुरोरवज्ञा श्रुतिशास्त्रनिन्दनं तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
नाम्नोबलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥
धर्मव्रतत्यागहुतादि सर्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥
श्रुत्वापि नाममाहात्म्यं यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहंममादि परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत्॥

जाते नामापराधे तु प्रमादे तु कथञ्चन।
सदा सङ्कीर्त्तयेन्नाम तदेकशरणो भवेत्॥
नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्॥
अविश्रान्ति-प्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि यत्॥

(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड ४८ अध्याय)

अर्थात् (१) सन्तोंकी निन्दा श्रीनामके निकट भीषण अपराध विस्तार करती है, जिन नाम-परायण सन्त-महात्माओंके द्वारा श्रीकृष्णनामकी महिमाका संसारमें प्रचार होता है, उनकी निन्दा श्रीनाम प्रभु कैसे सह सकते हैं? अतः साधु-सन्तोंकी निन्दा करना पहला अपराध है।

(२) इस संसारमें जो मनुष्य बुद्धि द्वारा परम मङ्गलमय श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और लीला आदिको नामी-विष्णुसे पृथक् मानते हैं, उनका वह हरिनाम (नामापराध) निश्चय ही अहितकर है।

(३) नाम-तत्त्वविद् गुरुको मरणशील और पाञ्चभौतिक शरीरयुक्त साधारण मनुष्य मानकर उनकी अवज्ञा करना।

(४) वेद और सात्वत पुराण आदि शास्त्रोंकी निन्दा करना।

(५) हरिनामकी महिमाको अति-स्तुति समझना।

(६) भगन्नामको काल्पनिक समझना।

(७) जिनकी श्रीनामके बलपर पापकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, उनकी अनेक यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि कृत्रिम योग-प्रक्रियाओंके द्वारा भी शुद्धि नहीं होती—यह निश्चित है।

(८) धर्म, व्रत, त्याग, होम आदि प्राकृत शुद्ध कर्मोंको अप्राकृत भगवन्नामके समान या तुल्य समझना भी प्रमाद या असावधानी है।

(९) श्रद्धाहीन और नाम ग्रहण करनेसे विमुख मनुष्यको नामका उपदेश देना भी नामापराध है।

(१०) नामकी अद्भुत महिमाको सुनकर भी जो (रक्त, मांस और चमड़ेके) शरीरमें 'मैं' और सांसारिक भोग्य पदार्थोंमें 'मेरा' की बुद्धि रखते है तथा श्रीनामोच्चारणमें प्रीति या आग्रह नहीं दिखलाते, वे भी नामापराधी हैं। नामापराधयुक्त व्यक्तियोंके पाप और अपराध नाम ही

नष्ट करते हैं। निरन्तर नाम करनेसे ही प्रेमरूप अर्थ या प्रयोजन प्राप्त होता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

'अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय' (श्रीगी॰ १२/२) *इत्यादि स्मृतेश्च।*

लिङ्ग अर्थात् स्मृति। श्रीभगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—अभ्यासयोग द्वारा मुझे पानेकी इच्छा करें। इत्यादि स्मृति-वाक्य भी इसीका अनुमोदन करते हैं। (बार-बार आवृत्ति करना अभ्यास है)।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—लिङ्गका अर्थ है 'स्मृति'। लिङ्ग अर्थमें स्मृति-वाक्य है। इसी अर्थमें 'वेदन' शब्द प्रयुक्त होता है। मोक्षकी साधनरूप प्रवाहमयी स्मृतिको ही स्मृति-शास्त्रमें वेदन कहा गया है। लिङ्ग अर्थात् स्मृति-वाक्य भी आवृत्तिका अनुमोदन करते हैं। इस विषयमें उन्होंने श्रीविष्णुपुराणका प्रमाण उद्धृत किया है—

तद्रूप-प्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा॥

(वि॰पु॰ ६/७/९१)

अर्थात् उसके (ध्येयके) रूपके ज्ञानमें एक ही तरहसे रहनेवाला तथा दूसरे विषयोंके व्यवधानसे रहित (ज्ञानका) प्रवाह ध्यान है। हे राजन! खाण्डिक्य! वह प्रथम छह अङ्गों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा) के द्वारा निष्पन्न होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—*'स तपोऽतप्यत पुनरेवं वरुणं पितरमुपससार* (तै॰ ३/६/१) *इत्याद्यावर्त्तनलिङ्गाच्च नित्यशः श्रवणञ्चैव मननं ध्यानमेव च कर्त्तव्यमेव पुरुषैर्ब्रह्मदर्शनमिच्छुभिरिति बृहत्तन्त्रे।'*

अब हेत्वन्तर दिखाते हुए श्रवणादिकी आवृत्तिका समर्थन करते हैं—*'स तपोऽतप्यत'* (जब उसने तप किया) इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है कि भृगुने अपने पिता वरुणके पास अन्न, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र और मन इत्यादि विज्ञान विषयक पुनः-पुनः प्रश्न किये। वरुणने भी पुनः-पुनः अन्न प्राणादि विषयक विज्ञानका उपदेश दिया। बृहत्-तन्त्रमें भी कहा गया है कि ब्रह्मके दर्शन करनेके इच्छुक भगवत्-दर्शनाभिलाषी

पुरुषको श्रद्धापूर्वक श्रवण, मनन और ध्यान करना चाहिये। अतएव ज्ञान-साधनके लिए श्रवणादिकी आवृत्ति करे इस प्रकार आवृत्तिकी बात निश्चित होती है॥ २॥

भगवदुपासना! कैसी बुद्धि! एक विचार!

अवतरणिका भाष्य—अथ तत्रैव विचारान्तरम्। इदमुपासनमीश्वरबुद्ध्यात्मबुद्ध्या वेति। *"जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्"* (श्वे॰ ४/७) इति श्रुतेरीश्वरबुद्ध्येति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इस श्रवणादिकी आवृत्तिके विषयमें अन्य एक विचार उठता है, यथा-संशय यह है कि उपासना क्या ऐश्वर्य-विशिष्ट ईश्वरबुद्धिसे करनी चाहिये? अथवा माधुर्य-विशिष्ट आत्मबुद्धिसे करनी चाहिये? पूर्वपक्षी कहते हैं कि श्रुतिमें है—*'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश'* अर्थात् जिस समय उपासित (सेवित) ब्रह्मको जब अन्य अर्थात् वृक्ष (देह) रूप उपाधिसे भिन्न ईश्वररूपमें दर्शन करता है—इस श्रुतिसे ईश्वरबुद्धिके द्वारा दर्शन ज्ञात होता है—इस मतवादके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। आश्रयाश्रयिभावोऽत्र सङ्गतिः। तथाच श्रीहरिश्रवणादेरावृत्तिः पूर्वमुक्ता ततस्तामाश्रित्य तदावृत्तिकाले श्रवणादिविषये श्रीहरौ बुद्धिविशेषो विचिन्त्य इति आश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिरितिभावः। ईश्वरेति। ईश्वरबुद्ध्या महाप्रबलः सर्वनियन्ता दुर्द्धर्षः कश्चिदयमिति धिया। आत्मबुद्ध्या विभुचैतन्यानन्दः पुरुषोत्तमोऽयमिति धियेत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस अधिकरणमें आश्रयाश्रयि भावरूप सङ्गति है क्योंकि पूर्वाधिकरणमें श्रीहरिके श्रवणादिका पुनः-पुनः अभ्यास कहा गया है, उसके बाद उस श्रवणादिकी आवृत्तिका आश्रय करके उस आवृत्तिकालमें श्रवणादि-विषयमें श्रीहरिमें बुद्धिविशेष करणीय है, यह कहा गया है—इस प्रकारसे आश्रयाश्रयिभाव-सङ्गति है—यही अभिप्राय है। 'ईश्वरबुद्धयेति'—जो महाशक्तिशाली, सर्वनियन्ता, दुर्द्धर्ष हैं, कोई उन्हें पराभूत कर नहीं सकता—इस प्रकारकी ईश्वर-विषयक-बुद्धिके साथ श्रवण विधेय है। 'आत्मबुद्धयावेति' अथवा जो सर्व-व्यापक, चैतन्य-आनन्दमय पुरुषोत्तम हैं—इस बुद्धिसे श्रवण कर्त्तव्य है—

आत्मत्वोपासनाधिकरणम्

सूत्र—आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च॥ ३॥

सूत्रार्थ—'आत्मा इति तु' उन ईश्वरकी आत्मबुद्धिसे उपासना करे क्योंकि 'उपगच्छन्ति' तत्त्वज्ञ व्यक्ति उनका आत्मरूपमें ही अनुभव करते हैं 'च' और 'ग्राहयन्ति' शिष्योंको भी उसी भावसे बतलाते हैं॥ ३॥

सूत्रानुवाद—वे ईश्वर आत्मा हैं—अतः उपास्य हैं—तत्त्वज्ञ उन्हें आत्मा रूपसे ही जानते है और इसी रूपमें शिष्योंको भी ग्रहण कराते हैं॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—तु शब्दोऽवधारणे। स ईश्वर आत्मेत्येवोपास्यः। यत् कारणं तमात्मत्वेनोपगच्छन्ति तत्त्वज्ञाः, *"येषां नोऽयमात्मायं लोकः"* इत्यादिना, तथा शिष्यानपि ग्राहयन्ति च आत्मेत्येवोपासीतेत्यादिना। इहात्मशब्देन पुरुषाकारं विज्ञानानन्दस्वरूपं विभुवस्तु बोध्यते। स्वसत्ताप्रदत्वादिना स्वात्मभूतमित्यपरे। यत्तु जीवस्यैवाविद्याविनिर्मुक्तस्य ब्रह्मतादात्म्यधिया तच्चिन्तनमित्याह तदसत् प्रागेव प्रत्याख्यानात्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द अवधारणके लिए है अर्थात् यह निश्चय करनेके लिए है कि आत्मबुद्धिसे ही ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये, अन्य बुद्धिसे नहीं। तत्त्वविद्गण उन ईश्वरका आत्मरूपमें आश्रय करते हैं—*'नोऽयमात्मायं लोकः'*—ये मानते हैं कि हम उपासकोंका अनुभूयमान पदार्थ यह आत्मा है और 'पुरुषोत्तम' (विष्णु) विष्णु उस उपासकके स्वामी हैं। *'अयं लोकः'*—पुरुषोत्तम ही यह लोक हैं। साध्य-साधक इत्यादि वाक्यसे स्पष्ट है कि यह लोक (विष्णु) समस्त साध्य वस्तुओंका साधक है। ये तत्त्वविद्गण इसी प्रकारसे अपने शिष्योंको समझाते हैं कि आत्म-बोधसे ही उनकी उपासना करनी चाहिये। *'येषां नोऽयमात्मायं लोकः'* इत्यादि श्रुतिमें 'आत्मा' शब्द द्वारा नित्य ऐश्वर्य एवं माधुर्य सम्पन्न, पुरुषाकृति विशिष्ट विज्ञानानन्दस्वरूप विभु वस्तुको बतलाया गया है। (उनकी ही उपासना करे) दूसरे कोई कहते हैं कि निजकी सत्ताप्रद-वृत्तिके कारण ईश्वर निज आत्मभूत हैं; तब जो कहते हैं कि अविद्यासे विनिर्मुक्त

जीव ब्रह्मस्वरूप है—अतएव जीव आत्मबुद्धिसे ईश्वरका अर्थात् निजका चिन्तन-ध्यान (निजकी उपासना) करे तो यह कथन असत् है। इस मतका महले भी प्रत्याख्यान हो गया है॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—आत्मेतीति। येषामिति। येषां नोऽस्माकं उपासकानां अयमनुभवपथारूढ आत्मा तादृशः पुरुषोत्तम एवायं लोक एतल्लोकसाध्य-साधक इत्यर्थः। स्वसत्ताप्रदत्वं स्ववृत्तिहेतुत्वम्। प्राक् अधिकन्तु भेदनिर्देशादित्यस्य सूत्रस्य भाष्ये॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार—*'आत्मेति'* सूत्रमें। *'येषां नोऽयमात्मा'* इत्यादि भाष्यमें *'येषां नः'* हम उपासकोंकी 'अयम्' अनुभूतिके विषय आत्मा हैं, वे अनुभूयमान पुरुषोत्तम ही हैं। *'अयम् लोकः इति'*—यह लोक साध्य-समस्त वस्तुओंका साधक है—यह अर्थ है। *'स्व सत्ताप्रदत्वेति'*—स्वकीयवृत्तिका प्रदायित्व—पुरुषोत्तममें यह गुण है। *'प्रागेव प्रत्याख्यानात्'* इति प्राक्-पहले ही *'अधिकन्तु भेद-निर्देशात्'* (२/१/२२) सूत्रकी व्याख्यामें प्रत्याख्यान हो गया है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्रवणादि विषयपर पुनः एक विचार उत्थापित होता है कि श्रीभगवान्‌की उपासना क्या ईश्वरबुद्धिसे अर्थात् ऐश्वर्यबुद्धिसे उन्हें महाशक्तियुक्त, सर्वनियन्ता और दुर्द्धर्ष (जिन्हें कोई पराभूत न कर सके) जानकर करनी होगी? अथवा आत्मबुद्धिसे उन्हें चैतन्यमय, आनन्दमय, पुरुषोत्तम बुद्धिसे माधुर्य-विशिष्ट ज्ञान द्वारा करनी होगी? इस संशय-स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब श्रुतिमें *'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम्'* (श्वे॰ ४/७) जिस समय जीव उपासित ब्रह्मको अन्य अर्थात् वृक्ष (देह) रूप उपाधिसे भिन्न ईश्वररूपमें दर्शन करता है, तब उनकी ईश्वरबुद्धिसे ही उपासना करनी चाहिये। इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उपास्य वस्तुकी आत्मबुद्धिसे ही उपासना करनी चाहिये क्योंकि इस लोकसमूहके कारण-भूत परमेश्वर उपासकोंके निकट आत्मरूपमें ही अनुभवके विषयीभूत होते हैं। तत्त्वज्ञ व्यक्ति उनका इसी रूपमें आश्रय करते हैं और शिष्यगणोंको भी इसी प्रकारसे आश्रयका उपदेश प्रदान करते हैं। इस स्थलपर आत्मन् शब्दसे नित्य ऐश्वर्य-माधुर्य-निलय पुरुषाकार

विज्ञानानन्दस्वरूप विभु वस्तुको ही बतलाया गया है। पुनः कोई-कोई कहते हैं कि वे निजके सत्ताप्रद अर्थात् स्ववृत्तिके हेतु हैं—अतएव आत्मभूत हैं परन्तु जो यह कहते हैं कि अविद्यासे निर्मुक्ति प्राप्त करनेपर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त करता है—इस कारण स्वयंका ही ब्रह्मबुद्धिसे चिन्तन करना चाहिये—तो शेषमें कहा हुआ यह मत असत् है। इससे पूर्व इस मतवादका *'भेदनिर्देशात्'* (ब्र॰सू॰ २/१/२२) सूत्रके भाष्यमें भाष्यकार श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने खण्डन कर दिया था।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/९/४२)

अर्थात् हे विधाता! मैं आत्माओं (जीवों) का भी आत्मा हूँ, इसलिए स्त्री-पुत्र आदि अतिप्रिय वस्तुओंसे भी अधिक प्रियतम एवं निर्दोष हूँ। मेरे निमित्त ही देहादिके प्रति प्रियभाव उदित होता है। यह देह कृष्णसेवामें नियुक्त होनेके लिए उपयोगी है, अतएव मुझसे ही प्रेम करना कर्त्तव्य है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (म॰ २०/१६१) में पाया जाता है—

परमात्मा येंहो, तेंहो कृष्णेर एक अंश।
आत्मार 'आत्मा' हन कृष्ण सर्व अवंतस॥

अर्थात् मायिक अनुभूति क्रमसे सर्वव्यापी परमात्माको मायिक जगत्के अंशोंका अंशी कहकर सर्वव्यापक 'परमात्मा' संज्ञा दी जाती है, किन्तु कृष्ण-समस्त चिदचित् प्रकाश और सम्पूर्ण परमात्माओंके परमात्मा होनेसे सर्वश्रेष्ठ हैं।

मोर पुत्र, मोर सखा, मोर प्राणपति।
एइ भावे येइ मोरे करे शुद्धभक्ति॥

(चै॰च॰आ॰ ४/२१)

अर्थात् जो मुझे अपना पुत्र, अपना सखा, अपना प्राणपति मानकर मेरी शुद्धभक्ति करते हैं—मैं उनके अधीन हो जाता हूँ।

श्रीचैतन्यभागवतमें पाया जाता है—

जन्म हैते प्रभुरे सकल गोपीगणे।
निज पुत्र हइते ओ स्नेह करे मने॥
यद्यपि ईश्वर बुद्ध्ये ना जाने कृष्णेरे।
स्वभावेइ पुत्र हैते बड़ स्नेह करे॥
शुनिया विस्मित बड़ राजा परीक्षित्।
शुक-स्थाने जिज्ञासेन हइ पुलकित॥
परम अद्भुत कथा कहिला गोसाञि।
त्रिभुवने एमत कोथाओ शुनि नाई॥
निज पुत्र हैते पर-तनय कृष्णेरे।
कह देखि, स्नेह कैल केमन प्रकारे॥
श्रीशुक कहेन, शुन राजा परीक्षित्।
परमात्मा-सर्व-देहे वल्लभ, विदित॥
आत्मा बिने पुत्र ना कलत्र, बन्धुगण।
गृह हैते बाहिर कराय तत क्षण॥
अतएव परमात्मा—सबार जीवन।
सेइ परमात्मा—एइ श्रीनन्दनन्दन॥

(चै०भा०आ० ७/४८-५५)

अर्थात् व्रजकी समस्त गोपियाँ जन्मसे ही श्रीकृष्णको अपने पुत्रसे भी अधिक स्नेह करती थीं। यद्यपि वे श्रीकृष्णको ईश्वरबुद्धिसे नहीं जानती थीं तब भी स्वभावतः श्रीकृष्णको अपने पुत्रसे भी अधिक स्नेह करती थीं। यह सुनकर राजा परीक्षित् बहुत विस्मित हुए और पुलकित होकर श्रीशुकदेवसे पूछने लगे—हे गोसाञि! यह तो आपने परम अद्भुत कथा सुनायी है, मैंने तो इस प्रकारकी कथा त्रिभुवनमें कहीं भी नहीं सुनी है। गोपियोंका अपने पुत्रसे पर पुत्र कृष्णमें अधिक स्नेह किस प्रकारसे सम्भव हुआ? कृपा करके कहिये। श्रीशुकदेव कहने लगे—सुनो, राजा परीक्षित्! तुम जानते ही हो, परमात्मा ही सब देहधारियोंके प्रिय हैं। बिना आत्माके शरीर स्त्री, पुत्र एवं बन्धुगण

तत्क्षण ही घरसे बाहर कर देते हैं। अतएव परमात्मा ही सबके जीवन हैं और वही परमात्मा ये श्री नन्दनन्दन हैं।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—उपास्यकी आत्मस्वरूपमें (उपासककी आत्माके रूपमें) ही उपासना करनी होगी। उपासक जीवात्मा जैसे अपने शरीरका आत्मा है, उसी प्रकार उपास्य परब्रह्म भी स्वीय आत्माके आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं—उनकी इसी रूपमें उपासना करनी होगी। पूर्ववर्त्ती उपासकोंने इसी रूपसे उपासना की थी। शास्त्रोंने भी इन उपासकोंको इसी प्रकारसे समझाया है। इस प्रसङ्गमें आचार्यवरने ब्रह्मसूत्रके *'अधिकन्तु भेद निर्देशात्'* (२/१/२२), *'अधिकोपदेशात्तु'* (३/४/८) और *'भेदव्यपदेशात्'* (१/१/१७) इत्यादि सूत्रोंका उल्लेख किया है। इसके साथ ही उन्होंने *'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वे यस्पात्मा शरीरं य आत्मानमंतरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्य मृतः'* (शत०ब्रा० १४/५/३०) जो आत्मामें स्थित हैं, जिन्हें आत्मा नहीं जानती, आत्मा ही जिनका शरीर है, जो कि आत्माका संयमन करते हैं, वे ही अमृत अन्तर्यामी आत्मा हैं, *'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्यप्रतिष्ठाः'* (छा० ६/८/४) अर्थात् हे सोम्य! यह सारी प्रजा सदायतना और सत्यप्रतिष्ठा है, सत् ही इसका आश्रय है तथा सत् ही प्रतिष्ठा है। *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* यह सारा जगत् आत्म्य है, *'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति'* (छा० ३/१४/१) यह सब कुछ निश्चय ब्रह्म ही है, यह उन्हींसे उत्पन्न, उन्हींसे रक्षित और उन्हींमें लीन है, इत्यादि बहुत-सी श्रुतियाँ उद्धृत की गयी हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी है—*'एष मे आत्मा'* (बृ०आ० ४/५/६) *इति पूर्वे उपगच्छन्ति। 'एष ते आत्मा' इति शिष्यानुपदिशन्ति। अतो मुमुक्षुणा परमपुरुषः स्वस्यात्मत्वेन ध्येयः।*

अर्थात् ये मेरी आत्मा हैं ऐसा स्वतः विचार कर ये प्राचीन महात्मा इसे स्वीकार करते हैं और ये तेरी आत्मा हैं—इत्यादि वचनों द्वारा शिष्योंको उपदेश देते है। अतः मुमुक्षुको उन परमपुरूषका स्वस्यात्मत्वेन रूपमें अर्थात् अपनी आत्माके रूपमें ध्यान करना चाहिये।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

आत्मेत्युपदेश उपासनञ्च मोक्षार्थिभिः सर्वथा कार्यमेव 'नान्यं विचिन्त्य आत्मानमेवाहं विजानीयामात्मानमुपास आत्मा हि ममैष भवति' इति ह्युपगच्छन्ति 'आत्मेत्यवोपास्व आत्मेत्येव विजानीहि नान्यं किञ्चन विजानथ आत्मा ह्येवैष भवतीति ग्राहयन्ति च। आत्मेत्युपासनं कार्यं सर्वथैव मुमुक्षुभिः। नानाक्लेशसमायुक्तोऽप्येतावन्नैव विस्मरेदिति भविष्य-पर्वणि। आत्मा विष्णुरिति ध्यानं विशेषणविशेष्यतः। सर्वेषाञ्च मुमुक्षूणामुपदेशच्च तादृशः॥ कर्तव्यो नास्य हानेन कस्यचिन्मोक्ष इष्यते इति ब्राह्मे॥

अर्थात् मोक्षार्थियोंके लिए आत्माकी उपासनाका उपदेश दिया गया है कि मोक्षार्थियोंको आत्माकी उपासना सर्वथा (समस्त प्रकारके विघ्नोंमें भी) करनी चाहिये। (आत्मा शब्द रूढ़िसे विष्णुपर है।) श्रुतियोंमें स्पष्ट कहते हैं *'नान्यं विचिन्त्य आत्मानमेवाहम्'*—'अन्यका चिन्तन न करके मैं आत्माको ही जानता हूँ' इसलिए आत्माकी ही उपासना करो, ये विष्णु ही उपासककी आत्मा हैं—आत्मोपासना ही कर्त्तव्यता है, आत्माकी उपासना करो, आत्माको ही जानो एवं अन्य किसीको जाननेकी चेष्टा मत करो। यह उपासना ही भगवत्-प्राप्तिका हेतु है, इसके अतिरिक्त ब्रह्म-प्राप्तिका अन्य कोई कारण नहीं है। भविष्यत्-पर्वमें भी ऐसा ही उपदेश है कि मुमुक्षु समस्त प्रकारसे आत्मोपासना करें। नाना क्लेशोंमें पड़े रहनेपर भी वे आत्मोपासनासे विस्मृत न हों। 'आत्मा ही विष्णु है'—इस प्रकारका ध्यान प्रशस्त (श्रेष्ठ) है। आत्मा उनका विशेषण है, वे विशेष्य हैं—सभी मुमुक्षुओंके लिए इस प्रकारका उपदेश है। 'जीव विष्णुस्वरूप है'—इस भावसे कभी उपासना नहीं करनी चाहिये। ब्रह्मपुराणका वचन है कि 'समस्त मुमुक्षुओंकी आत्मा विष्णु हैं'—यह भुलाकर किसीका मोक्ष नहीं हो सकता॥ ३॥

प्रतीक उपसनाका निवारण

अवतरणिका भाष्य—छान्दोग्यादौ (३/१८/१) मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादीन्युपासनामि श्रूयन्ते। तत्र संशयः—ईश्वरवत् मन आदावात्मधीः कार्या न वेति। मनो ब्रह्मेत्येभेदप्रतीतेः कार्येति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—छान्दोग्य इत्यादि उपनिषदोंमें *'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'* 'मन ब्रह्म है' इस प्रकार 'मनकी ब्रह्मभावसे उपासना करे', इत्यादि उपासनाओंका वर्णन हुआ है। इसमें संशय यह है कि ईश्वरके समान मन इत्यादिमें आत्मबुद्धि करनी चाहिये? अथवा नहीं करनी चाहिये? पूर्वपक्षी कहते हैं—*'मनो ब्रह्म'* इस वाक्यमें मनकी ब्रह्मके साथ अभेद-प्रतीति होनेके कारण मन इत्यादिमें ही आत्मबुद्धि करनी चाहिये। इसपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरकिाभाष्य टीका—छान्दोग्यादाविति। अस्य न्यायस्य प्रासङ्गिकी पादसङ्गतिः। पूर्वन्यायेन दृष्टान्तसङ्गतिः। तत्रेति। यथेश्वरे आत्मदृष्टिस्तथा तदभेदात् प्रतीकेऽपि सास्त्विति प्रयोजनात्। अभेदेति। बाधायां सामानाधिकरण्यादिति भावः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'छान्दोग्यादौ'* इति—इस अधिकरणकी इस पादके साथ प्रसङ्ग नामक सङ्गति है, पूर्वाधिकरणके साथ दृष्टान्त सङ्गति है। *'तत्र संशय इति'* जिस प्रकार ईश्वरमें आत्मदृष्टि करणीय है, उसी प्रकार मन इत्यादि प्रतीकोंमें भी ईश्वरके अभेदके कारण वही दृष्टि हो—इस प्रयोजनवशतः। सामानाधिकरण्य हेतु बाधा हो नहीं सकती—यह अभिप्राय है।

प्रतीकाधिकरणम्

सूत्र—न प्रतीके न हि सः॥४॥

सूत्रार्थ—'प्रतीके' प्रतीक अर्थात् मन इत्यादि इन्द्रियोंमें आत्मबुद्धि 'न' नहीं करनी चाहिये 'हि' क्योंकि 'सः' ईश्वर 'न' प्रतीक नहीं हैं। मन उनका अधिष्ठान मात्र है॥४॥

सूत्रानुवाद—मन इत्यादि प्रतीकोंमें आत्मबुद्धि करना उचित नहीं है क्योंकि मन कभी ईश्वर नहीं हो सकता, यह तो उनके ज्ञानका अधिष्ठान मात्र है॥४॥

गोविन्दभाष्य—न खलु प्रतीके मन आदौ तद्धीः कार्या। हि यस्मात् प्रतीक ईश्वरो न भवति। किन्तु तस्याधिष्ठानमेवेति। स्मृतिश्च *"खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः"* (श्रीमद्भा० ११/२/४१) इत्याद्या। तथाच सप्तम्यर्थे प्रथमेयमिति सिद्धान्तः॥४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मन इत्यादि प्रतीकोंमें अर्थात् इन्द्रियोमें आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये क्योंकि प्रतीक ईश्वर नहीं हो सकता। तब क्या? यह मन तो ईश्वरके ज्ञानका अधिष्ठान मात्र है। इस विषयमें स्मृति-वाक्य भी प्रमाण है। यथा—*'खं वायुमग्निं ... प्रणमेदनन्यः'* इत्यादि। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्यादि ज्योतिष्क, समस्त प्राणी, दिक्मण्डल, वृक्ष-लता-गुल्म इत्यादि, नदी, समुद्र और जो कुछ भी पदार्थ हैं—सभी ईश्वरके शरीर (अवयव) हैं—इस बुद्धिसे सबको प्रणाम करें। *'मनो ब्रह्म'* इस श्रुतिमें स्थित 'मनः' इस पदमें प्रथमा विभक्ति सप्तमी अर्थमें है अर्थात् मनमें ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये—यही सिद्धान्त है॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—नेति। तद्धीरात्मबुद्धिः। अधिष्ठानत्वे प्रमाणं—खं वायुमिति श्रीभागवते। तथाचेति। मनो ब्रह्मेत्यत्र मनसि ब्रह्मोपास्यमित्यर्थः॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार—नेति सूत्रमें। *'तद्धीः'* प्रतीक मन इत्यादिमें आत्मज्ञान करणीय नहीं है। मन इत्यादि जो ईश्वरके अधिष्ठान हैं, इस विषयमें श्रीमद्भागवतीय प्रमाण है यथा—*'खं वायुमग्निरित्यादि।' तथाच सप्तम्यर्थे प्रथमेति 'मनः ब्रह्म'*—यह प्रथमा विभक्ति *'मनसि ब्रह्म उपास्यम्'*—इस सप्तमी अर्थमें है॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—छान्दोग्य श्रुतिमें पाया जाता है, *'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'* (छा॰ ३/१८/१) अर्थात् मनको ब्रह्म जानकर उपासना करे—इस स्थलपर संशय यह है कि मनमें भी क्या ईश्वरके समान आत्मबुद्धि करना उचित है? अथवा नहीं है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि श्रुतिमें जब मनको ब्रह्म कहा है तो अभेद प्रतीति मानकर मनकी भी आत्मज्ञानसे उपासना करनी चाहिये। पूर्वपक्षीके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि मन इत्यादि प्रतीकोंमें आत्मबुद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि ये प्रतीक अर्थात् इन्द्रियाँ कभी भी ईश्वर नहीं हो सकते। मन ईश्वरका अधिष्ठान क्षेत्र (आधारभूमि) मात्र है। स्मृति भी आकाश इत्यादि सभी स्थावर-जङ्गमको श्रीहरिका शरीर अर्थात् अवयव जानकर एकचित्त होकर प्रणाम करनेको कहती है। अतः मनको ब्रह्म जानकर नहीं, बल्कि मनमें ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें पाया जाता है—

महाभागवत देखे स्थावर जङ्गम।
ताहाँ ताहाँ ताँर श्रीकृष्ण-स्फुरण॥

स्थावर-जङ्गम देखे, ना देखे तार मूर्त्ति।
सर्वत्र हय ताँर इष्टदेव-स्फूर्त्ति॥

(चै॰च॰म॰ ८/२७२-२७३)

जिनका श्रीकष्णमें गाढ़ प्रेम है, वे भागवतोत्तम हैं। उनके प्रेमका स्वभाव है कि वे स्थावर-जङ्गम जो कुछ भी देखते हैं, उनमें वे स्थावर-जङ्गमकी मूर्त्ति न देखकर सर्वत्र इष्टदेव स्फूर्त्तिरूप श्रीकृष्णभाव ही देखते हैं।

तात्पर्य यह है कि महाभागवतगणोंके कृष्णमय भगवद्दर्शनके सङ्गसे यह अवगत होता है कि प्रतीकोपासकोंके प्रतीकोंमें ईश्वरबुद्धि अथवा आत्मबुद्धि एक नहीं है। प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार स्पष्ट करके बतला रहे हैं कि प्रतीकोपासकोंके प्रतीक कभी भी ईश्वर अथवा आत्मा नहीं हैं—बल्कि आत्माके अधिष्ठान मात्र हैं।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—

प्रतीकमें आत्मत्वका अनुसन्धान नहीं करना चाहिये। प्रतीक वस्तु कभी भी उपासककी आत्मा नहीं है। प्रतीकोपासनास्थल पर प्रतीक ही उपास्य होता है, ब्रह्म नहीं। वहाँ ब्रह्म केवल उपासनाके विशेषण रूपमें प्रतीत होते हैं।

प्रतीकोपासनाका तात्पर्य है—अब्रह्म वस्तुमें ब्रह्मदृष्टिका अनुसन्धान। इस स्थलपर उपास्य प्रतीकमें आत्मत्वका अभाव है, इसलिए उस प्रतीकमें उपासकको आत्मत्वका अनुसन्धान नहीं करना चाहिये।

श्रीनिम्बादित्य भाष्यमें भी पाया जाता है—'*प्रतीके त्वात्मानुसन्धानं न कार्यम्, न स उपासितुरात्मा।*' अर्थात् प्रतीकमें आत्मानुसन्धान नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रतीक उपासककी आत्मा नहीं हैं। प्रतीक उपासनामें आत्माकी उपासना नहीं होती।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

नामब्रह्मेत्युपासीत (छा॰ ७/१/५) *इत्यादिना शब्दभ्रान्त्या न प्रतीके ब्रह्मदृष्टिः कार्या। किन्तु तत्स्थत्वेनैवोपासनं कार्यं। ब्रह्मतर्के च—नामादि*

प्राणपर्यन्तमुभयोः प्रथमात्वतः। ऐक्यदृष्टिरिति भ्रान्तिरबुधानां भविष्यति। नामादिस्थितिरेवात्र ब्रह्मणो हि विधीयते। सर्वार्था प्रथमा यस्मात् सप्तम्यर्था ततो मता इति।

अर्थात् इस समय सन्देह होता है कि भगवत्-प्रतिमाकी ब्रह्मरूपमें उपासना करें? कि नहीं? इस सन्देहके निराकरणके लिए कहते हैं भगवत्-प्रतिमाका विष्णुरूपमें ज्ञान न करें एवं यह प्रतिमा ही विष्णु है—इस प्रकारकी उपासना न करें। तत्-स्थित अर्थात् विष्णु इस प्रतिमामें विराजमान हैं—यह जानकर उपासना करें। प्रतिमामें जो ब्रह्म ज्ञान है, वह भ्रान्ति है। ब्रह्मतर्कमें कहा है कि नाम और प्राण—इन दोनोंका जो ऐक्य मानते हैं, वह भ्रान्ति है। अज्ञानियोंमें इस प्रकारसे भ्रान्ति होती है। नामादिमें ब्रह्मकी स्थिति है—इस प्रकारका ज्ञान करना चाहिये—यही उपदेश है। यद्यपि ब्रह्म और प्रतिमा—इन दोनोंका अभेदरूपमें निर्देश रहा हो, तथापि प्रतिमामें ब्रह्म विराजमान हैं—इस प्रकारसे स्वीकार करना चाहिये। नामसे लेकर प्राण पर्यन्त विशेष्य-विशेषणमें प्रथमा विभक्तिका (कर्त्ताकारकका) प्रयोग किया गया है, इसलिए अज्ञानियोंको भ्रान्ति हो जाती है और वे ऐक्य दृष्टि कर बैठते हैं। जहाँ सर्वार्था प्रथमा विभक्ति होती है, उसे सप्तम्यर्था मानना चाहिये। 'नाम ब्रह्मकी उपासना करते हैं'—इत्यादिमें कहे गये शब्दकी भ्रान्तिसे प्रतीकमें ब्रह्मदृष्टि नहीं करनी चाहिये अपितु उसमें स्थित ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। नामादिमें ब्रह्मकी स्थिति है—इस प्रकारकी उपासनाका आदेश है॥ ४॥

अवतरणिका भाष्य—ईश्वरे दर्शितात्मदृष्टिः प्रतीके प्रतिषिद्धा। अथ तस्मिन्नीश्वरे ब्रह्मदृष्टिः कार्या न वेति विचार्यते। ईश्वरपराणि ब्रह्मशब्दवन्ति वाक्यानि विषयः। अत्र विहिता ब्रह्मदृष्टिर्न कार्या पूर्वमात्मदृष्ट्यवधारणादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पूर्वाधिकरणमें ईश्वरमें जो आत्मदृष्टि दिखायी थी, उस आत्मदृष्टिका प्रतीकमें निषेध किया गया था। अब विचार किया जाता है कि प्रतीकमें जिस प्रकार आत्मदृष्टिका निषेध किया गया है, उस प्रकारसे ईश्वरमें ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये कि नहीं? जितने भी ब्रह्मशब्द-विशिष्ट ईश्वर बोधक वाक्य हैं, वे सब इस

अधिकरणका विषय हैं। पूर्वपक्षी कहते हैं—ईश्वरमें श्रुति-विहित ब्रह्मदृष्टि नहीं करनी चाहिये क्योंकि ईश्वरमें पहले आत्मदृष्टि अवधारित (निश्चित) हो चुकी है। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ईश्वर इति। प्रतीकस्यानात्मत्वात् तत्र यथात्मदृष्टि-र्निषिद्धा तथेश्वरे ब्रह्मदृष्टिर्निषिद्धा स्वात्मदृष्टेरवधृतत्वादिति पूर्ववत् सङ्गतिः। मोक्षरूपं फलस्तु आत्मदृष्ट्यैव सेत्स्यति। ब्रह्मशब्दवस्तीति। अयं वै हरयो यदा पश्यः पश्यत इत्यादीनि वाक्यानीत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'ईश्वरे'* इति भाष्यमें प्रतीक तो आत्मा नहीं है, उसका अनात्मत्व है इसलिए उसमें जिस प्रकार आत्मदृष्टि निषिद्ध है, उसी प्रकार ईश्वरमें भी ब्रह्मदृष्टि निषिद्ध हो, क्योंकि ईश्वरमें निज आत्मदृष्टि करणीय रूपमें अवधृत (निश्चित) है। इसी प्रकारसे यहाँ भी पूर्वाधिकरणके समान दृष्टान्त सङ्गति जानें। मोक्षरूप फल आत्म-दर्शनसे ही सिद्ध होगा। *'ब्रह्मशब्दवन्तीत्यादि'* यथा—*'अयं वै हरयो यदा पश्यः पश्यत'*—ये ही (परमात्मा) श्रीहरि हैं, जिस क्षण यह ज्ञान करेंगे, उसी क्षण जानेंगे, इत्यादि वाक्यमें ब्रह्म शब्द आत्मबोधक है।

ब्रह्मदृष्ट्यधिकरणम्

सूत्र—ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्॥ ५॥

सूत्रार्थ—'ब्रह्मदृष्टिः' ईश्वरमें आत्मदृष्टिके समान ब्रह्मदृष्टि भी सर्वदा करनी चाहिये, कारण? 'उत्कर्षात्' ईश्वर अनन्त कल्याणगुणमय वस्तु हैं, इसलिए श्रेष्ठत्वके कारण उनमें ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये॥ ५॥

सूत्रानुवाद—अनन्त कल्याण गुण रत्नाकर होनेके कारण ईश्वरमें आत्मदृष्टिके समान ही ब्रह्मदृष्टि करना चाहिये॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—ईश्वरे तस्मिन्नात्मदृष्टिरिव ब्रह्मदृष्टिश्च नित्यं कार्या। कुतः उत्कर्षात्। अनन्तकल्याणगुणोपस्थापकत्वेन तस्याः श्रैष्ठ्यात्। श्रुतिश्च *"अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूतिः* (बृ॰आ॰ २/५/१९) *इत्युभयं दर्शयति। अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेत्यादिना तथैव निर्वक्ति च"*॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—उन ईश्वरमें आत्मदर्शनके समान ब्रह्मदर्शन भी नित्य करना चाहिये। कारण? 'उत्कर्षात्' क्योंकि ईश्वरमें अनन्त कल्याण गुणोंकी उपस्थापकता अर्थात् विद्यमानता होनेके कारण उनकी श्रेष्ठता है। इसलिए उनमें (श्रेष्ठ वस्तुमें) ब्रह्मदृष्टि अवश्य ही करनी चाहिये। श्रुतिमें भी ये दोनों स्वरूप दिखाये हैं—*'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूतिः'* अर्थात् ईश्वर ही आत्मा और ब्रह्म हैं, वे ही सबकी अनुभूतिस्वरूप हैं। तब किस कारणसे कहते हैं कि ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये?—श्रुति तो ईश्वरका ब्रह्मत्व और सर्वानुभूतित्व—दोनों ही स्वीकार करती है तथा 'कस्मादुच्यते ब्रह्म' कहकर ब्रह्मका निर्वचन भी करती है॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—ब्रह्मेति। उभयमिति। आत्मदृष्टिब्रह्मदृष्टिरूपं द्वयमित्यर्थः॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—*'ब्रह्म दृष्टिरित्यादि'* सूत्रमें *'इत्युभयं दर्शयति'*—भाष्यमें 'उभयम्' अर्थात् आत्मदृष्टि और ब्रह्मदृष्टि—ये दोनों॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः और एक विचार उत्थापित हुआ है कि पहले ईश्वरमें आत्मदृष्टिका वर्णन किया गया था और मन इत्यादि प्रतीकोंमें उसे (आत्मदृष्टिको) निषिद्ध किया गया था। अब विचारणीय यह है कि ईश्वरमें आत्मदृष्टिके समान ब्रह्मदृष्टि भी करनी चाहिये? कि नहीं? इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ईश्वरमें जब आत्मदृष्टि निर्णीत हो चुकी है, तब ईश्वरमें ब्रह्मदृष्टि करणीय नहीं है। इस मतके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि ईश्वरमें आत्मदृष्टिके समान ब्रह्मदृष्टि भी नित्य करनी चाहिये, क्योंकि ईश्वर अनन्तकल्याणगुणमय वस्तु हैं इसीलिए उनका उत्कर्ष है। अतः उनमें ही ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये।

बृहदारण्यकमें कहा है—

अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्

(बृ॰आ॰ २/५/१९)

अर्थात् ईश्वर ही आत्मा और सबका अनुभव करनेवाले ब्रह्म हैं—यही समस्त वेदान्तका अनुशासन (उपदेश) है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥
(श्रीमद्भा॰ २/६/४०)

अर्थात् भगवान् निर्विशेषस्वरूप मायाके लेशमात्रसे रहित, उपाधि-रहित और विशुद्ध हैं। वे कर्त्ता-कर्म-करणके अभावके कारण केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, सबके अन्तरमें विराजित रहनेसे प्रत्यक् हैं, चारों दिशाओंमें ओत-प्रोत भावमें सम्यक् रूपसे स्थित होनेके कारण वे सन्देहसे रहित हैं, व्याप्ति रूपमें सर्वत्र सत्ता रूपमें स्थित होनेके कारण सत्य हैं, तारतम्य भावके कारण शक्ति, बल एवं ऐश्वर्यसे परिपूर्ण अपरिच्छिन्न हैं, जन्मादि विकारोंसे रहित होनेके कारण वे अनादि एवं अनन्त हैं, सत्त्वादि मायिक गुणोंके संसर्गके अभावके कारण वे निर्गुण हैं, सर्वकालमें एक रूप, एक रससे स्थिर होनेके कारण नित्य हैं, द्वितीय वस्तुके अभावके कारण वे अद्वय हैं।

रूपं यत्तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं,
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं,
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः॥
(श्रीमद्भा॰ १०/३/२४)

अर्थात् माता देवकीने कहा—हे देव! वेदोंने जिस अव्यक्त रूपको जगत्का कारण बतलाया है, ब्रह्म, ज्योतिर्मय, मायारहित, निर्विकार, निर्विशेष, केवलस्वरूप कहकर वर्णन किया है, आप उसी बुद्धि आदिके प्रकाशक साक्षात् विष्णु हैं। तात्पर्य यह है कि निराकार निर्विशेष ज्योतिर्मय ब्रह्म विष्णुसे पृथक् नहीं हैं, परन्तु उनकी अङ्गकान्तिमात्र हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

परम ईश्वर कृष्ण स्वयं भगवान्।
ताते बड़ ताँर सम केह नाहि आन॥
(चै॰च॰म॰ २१/३४)

अर्थात् श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर और स्वयं-भगवान् है! उनसे बड़ा तथा उनके समान दूसरा कोई भी नहीं है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'ब्रह्मदृष्टिः सर्वथा कार्येव परमेश्वरे उत्कृष्टत्वात्। ब्रह्मदृष्ट्या सदोपास्यो विष्णुः सवैरपि ध्रुवम्। महत्त्ववाची शब्दोऽयं महत्त्वज्ञानमेव हि। सर्वतः प्रीतिजनकमतस्तत् सर्वधा भवेत्। आत्मेत्येव यदोपासा तदा ब्रह्मत्वसंयुता। कार्येव सर्वथा विष्णोर्ब्रह्मत्वं न परित्यजेदिति ब्रह्मतर्के।'

अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके लिए अवश्य ही ब्रह्मोपासना करें—यही प्रतिपादन करते हैं।—ब्रह्मोपासना अवश्य ही एवं सदा-सर्वदा करनी चाहिये, क्योंकि समस्त गुणान्तर्भावमें ब्रह्म ही सबसे उत्कृष्ट हैं। ब्रह्मतर्कमें कहा है कि सभी लोग ब्रह्मज्ञानसे अर्थात् ब्रह्मदृष्टिसे एकमात्र विष्णुकी उपासना करें। ब्रह्म इसी शब्दसे महत्त्ववाची हैं और उनका ज्ञान भी महान है। ये ब्रह्म ही सर्वत्र प्रीतिजनक हैं। प्राणीमात्रको आनन्दित करनेवाले हैं, इसलिए इस शब्दका प्रयोग उन्हींके लिए उपयुक्त है। जो ब्रह्मी आत्मारूपमें उपासना करते हैं, वे ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं। जहाँ आत्माकी उपासनाका उल्लेख है, वहाँ ब्रह्मत्व जुड़ा हुआ है। यह ब्रह्मत्व विष्णुका ही है। अतएव ब्रह्मदृष्टिसे सदा विष्णुकी उपासना करें, ब्रह्मोपासनाका परित्याग कभी न करें॥ ५॥

अवतरणिका भाष्य—"*चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत*" इति पुरुषसूक्ते श्रूयते। अत्र भगवच्चक्षुरादिष्वादित्यादिहेतुताबुद्धयः प्रतीयन्ते। ताः कार्या न वेति वीक्षायां पङ्कजादिप्रख्येष्वतिसुकुमारेषु तेषूग्रहेतुताबुद्धीनामनर्हत्वान्न कार्येति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पुरुषसूक्त मन्त्रमें श्रुत है कि '*चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत*' इत्यादि। भगवान्के—विराट् पुरुषके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार उनके चक्षुसे सूर्य, कर्णसे वायु एवं प्राण तथा मुखसे अग्नि उत्पन्न हुए हैं। यहाँ श्रीभगवान्के चक्षु इत्यादिमें सूर्यादिकी उत्पत्ति-हेतुता-बुद्धि (उत्पत्तिकी कारणता-बुद्धि) प्रतीत होती है। यहाँ सन्देह यह है कि ऐसी बुद्धि (चिन्तन) करनी चाहिये? अथवा नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि यहाँ श्रीभगवान्के चक्षु इत्यादि अङ्ग आदित्यादिके कारण रूपमें प्रतीत तो होते हैं, किन्तु इस रूपमें उनका चिन्तन करना उचित नहीं

है। पद्म इत्यादिके समान उनके अति कोमल चक्षुःआदिमें उग्र-हेतुता-बुद्धि असमीचीन है—इसलिए ऐसी बुद्धि नहीं करनी चाहिये। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अस्त्वीशे ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् तदङ्गेषु चक्षुरादिषु आदित्यादिहेतुतादृष्टिमास्तु; परमकोमलत्वेन श्रुतेषु तेषु तद्दृष्टेरनर्हत्वादिति प्रत्युदाहरण-सङ्गतिः। चन्द्रमा इत्यादि। उग्रेति। अतितप्तोरविरग्निश्च अतिशीतश्चन्द्रोऽतिप्रखरो वायुः न हीदृशानां कारणानि तानि तच्चक्षुरादीनि भवेयुः तेषामतिमृदुत्वात् अन्यथा अतथात्वापत्तिरित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति यह है, परमेश्वरमें ब्रह्मदृष्टि उत्कर्षविधायकत्वके (श्रैष्ठ्यत्व) कारण ही हो किन्तु उनके अङ्ग चक्षु इत्यादिमें आदित्यादिहेतुकत्व ज्ञान न हो क्योंकि अति कोमल रूपमें श्रुत उनके उस-उस अङ्गमें तीव्रज्योतिः सूर्यहेतुकत्वज्ञान अनुचित है, इस प्रकार यहाँ पर प्रत्युदाहरण सङ्गति ग्राह्य है। चन्द्रमा इत्यादि— *'उग्रहेतुताबुद्धीनामित्यादि'*—सूर्य अति सन्तप्त है—उसकी भगवान्के अति कोमल चक्षुसे उत्पत्ति एवं इसी प्रकार अति तीव्र तेजा अग्नि अति कमनीय मुखसे, अति शीतल चन्द्रमा मनसे, अत्यधिक प्रखर वायु प्राणसे सम्भूत हो नहीं सकते, अतएव इस प्रकारकी वस्तुओंका कारण उनका चक्षुः इत्यादि होना अनुचित है। उनके मन इत्यादि अति कोमल हैं, इसके अन्यथा होनेपर अर्थात् यदि ऐसा ही है तो उनके मन इत्यादि अङ्गोंमें चन्द्र—इत्यादिका कारणत्व न हो।

आदित्यादिमत्यधिकरणम्

सूत्र—आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः॥ ६॥

सूत्रार्थ—'च' और 'अङ्गे' उनके चक्षुः आदि अङ्गोंमें 'आदित्यादिमतयः', आदित्यादि जनकत्व बुद्धि करणीय है क्योंकि इससे 'उपपत्तेः' भगवान्के चक्षुः आदिका उत्कर्ष सिद्ध होता है॥ ६॥

सूत्रानुवाद—श्रीभगवान्की चक्षुः आदि इन्द्रियोंमें आदित्यादि बुद्धि करनी चाहिये, क्योंकि इससे उन चक्षुरादिका उत्कर्ष सिद्ध होता है॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—पूर्वपक्षनिरासार्थश्चशब्दः। विष्णोश्चक्षुरादिष्वङ्गेषु तद्बुद्धयः कार्याः। कुतः? उपपत्तेः। ताभिरुत्कर्षसिद्धेः। सूर्यजनकचक्षुष्ट्वादिकं हि तदुत्कर्षकं भवति। तादृशानामपि तेषां तद्धेतुता तु श्रौतत्वादलौकिकत्वाच्च प्रतिपत्तव्या॥ ६॥

गोविन्दभाष्यनुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द पूर्वपक्षके निरासके लिए प्रयुक्त है। विष्णुके चक्षुः इत्यादि अङ्गोंमें सूर्यादिकी हेतुता-बुद्धि करनी चाहिये क्योंकि ऐसे ही चिन्तन द्वारा उनके चक्षुः आदिका उत्कर्ष सिद्ध होता है। उनका चक्षु सूर्यका उत्पादक है—यह कहनेसे चक्षुका उत्कर्ष ही कहा गया है। इसी प्रकार अन्यान्य अङ्गोंमें चन्द्रमा इत्यादिका जनकत्व कहनेसे उन-उन अङ्गोंके उत्कर्षका प्रख्यापन किया है। विष्णुके उन-उन अति कोमल अङ्गोंसे सूर्यादि उग्र सन्तापी वस्तुओंका उत्पादकत्व श्रुतिसिद्ध है और अलौकिकत्वके कारण स्वीकार किये जाने योग्य भी है। उनकी इन्द्रियाँ सुकुमार होनेपर भी लोकातीत वस्तु हैं॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—आदित्यादीति। पूर्वपक्षं निरस्यन् सङ्गमयति तादृशानामपीतिं पद्मादितूल्यानामपि तेषां चक्षुरादीनामित्यर्थः॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार—*'आदित्यादिति'* सूत्रमें। पूर्वपक्षका निरास करनेमें प्रवृत्त होकर कोमलके तीव्रजनकत्व धर्मको—तादृशानामपीत्यादि वाक्यमें सङ्गत करके दिखाते हैं। *'तादृशानामिति'*—पद्मादिके समान होनेपर भी उनके चक्षुः इत्यादिकी सूर्यादि-जनकता है—यह अर्थ है। भाष्यका अन्यांश सुस्पष्ट है॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुरुषसूक्तमें पाया जाता है कि श्रीभगवान्के मनसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति और चक्षुसे सूर्यकी उत्पत्ति होती है इत्यादि। इस स्थलपर आशङ्का यह है कि श्रीभगवान्के चक्षु आदिका चिन्तन करते समय उनका सूर्यादिके जनकत्व रूपमें चिन्तन करना चाहिये? कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि श्रीभगवान्के चक्षुः पङ्कजादिके समान सुकोमल हैं; उनसे अति सन्तप्त सूर्यकी उत्पत्ति, अति कमनीय मुखसे अति तीव्रतेजा अग्निकी उत्पत्ति, अति शीतल मनसे चन्द्रमाकी उत्पत्तिका चिन्तन करना युक्तियुक्त नहीं है। अतः उग्रताके कारण उनका चिन्तन करना सङ्गत नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षके निराकरणके

लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीविष्णुके अप्राकृत चक्षुः आदिमें सूर्यादिका जनकत्व (उत्पादकत्व) चिन्तनीय है, क्योंकि इससे उनका उत्कर्ष सिद्ध होता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

निर्भिन्ने अक्षिणी त्वष्टा लोकपालोऽविशद्विभोः।
चक्षुषांशेन रूपाणां प्रतिपत्तिर्यतो भवेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/६/१५)

अर्थात् इसी प्रकार विराट् देहसे चक्षुके दो गोलक (नेत्र) प्रकट हुए। लोकपाल आदित्यने अपने अंश नेत्रेन्द्रियके साथ उसमें प्रवेश किया। इस नेत्रेन्द्रियसे रूप-दर्शन होता है।

श्रीविश्वनाथजीकी टीकामें पाया जाता है—*'त्वष्टा सूर्यः।'*

श्रीमध्वभाष्यमें देखा जाता है—

'चक्षोः सूर्यो अजायत (ऋ॰ १०/९०/१३) *इत्याद्युपासनं च देवानां कार्यमेव स्वोत्पत्तिस्थानत्वात् स्वाश्रयत्वान्मुक्तौ तत्र लयस्यापेक्षितत्वाच्चोपपन्नं तेषां तथोपासनम्। नारायणतन्त्रे च-आधिव्याधिनिमित्तेन विक्षिप्तमनसोऽपि तु। गुणानां स्मरणाशक्तौ विष्णोः ब्रह्मत्वमेव तु। स्मर्तव्यं सततं तत्तु न कदाचित् परित्यजेत्। अत्र सर्वगुणानामञ्च यतोऽन्तर्भाव इष्यते। स्वोत्पत्त्यङ्गञ्च देवानां विष्णोश्चिन्त्यं सदैव तु। तेषां तत्र प्रवेशो हि मुक्तिरित्युच्यते बुधैः। तदाश्रिताश्च ते नित्यं ततश्चिन्त्यं विशेषतः इति।'*

अर्थात् भगवत्-परोक्ष ज्ञानके लिए तदङ्गाश्रित देवताओंकी उपासना करनी चाहिये—यही समर्थन करते हैं—*'चक्षोः सूर्योऽजायत'* (नेत्रसे सूर्य उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुति-प्रमाणसे बोध होता है कि आदित्यादि ब्रह्मके अङ्ग देवता हैं। ब्रह्मके अङ्ग रूपमें इन आदित्यादि देवताओंको उनकी उपासना करनी चाहिये। ब्रह्म ही इन आदित्यादिके उत्पतिस्थान एवं आश्रय हैं। मुक्तिमें आदित्यादिका उन ब्रह्ममें ही लय होता है। इसका कारण है कि जिस स्थानपर जिसकी उत्पत्ति है, उसीमें उसके लयका नियम भी है। नारायणतन्त्रमें कहते हैं कि विक्षिप्त मनवाले व्यक्ति आधि-व्याधिसे व्यग्र मनको शान्त करनेके लिए विष्णुके ब्रह्मत्वका और उनके समस्त गुणोंका स्मरण करे, उनके स्मरणसे मनको बड़ी शक्ति मिलती है। यदि गुणोंका स्मरण करनेमें असमर्थता

प्रतीत हो तो ब्रह्मत्वको कभी नहीं भुलाना चाहिये, उसका निरन्तर स्मरण करना चाहिये—क्योंकि ब्रह्ममें समस्त गुणोंका अन्तर्भाव है अर्थात् उनमें सारे गुण समाये हुए हैं। देवता भगवान्‌के जिस अङ्गसे उत्पन्न हुए हैं, उन्हें तदनुसार ही विष्णुका चिन्तन करना चाहिये, इन विष्णुमें जो देवताओंका प्रवेश है, उसीको विद्वान् मुक्तिके रूपमें कीर्त्तन करते हैं। सभी अङ्ग देवता विष्णुके ही नित्य आश्रित हैं, इसलिए उन्हें विशेष रूपसे आराधना करनी चाहिये॥ ६॥

आसनकी उपयोगिताका विचार

अवरतणिका भाष्य—"*त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि" इति श्वेताश्वतरैः* (२/८) पठ्यते। तत्रेदमासनविधानमावश्यकं न वेति संशये मानसव्यापारं स्मरणं प्रति देहस्थितिविशेषस्यानुपयोगात् नावश्यकमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—श्वेताश्वतरोपनिषदध्यायी पाठ करते है—'*त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि इति*' अर्थात् जो शरीरके तीन अंश-देह, ग्रीवा और मस्तकको उन्नत (ऊँचा) रखकर शरीरको समभावमें रखकर तथा इसी प्रकार इन्द्रियोंको मनके साथ हृदयमें स्थित ब्रह्ममें सन्निविष्ट करके ब्रह्मोपासना करेंगे वे ब्रह्मरूप नौका-योग द्वारा काम-क्रोधादिरूपी दुःखजनक सम्पूर्ण भयानक स्रोतोंसे (जलप्रवाहोंसे) उत्तीर्ण हो जायेंगे। इस निर्दिष्ट विषयमें (निर्देशमें) संशय होता है कि ईश्वरोपासनामें ऐसी आसन-व्यवस्था (आसन-विधान) अवश्य करणीय है? अथवा नहीं है? पूर्वपक्षी कहते हैं—उपासना स्मरण पदार्थ-विशेष है, वह मानसिक व्यापार है—इसमें देहादि स्थिति (आसन) विशेषकी कोई उपयोगिता न रहनेके कारण यह अनावश्यक है। इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—आदित्यादिसमाश्रयस्य श्रीहरेर्ध्यानमुक्तं तदाश्रित्य तत्रासननियमो निरूप्यते इत्याश्रयाश्रयिभावसङ्गत्याह त्रिरित्यादि। त्रयं देहग्रीवाशिर उन्नतं यस्य तत् शरीरं समं संस्थाप्य मनसा सह इन्द्रियाणि हृदि तद्वर्त्तिनि ब्रह्मणि सन्निवेश्य तदुपासको ब्रह्मोडुपेन नौकया सर्वाणि स्रोतांसि कामक्रोधादिरूपाणि प्रतरेत। भयावहानि दुःखजनकानि। स्फुटार्थमन्यत्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आदित्यादिके आश्रयीभूत श्रीहरिकी उपासना बतलायी गयी थी, उसीका आश्रय करके अब आसनके सम्बन्धमें नियमका निरूपण होता है; इस कारण इस अधिकरणमें आश्रयाश्रयिभावसङ्गतिके द्वारा *'त्रिरुन्नतम्'* इत्यादि वाक्य कहा गया है। इसका अर्थ है—देह, ग्रीवा और मस्तक—इन तीनोंको शरीरमें उन्नत रखकर, उसी प्रकारसे शरीरको सम स्थितिमें रखकर मनके साथ इन्द्रियोंको हृदयमें अर्थात् हृत्पुण्डरीक—स्थित ब्रह्ममें सन्निविष्ट करते हुए साधक उडूप (नौका-विशेष) की सहायतासे काम-क्रोधादि रूप समस्त प्रवाहोंसे उत्तीर्ण होंगे। भयानकानि—अर्थात् दुःखजनक इन समस्त स्रोतोंको। अन्यान्य अंशका अर्थ सुस्पष्ट है।

आसीनाधिकरणम्

सूत्र—आसीनः सम्भवात्॥ ७॥

सूत्रार्थ—'आसीनः'—आसन-रचना करके ही श्रीहरिका स्मरण करे, क्योंकि 'सम्भवात्' ऐसा होनेसे ही स्मरण सम्भव है॥ ७॥

सूत्रानुवाद—कृतासन होकर ही श्रीहरिका स्मरण करे—आसन-विधानसे ही उनका स्मरण सम्भव है॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—आसीनः कृतासन एव श्रीहरिं स्मरेत्। कुतः? तस्यैव तत्सम्भवात्। शयनोत्थानगमनेषु चित्तविक्षेपस्य दुर्वारत्वात् तदसम्भवः॥ ७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आसन रचना करके ही श्रीहरिका स्मरण करे। जो इस प्रकारसे आसनका विधान करता है, उसका ही ध्यान सम्भव है; अन्यथा शयन, उत्थान और गमन इत्यादि कायिक व्यापारके साथ चित्तमें विक्षेप दुनिर्वार अर्थात् अवश्यम्भावी है, अतः श्रीहरिका ध्यान हो नहीं सकता॥ ७॥

सूक्ष्मा-टीका—आसीन इत्यादि स्पष्टम्॥ ७॥

सूक्ष्मा-सार—आसीन इत्यादि वाक्य सुस्पष्ट है॥ ७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्वेताश्वतरोपनिषदमें पाया जाता है—*'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत*

विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि' (श्वे॰ २/८)। अर्थात् जो शरीरके तीन अंश—देह, ग्रीवा और मस्तकको उन्नत (ऊँचा) रखते हुए और मनके साथ इन्द्रियोंको हृदयमें स्थित ब्रह्ममें सन्निविष्ट करते हुए ब्रह्मोपासना करेंगे, वे ब्रह्मरूप नौका योग द्वारा कामक्रोधादिरूपी सम्पूर्ण दुःखजनक स्रोतोंसे उत्तीर्ण हो जायेंगे इत्यादि श्रुतिमें श्रीभगदाराधनामें आसन–विधानकी आवश्यकता दिखायी देती है। इस स्थलपर संशय यह है कि श्रीभगवदुपासनामें आसनकी प्रयोजनीयता आवश्यक है? कि नहीं? इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि श्रीभगवद्भजन स्मरणमूलक है, यह केवल मानव–व्यापार है। इसमें देहस्थितविशेष–आसनकी उपयोगिता न रहनेके कारण यह कृतासन अनावश्यक है। इस पूर्वपक्षके मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि आसनपर उपविष्ट होकर ही हृत्पुण्डरीक स्थित परब्रह्म श्रीहरिका स्मरण करना उचित है। चित्तकी एकाग्रताको बनाये रखनेके लिए आसनादि आवश्यक हैं। चित्त एकाग्र होनेपर ही ध्यान सम्भव है अन्यथा शयन, गमनादिसे चित्तमें विक्षेप होने लगे तो ध्यान–स्मरण असम्भव हो जाता है।

श्रीकृष्ण उद्धव (श्रीमद्भा॰ ११/१४/३२) से कहते हैं—

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः॥

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! समतल भूमिमें कम्बल आदि आसनोंपर शरीरको सीधा रखकर आरामसे बैठ जाय, हाथोंको अपनी गोदमें रख ले और दृष्टि अपनी नासिकाके अग्रभागपर जमावे।

श्रीकपिलदेव भी माता देवहूतिसे कहते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्तिकमासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२८/८)

इसके बाद (स्वस्तिकादि आसनके अभ्यास द्वारा) आसनको जीतकर पवित्र स्थानपर कुश और मृगचर्म आदिसे युक्त आसनको

बिछाकर सुखपूर्वक शरीरको सरल-सीधा रखकर प्राणोंके संयमका अभ्यास करे।

इस प्रसङ्गमें श्रीगीताके निम्न श्लोक भी आलोच्य हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम्॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रिय क्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्म विशुद्धये॥

समं कायेशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानव लोकयन्॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारि व्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः॥

(श्रीगी॰ ६/११-१४)

अर्थात् पवित्र स्थानमें न अति उच्च तथा न अति निम्न कुशासनके ऊपर मृगासन और उसके ऊपर वस्त्रासन बिछाकर उस निश्चल आसनको भूमिपर स्थापित करते हुए उस आसनके ऊपर बैठकर मनको एकाग्रकर चित्त, इन्द्रिय और उसके कार्योंको संयत करते हुए अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए योगाभ्यास करें। ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित, निर्भय तथा प्रशान्त आत्मा अपने शरीर, गर्दन और मस्तकको लम्बवत् रखते हुए, अन्य दिशाओंमें दृष्टिपात न करते हुए दृष्टिको अपनी नाकके अग्रभागमें केन्द्रित कर मनको संयमितकर, चित्तको मुझमें लगाते हुए तथा मेरे परायण होकर युक्तभावसे रहें।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—*'आसीन एवोपासनमनुतिष्ठेत तस्यैव तत्सम्भवात्।'* अर्थात् आसीन होकर ही उपासनाका अनुष्ठान करें, क्योंकि ऐसा करनेसे ही उपासनाकी सिद्धि (भगवत् साक्षात्कार) सम्भव है।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार भी यही है—

आसन-विशेषपर बैठकर ही उपासना करें। चित्तकी एकाग्रता तभी सम्भवपर है, जब व्यक्ति आसनपर बैठा हुआ हो।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'सर्वदोपासनं कुर्वन्नप्यासीनो विशेषतः। कुर्यात् तदा विक्षेपाल्पत्वेन सम्भवात्।'

अर्थात् अब भगवत्-दर्शन-साधन-ध्यान-आसनादिके नियमका प्रतिपादन करते हैं। 'आसनपर बैठकर ही योगी आत्मशुद्धिके लिए योग-साधन करते हैं।' ब्रह्मजिज्ञासु सर्वथा (विशेषतः) आसनपर आसीन होकर ही उपासना करें। सुखासनपर बैठनेसे चित्तमें किसी भी प्रकारका विक्षेप नहीं होता। इससे उपासनामें किसी व्याघातकी सम्भावना नहीं होती। अतः ब्रह्मोपासनामें आसन-नियम आवश्यक है॥ ७॥

अवतरणिका भाष्य—ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् (श्वे॰ १/३१) इत्यादि-भिस्तल्लिप्सोर्ध्यानं तैः पठ्यते। तच्च कृतासनस्य सम्भवति नान्यस्येत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—श्वेताश्वेतरीयगण पाठ करते हैं *'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्'* इत्यादि (श्वे॰ १/३) अर्थात् आत्मदर्शनके इच्छुक ध्यान योगका अनुसरण करके ब्रह्मदर्शन करते हैं—इत्यादि वाक्य द्वारा आत्मदर्शन अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कारके इच्छुकके लिए ध्यानका प्रकार बताया गया है। कृतासन अर्थात् आसनकी रचना करनेवालेके लिए ही यह ध्यान सम्भव है, अन्यके लिए नहीं—इसी बातको इस परवर्त्ती सूत्रमें कहा गया है—

सूत्र—ध्यानाच्च॥ ८॥

सूत्रार्थ—'ध्यानात्' निद्रा-विशिष्टका ध्यान सम्भव नहीं होता है, 'च' इसलिए भी आसन करणीय है॥ ८॥

सूत्रानुवाद—श्रीभगवत्-दर्शनार्थीके लिए आसनकी रचना अवश्य ही करणीय है॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेकचिन्तनं ध्यानम्। तच्च स्वापादिमतो न सम्भवेदतः कृतासन इति॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ध्यानवस्तुसे विजातीय अन्य किसी भी ज्ञान (प्रत्यय) द्वारा विच्छेद—(व्यवधान—) रहित किसी एक पदार्थके धारावाहिक चिन्तनका नाम ध्यान है। यह ध्यान निद्रा इत्यादिसे युक्त

व्यक्तिके लिए सम्भव नहीं है। इसीलिए कहते हैं—*'कृतासनः'*—आसन रचना करके ही ध्यान करें॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—ध्यानाच्चेति। उपासनं खलु ध्यानमेव निदिध्यासितव्यपदबोध्यम्। तच्चैकविषयदृष्टिषु विरहिण्यादिषु प्रतीतमतो ध्यातुः सासनत्वमित्यर्थः॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—*'ध्यानाच्चेति'* सूत्रमें। उपासना कहनेका अर्थ ध्यान ही है, जो निदिध्यासन-संज्ञा (नाम) द्वारा बोध्य है। यह ध्यान एक विषयमें स्थिर दृष्टियुक्त विरहिणी स्त्री इत्यादिमें प्रतीत होता है। अतएव ध्यानकारीको आसनकी रचना करनी चाहिये—यह अर्थ है॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—श्वेताश्वतरोपनिषदमें पाया जाता है *'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्'* (श्वे॰ १/३) अर्थात् वे ध्यानयोगमें निमग्न होकर तत्त्व-दर्शन करते हैं, अतः आत्मदर्शनेच्छु व्यक्तिको ध्यान अवश्य करना चाहिये। यह ध्यान आसनके व्यतिरेकमें सम्भव नहीं है। इसी बातको सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि उपासना ध्यानके द्वारा होती है। विजातीय वस्तुके ज्ञानसे विच्छिन्न न होते हुए व्यवधान-रहित भावसे एकमात्र ध्येय वस्तुके ही चिन्तनका नाम ध्यान है। इसे निदिध्यासन भी कहते हैं। यह ध्यान आसन लगाकर ही किया जाता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम्।
ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत् किञ्चनापरम्॥
(श्रीमद्भा॰ ४/८/७७)

अर्थात् इस समय वे चक्षुरादि-इन्द्रियोंके विश्रामस्थान मनको विषयोंसे खींचकर हृदयमें केवल भगवत्-रूपका ध्यान करने लगे। ध्रुवने भगवान्के स्वरूपके चिन्तनके अतिरिक्त दूसरे किसी बाह्य विषयकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

श्रीरामानुजके भाष्यमें पाया जाता है—

'निदिध्यासितव्यः' (बृ॰आ॰ ६/५/६) *इति ध्यानरूपत्वादुपासनस्य एकाग्रचित्तताऽवश्यम्भाविनि। ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहितमेक चिन्तनमित्युक्तम्।*

अर्थात् *'निदिध्यासितव्यः'* कहकर उपासनाको ध्यान रूप बतलाया गया है। ध्यान रूप उपासनामें एकाग्रचित्तता अवश्य होनी चाहिये। ध्येयके अतिरिक्त किसी अन्यका स्मरण न होकर एकमात्र ध्येयका ही अखण्ड चिन्तन ध्यान कहलाता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—*'उपासनस्य ध्यानरूपत्त्वादासीन एव तदनुतिष्ठेत्।'* अर्थात् उपासना ध्यानरूप होनेके कारण आसीन होकर ही उपासनाका अनुष्ठान करे। उपासनाका रूप ध्यान ही है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'स्मरणोपासनञ्चैव ध्यानात्मकमिति द्विधा स्मरणं सर्वदा योग्यं, ध्यानोपासनमासने। नैरन्तर्यं मनोवृत्तेर्ध्यानिमित्युच्यते बुधैः। आसीनस्य भवेत् तत्तु न शयानस्य निद्रया। स्थितस्य गच्छतो वाऽपि विक्षेपस्यैव सम्भवात्। स्मरणात् परमं ज्ञेयं ध्यानं नास्त्यत्र संशयः। इति नारायण तन्त्रे—अतो ध्यानत्वाच्च।'

अर्थात् पूर्व सूत्रमें कहा गया था कि ब्रह्मोपासनामें आसन आवश्यक है—यहाँ विरोध हो रहा है क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है कि सर्वदा उपासना करें किन्तु उपासनामें सर्वदा आसन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव आसन अनावश्यक है क्योंकि स्मरण और ध्यान—ये उपासनाके दो रूप हैं। स्मरणरूप उपासनामें सर्वदा कर्त्तव्यत्व है और ध्यानरूप उपासनामें आसनका आवश्यकत्व है। इसलिए सर्वदा आसन असम्भव होनेपर भी उपासनामें कोई विरोध नहीं है, ध्यानरूप उपासनामें ही आसनकी सार्थकता है। नारायण तन्त्रमें कहा है कि उपासनामें स्मरण ही सर्वदा करे और ध्यानके समय आसन करे। ईश्वरमें जो निरन्तर मनोवृत्ति है—वही ध्यान है किन्तु आसीन व्यक्तिका ही उक्त प्रकारसे ध्यान हो सकता है। शयान (लेटे हुए), निद्राभिभूत, अवस्थित (खड़े हुए) और गमनशील (चलते-फिरते) ऐसे लोगोंका ध्यान नहीं हो सकता क्योंकि शयनादि में चित्तकी चञ्चलता रहती है, उस समय मन स्थिर नहीं हो सकता। अतएव आसनके बिना ध्यान सम्भव नहीं है इसलिए उपासनामें आसनकी अवश्य-कर्त्तव्यता कही जाती है। स्मरणसे ध्यान श्रेष्ठ है, इसमें सन्देह नहीं। यह नारायण-तन्त्रमें कहा गया है। अतः सूत्रकार ध्यानके द्वारा भगवत्-प्राप्तिको महत्त्व देते हैं॥ ८॥

सूत्र—अचलत्वञ्चापेक्ष्य॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—'अचलत्वम्' देहके निश्चलत्व अर्थात् स्थिरताको लेकर ही 'अपेक्ष्य' ध्यान शब्दकी अपेक्षा रहती है—अर्थात् ध्यान शब्दका प्रयोग होता है, 'च' इसलिए भी आसन करना चाहिये॥ ९ ॥

सूत्रानुवाद—ध्यानमें अचलत्व (निश्चलत्व) की अपेक्षा रहती है॥ ९ ॥

गोविन्दभाष्य—चोऽवधृतौ। छान्दोग्ये निश्चलत्वमेवापेक्ष्य ध्यायतेः प्रयोगः। *"ध्यायतीव पृथिवीति"*। अतो लिङ्गादप्यासीनः स्यात्। ध्यायति कान्तं प्रोषित-रमणीति लोकेऽपि॥ ९ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ च शब्द अवधारणार्थ है। छान्दोग्योपनिषदमें शरीरके निश्चलत्वकी अपेक्षासे ही 'ध्यै' धातुका प्रयोग है यथा—*'ध्यायतीव पृथिवीति'*—'ध्यान करती-सी पृथ्वी'—जिस प्रकार पृथ्वीके समान निश्चल होकर ध्यान करता है। अतएव इस ज्ञापक चिह्न (लिङ्ग) से भी निर्देश प्राप्त होता है कि—*'आसीन होवे'*। लौकिक प्रयोगमें भी देखा जाता है—प्रोषितभर्त्तृका स्त्री विदेशस्थ पतिका एकाग्रचित्त होकर ध्यान करती है॥ ९ ॥

सूक्ष्मा-टीका—अचलत्वमित्यादि स्पष्टम्॥ ९ ॥

सूक्ष्मा-सार—भाष्य सुस्पष्ट है॥ ९ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें भी सूत्रकार कहते हैं कि देहकी स्थिरता अर्थात् निश्चलता ध्यानके लिए सापेक्ष है। आसनाधीन निश्चलताके द्वारा ही ध्यान सम्भव है।

छान्दोग्य (७/६/१) में देखा जाता है—

'ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महतां प्राप्नुवन्ति ध्यानपादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानपादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति।'

अर्थात् ध्यान ही चित्तसे बढ़कर है। पृथिवी मानो ध्यान करती है, अन्तरिक्ष मानो ध्यान करता है, द्युलोक मानो ध्यान करता है जल

मानो ध्यान करता है, पर्वत मानो ध्यान करते हैं तथा देवता और मनुष्य भी मानो ध्यान करते हैं। अतः जो लोग यहाँ मनुष्योंमें महत्त्व प्राप्त करते हैं, वे मानो ध्यानके लाभका ही अंश पाते हैं, किन्तु जो क्षुद्र होते हैं वे कलहप्रिय, चुगलखोर और दूसरोंके मुँह पर ही उनकी निन्दा करनेवाले होते हैं तथा जो सामर्थ्यवान हैं, वे भी ध्यानके लाभका ही अंश प्राप्त करनेवाले हैं। अतः तुम ध्यानकी उपासना करो।

श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें भी देखा जा सकता है—

पृथ्वी और पर्वत आदिके समान चित्तकी एकाग्रता-साधनके लिए शरीरका जो निश्चलत्व है, वह आसनपर बैठे हुए उपासकके लिए ही सम्भव है, दूसरेके लिए नहीं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१४/४२)

अर्थात् बुद्धिमान पुरुषको चाहिये कि वह अपने मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाले और मनको बुद्धिरूप सारथिकी सहायतासे मुझमें लगा दे, चाहे यह मन मेरे किसी भी अङ्गमें क्यों न लगे।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

'अचलं चेच्छरीरं स्यात् मनसश्चाप्यचालनम्! चलने तु शरीरस्य चञ्चलं हि मनो भवेद् इति ब्रह्माण्डे।'

शरीरका अचाञ्चल्य (स्थैर्य) ही चित्त-विक्षेपके निवारणका कारण है क्योंकि शरीरके चञ्चल होनेपर मन भी चञ्चल हो जाता है। ब्रह्माण्डपुराणमें कहा है कि शरीरके चाञ्चल्यसे मनका भी चाञ्चल्य होता है। अतएव आसनपर आसीन होवे। शरीर स्थिर न कर सकनेपर मन भी स्थिर नहीं होता और मनके चञ्चल होनेपर ध्यान नहीं हो सकता—इसलिए ध्यानरूप उपासनामें आसनकी अवश्य कर्त्तव्यता प्रत्याहादिके द्वारा चित्तके विक्षेपका निवारण नहीं हो सकता॥ ९॥

सूत्र—स्मरन्ति च॥ १०॥

सूत्रार्थ—'च' और इसी प्रकारसे 'स्मरन्ति' स्मृति-शास्त्रमें भी उक्ति है। इस विषयमें 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' इत्यादि गीता वाक्य स्मरणीय है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—स्मृति में भी बैठकर ध्यान करनेका विधान है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—*"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये। समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्"* इत्यादिषु (श्रीगी॰ ६/११-१४) ध्यातृणां देहेन्द्रियनैश्चल्यं स्मरन्ति। तच्चासनाद्विना न सम्भवेदतः सासनेनैव भाव्यमिति तथैवोक्तम्॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—पवित्र स्थानपर अपने स्थिर-सुख अर्थात् चित्त-विक्षेपसे रहित होकर आसन बिछावे। यह आसन न तो अत्यधिक उच्च हो और न ही अति निम्न। सबसे पहले कुशासन बिछाये, उसके ऊपर कृष्णाजिन (मृगासन) और उसके ऊपर क्षौम्य वस्त्र—इस प्रकार उत्तरोत्तर बिछावे। इस आसनके ऊपर बैठकर मनको ध्येय वस्तुमें एकाग्र करते हुए उस मन और इन्द्रिय वृत्तिको संयत करे। आसनपर बैठकर चित्त शुद्धिके लिए एकाग्रचित्तसे समाधिका आश्रय करे। इस प्रकार शरीरके मध्यभाग, मस्तक और ग्रीवाको समान एवं स्थिर रूपसे रखकर, स्थिरचित्त होकर अपनी नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रखते हुए अन्य किसी भी दिशाकी ओर न देखकर ध्यान करे इत्यादि वाक्यमें ध्यानकारियोंकी देह और इन्द्रियोंकी निश्चलताका स्मरण है। देह, इन्द्रियकी यह निश्चलता आसनके बिना सम्भव नहीं है। इसी निमित्तसे अर्थात् परमेश्वरके ध्यानके लिए आसन-रचना करनी होगी—इसीलिए यह सब कहा गया है॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—स्मरन्तीति। भगवान् बादरायणः सञ्जयश्चेति त्रयः। अथवा हिरण्यगर्भपतञ्जलिप्रभृतयो योगशास्त्रेषु पद्मकाद्यासनानि ध्यातुः स्मरन्त्यतस्तस्य तस्य तत्॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—भगवान् श्रीहरि, वेदव्यास तथा सञ्जय—ये तीनों जन कहते हैं अथवा हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा, पतञ्जलि इत्यादि योगशास्त्रमें ध्यानकारीके लिए पद्मक आसनको कर्त्तव्यके रूपमें स्मरण करते हैं। अतएव उन ब्रह्मा एवं पतञ्जलिका भी यही मत है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार पुनः स्मृति-वाक्यका स्मरण कराते हैं। मूल बात यह है कि ध्यानके लिए आसनपर बैठना आवश्यक है। ध्यान करनेके लिए चित्तकी एकाग्रता ही प्रयोजन है। देहकी निश्चलता साधित न होनेपर चित्त एकाग्र नहीं हो सकता। जिससे चित्तका विक्षेप न हो, उसका विशेष ध्यान रखते हुए आसनादि आवश्यक हैं। लम्बवत् (दण्डायमान) रहनेपर चित्तका विक्षेप होता है, खड़े हुए का भी देह-धारण-व्यापार-युक्त (देह-धारणमें लगा हुआ) मन सूक्ष्म वस्तुके निरीक्षणमें समर्थ नहीं होता और लेटनेपर निद्रा आकर्षित करती है। अतः स्थिर भावसे उपवेशन करना चाहिये—ऐसा न करनेसे ध्यान नहीं होता। इसी विषयपर श्रीगीताके उपदेश (श्रीगी॰ ६/११-१४) भी हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्॥

(श्रीमद्भा॰ २/१/१६-१७)

अर्थात् तत्पश्चात् घरका त्याग करके निकल जाय और धीर अर्थात् ब्रह्मचर्यादि यमका (प्रथम योगाङ्गका) पालन करे, पुण्यतीर्थमें स्नानादि नियम करे (द्वितीय योगाङ्ग) एवं पवित्र निर्जन स्थानपर कुश, मृगचर्म और वस्त्र इन तीनोंका क्रमके अनुसार आसन बिछाकर उसपर बैठ जाय (तृतीय योगाङ्ग), इसके बाद ॐकार—अकार, उकार और मकार, इन तीन अक्षरोंसे ग्रथित शुद्ध ब्रह्माक्षर प्रणवका मन-ही-मन जप करे। तत्पश्चात् प्रणवको एक क्षणके लिए भी विस्मृत न करके प्राणवायु (श्वास) को रोककर कुम्भक द्वारा मनको स्थिर करे। (प्राणायाम-चतुर्थ योगाङ्ग)।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः। संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् (श्रीगी० ६/१३) *इत्यादि।*

ध्यानके समय शरीर, शिर और ग्रीवा—इन सबको समान रूपसे धारण करके स्थिर-मन होवे और कहीं भी न देखे। अपनी नासिकाके अग्रभागपर ही दृष्टि रखे—इत्यादि स्मृति-प्रमाणोंसे भी आसनकी अवश्य कर्त्तव्यता जानी जाती है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी प्राप्त होता है—*'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य इत्यादि स्मरन्ति च।'* अर्थात् इस विषयमें स्मृति-शास्त्रका भी वचन है यथा पवित्र देशमें बैठकर इत्यादि॥ १०॥

सर्वत्र चित्तकी एकाग्रता ही प्रयोजन है

अवतरणिका भाष्य—अथ *"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"* (बृ०आ० २/४/५) इत्यादिषु प्रागुक्तेषु वाक्येषु विचारान्तरम्। उपासनेऽस्मिन् दिग्देशकालनियमः स्यान्न वेति वीक्षायां वैदिके कर्मणि तन्नियमस्य दर्शनादुपासनस्य च वैदिकत्वाविशेषादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'* इत्यादि श्रुति-वाक्यका अन्य प्रकारसे विचार आरम्भ किया जाता है कि इस उपासनामें दिक्, देश और काल विशेषका कोई नियम होगा? अथवा नहीं? इस विचारपर (संशयपर) पूर्वपक्षी कहते हैं कि वैदिक कर्ममें जब उन दिक्-देशादिका नियम दिखायी देता है, तब उपासनामें भी यह नियम अवश्य पालनीय है क्योंकि यह भी वैदिक कर्म है, कोई प्रभेद (अन्तर) नहीं है। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। प्रागुपासनायामासननियमो दर्शितस्तथा तस्यां दिगादिनियमः स्यादिति दृष्टान्तसङ्गतिः। दिग्देशेति। प्राच्यादिदिङ्नियमः प्रदोषादिकालनियमः सरित्तीरादिदेशनियम इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व अधिकरणमें जिस प्रकार उपासनामें आसनकी अवश्य कर्त्तव्यता दिखायी गयी थी, उसी प्रकार उपासनामें दिक्-विशेष इत्यादि भी अवश्य ग्राह्य हैं। इस प्रकारसे

दृष्टान्त-सङ्गति जाननी चाहिये। दिग्-देश-काल-नियम इति—पूर्वादि दिक्, प्रदोषादि काल एवं नदी-तीर इत्यादि देश विशेष नियमतः स्वीकार्य हैं—यह अर्थ है।

एकाग्रताधिकरणम्

सूत्र—यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्॥ ११॥

सूत्रार्थ—'यत्र' जिस दिक्, देश और कालमें चित्तकी एकाग्रता हो 'तत्र' वहीं श्रीहरिका ध्यान करें। इस विषयमें दिशा इत्यादि का कोई नियम नहीं है। क्योंकि 'अविशेषात्' आसनके समान कोई विशेष-विधि इसमें सुनी नहीं जाती॥ ११॥

सूत्रानुवाद—चित्तकी एकाग्रता ही अभीष्ट है। इसमें दिक्, देशादिका विशेष रूपसे उल्लेख नहीं है॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—यत्र दिगादौ चित्तैकाग्रता स्यात् तत्रैवोपासीत हरिं नास्त्यत्र दिगादिनियम इत्यर्थः। कुतः? अविशेषात् तद्वदत्र विशेषस्याश्रवणात्। स्मृतिश्चैवमाह। *"तमेव देशं सेवेत तं कालं तामवस्थितिम्। तानेव भोगान् सेवेत मनो यत्र प्रसीदति। न हि देशादिभिः कश्चिद्विशेषः समुदीरितः। मनःप्रसादनार्थं हि देशकालादि-चिन्तनम्"* इति। नन्वस्ति देशविशेषनियमः। *"समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे नियोजयेदिति"* (श्वे॰ २/१०) श्वेताश्वतरोक्तेस्तीर्थसेवाया मोक्षहेतुत्वप्रतिपादनाच्चेति चेत् सत्यं, सत्युपद्रवे तीर्थमप्यसाधकं असति तु तस्मिन् साधकतमं तत्। अत उक्तं *"मनोऽनुकूले"* इति॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस स्थानपर, जिस कालमें और जिस भी दिशामें चित्तकी एकाग्रता उदित होवे, उसी स्थान, दिशा इत्यादिमें श्रीहरिकी उपासना करे—इस विषयमें दिशा, स्थान इत्यादिका कोई नियम नहीं है। यह सूत्रार्थ है। हेतु क्या है? 'अविशेषत्वात्' वैदिक कर्मोंमें जिस प्रकार दिशादिका नियम है, उस प्रकारसे उपासनामें दिक् इत्यादिका कोई विशेष नियम श्रुत नहीं होता—यही हेतु है। स्मृति भी इस प्रकार कहती है—*'तमेव देशं सेवेत ... देश कालादिचिन्तनमिति'* अर्थात् उपासना करनेवाला उस स्थानका ही आश्रय करे, उस काल, उस परिस्थिति, उस भोग्यवस्तु (खाद्यादि) को ही ग्रहण करे, जिससे

चित्तमें प्रसन्नता होती हो। देश, दिक, कालके कारण उपासनाका कोई वैशिष्ट्य नहीं कहा गया है क्योंकि चित्तकी प्रसन्नता अर्थात् विक्षेपके अभावके उद्देश्यसे ही देशादिका विचार होता है। आपत्ति यह है कि—देशादिका नियम नहीं है—यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि श्वेताश्वतरीयगण कहते हैं कि समभूमि (न ऊँची, न नीची) एवं पवित्र स्थानमें, शर्करा (कङ्कड़), अग्नि, बालुकादि उपद्रवोंसे रहित स्थानमें शब्द, तथा अति निकट (शीतकारी) जलाशय इत्यादिसे रहित स्थानमें मनोनुकूल (मनको प्रिय अर्थात् चित्तकी एकाग्रताके अनुकूल) स्थानमें तथा चक्षुके लिए पीड़ादायक—मशकादि-मच्छारादिसे रहित स्थलमें पर्वत-गुफादि जो प्रबल वायु (आँधी-तूफान) से रहित हों, ऐसे स्थलमें आश्रय अर्थात् स्थानका अवलम्बन करके मनको ईश्वरमें नियुक्त करे—इस उक्तिके कारण तथा तीर्थ-सेवा मुक्तिफलदायक है—इस कारणसे देशादि नियम आवश्यक हैं—यह यदि कहते हो तो ठीक नहीं है क्योंकि तीर्थादि क्षेत्र भी उपद्रव रहनेके कारण उपासनाके लिए साधक नहीं रहते। उपद्रव न रहनेसे ही वे तीर्थ मुक्तिके परम साधन होते हैं। इसीलिए कहा है कि *'मनोऽनुकूले'*—मनके अनुकूल स्थानादिमें॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—यत्रेति। तद्वत् वैदिककर्मवत्। तमेवेत्यादि वाराहे। आशङ्कते नन्विति। समे शुचाविति। शर्कराः सूक्ष्मपाषाणाः। जलाशयविवर्जनं शीतनिवारणार्थम्। चक्षुःपीडनं दंशमशकादिकम्॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार—*'यत्रैकाग्रतेत्यादि'* सूत्रमें *'तद्वत्राविशेषात्'* में 'तद्वत्' का अर्थ है वैदिक कर्मके समान। *'तमेव देशम्'* आदि वाक्य वराहपुराणमें कहे गये हैं। *'ननु'* इत्यादि वाक्यमें आशङ्का करते हैं। *'समे शुचौ'* इत्यादि। शर्कराः—छोटे-छोटे पत्थर-काँकर-कङ्कड़। जलाशय-परित्यागकी उक्ति शीत निवारणके लिए है। *'चक्षुः-पीडनम्'* इति—डास, मच्छर इत्यादि चक्षुः पीड़ाजनक।॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब *'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः'* (बृ॰आ॰ ४/५/६) इत्यादि पूर्वोक्त वाक्यके सम्बन्धमें अन्य विचार उत्थापित किया गया है। वैदिक कर्ममें जिस प्रकार दिक्-देशादिका नियम है,

उपासनामें भी उसी प्रकारका नियम है? कि नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं—वैदिक कर्मके समान उपासनामें भी दिक्-देशादिका नियम रहना आवश्यक है। इस आशङ्काके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जिस प्रकारके स्थानादिमें चित्तकी एकाग्रता प्राप्त हो, उस प्रकारके स्थानादिमें श्रीहरिकी उपासना करनी होगी—इसमें दिक् आदिके सम्बन्धमें कोई विशेष नियम नहीं है। श्रुतिमें देशादिके किसी विशेषत्वका उल्लेख नहीं है। मूल बात यह है कि चित्तकी एकाग्रताके लिए जो स्थान अनुकूल हो—उसी प्रकारके स्थानपर अर्थात् मनके अनुकूल स्थान ही आश्रयणीय है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१४/४३)

अर्थात् जब मेरे सारे शरीरका ध्यान होने लगे, तब अपने चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और अन्य अङ्गोंका चिन्तन न करके केवल मन्द-मन्द मुस्कान छटासे युक्त मेरे मुखका ही ध्यान करे।

यदा मनः सुविरजं योगेन सुसमाहितम्।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२८/१२)

इस प्रकार योगाभ्यासके द्वारा जब मन भलीभाँति निर्मल और एकाग्र हो जाय, तब अपनी नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर भगवान् श्रीहरिकी श्रीमूर्त्तिका ध्यान करे।

श्रीरामानुजके भाष्यमें भी पाया जाता है—

एकाग्रतातिरिक्त-देशकालविशेषश्रवणात् एकाग्रतानुकूलो यो देशः कालश्च स एवोपासनस्य देशः कालश्व। 'समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते' (बृ॰आ॰ ६/५/६) *इति वचनमेकाग्रतैकान्तदेशमाह; न तु देशं नियच्छति 'मनोऽनुकूले' इति वाक्यशेषात्।*

अर्थात् मनकी एकाग्रताके अनुकूल जो स्थान और समय हो, वही उपासनाका स्थान और समय है। किसी विशेष स्थान और समयका

उल्लेख नहीं मिलता। 'सम, पवित्र, कङ्कड़, बालू, अग्नि आदिसे रहित स्थानमें' इत्यादि वाक्यमें स्थानका जो निर्देश दिया गया है वह एकाग्रताके अनुकूल स्थानका ही सूचक है, किसी स्थान विशेषका निर्धारक नहीं है। उक्त वाक्यके अन्तमें *'मनोऽनुकूले'* कहकर उक्त आशयको स्पष्ट कर दिया गया है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—*'यत्र चित्तैकाग्र्यं तत्रोपासीत, तदतिरिक्तदेशादिविशेषश्रवणात्',* अर्थात् जिस देश तथा कालमें चित्तकी एकाग्रता हो, वहीं ध्यान-उपासना करनी चाहिये। वैदिक कर्मकाण्डकी तरह उपासनामें विशेष देशकालका श्रवण नहीं है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

देशकालावस्थादिषु यत्रैकाग्रता भवति तत्रैव स्थातव्यम्। तमेव देशं सेवेत तं कालं तामवस्थितिम्। तानेव भोगान् सेवेत मनो यत्र प्रसीदति। न हि देशादिभिः कश्चिद् विशेषः समुदीरितः। मनः प्रसादनार्थं हि देशकालादिचिन्तना। इति वाराहे।

अर्थात् अन्यान्य शास्त्रोंमें भी उल्लेख है कि ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर पर्वतके अग्रभागपर अथवा नदीके किनारे ध्यानादि करे। जिस देशमें, जिस कालमें और जिस अवस्थामें मनकी एकाग्रता हो, ब्रह्मोपासनामें उसी देशकालादिका आश्रय करे। वराहपुराणमें कहा है कि जिस स्थानपर, जिस समयपर और जिस अवस्थामें मन प्रसन्न होता है, उसी देशादिमें ब्रह्मोपासना करे एवं उन्हीं भोगोंका सेवन करे। क्योंकि देशादिका कोई नियम नहीं कहा गया है। केवल मनके प्रसादन (प्रसन्नता) के लिए ही देशकालादिकी विवेचना (चिन्तना) आवश्यक है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

खाइते शुइते यथा तथा नाम लय।
देश काल नियम नाहि, सर्वसिद्धि हय॥

(चै॰च॰अ॰ २०/१८)

अर्थात् खाते-पीते, सोते-जागते जिस किसी अवस्थामें नामको ग्रहण किया जा सकता है। देश-कालका इसमें कुछ भी नियम नहीं है। इस नाम-ग्रहणसे ही समस्त काम्य वस्तुओंकी सिद्धि हो जाती है।

श्रीमन्महाप्रभुके शिक्षाष्टकमें भी पाया जाता है—

नाम्नाम कारि बहुधा निज सर्वशक्ति
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

(शिक्षाष्टक २)

अर्थात् हे भगवन्! आपके नाम ही जीवोंके लिए सर्वमङ्गलप्रद हैं। अतः जीवोंके कल्याणार्थ आप अपने राम, नारायण, कृष्ण, मुकुन्द, माधव, गोविन्द, दामोदर आदि अनेक नामोंके रूपमें नित्य प्रकाशित हैं। आपने उन नामोंसे उन-उन स्वरूपोंकी सर्वशक्तियोंको स्थापित किया है। अहैतुकी कृपा हेतु आपने उन नामोंके स्मरणमें सन्ध्या-वन्दना आदिकी भाँति किसी निर्दिष्टकाल आदिका विचार भी नहीं रखा है अर्थात् दिन-रात किसी भी समय भगवन्नामका स्मरण-कीर्त्तन किया जा सकता है—ऐसा विधान भी बना दिया है। हे प्रभो! आपकी तो जीवोंपर ऐसी अहैतुकी कृपा है, तथापि मेरा तो नामापराधरूप ऐसा दुर्दैव है कि आपके ऐसे सर्वफलप्रद सुलभ नाममें भी अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ।

श्रीहरिभक्तिविलासमें—

न देशनियमो राजन् न कालनियमस्तथा।
विद्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्त्तने॥

कालोऽस्ति दाने यज्ञे च स्नाने कालोऽस्ति सज्जपे।
विष्णुः सङ्कीर्तने कालो नास्त्यत्र पृथिवीतले॥

(ह॰भ॰वि॰ ११/४१२-४१३, वैष्णव-चिन्तामणि वाक्य)

अर्थात् हे राजन्! विष्णुके नाम कीर्त्तनके विषयमें कोई देश अथवा कालका नियम नहीं है, यह निःसन्देहपूर्वक कहा जाता है। दान, यज्ञ और अन्यान्य जपोंमें काल-नियमका विचार है किन्तु इस पृथ्वीपर विष्णु नामके सङ्कीर्त्तनमें किसी भी काल और नियमका कोई विधान नहीं है॥ ११॥

मुक्तिके बाद भी उपासनाका उपदेश श्रुतिमें देखा जाता है

अवतरणिका भाष्य—*"स यो हैतत् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत"* इति षट्प्रश्न्यां *"यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च"* इति नृसिंहतापन्याञ्च श्रूयते। अन्यत्र च *"एतत् साम गायन्नास्ते", "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"* (आरुण्युपनिषद्) इत्यादि। इह मुक्तिपर्यन्तं मुक्त्यनन्तरञ्चोपासनमुक्तम्। तत् तथैव भवेदुत मुक्ति पर्यन्तमेवेति संशये मुक्तिफलत्वात् तत्पर्यन्तमेवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—षट्प्रश्नी ग्रन्थमें श्रुत होता है कि *'स यो हैतत् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत'*—हे भगवन्! मनुष्योंमें वे ही व्यक्ति प्रसिद्ध हैं, जो ऊँकारस्वरूप श्रीहरिका स्मरण मुक्तिके बाद भी करते हैं। श्रीनृसिंहतापनी-उपनिषदमें श्रुत होता है—*'यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च'* जो समस्त देवता, मुक्तगण, मुक्तिकामी एवं ब्रह्मविद्गण जिन श्रीहरिका भजन करते हैं, दूसरी श्रुतिमें भी सामगान है—*'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'*—पण्डितगण विष्णुके उस परम-पदका सर्वदा दर्शन करते हैं—इत्यादि इन समस्त श्रुतियोंमें मुक्ति पर्यन्त और मुक्तिके बाद भी श्रीविष्णुकी उपासनाके विषयमें कहा गया है। इस विषयमें संशय है कि यह उपासना मुक्तिके बाद भी उसी प्रकारसे होगी? अथवा मुक्ति पर्यन्त ही अनुष्ठेय है? इसपर पूर्वपक्षीका मत प्रकाशित करते हैं कि जब उपासनाका फल मुक्ति है, तब मुक्ति-प्राप्ति पर्यन्त ही श्रीहरि उपास्य हैं। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्रोपासने दिगाद्यनियमो दर्शितः। तद्वत् तस्यां सार्वदिकत्वनियमः स्यादिति प्राग्वत् सङ्गतिः। स यो हेति। हे भगवन् मनुष्येषु मध्ये स प्रसिद्धो यः कश्चित् ओङ्कारं श्रीहरिमभिध्यायीत स्मरेदित्यर्थः। यमिति। यं श्रीनृहरिम्। देवा मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनो मुक्ताश्च। नमन्ति भजन्तीत्यर्थः। वदिः स्थैर्ये। ब्रह्मणा सह वदितुं स्थिरीभवितुं शीलं येषां ते ब्रह्मवादिनो मुक्ता इत्यर्थः। एवं तद्विष्णोरित्यादिना सामगानां सदा श्रीविष्णुपददर्शनञ्च तद्भजनमुक्तम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व अधिकरणमें जिस प्रकार उपासनामें दिक् इत्यादिका नियमाभाव प्रदर्शित हुआ है, उसी प्रकार इस उपासनामें सर्वकालीनत्वका नियम हो सकता है, इस प्रकार

पूर्वाधिकरणके समान दृष्टान्त-सङ्गति जाननी चाहिये। *'स यो हेति'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—हे भगवन्! मनुष्योंमें वही व्यक्ति प्रसिद्ध है, जो मुक्तिके बाद भी ॐकाररूपी श्रीहरिका ध्यान अर्थात् स्मरण करते हैं। *'यं सर्वे देवा नमन्ति'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—जिन नृसिंहदेवको देवगण, मुक्तिकामी एवं मुक्त ब्रह्मविद्गण प्रणाम करते हैं अर्थात् उनका भजन करते हैं। यहाँ आशङ्का यह है कि ब्रह्मवादी शब्दका अर्थ मुक्त पुरुष हुआ किस प्रकारसे? इसके उत्तर कहते हैं—वद् धातु 'स्थैर्य' अर्थमें है, ब्रह्मके साथ स्थिर होना जिनका स्वभाव है। यहाँ शीलार्थ में 'वद्' धातुके उत्तरमें 'णिनि' प्रत्यय द्वारा ब्रह्मवादिन् शब्द निष्पन्न हुआ है, इसका अर्थ है मुक्त। इस प्रकार सामगोंका सर्वदा श्रीविष्णुपद-दर्शन-रूप भजन भी *'तद्विष्णोः'* इत्यादि वाक्य द्वारा कहा गया है।

आप्रायणाधिकरणम्

सूत्र—आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्॥ १२॥

सूत्रार्थ—'आप्रायणात्'—मुक्ति-पर्यन्त उपासना करनी चाहिये, 'तत्रापि' मुक्तिके बाद भी उपासना करनी चाहिये, 'हि' क्योंकि 'दृष्टम्' श्रुतिमें यही देखा जाता है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—मोक्षके पश्चात् भी उपासनाकी प्रयोजनीयता है क्योंकि सौपर्ण-श्रुतिमें मुक्तिके बाद भी उपासनाका विधान देखा जाता है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—आप्रायणात् मोक्षपर्यन्तमुपासनं कार्यमिति। तत्रापि मोक्षे च। कुतः? हि यतः श्रुतौ तथा दृष्टम्। श्रुतिश्च दर्शिता। *"सर्वदैनमुपासीत यावद्विमुक्तिः। मुक्ता अपि ह्येनमुपासत इति"* सौपर्णश्रुतौ। तत्र तत्र च यदुक्तं तत्राहुः। मुक्तैरुपासनं न कार्यं विधिफलयोरभावात्। सत्यं तदा विध्यभावेऽपि वस्तुसौन्दर्यबलादेव तत् प्रवर्त्तते। पित्तदग्धस्य सितया पित्तनाशेऽपि सति भूयस्तदास्वादवत्। तथाच सार्वदिकं भगवदुपासनं सिद्धम्॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'आप्रायणात्'* अर्थात् मोक्ष पर्यन्त उपासना करनी चाहिये और उसमें भी अर्थात् मोक्ष प्राप्त होनेके बाद भी उपासना करनी चाहिये। कारण क्या है? क्योंकि श्रुतिमें इसी प्रकारसे

दिखाया गया है, यथा—*'सर्वदैनमुपासीत यावद्विमुक्ति'* अर्थात् मुक्ति पर्यन्त सर्वदा श्रीहरिकी उपासना करे। *'मुक्ता अपि ह्येनमुपासत'* मुक्त होकर भी वे श्रीहरिकी उपासना करते हैं—यह सौपर्ण-श्रुतिमें (गारुड़-श्रुतिमें) कहा गया है। तब पहले वहाँ-वहाँ अर्थात् मुक्तिके पूर्व और मुक्तिके बाद उपासनाके विषयमें जो कहा गया है—इस सन्दर्भमें कोई-कोई कहते हैं, यथा मुक्तगणोंके लिए उपासनाकी कर्त्तव्यता नहीं है; क्योंकि इस विषयमें कोई विधि नहीं है और मुक्तिफल तो लब्ध ही है, इसलिए वह (फल-प्राप्ति) उद्देश्य भी नहीं है। इसका उत्तर है—हाँ, यह सत्य है; मुक्तिके बाद उपासनाकी कोई भी विधि नहीं है, सत्य है, ऐसा होनेपर भी प्राप्त वस्तु अर्थात् श्रीहरिचरणके सौन्दर्यके प्रभावसे वह उपासना उसी प्रकार चलती रहती है, जिस प्रकार पित्त द्वारा दग्ध व्यक्तिका शर्करा (मिश्री) द्वारा पित्त-नाश हो जानेपर उस शर्कराके आस्वादनमें भूयोभूयः प्रवृत्ति होती है। अतएव सिद्धान्त यह है कि श्रीभगवान्की उपासना सर्वदा करणीय है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—आप्रायणादिति। तत्र तत्र चेति। मोक्षात् प्रागूर्द्ध्वञ्चेत्यर्थः। तदा मोक्षे। वस्त्विति। पुरुषोत्तमस्वरूपगुणचरितलावण्यसामर्थ्यादित्यर्थः। तदास्वादवत् सितास्वादवत्॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—*'आप्रायणादित्यादि'* सूत्रमें। *'तत्र तत्र चेति'* भाष्यमें तत्र-तत्र अर्थात् मुक्तिके पूर्व और बादमें। *'तदा विधाभावेऽपि'* में 'तदा' का अर्थ है—मोक्षमें। *'वस्तु सौन्दर्यबलादेवेति'*—वस्तुका सौन्दर्य अर्थात् पुरुषोत्तम श्रीहरिका स्वरूप, गुण, चरित्र, लावण्य—इनकी महिमावश। *'तदास्वादवत्'*—उस शर्कराके आस्वादके समान॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रश्नोपनिषदमें पाया जाता है कि *'स यो ह वै तद्भागवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्काररमभिध्यायीत्'* (हे भगवन्! मनुष्योंमें जो शरीरान्त होने तक ओङ्कारका सम्यक्रूपेण ध्यान करता है) (प्र॰ ५/१) *'यं सर्वे देवा नमन्ति'* इत्यादि वर्णन श्रीनृसिंहतापनी-श्रुतिमें भी पाया जाता है। अतः किसी श्रुतिमें मुक्ति पर्यन्त उपासनाका उपदेश है और किसी श्रुतिमें मुक्तिके बाद भी उपासनाका उपदेश है। इस स्थलपर संशय यह है कि क्या उपासना मुक्ति पर्यन्त ही करनी होगी?

अथवा मुक्तिके बाद भी करनी होगी? पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब मुक्ति ही उपासनाका फल है, तब मुक्ति पर्यन्त ही उपासना करनी होगी। इस मतके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि मुक्ति पर्यन्त तो उपासना करनी ही होगी किन्तु मुक्ति-प्राप्तिके बाद भी उपासना करना कर्त्तव्य है क्योंकि श्रुतिमें यही उपदेश दिखायी देता है।

कोई कह सकता है कि मुक्त पुरुषको जब कोई फलाङ्काक्षा ही नहीं रहती और उनके लिए कोई विधि भी नहीं है, तब मुक्तावस्थामें उपासनाकी प्रयोजनीयता क्यों रहेगी? इस विषयपर भाष्यकार श्रीमद्बलदेव प्रभु कहते हैं कि मुक्त पुरुष विधिके अधीन न रहकर भी श्रीभगवान्के अपार सौन्दर्य-माधुर्यसे आकृष्ट होकर उनकी उपासनामें रत रहते हैं। उन्होंने एक दृष्टान्त भी दिया है कि पित्तदग्ध व्यक्ति शर्कराके द्वारा पित्तनाश होनेके बाद भी जिस प्रकार शर्कराका आस्वादन करता है, उसी प्रकार भगवद्भजनके द्वारा मुक्त होकर भी भाग्यवान् व्यक्ति मुक्तिके बाद भी भगवान्के सौन्दर्यादि गुणोंसे आकृष्ट होकर भगवत्-भजनके द्वारा भगवत्-रस-आस्वादनके योग्य होकर नित्यकाल ही भगवद्धाममें श्रीभगवान्के पार्षद होकर नित्य भगवत्-सेवा करते हैं। इस विषयमें स्मृतिके प्रमाण भी दिखायी देते हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा॰ १/७/१०)

अर्थात् श्रीसूतजीने कहा—ब्रह्मानन्दके सुखमें मग्न जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है, जो आत्मामें ही रमण करते हैं, वे भी मुक्त होकर फलकी कामनाओंसे रहित होकर अमित-विक्रम श्रीहरिकी अहैतुकी निष्काम सेवा करते रहते हैं, क्योंकि भगवान् श्रीहरि ऐसे ही गुणसम्पन्न हैं कि वे आत्मारामगणोंको भी आकर्षित कर लेते हैं।

श्रीशुकदेवजीने भी कहा है—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमःश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥

(श्रीमद्भा॰ २/१/९)

अर्थात् हे राजर्षे! मेरा निर्गुण-ब्रह्ममें विशेष भाव था, पर उत्तमश्लोक श्रीभगवान्‌की लीलाओंके प्रति मेरा चित्त आकर्षित हो उठा और मैंने इस आख्यानका अध्ययन किया। हे राजन्! आपमें ऐसी योग्यता है कि आप महापुरुष श्रीकृष्णको प्राप्त कर सकते हैं।

और भी,

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१४/५)

अर्थात् हे महामुने! इन करोड़ों मुक्त एवं सिद्धजनोंमें भी ऐसा प्रशान्तात्मा शुद्धभक्त अत्यन्त दुर्लभ है, जो एकमात्र भगवान् श्रीनारायणके ही परायण हो।

श्रीनृसिंहतापनीमें भी पाया जाता है—*'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते।'* (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२१ श्लोक श्रीधरधृत सर्वज्ञ भाष्यकार व्याख्या) अर्थात् मुक्तपुरुषगण भी अपनी इच्छासे (अर्थात् कर्म जनित नहीं) शरीर ग्रहण करके भगवान्‌का भजन करते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

'आत्माराम' पर्यन्त करे ईश्वरभजन।
ऐछे अचिन्त्य भगवानेर गुणगण॥

(चै॰च॰म॰ ६/१८५)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुने कहा—हे सार्वभौम! श्रीभगवान्‌के गुण ऐसे अचिन्त्य एवं आकर्षक हैं कि निर्ग्रन्थ आत्माराम तक भी उनका भजन करते हैं।

ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द लीलारस।
ब्रह्मज्ञानी आकर्षिया करे आत्म वश॥

(चै॰च॰म॰ १७/१३७)

अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसी बुद्धि जिनकी उदित होती है, उनका माया-चिन्तन दूर होनेसे चित्स्वरूप ब्रह्ममें अवस्थितिरूप चाहे एक प्रकारका सुखोदय होता हो, किन्तु कृष्णनाम, कृष्णरूप, कृष्णगुण और

कृष्णलीलारूप चिन्मय रसविलास जिनके हृदयमें उदय होता है, वे 'ब्रह्मानन्द' से अनन्तगुण श्रेष्ठ पूर्णानन्द लीलारसका भोग करते हैं। अतएव पूर्णानन्द लीलारसस्वरूप कृष्णलीला ब्रह्मज्ञानीको सहसा ही आकर्षित करके आत्मवश कर लेती है।

श्रीमद्भागवतमें और भी—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा॰ १२/१२/६९)

अर्थात् श्रीशुकदेव महाराज जो आत्मानन्दमें ही विभोर रहते थे और उसी भावके कारण अन्याभिलाषरहित थे, तब भी श्रीहरिकी रम्य और रुचिर लीलाओंसे आकृष्ट होकर उन्होंने परमार्थ-तत्त्वके प्रकाशक श्रीमद्भागवत पुराणरूपी प्रदीपको जीवोंपर दया करनेके लिए प्रज्वलित किया है, ऐसे उन निखिल पाप-नाशन व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजीको मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें ही—

ब्रह्मानन्द हैते पूर्णानन्द कृष्ण गुण।
अतएव आकर्षय आत्मारामेर मन॥

(चै॰च॰म॰ १७/१३९)

अर्थात् श्रीकृष्णके गुणोंमें ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा अधिक अर्थात् पूर्ण आनन्द है, इसलिए वे आत्मरामगणोंके मनको अपनी और आकर्षित कर लेते हैं। चतुःसन, नवयोगेन्द्र, बिल्वमङ्गल आदि एवं मुक्त पुरुषोंके आचरणमें भी श्रीहरिभजनमें रति देखी जाती है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'यावन्मोक्षस्तावदुपासनादिकं कार्यम्। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत (प्र॰ ५/१) *इति हि श्रुतिः। सर्वदैनमुपासीत यावद् विमुक्तिः मुक्ता अपि ह्येनमुपासत इति सौपर्णश्रुतिः। शृणुयाद् यावदज्ञानं मतिर्यावदयुक्तता। ध्यानञ्च यावदीक्षा स्यान्नेक्षा क्वचन*

बाध्यते॥ दृष्टतत्त्वस्य च ध्यानं यदा दृष्टिर्न विद्यते। भक्तिश्चानन्तकालीना परमे ब्रह्मणि स्फुटा॥ आविमुक्तेर्विधिर्नित्यं स्वत एव ततः परमिति ब्रह्माण्डे॥'

अर्थात् मोक्ष पर्यन्त भगवत्-प्राप्तिका साधन—उपासना करनी चाहिये—इसीका समर्थन करते हैं कि जब तक मोक्ष न हो जाय, तब तक मुमुक्षु अवश्य ही ध्यान (उपासना) करें। सर्वदा ध्यानके बिना ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान नही होता; अतएव ध्यान सदा-सर्वदा किया जाना चाहिये। सौपर्णश्रुतिमें कहा है कि जब तक मुक्ति नहीं होती, तब तक ब्रह्मकी सर्वदा उपासना करनी होगी और जो मुक्त हैं, उन्हें भी उपासना करनी चाहिये। ब्रह्माण्डपुराणमें कहा है कि जब तक अज्ञान और विपरीत मति नष्ट न हो जाये, वैषयिक इच्छाएँ उत्पीड़ित करती रहें, तब तक श्रवण करें। जब तक योग न हो, तथा दृष्ट-तत्त्व दृष्टिगत न हो जाये, तब तक ध्यान करें। ब्रह्मदर्शन कभी भी बाधित नहीं होना चाहिये। जिनका तत्त्वज्ञान है, वे भी ब्रह्म-दर्शन पर्यन्त ध्यान करें। मुक्ति होनेपर भी परम ब्रह्ममें अनन्तकाल तक भक्ति रहनी चाहिये और जो आविमुक्त हैं, उन्हें भी सदा-सर्वदा ध्यान करना चाहिये—उनके लिए मुक्ति-पर्यन्त उपासनाकी विधि स्वाभाविक है; तभी परमात्म-प्राप्ति सम्भव है। भक्तिसे ही तत्त्वका प्रकाश होता है॥ १२॥

विद्याके फलके विचारका आरम्भ

अवतरणिका भाष्य—एवं विद्यासाधनं विचार्य तत्फलमिदानीं विचारयति। छान्दोग्ये—*"यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेव विदि पापं कर्म न श्लिष्यते"* (छा॰ ४/१४/३) इति। *"तद् यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते"* इति च श्रूयते। इह संशयः। क्रियमाणसञ्चितपापे भोगेन क्षपणीये उत विद्याप्रभावात् तयोरश्लेषविनाशौ स्यातामिति। *"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"* इति स्मृतेस्तेनापि ते भोगेन क्षपणीये। एवं सति श्रुत्यर्थस्तु तद्विदां प्राशस्त्यं लक्षयतीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस प्रकार विद्या-प्राप्तिके साधन (उपाय) का विचार करनेके बाद अब इस विद्याके फलका विचार किया जाता है। छान्दोग्योपनिषदमें पाया जाता है कि जिस प्रकार पद्मपत्रमें जल

लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञमें (ब्रह्मविद् व्यक्तिमें) पाप लिप्त नहीं होता। और यह भी सुना जाता है, वह किस प्रकारसे है? जिस प्रकार इषीका (मुट्ठी भर तृण अथवा रूई) को अग्निमें फेंका जाय तो वह भस्मसात् हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मविद्के समस्त पापोंका ध्वंस हो जाता है। इस विषयमें संशय यह है कि क्रियमाण (जो अब किया जानेवाला है) और पूर्वार्जित (सञ्चित) पाप—दोनोंका क्या भोगके द्वारा क्षय होगा? अथवा ब्रह्म-विद्याके प्रभावसे क्रियमाण-पापोंका अश्लेष (नैर्लेप्य अर्थात् लेपका अभाव) तथा सञ्चित पापोंका विनाश होगा? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—स्मृति-वाक्यमें पाया जाता है—भोग न होनेपर शत कोटि युगोंमें भी पाप-कर्मका क्षय नहीं होता। शुभ-अशुभ अर्थात् कृत पाप-पुण्य कर्मोंका अवश्य ही भोग करना होगा। ऐसी अवस्थामें ब्रह्मविद्का जो पाप-लेप नहीं होता—श्रुतिका यह अर्थ ब्रह्मविद्की प्रशस्तताके लिए सूचित हो रहा है। पूर्वपक्षके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एवं विद्यासाधनानुष्ठाने प्रयत्नाधिक्यज्ञापनाय फलाध्यायेऽपि तदनुष्ठानक्रमो विचारितः। अथ तदगतां तत्फलचिन्तामुपक्रम्य निखिलस्य साधनविचारस्य जातत्वादिदानीं फलविचारावसरलाभादस्य न्यायस्यावसररूपा सङ्गतिः। यथेति। न श्लिष्यन्ते लग्ना न भवन्ति। विदि ब्रह्मोपासके पुंसि। यथेषीकेति। नन्वत्र इष्टकेषीकमालानां चिततुलभारिष्विति पाणिनिस्मरणात् इषीक-तुलमिति ह्रस्वेनैव भाव्यम्। दीर्घदर्शनं कथमिति चेत् सत्यं छान्दसं दैर्घ्यमिति गृहाण। प्रदूयेत निर्दग्धं भवेत्। अस्य ब्रह्मज्ञस्य। नाभुक्तमिति। तेन विदुषा। ते द्विविधे पापे। तद्विदामिति। ब्रह्मविदः श्लाघ्या इत्येतदर्थो लक्ष्य इत्यर्थः। पूर्वपक्षे विद्याधिगमेऽपि पापफलभोगोत्तरं मोक्षः। सिद्धान्ते तु विद्योत्पत्त्यनन्तरं प्रारब्ध-क्षये सत्येव स इति फलद्वयं भाव्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस प्रकार विद्याके उपायानुष्ठानमें (साधनमें) समधिक प्रयत्न ज्ञात करानेके लिए इस फल विचाराध्यायमें भी उस उपायानुष्ठानका क्रम विचार किया जाता है। अतःपर तद्गत विद्याविषयक फलका चिन्तन आरम्भ करके समग्र साधन-विचार सम्पूर्ण होनेके कारण अब फल-विचारका अवसर प्राप्त हुआ है; इसलिए इस अधिकरणकी अवसर-नामक सङ्गति जाननी चाहिये। प्रतिबन्धकीभूत (जिस तर्कसे दोनों पक्ष समान रूपसे प्रभावित हों)

शिष्यकृत जिज्ञासाकी निवृत्तिका नाम अवसर है। *'आपो न श्लिष्यन्ते'* इति—जलमें लग्न (लिप्त) नहीं होता, *'एवमेव विदि'* इति—इसी प्रकार विदि—ब्रह्मोपासक व्यक्तिमें। यथेषीकातूलमित्यादि। प्रश्न होता है— *'इषीका च तूलञ्च'*—इस द्वन्द्व समासके बाद *'इष्टकेषीकमालानाम् चिततूलभारिषु'* में चित-तूल एवं भारिन् (भारी) शब्दोंका उत्तर पद होनेपर इष्टका, इषीका तथा माला पदका अथवा उसके उत्तर-पदके आकारका ह्रस्व होता है—पाणिनिका यह अनुशासन रहनेके कारण *'इषीकतूलम्'* इस प्रकार पद होना उचित है (पा॰ ६/३/६५), तब दीर्घस्वर किसलिए? ऐसा यदि कहते हो तो, वह सत्य है, अतएव वैदिक प्रयोग रूपमें (छान्दसं दैर्घ्यम्) दीर्घ स्वीकार करो। 'प्रदूयेत'—सम्पूर्ण रूपेण दग्ध हो जायेगा। *'एवं हास्येति'* में 'अस्य' से तात्पर्य है—उस ब्रह्मविद् व्यक्तिका। *'तेनापि ते क्षपणीये इति'* में 'तेन' का अर्थ है—उसी ब्रह्मवित् द्वारा। 'ते' का अर्थ है—दो प्रकारके पाप (सञ्चित एवं क्रियमाण)। *'श्रुत्यर्थस्तु तद्विदां प्राशस्त्यमिति'*—ब्रह्मविद्गण प्रशंसनीय हैं—यह अर्थ लक्षणीय है। पूर्वपक्षीके मतमें विद्या प्राप्त होनेपर भी पापफलके भोगके बाद मुक्ति होती है, सिद्धान्ती मतमें विद्या उत्पन्न होनेके बाद प्रारब्ध क्षय होते ही मुक्ति होती है, इस प्रकारसे दोनों फल चिन्तनीय हैं।

तदधिगमाधिकरणम्

सूत्र—तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्॥ १३॥

सूत्रार्थ—'तदधिगम' अर्थात् ब्रह्मज्ञान-ब्रह्मविद्या प्राप्त होनेपर 'उत्तर पूर्वाघयोः' क्रियमाण कर्मोंका और सञ्चित पापोंका 'अश्लेषविनाशौ' लेपाभाव और विनाश हो जाता है। कारण है 'तद्व्यपदेशात्'— 'पुष्करपलाशे' इत्यादि श्रुतिमें क्रियमाण पापोंका अश्लेष और 'तद्यथेषीकातूलमित्यादि' श्रुतिमें कृत-पापोंके विनाशका व्यपदेश है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मविद्याके अधिगम होनेपर उत्तर शुभ-अशुभरूप अर्थात् भावी एवं क्रियमाण कर्मका अश्लेष एवं पुण्य-पापका विनाश हो जाता है क्योंकि ऐसा ही व्यपदेश है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—तस्य ब्रह्मणोऽधिगमस्तदधिगमः। ब्रह्मविद्येत्यर्थः। तस्यां सत्यामुत्तरस्य क्रियमाणस्य पापस्याश्लेषः। पूर्वस्य तु सञ्चितस्य विनाशो भवति। कुतः? तदिति। यथेत्यादिभ्यां वाक्याभ्यां तयोस्तथाभिधानादित्यर्थः। न हि श्रुतेऽर्थे सङ्कोचः शक्यः कर्त्तुम्। नाभुक्तमित्यादिकं त्वज्ञविषयतया युक्तिमत्॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'तस्य'* अर्थात् उन ब्रह्मका अधिगमः—आप्ति अर्थात् ब्रह्मविद्या। उस ब्रह्मविद्याके जन्मनेके बाद क्रियमाण पापका ब्रह्मविद्में लेप (सम्पर्क) नहीं होता और सञ्चित पूर्व पापोंका ध्वंस हो जाता है। प्रमाण क्या है? *'तद्व्यपदेशात्', 'पुष्कर पलाश आपः'* इत्यादि वाक्य द्वारा और *'तद्यथेषीकातूलमित्यादि'* वाक्य द्वारा—दोनों ही पापोंका नाश विहित (कहा गया) है। श्रौत-अर्थमें (श्रुतिके अर्थमें) संकोच अर्थात् अर्थान्तरकी कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि उक्त दोनों श्रुतियाँ वही कहती हैं। तब यह जो कहा गया है— *'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'* अर्थात् शतकोटिकल्पमें भी भोग किये बिना कृत कर्मका क्षय नहीं होता—इसकी क्या गति होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं कि ब्रह्मविद्से भिन्न अज्ञ व्यक्तिके लिए यह युक्तिसङ्गत है॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—तदधिगमेति। तथेति। अश्लेषविनाशोक्तेरित्यर्थः॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार— *'तदधिगमः'* इत्यादि सूत्रमें। *'तयोस्तथाभिधानादिति'* में 'तथा' का अर्थ है—क्रियमाण पापोंका लेपाभाव एवं सञ्चित पापोंके नाशकी उक्तिके कारण—यह अर्थ है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस प्रकार विद्या-साधनका विचार समाप्त करके अब विद्याके फल-विचारका आरम्भ करते हैं। छान्दोग्यमें प्राप्त होता है— *'यथा पुष्कर-पलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेव विदि पापं कर्म न श्लिष्यन्त'* इति (छा॰ ४/१४/३) अर्थात् जिस प्रकार पद्मपत्रमें जल लिप्त नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्मविद् व्यक्ति पापसे लिप्त नहीं होता तथा यह भी सुना जाता है— *'तद् यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते'* (छा॰ ५/२४/३) अर्थात् सींकके अग्रभाग अथवा रूईको अग्निमें फेंका जाय तो वह भस्मसात् हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मविद्के समस्त पापोंका ध्वंस हो जाता

है—इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ब्रह्मविद्‌के समस्त पाप विनष्ट हो जाते हैं। इस स्थलपर संशय यह है कि क्रियमाण पाप और सञ्चित पाप क्या भोगके द्वारा विनष्ट होंगे? अथवा विद्या अर्थात् उपासनाके प्रभावसे ही उनका नैर्लेप्य और विनाश होगा? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब स्मृतिमें है कि भोगके बिना पापका क्षय नहीं होता, तब कृत-कर्मका फल अवश्य ही भोगना होगा। इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्याके प्रभावसे ही क्रियमाण पापका अश्लेष अर्थात् नैर्लेप्य और सञ्चित पापका विनाश होगा क्योंकि श्रुतिमें इसी प्रकारका व्यपदेश है। पूर्वोक्त छान्दोग्यका प्रमाण द्रष्टव्य है। तब जो स्मृतिमें भोगके द्वारा पाप-क्षयका उल्लेख है, वह भगवत्-तत्त्वज्ञान रहित विमुखजनके लिए प्रयोज्य है। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतमें विद्या प्राप्त होनेपर ही पाप-फल-भोगके बाद मुक्ति होती है और सिद्धान्ती मतमें विद्या उत्पन्न होनेके बाद प्रारब्धका क्षय होनेपर मुक्ति होती है—

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

(श्रीमद्भा॰ १/२/२०-२१)

अर्थात् इस प्रकार प्रत्येक क्षण भगवान् श्रीकृष्णका आसक्तिपूर्वक भजन करनेसे साधकका चित्त आनन्दसे भर जाता है। कामादि विषयोंसे संस्पर्श भी नहीं रहता। श्रीभगवान्‌में प्रेममय भक्तियोगका उदय हो जाता है और अपने आप भगवदनुभूति होती है। इस प्रकार आत्माओंके आत्मा भगवान्‌के स्वरूपका साक्षात्कार होनेपर हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सन्देहरूपी रज्जु विदीर्ण हो जाती है और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है।

यथाग्निः सुसमृद्धार्च्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/१९)

अर्थात् जैसे धधकती हुई आग लकड़ियोंके बड़े ढेरको भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पाप-राशिको पूर्णतया जलाकर भस्म कर देती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२०/३०)

अर्थात् समस्त भूतोंके अन्तर्यामी परमात्मास्वरूप मेरे दर्शन करनेवाले व्यक्तिके अहङ्कार, हृदयकी गाँठ और सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तथा कर्म-वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं।

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥

(श्रीमद्भा॰ ६/२/४९)

अर्थात् अहो! मरते समय भीषण यन्त्रणाको भोगते हुए अजामिल जैसे महापातकीने पुत्रको बुलानेके उद्देश्यसे भगवान्‌के नामका उच्चारण किया और भगवद्धामको प्राप्त हो गया, फिर जो निरपराध व्यक्ति श्रद्धाके साथ हरिनामका निरन्तर कीर्त्तन करता है, उसे भगवान्‌के धामकी प्राप्ति होगी—इसमें क्या सन्देह है?—यही स्थिर सिद्धान्त है।

श्रीमन्महाप्रभुने भी कहा है—

एक कृष्णनामे करे सर्व-पाप क्षय।
नव विधा भक्ति पूर्ण नाम हैते हय॥

(चै॰च॰म॰ १५/१०७)

अर्थात् नामापराधका त्याग करते हुए एकमात्र कृष्ण-नामाश्रयसे समस्त पापोंका क्षय होकर जीवकी पुण्य-पापमूलक सभी भोगवासनाओंका नाश हो जाता है। श्रीनाम-भजन होनेपर ही नवधाभक्ति पूर्णताको प्राप्त करती है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें और भी प्राप्त होता है—

नामाभास हैते हय सर्वपापक्षय।
नामाभास हैते हय संसारेर क्षय॥

अर्थात् श्रीहरिदासने कहा—नामाभासमात्रसे समस्त पापोंका क्षय होता है एवं संसार-बन्धनका भी क्षय हो जाता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

"विदुष उत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः। कुतः? 'एवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यन्त' अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते इति व्यपदेशात्।"

अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुषके उत्तर (आगत) पापका आश्लेष (सम्बन्ध) नहीं होता और पूर्व पापका विनाश हो जाता है। किस प्रकार? क्योंकि ब्रह्मवेत्ताका पाप-कर्मसे सम्बन्ध नहीं रहता, ब्रह्मवेत्ताके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं—यह श्रुति-वचनसे प्रमाणित होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'ब्रह्मदर्शन उत्तराघस्याश्लेषः पूर्वाघस्य विनाशश्च। यद् यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यतेति' (छा० ४/१४/३) *तद्यथेषीकातूल-मग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हैवास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त* (छा० ५/२४/३) *इति तद् व्यपदेशात्।*

अर्थात् ज्ञानके द्वारा कर्मोंका क्षय होनेपर मोक्ष-सिद्धिरूप फलकी प्राप्ति होती है—यही समर्थन करते हैं कि ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष सम्भव है और ब्रह्मज्ञानसे पूर्वकृत पापोंका विनाश होता है तथा पापोंके श्लेषकी सम्भावना नहीं रहती। जिस प्रकार पद्म-पत्रमें जल संसक्त नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होनेपर—फिर वह उन-उन कर्मोंमें समासक्त नहीं होता। यदि कहो, 'भोग न होनेपर कर्मका क्षय नहीं हो सकता है'—इस श्रुतिका विरोध होता है तो इसपर वक्तव्य यह है कि जिस प्रकार प्रायश्चित्तादि द्वारा पापकर्म विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मविज्ञानसे पूर्ववर्त्ती एवं उत्तरवर्त्ती कर्मोंका क्षय हो जाता है। जैसे कि तिनके एवं रूई अग्निमें गिरकर भस्म हो जाते हैं, वैसे ही उपासकके सारे पाप भस्म हो जाते हैं—यह उपदेशसे निश्चित होता है॥ १३॥

अवतरणिका भाष्य—बृहदारण्यके श्रूयते *"उभे उ हैवैष एते तरत्यमृतः साध्वसाधुनी"* (बृ०आ० ४/४/२२) इति। अत्रोभयोः पुण्यपापयोस्तीर्णतोच्यते। भवेदिह संशयः। उत्तरपूर्वयोरघयोरिव पुण्ययोरपि तयोरश्लेषविनाशौ स्यातां न वेति। पुण्ययोस्तौ न स्यातां वैदिकत्वेन तया सहाविरोधात्। किन्तु ते भोगेनैव क्षपणीये।

तथाच प्रतिबन्धसत्त्वात् विद्यायां सत्यां विमुक्तिरिति रिक्तं वचः। एवं प्राप्ते प्रागुक्तमतिदिशति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—बृहदारण्यकोपनिषदमें सुना जाता है कि *'उभे उ हैवेष एते तरत्यमृतः साध्व साधुनीति'* अर्थात् यह साधक ब्रह्म-साक्षात्कारी होनेपर शुभ-अशुभ अर्थात् पुण्य-पापका अतिक्रमण करता है—इस श्रुतिमें लब्ध-ब्रह्मानुभव व्यक्तिके क्रियमाण और सञ्चित—दोनों प्रकारके पुण्य एवं पापोंसे उत्तीर्णता अभिहित हुई है। यहाँ संशय हो सकता है कि पूर्वापर पापके समान पूर्वापर पुण्यका भी लेपाभाव तथा विनाश होगा? अथवा नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि विद्याके साथ इन दोनों प्रकारके (पूर्व एवं अपर) पुण्योंके वैदिकत्वके (शास्त्र-विहितताके) कारण विरोध न रहनेसे उनका अश्लेष और विनाश नहीं होगा, अपितु भोगके द्वारा ही उन दोनोंका क्षय करना होगा। यह बात न माननेपर इन प्रतिबन्धकोंके (इन दोनों प्रकारके पुण्योंके) रहते हुए भी विद्या प्राप्त होनेसे मुक्ति होती है—यह वाक्य मिथ्या, असार एवं अयौक्तिक होता है। पूर्वपक्षीके मतके इस उत्तरमें पूर्वोक्तका अतिदेश करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—बृहदारण्यक इत्यादि। पुण्यविद्ययोः शास्त्रीयत्वेनाग्नि-होत्रदर्शयोरिवाविरोधात् शङ्काधिक्ये न्यायातिदेशः अतोऽत्र न पृथक् सङ्गत्यपेक्षा। उभे इति। एष लब्धब्रह्मानुभवः सन् साध्वसाधुनी पुण्यपापे उभे उत्तरपूर्वे क्रियमाणसञ्चिते तरत्यतिक्रामति। तयेति विद्यया सह।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—बृहदारण्यके इत्यादि। पुण्य और विद्या दोनों ही शास्त्र-विहित हैं, अतएव प्रमाण है—जिस प्रकार अग्निहोत्र एवं दर्शयाग—इनका परस्पर विरोध नहीं है, उसी प्रकार यहाँ भी विरोधका अभाव है—अतः कोई शङ्का नहीं है। जिस स्थानपर शङ्का अथवा आधिक्य रहता है, वहाँ अधिकरणका अतिदेश रहता है। इसलिए यहाँ स्वतन्त्र सङ्गतिकी अपेक्षा नहीं है। *'उभे उ हैवैष'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—'एषः'—ब्रह्म-साक्षात्कारी—यह पुरुष साधु एवं असाधु कर्म अर्थात् पुण्य पाप, उभे—परवर्त्ती तथा पूर्ववर्त्ती अर्थात् क्रियमाण एवं सञ्चित कर्म दोनोंका अतिक्रम करता है। *'तया सहाविरोधादिति'* में 'तया' का अर्थ है—विद्याके सहित।

इतराधिकरणम्

सूत्र—इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु॥ १४॥

सूत्रार्थ—'इतरस्य'—परवर्ती और सञ्चित पुण्योंका भी 'एवम्'—पापोंके समान 'अश्लेषः'—लेपाभाव और विनाश विद्या द्वारा होगा 'पाते तु'—पारब्धका नाश होनेपर तत्क्षणात् मुक्ति होती है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—उत्तरवर्त्ती और सञ्चित पापोंके समान पुण्योंका भी अश्लेष और विनाश सिद्ध है। अतः यह युक्तिसङ्गत है कि प्रारब्ध नाश होनेपर ही मुक्ति होगी॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—इतरस्योत्तरपूर्वरूपस्य पुण्यस्याप्येवं पापवदश्लेषो विनाशश्च विद्यया भवति। न च पुण्यं वैदिकत्वात् तया सहाविरुद्धम्। स्वफलहेतुत्वेन तत्फलप्रतिबन्धात्। न च तद्वस्तुतः शुद्धम्। *"सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते"* (छा० ८/४/१) इति छान्दोग्ये। तत्रापि पाप्मशब्दप्रयोगात्। अतएव *"यथैधांसि समिद्धोऽग्निः"* इत्यादौ सञ्चितकर्ममात्रक्षयः स्मर्यते। तथा च पापयोरिव पुण्ययोश्च तौ सिद्धौ। वक्तव्यमाह पाते त्विति। तुर्निश्चये। प्रारब्धनाशे सति मुक्तिरेवेति न रिक्तं तद्वचः॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वोत्तर अर्थात् सञ्चित और बादमें क्रियमाण पुण्योंका विद्याके द्वारा पापके समान ही लेपाभाव (अश्लेष) और विनाश होता है। यदि कहो, पुण्य वेदोक्त क्रिया साध्य हैं, अतएव वैदिकत्वके कारण पुण्य विद्याके साथ रह सकते हैं, कोई विरोध नहीं है, तो ऐसा नहीं है क्योंकि पुण्य स्वर्गको प्राप्त कराता है इसलिए वह विद्या-फल मुक्तिको बाधा देगा। स्वर्ग मुक्तिका प्रतिबन्धक है। पुनः यह भी ठीक है कि पुण्य वास्तवमें शुद्ध नहीं है अर्थात् पापके साथ अविमिश्रित नहीं है (पापसे मिश्रित ही है) छान्दोग्यमें कहा गया है—*'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते'* अर्थात् उस ब्रह्मविद्के समस्त पाप चले जाते हैं—इस छान्दोग्य-वचनमें पुण्य एवं पाप शब्द प्रयुक्त हैं अर्थात् पुण्यको भी पापके मध्यमें कहा गया है, नहीं तो पाप्म शब्दका प्रयोग नहीं होता। अतः *'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन'* (श्रीगी० ४/३७) अर्थात् जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि ईंधनको भस्म कर देता है इत्यादि भगवत्-वाक्यमें सञ्चित कर्ममात्रका क्षय स्मृत

होता है। अतएव सिद्धान्त यह है कि—इन दो प्रकारके पापोंके अश्लेष समान दो प्रकारके पुण्योंका (पूर्व एवं अपर अर्थात् प्रारब्ध एवं अनारब्धका) भी लेपाभाव (अश्लेष) और विनाश होता है। 'तु' शब्द निश्चयार्थ है। अतएव फलकी बात कहते हैं—प्रारब्ध कर्मका नाश होनेपर ही मुक्ति होती है—यह बात असार (अयौक्तिक) नहीं है॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—इतरस्येति। स्वफलेति। पुण्यं स्वर्गं जनयद्विद्याफलं मोक्षं प्रतिवध्नीयादित्यर्थः। न चेति। तत् पुण्यं। तत्रापीति। पुण्येऽपीत्यर्थः। नैनं सेतु नाहोरात्रे तरत (छा॰ ८/१४/१) इत्यत्र उभे सुकृतदुष्कृते निर्दिश्य अविशेषेण सर्वे पाप्मान इत्युक्तेरित्यर्थः। तद्वच इति। विद्यायां सत्यां विमुक्तिरेवेत्येतद्बोधकं वाक्यमित्यर्थः एतच्चाग्रे विशदीभावि॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—*'इतरस्याप्येवमित्यादि'* सूत्रमें *'स्वफलहेतुत्वेनेति'*—पुण्य स्वर्ग उत्पन्न करानेके कारण विद्या-फल मुक्तिको बाधा देता है—यह अर्थ है। *'न च तदिति'* में 'तत्' का अर्थ है—पुण्य। *'तत्रापि पाप्मशब्दप्रयोगात्'* में 'तत्रापि'—अर्थात् पुण्यमें भी। *'नैनं सेतु नाहोरात्रे तरतः'* (छा॰ ८/१४/१) अर्थात् यह अहोरात्र (पुण्य एवं पाप—दिन एवं रात्रि) रूप सेतु संसार-सागरसे उत्तीर्ण नहीं करता। इसमें पाप-पुण्य दोनोंका निर्देश करके निर्विशेषमें पुण्य एवं पापको पाप ही कहते हैं, इस कारण। *'न रिक्तं तद्वचः'* इति विद्या होनेपर मुक्ति होगी ही इसका बोधक वाक्य मिथ्या नहीं है। इसका बादमें विस्तार किया जायेगा॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस समय पुनः एक संशय उत्थापित हुआ है कि ब्रह्मविद्के क्रियमाण और सञ्चित पापके विनाशके समान उनके क्रियमाण और सञ्चित दोनों पुण्योंका अश्लेष और विनाश होगा? कि नहीं? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पापके समान पुण्यका भी अश्लेष और विनाश होगा।

पुण्यकर्म वैदिक कहे जानेके कारण उसके साथ विद्याका विरोध नहीं है—इस बातका भी विचार नहीं किया जा सकता क्योंकि विद्याका फल मोक्ष और पुण्यका फल स्वर्गादि परस्पर भिन्न हैं।

छान्दोग्यकी *'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते'* (छा॰ ८/४/१) उक्ति है और कौषीतकी-उपनिषदमें (१/४ में) भी पाया जाता है— *'तत्सुकृतदुष्कृते*

धुनुते'—ज्ञानी उस ज्ञानसे सुकृत और दुष्कृतको त्यागता है। अतएव पाप जिस प्रकार विद्या-फलका प्रतिबन्धक (विरोधी) है, उसी प्रकार पुण्य भी विद्या-फलका प्रतिबन्धक है। अतः पाप और पुण्य अथवा सुकृत और दुष्कृत दोनों ही समधर्मी होनेके कारण एक ही प्रकारसे निर्देशित होते हैं—इसलिए दोनों ही परित्यज्य हैं। इसी कारण श्रुति कहती है—*'पुण्य पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* (मु॰ ३/१/३) अर्थात् विद्वान् पुण्य-पापको नष्ट करके निरञ्जन, निर्लेप, क्लेशरहित होकर परम समताको प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/२२/३९)

अर्थात् भक्तलोग भगवान्के चरणकमलोंके अंगुलियोंकी छिटकती हुई छटाका भक्तिपूर्वक स्मरण करते हुए जिस प्रकार कर्म-वासनाओंसे गठित हृदय-ग्रन्थिका अनायास ही छेदन कर डालते हैं, भक्तिसे रहित निर्विषयी योगी इन्द्रियोंको संयत करके भी इस प्रकार छेदनमें समर्थ नहीं हो पाते। अतः इन्द्रिय-निग्रहादिकी चेष्टाका परित्याग करके सर्वप्रिय भगवान् वासुदेवका भजन करना चाहिये।

श्रीऋषभदेवके वाक्यमें भी पाया जाता है—

पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्।
यावत् क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः॥

(श्रीमद्भा॰ ५/५/५)

अर्थात् जब तक जीव आत्म-तत्त्वको जाननेकी इच्छा नहीं करता, तब तक उसे अविद्या-जनित क्लेश प्राप्त होते रहते हैं। आत्माका स्वरूप आवृत रहनेके कारण उसकी पाप-पुण्यादि कर्मोंमें

रुचि बनी रहती है। इसीलिए मन कर्ममय स्वभाव प्राप्त कर लेता है और इसीसे देह-बन्धन प्राप्त होता है।

इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्तीपादने कहा है—

तर्हि पुण्यं कर्त्तव्यमिति चेन्न तस्यापि संसार-हेतुत्वेन क्लेश हेतुत्वात् तस्मात् पुण्यपापयोर्निरासकं ज्ञानमेवाभ्यासनीयमित्याह।

अर्थात् देखो, ऐसा होनेपर पुण्यकर्म करना उचित है यह यदि कहते हो तो इसके उत्तरमें कहते है, नहीं यह पुण्यकर्म भी संसारके हेतु रूपमें क्लेशका कारण होता है। अतएव पुण्य एवं पाप—दोनोंके निरासक ज्ञान-साधनका अभ्यास करना उचित है।

श्रीगीता (४/३७) में भी देखा जाता है—*'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।'* अर्थात् हे अर्जुन। ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है।

श्रीनरोत्तम ठाकुरके वाक्यमें भी पाया जाता हैं—

पुण्य से सुखेर धाम, ताहार ना लइउ नाम।
पुण्य मुक्ति दुइ परिहरि॥

अर्थात् पुण्यसे वही सुखके धाम-स्वर्गकी प्राप्ति होती है—उसका नाम भी मत लेना। पुण्य एवं मुक्ति दोनोंका ही परिहार कर देना चाहिये।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

पुण्यस्य काम्यकर्मणोऽपि अघवन्मुक्तिविरोधित्वादुत्तरस्याश्लेषः पूर्वस्य विनाशः एव। उत्तर पूर्वयोरश्लेषविनाशानन्तरं देहपाते सति मुक्तिरेव।

अर्थात् पुण्यका-काम्यकर्मका भी (शास्त्रीय दृष्टिसे संसारका हेतु होनेसे) पापके समान मुक्ति-विरोधी होनेसे ज्ञानोत्पत्तिके द्वारा उत्तरका (आगतका) अश्लेष एवं विनाशके बाद देहपात होनेपर मुक्ति होती है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

पुण्यस्याप्येवमसंश्लेषः। तु-शब्दोऽनुत्थानवाची। यथाऽश्लेषो विनाशश्च मुक्तस्य तु विकर्मणः। एवं सुकर्मणश्चापि पततस्तमसिध्रुवमिति चाग्नेये॥

अर्थात् भगवत्-द्वेषीका पतन उपस्थित होनेपर ज्ञानीके पाप-अयोग और पाप-विनाशके समान पापीका पुण्य-अयोग और पुण्य-विनाश

होता है। अग्निपुराणमें कहा है कि मुक्तके पाप-विनाश और पाप-अयोगके समान अन्धतममें जानेवाले अर्थात् पापीका पुण्य-अयोग और पुण्य-विनाश होता है॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—सञ्चितयोः पापपुण्ययोरुभयोर्विद्यया विनाशे तत्कृतस्य देहस्यापि तदैव नाशापत्तिस्ततो ब्रह्मविदामुपदेशाद्यसम्भव इत्याशङ्कां परिहर्त्तुमधिकरणमारभते। तथाहि सञ्चिते पापपुण्ये द्विविधे। अनारब्धफले आरब्धफले चेति। तयोर्द्विविधयोरपि विनाशः स्यादुतानारब्धफलयोरेवेति विषये उभे उ हैव (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इत्यादौ विशेषाश्रवणात् विद्यायाः सर्वत्र तौल्यात् तयोर्द्विविधयोरपीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का होती है कि विद्याके द्वारा सञ्चित पाप-पुण्य दोनोंका विनाश होनेपर इस पाप-पुण्य-जनित देहका भी तत्क्षणात् पात (नाश) हो जाता है तो ऐसा होनेपर ब्रह्मविद्‌गणका कोई भी उपदेशादि सम्भव नहीं हो सकता। इसी आशङ्काका परिहार करनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ करते हैं। बात यह है कि सञ्चित पाप-पुण्य दो प्रकारके हैं—एक अनारब्धफल (जिसका फल आरम्भ नहीं हुआ है) द्वितीय आरब्धफल—फलदानमें प्रवृत्त। इन दोनों प्रकारके पाप-पुण्यका ही विनाश होगा? अथवा अनारब्ध फल-मात्र पाप-पुण्यका ही विनाश होगा? इस विषयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—*'उभे उ हैव'* इत्यादि वह उन दोनोंको ही पार कर जाता है उसे किया हुआ और न किया हुआ नित्यकर्म (फल-प्रदान तथा प्रत्यवायके द्वारा) ताप नहीं देता—इत्यादि श्रुतिमें जब अनारब्ध या आरब्ध कहकर कुछ विशेष नहीं कहा गया है, तब विद्याको सर्वत्र तुल्य (समान) फलदातृत्वके कारण दोनों प्रकारके पाप-पुण्यका ही विनाश होगा—इस उक्तिपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सञ्चितयोरित्यादि। विद्यया सञ्चितकर्मक्षयः प्रागुक्तः तस्य प्रारब्धातिरिक्तविषयत्वेनापवादात् अपवादोऽत्र सङ्गतिः। इह पूर्वपक्षे उपदेशाद्यसम्भवः फलम्। सिद्धान्ते तु तत्सम्भवः फलमिति बोध्यम्। उभे उ हैवेत्यादावादिपदात् क्षीयन्ते चास्य कर्माणि (मु॰ २/२/८) इत्यादि ग्राह्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'सञ्चितयोरित्यादि।'* पहले कहा गया था कि विद्या द्वारा सञ्चित कर्मका क्षय होता है, किन्तु सञ्चित कर्मक्षय—प्रारब्ध-भिन्न विषयक है—इस अपवादके कारण यहाँ अपवाद

नामक सङ्गति है। इस अधिकरणमें उपदेशादिका असम्भव फल पूर्वपक्षी दिखाते हैं, किन्तु सिद्धान्तमें उसका सम्भव-फल प्रदर्शित हुआ है—यह ज्ञातव्य है। *'उभे उ हैवेत्यादि'*—इस आदिपद द्वारा *'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'* (उस परावर [कारण कार्यरूप] ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेपर सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं।) इत्यादि प्रमाण ग्रहणीय हैं।

अनारब्धकार्याधिकरणम्

सूत्र—अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः॥ १५॥

सूत्रार्थः—यह आशङ्का करना भी नहीं, क्योंकि 'पूर्वे'—सञ्चित पाप और पुण्य 'अनारब्ध कार्ये'—जो अनारब्ध कार्य हैं अर्थात् जिन्होंने अभी तक फल उत्पन्न किया नहीं है 'एव तु' वे ही विद्या द्वारा नष्ट होते हैं किन्तु आरब्धफलक पुण्य-पाप नष्ट नहीं होते क्योंकि 'तदवधेः' श्रुतिमें है—विद्योदय और ईश्वरकी इच्छा पर्यन्त वे रहते हैं अर्थात् ईश्वरकी उस प्रकारकी इच्छा ही प्रारब्ध नाशकी अवधि है॥ १५॥

सूत्रानुवाद—पूर्व सञ्चित पाप एवं पुण्य यदि अनारब्ध कार्य और अनुत्पादित फल हैं, वे विद्या द्वारा नष्ट होते हैं किन्तु आरब्ध कार्य एवं उत्पादित फलका विनाश क्रिया द्वारा नहीं है क्योंकि स्मृतिमें परमेश्वरकी इच्छासे ही प्रारब्ध-नाशकी अवधि कही गयी है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—तु-शब्दः शङ्काच्छेदार्थः। पूर्वे सञ्चिते पापपुण्ये अनारब्धकार्ये अनुत्पादितफले एव विद्यया विनश्यतो न त्वारब्धकार्ये चोत्पादितफले। कुतः? तदवधेः। *"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये"* (छा॰ ६/१४/२) इति श्रुतेः। *"त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयोर्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृताञ्च गिरः"* (श्रीमद्भा॰ १०/८७/४०) इति स्मृतेः। परेशेच्छयाः प्रारब्धनाशावधिभूतत्वश्रवणादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति। अतिबलिष्ठा खलु विद्या सर्वकर्माणि निरवशेषाणि दहति प्रदीप्तवह्निरिव विविधान्येधांसीति। यद्यपि वाक्यात् प्रतीतं तथापि ब्रह्मविदां देहस्थितिदर्शनात् तदारम्भकं कर्म उपदेशादिप्रचारिण्या तदिच्छयैव तिष्ठेदिति स्वीकार्यम्। एवञ्च सति मण्यादिप्रतिबद्धशक्तेर्वह्नेरिव विद्यायाः किञ्चित् कर्मादाहकत्वेऽपि न कापि क्षतिरिति। यत्तु वदन्ति आरब्धफलकर्माशयमनाश्रित्य विद्योत्पत्तिर्नोपपद्यते। आश्रिते तु तस्मिन्

कुलालचक्रवत् प्रवृत्तवेगस्य तस्य भवेदेव वेगनाशापेक्षा। यथा वेगक्षये चक्रं स्वयं शाम्येदेवं फलेऽतीते तदारम्भकं कर्म नश्यतीति। तन्न। अतिबलीयस्यास्तस्याः सर्वाणि तानि प्रसह्य निर्मूलयन्त्यास्तदिच्छां विना क्वचिदप्यवष्टम्भो न स्यात्। न हि गुरुतरशिलानिपाते चक्रं पुनर्भ्रमितुमलम्। तस्मात् प्रागुक्तमेव सुष्ठु॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रस्थ 'तु' शब्द शङ्का-निवारणके लिए है। पूर्व अर्थात् सञ्चित पाप-पुण्य जो अनारब्ध कार्य है, अब तक भी फल उत्पादन नहीं किया है—मात्र उनका ही विद्या द्वारा नाश होता है; किन्तु उससे भिन्न प्रारब्ध-फलक अर्थात् प्रारब्ध कार्य—उत्पादित फल—पाप-पुण्यका विनाश नहीं है। कारण क्या है? *'तदवधेः'*—*'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये'* अर्थात् आचार्यवान् पुरुषका (जो परमात्माकी उपासना करते हैं, उनका) उसी समय तक देहपातरूप विलम्ब रहता है, जब तक परमात्मा उन्हें मुक्त न करें। तत्पश्चात् उनकी (परमात्माकी) इच्छा होनेपर वे विद्वान्-उपासक देह-सम्बन्धसे रहित होंगे। *'विमोक्ष्ये'* तथा अन्तिम वाक्यके अन्तर्गत *'सम्पतस्ये'*—इन दोनों पदोंमें प्रयोज्य प्रथम-पुरुषके स्थानपर उत्तम-पुरुषका प्रयोग वैदिक प्रयोग है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्को लक्ष्य करके श्रुतियाँ कहती हैं—*'त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयोर्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभूतां च गिरः'* अर्थात् हे भगवन्! आपका भजन करनेवाले आपके द्वारा रचित पाप-पुण्यके गुण-दोषके सम्पर्कका अनुसन्धान नहीं करते तथा वे देहाभिमानियोंके प्रवृत्ति-निवृत्ति बोधक वाक्योंको भी नहीं जानते। इन श्रुति एवं स्मृतिसे बोध होता है कि परमेश्वरकी इच्छा ही प्रारब्ध-नाशकी (देह-पातकी) अवधि (सीमा) है! बात यह है कि विद्या अति बलवती है, समस्त कर्मको वह निःशेष रूपसे उसी प्रकार दग्ध कर देती है, जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि विविध काष्ठको भस्मसात् करती है। तो भी देखा जाता है कि ब्रह्मविदोंकी देह-स्थिति बनी रहती है, यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि देहारम्भक कर्म-उपदेशादि प्रचारकारिणी ईश्वरेच्छासे ब्रह्मविद् देह-स्थिति प्राप्त करता है। इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि मणि प्रभृति प्रतिबन्ध-योगसे अग्निकी दाहिका-शक्ति जिस प्रकार क्षण-भरके लिए अप्रकाशित (कुण्ठित) हो जाती है, उसी प्रकार विद्या किञ्चित् कर्मका दहन

अर्थात् नाश नहीं करती है, तो भी कोई अनुपपत्ति (अप्रामाणिकता अथवा हानि) नहीं है। तब जो कोई-कोई कहते हैं कि आरब्धफलक कर्माशय-देहका आश्रय न करनेपर (कर्मवासनाके रहते) विद्योत्पत्ति उपपन्न नहीं होगी अर्थात् विद्याका उदय नहीं होगा। आरब्धफलक देहका (जिस देहमें प्रारब्धफलका आरम्भ हुआ है) अर्थात् कर्मवासनाका आश्रय करनेपर विद्योत्पत्तिके सम्बन्धमें उस व्यक्तिको विद्योत्पत्तिके सम्बन्धमें कुम्भकारके चक्रके समान प्रवृत्त-वेग-कर्मके क्षिप्र-नाशकी अपेक्षा करनी होगी। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कुम्भकारके चक्रका वेग थम जानेपर चक्र स्वयं ही थम जाता है, उसी प्रकार कर्मफलके अतीत होनेपर (बीत जानेपर) वह फलारम्भक कर्म भी नष्ट हो जाता है—विद्याकी शक्ति प्रकाशित हो जाती है—उन लोगोंका यह मत ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि विद्या अति प्रबल है। वह बलपूर्वक समस्त कर्मको निर्मूल कर सकती है। ईश्वरेच्छाके बिना कहीं भी और किसीके द्वारा भी उसका रोध (रुकावट) नहीं है। देखो, घूर्णायमान (घूमते हुए) चक्र पर अति भारी शिला-पात हो जाय तो वह फिर घूम नहीं सकता, उसका वेग वहीं रह जाता है, उसी प्रकार विद्याके उदयसे कर्मका प्रबल वेग समाप्त हो जाता है। अतः हमने जो पहले कहा था कि ईश्वरेच्छासे ही देहकी स्थिति सम्भव है, यही समीचीन है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—अनारब्धकार्ये इति। देहावच्छेदेन सुखदुःखानुभवाय ये पापपुण्ये प्रवर्त्तेते ते आरब्धकार्ये तद्भिन्ने तु अनारब्धकार्ये भवतः। पूर्वे अनादिभवपरम्परायां विद्योदयपर्यन्तं सञ्चिते इत्यर्थः। तस्येति। तस्याचार्यवतो जनस्य परमात्मानं श्रीहरिं ज्ञातवत उपासीनस्य तावदेव चिरं तावानेव देहपातरूपो विलम्बो भवति यावत् स परमात्मना न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यते स स्वोपासको विमोक्तुं नेष्यते। अथ संपत्स्ये इति वाक्यशेषः। अथ तदिच्छानन्तरं निर्धूतदेहसम्बन्धः सम्पत्स्यत इत्यर्थः। उभयत्र प्रथमपुरुषस्थाने उत्तमः पुरुषश्छान्दसः। ननु मुचोऽकर्मकस्य गुणो वेति (पा॰ ७/४/५७) सूत्रेणाकर्मकस्य मुचेः सादौ मन्यभ्यासलोपो गुणश्च विहितः। सकर्मकस्य तस्य तदुभयविधिरत्र कथमिति चेत् छान्दसस्तद्विधिरिति गृहाण। त्वदवगमीति श्रीभागवते भगवन्तं प्रति श्रुतीनामुक्तिः। भवदुत्थयोस्त्वद्धेतुकयोः शुभाशुभयोरिति (श्रीमद्भा॰ १०/८७/४०)। तत्रेश्वरेच्छैव हेतुर्लभ्यते न तु कर्मशक्तिस्तद्धेतुरित्यर्थः। त्वदवगमी लब्धत्वदनुभवो भक्तः। एतदुक्तमिति। वाक्यादिति। तद्यथेषीकातुलमित्या-

देर्ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणीत्यादेश्चेत्यर्थः। उपदेशादीति। भगवत्तत्त्वज्ञानवर्त्मप्रवर्त्तिकयेत्यर्थः। यत्त्विति। आरब्धफलं जनितदेहतदाश्रितसुखदुःखम्। तस्येति कर्माशयस्य। तस्या विद्यायाः। अवष्टम्भः स्थितिः॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार— *'अनारब्धकार्ये'* इत्यादि सूत्रमें आरब्ध कार्य—पाप-पुण्य कहनेसे जीवके देहावच्छेदमें (देहांशमें) सुख-दुःखभोगके लिए जो पाप-पुण्य प्रवृत्त होते हैं, वे ही आरब्ध कार्य हैं; इससे भिन्न पाप-पुण्य अनारब्ध कार्य हैं। पूर्वमें अर्थात् अनादि जन्म-परम्परामें विद्योदय पर्यन्त सञ्चित, *'तस्य तावदेव चिरम्'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—'तस्य' अर्थात् आचार्यवान पुरुषके—जो परमात्मा श्रीहरिकी उपासना करता है, *'तावदेव चिरम्'* उसी समय तक देहपातरूप विलम्ब होता है, जब तक वह परमात्मा द्वारा विमुक्त नहीं होगा अर्थात् वे अपने उपासकको मुक्त करनेका अभिलाष नहीं करेंगे। *'अथ संपत्स्ये'*—यह जो श्रुतिका अवशिष्ट वाक्य है, इसका अर्थ है—उनकी इच्छा होनेपर उसके बाद वे उपासकका देह-सम्बन्ध छुड़वा देंगे। *'विमोक्ष्ये'* एवं *'संपत्स्ये'* इन दोनों पदोंमें ही प्रयोज्य प्रथम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुष वैदिक प्रयोग है। प्रश्न है—*'विमोक्ष्ये'* इस पदमें *'मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा'* इस सूत्रके अनुसार अकर्मक मुच् धातुके सकारादि अर्थात् इडागमरहित सन् प्रत्ययमें अभ्यासका (द्वित्वके पूर्व धातुका) लोप होता है और गुणादेश होता है किन्तु सकर्मक मुच् धातुमें ये दोनों कार्य होते नहीं, तब यहाँ किस प्रकार हुआ? यह यदि कहते हो तो वैदिक प्रयोगके कारण मान लीजिये। *'त्वदवगमी'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्के प्रति श्रुतियोंकी उक्ति है—हे भगवन्! आपसे ही पाप-पुण्य उत्पन्न होते हैं; इस विषयमें ईश्वरेच्छा ही हेतु है, कर्मशक्ति उसका कारण नहीं है—यह तात्पर्य है। *'त्वदवगमी'* अर्थात् जो आपकी अनुभूति प्राप्त करते हैं, ऐसे भक्त। *'एतदुक्तं भवतीति'*—यद्यपि वाक्यसे अर्थात् *'तद् यथेषीका तूलम्'* इत्यादि श्रुति-वाक्य और *'ज्ञानाग्निः' 'सर्वकर्माणि'* इत्यादि स्मृति-वाक्यसे। *'उपदेशादि प्रचारिण्या'* इति—भगवत्-तत्त्व ज्ञानके प्रवृत्तिजनक—उनकी इच्छासे। यत्तु इत्यादि—आरब्धफलं अर्थात् जो कर्म देहको उत्पन्न कराता है और देहावच्छेदमें सुख-दुःखका भोग कराता है। *'तस्य भवेदेव वेगनाशादिति'* में तस्य-कर्मवासनाका। अति

बलीयस्यास्तस्या इति में 'तस्याः' का अर्थ है—विद्याका। अवष्टम्भः—स्थिति, वेग-निवृत्ति॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस समय पुनः और एक पूर्वपक्ष होता है कि विद्या-प्राप्तिके बाद यदि पाप और पुण्य दोनोंका विनाश होता है तो तत्कृत देहका भी विनाश अवश्यम्भावी है। यदि देहका विनाश होता है, तो ऐसा होनेपर ब्रह्मविदगणोंका फिर उपदेश प्रदान करना सम्भव नहीं होगा। इस आशङ्काके परिहारके लिए ही प्रस्तुत अधिकरणका आरम्भ हो रहा है।

देखा जाता है कि—सञ्चित पाप और पुण्य दो प्रकारके हैं—आरब्ध और अनारब्ध। सञ्चित कर्मोंमें जिनका फलभोग इस जन्ममें आरम्भ हो गया है—उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं। जिनका फलभोग अभी आरम्भ नहीं हुआ है, उन्हें अप्रारब्ध कहा जाता है। श्रुतिमें विद्योदय होनेपर अविशेष (सामान्य) कर्मनाशका वर्णन होनेके कारण पूर्वपक्षी कहते हैं कि विद्या प्राप्त होनेपर आरब्ध और अनारब्ध दोनों ही कर्मोंका नाश होना चाहिये, इस प्रकारके पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पूर्वसञ्चित अनारब्ध कार्य-पाप और पुण्यका ही विद्या द्वारा विनाश होता है, आरब्ध कार्योंका नाश नहीं होता। इसका कारण है *'तस्य तावदेव'* (छा॰ ६/१४/२) इस श्रुतिके अनुसार परमेश्वरकी इच्छा ही प्रारब्ध-नाशके अवधीभूत रूपमें वर्णित हुई है।

हिरण्यगर्भ, मनु, उद्दालकादि देवर्षियोंका इतना लम्बा जीवन नहीं हो सकता था क्योंकि उनका सकल क्लेशावरण कबका विनष्ट हो चुका था—निर्धूम अग्निके समान उनका बुद्धि-सत्त्व परितः प्रस्फुरित और जाज्वल्यमान था। ऐसे महापुरुषोंकी प्रखर तत्त्वज्ञता और महाकल्प-कल्पान्तर पर्यन्त जीवनीसे श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण भरे पड़े हैं। अतः आगमादि प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि प्रारब्ध कर्मको अपने प्रक्षयके लिए समस्त फलोपभोगकी प्रतीक्षा निश्चित है पर उससे भी मुख्य है ईश्वरेच्छा।

यद्यपि अति बलिष्ठ विद्या समस्त कर्मोंको निरवशेष (सम्पूर्णरूपेण) दग्ध करनेमें समर्थ है, तथापि ब्रह्मविद्के द्वारा उपदेशादिका प्रचार-कार्य

करानेकी अभिलाषासे परमेश्वर उनकी देहका स्थिति-विधान करते है। इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्यकारके भाष्य और टीकामें देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-
र्गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृताञ्च गिरः।
अनुयुगमन्वहं सगुण गीतपरम्परया
श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/४०)

अर्थात् हे षडैश्वर्यशालिन्! जिनका चित्त आपमें निमग्न हो गया है, ऐसे मनुष्य कर्मफल प्रदाता आपके द्वारा रचित पुण्य एवं पाप कर्मोंके फलसे उदित होनेवाले शुभ-अशुभ, गुण-विगुणकी परवाह नहीं करते। ऐसे मनुष्य देहाभिमानसे रहित होकर देहाभिमानियोंके द्वारा कहे गये विधि-निषेधपरक वचनोंकी भी उपेक्षा कर देते हैं। इसका कारण यह है कि युगों-युगोंसे निरन्तर आपके कथागायकोंसे आपके गुणों एवं यशको सूचित करनेवाली लीला-कथाओं—माधुर्य और ऐश्वर्यपूर्ण चरित्रोंको वे श्रवण-परम्परासे हृदयमें धारण कर लेते हैं और चरममोक्षस्वरूप वे आपको ही एकमात्र आश्रय मानते हैं।

पद्मपुराणमें पाया जाता है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयन्ते विष्णुभक्तिरतात्मनाम्॥

(भ॰र॰सि॰ १/१/२३ धृत-वाक्य)

अर्थात् जिनकी आत्मा श्रीकृष्णभक्तिमें निरत (समर्पित) है उनके अप्रारब्धफल, पाप, कूट (अप्रकाशित पाप-बीजत्वके लिए उन्मुख), बीज (वासनामय अर्थात् सूक्ष्म-संस्कार अर्थात् प्रारब्धोन्मुख), फलोन्मुख (प्रारब्ध-जिन कर्मोंका भोग आरम्भ हो गया है)—ये सब क्रमपूर्वक नष्ट हो जाते हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—*विद्याप्राप्तौ पूर्वे पाप-पुण्ये अप्रवृत्तफले एव क्षीयते; कुतः? तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्षे अथ सम्पत्स्ये* (छा॰ ४/१४/२) *इति शरीरपातावधि श्रवणात्।*

अर्थात् विद्याकी प्राप्ति होनेपर पूर्वकृत पाप-पुण्य अनारब्ध कार्यका (पुण्य-पापोंका फल जो अभी आरम्भ नहीं हुआ) बिना फल दिये ही क्षय हो जाता है। यह कैसे जान लिया? छान्दोग्य-श्रुतिके प्रमाणसे यही श्रवण होता है कि विद्या प्राप्त होनेपर भी शरीर-पातके बाद ही मुक्ति है। इस लोकमें आचार्यवान पुरुष ही सत्-तत्त्वको जानता है—उसके मोक्ष होनेमें उतना ही विलम्ब समझना चाहिये, जब तक कि देह-बन्धन नहीं छूटता। इस वाक्यमें शरीरकी समाप्ति तकका ही जीवका बन्धन कहा गया है।

ब्रह्म-विद्या-प्राप्तिका तात्पर्य मन्त्ररूप विद्याकी दीक्षा-प्राप्तिसे है, यहाँ आचार्यवानको मोक्षका अधिकारी कहा गया है। गुरु-आचार्यसे प्राप्त आचारको निर्वाह करनेवाला शिष्य आचारवान कहा जायेगा। आचार्यका स्वरूप मनुने स्पष्ट कहा है—

आचिनोति च शास्त्रार्थं आचारेस्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्तु स आचार्य उदाहृतः॥

अर्थात् जो शास्त्रोंसे ब्रह्म-विद्याको एकत्र कर स्वयं आचरणमें लावे और लोगोंसे आचरण करावे, वही आचार्य है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

अनारब्ध कार्ये एव पूर्वे पुण्यपापे विनश्यतः। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्यतं इति (छा० ६/१४/२) *तदवधेः। तु शब्दः स्मृतिद्योतकः। यदनारब्धपापं स्यात्तद्विनश्यति निश्चयात्। पश्यतो ब्रह्मनिर्द्वन्द्वं हीनञ्च ब्रह्म पश्यतः। द्विषतो वा भवेत् पुण्यनाशो नास्त्यत्र संशयः। तस्याप्यारब्धकार्यस्य न विनाशोऽस्ति कुत्रचित्। आरब्धयोश्च नाशः स्यादल्पयोः पुण्यपापयोरिति नारायणतन्त्रे।*

अर्थात् ज्ञानादि द्वारा समस्त पापोंका क्षय होता है—ऐसा हमने नहीं कहा है, जिससे मुक्तिका प्रसङ्ग हो सके। जिनका भोग प्रारम्भ नहीं हुआ है, उन्हीं पूर्व पुण्य-पापका नाश होता है। प्रारब्धका नाश तो भोगसे ही होता है। जैसा कि छान्दोग्य-श्रुतिमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि 'उसकी मुक्तिमें तभी तक विलम्ब है, जब तक शरीर-पात नहीं होता।' सूत्रमें 'तु' शब्द स्मृतिका द्योतक है। नारायण-तन्त्रमें कहा गया है कि जिस पापका प्रारब्ध (दुःखादि भोगका प्रारम्भ) नहीं है,

वही प्रारब्ध ज्ञानसे नष्ट होता है अर्थात् जो पाप भोगके लिए प्रारम्भ नहीं होते, उनका नाश तो निश्चित ही हो जाता है और जिनका आरम्भ हो गया है, उनके अल्प पुण्य-पाप-प्रारब्धका नाश होता है। जिसका ब्रह्मदर्शन हुआ है, उसीका ज्ञान निर्द्वन्द्व होता है। उसीके शत्रु पाप-पुण्यका नाश निश्चित होता है। जो ब्रह्मद्वेषी अथवा ज्ञानी-द्वेषी है—उसके प्रारब्ध कर्मका पाप-पुण्यका नाश नहीं होता॥ १५॥

अवतरणिका भाष्य—विदुषः पुरातनं पुण्यं नश्यतीत्युक्तेः काम्यवन्नित्यकर्मणोऽपि विनाशः प्राप्तस्तन्निरासायेदमारभ्यते। उभे उ हैवेष एते तरति (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इत्यत्र काम्यवन्नित्यकर्माप्यग्निहोत्रादि विद्यया विनश्यति न वेति विषये वस्तुशक्तेर्विहन्तुमशक्यत्वात् तदिव विनश्यतीति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—ब्रह्मविद्के पुरातन अर्थात् सञ्चित पुण्य नष्ट होते हैं, इस कथनसे काम्यकर्मके समान नित्यकर्मका भी विनाश हो सकता है—इस आशङ्काके निराकरणके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है—*'उभे उ हैवेष एते तरति'* इस श्रुतिमें काम्यकर्मके समान अग्निहोत्रादि नित्यकर्म भी विद्या द्वारा विनष्ट होते हैं? कि नहीं होते हैं? इस सन्देहके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं—हाँ, विनष्ट होते हैं, क्योंकि वस्तुशक्ति (विद्याकी शक्ति) का रोध नहीं किया जा सकता। काम्यकर्मके समान नित्यकर्मका भी विनाश होता है। इस मतके निराकरणके लिए सूत्रकार कहते हैं।

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्रानारब्धफलानां सञ्चितकर्मणां विद्यया विनाशोऽभिहितस्तस्य नित्यनैमित्तिकातिरिक्तानां विरुद्धफलककर्मविषयेत्वेनात्रापवादात् प्राग्वत् सङ्गतिः। विदुष इत्यादि। अग्निहोत्रादीति। यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादित्यत्र यावज्जीववचनादग्निहोत्रस्य नित्यकर्मत्वं। आदिशब्दाद्दर्शपौर्णमासौ ग्राह्यौ। वस्तुशक्तेर्विद्याप्रभावस्य। तदिव ज्योतिष्टोमादिकाम्यकर्मवत्। पूर्वपक्षे नित्यस्यापि काम्यवन्मुमुक्षुणाननुष्ठेयत्वं फलं सिद्धान्ते तु अनुष्ठेयत्वं तदिति बोध्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाधिकरणमें अनारब्ध-फलक सञ्चित कर्मोंके विद्या द्वारा विनाशकी बात कही गयी थी—वह विनाश नित्य-नैमित्तिकसे अतिरिक्त विद्या-प्रतिबन्धक-फलजनक-विषयकत्व रूपमें अपवाद कराता है। यहाँ भी पूर्वाधिकरणके समान अपवाद सङ्गति जाननी चाहिये। *'विदुषः'* इत्यादि *'नित्यकर्माद्यग्निहोत्रादिति'*—

'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' (वहवृच ब्राह्मण) अर्थात् जीवन पर्यन्त नित्यकर्मका अनुष्ठान विहित है, अतः यावज्जीवन अग्निहोत्र होमका अनुष्ठान करें; इस श्रुतिमें यावज्जीवम्—पद श्रुत होनेके कारण *'नित्यं सदा यावदायुर्नकदाचिदतिक्रमेत्।' 'अतिक्रमे दोषश्रुतेरत्यागदर्शनात्' 'फलाश्रुतेर्वीप्सयाच तन्नित्यमितिकीर्त्तितम्'*—जो कर्म नित्य, सदा, यावज्जीवन शब्दोंसे विहित है, जिसका कभी भी त्याग नहीं कर सकते, जिसका अतिक्रम करनेसे दोष श्रुति विद्यमान रहनेसे एवं त्यागका अभाव देखे जानेसे, फलश्रुतिके अभावमें भी जो वीप्सा द्वारा निर्दिष्ट होता है, वही कर्म नित्य कहलाता है। अतएव यहाँ यावज्जीवनादिके उल्लेखके कारण अग्निहोत्र नित्य कर्म है। *'अग्निहोत्रादि'*—इस आदि पदसे नित्यकर्म-दर्श-पौर्णमास याग (प्रति मासीय अमावस्या एवं पूर्णिमामें विहित याग) ग्राह्य है। *'वस्तुशक्तेर्विहन्तुमशक्यत्वादिति'* में *'वस्तुशक्तेः'* अर्थात् विद्याके प्रभावका रोध किया नहीं जाता, इस कारण *'तदिव विनश्यतीति'*—ज्योतिष्टोमादि काम्यकर्मके समान। पूर्वपक्षीके मतमें फल है—मुमुक्षु व्यक्तिके द्वारा काम्यकर्मके समान नित्यकर्मके भी अनुष्ठानका त्याग; किन्तु सिद्धान्त पक्षमें नित्य कर्मकी अनुष्ठानार्हता (अनुष्ठानकी योग्यता) फल है, यह जानना चाहिये।

अग्निहोत्राद्यधिकरणम्

सूत्र—अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्॥ १६॥

सूत्रार्थ—नहीं, नित्यकर्म नष्ट नहीं होते, क्योंकि 'अग्निहोत्रादि' विद्या-प्राप्तिसे पूर्व अनुष्ठित अग्निहोत्रादि नित्यकर्म 'तु' तो 'तत्कार्याय' अपने कार्य विद्यारूप फल-प्राप्तिके 'एव'—लिए ही होते हैं प्रमाण क्या? 'तद्दर्शनात्' 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि श्रुतिसे यही अवगत होता है। अतएव सिद्धान्त यह है कि नित्य अग्निहोत्रादिसे पृथक् प्राचीन (पूर्व) पुण्यकर्म नष्ट होते हैं॥ १६॥

सूत्रानुवाद—विद्योदयके पूर्व अनुष्ठित अग्निहोत्रादि कर्म विद्यारूप फलके लिए होते हैं; अतः नित्य कर्मसे भिन्न पुरातन पुण्यकर्मोंका विनाश होता है, नित्यकर्मोंका नहीं॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—शङ्काच्छेदाय तु-शब्दः। विद्योदयात् प्रागनुष्ठितं नित्याग्निहोत्रादि तत्कार्याय विद्यारूपाय फलाय भवति। कुतः? तद्दर्शनात्। *"तमेतं वेदानुवचनेन"* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इत्यादौ तथावगमादित्यर्थः। तथाच नित्याग्निहोत्रादिभिन्नं पुरातनं पुण्यं कर्म विनश्यतीत्यमितरस्याप्येवमिति सूत्रार्थः। तस्य नित्यस्य विनाशो नाभिधीयते जनितफलत्वात्। न हि गृहदाहविप्लुष्टस्य धान्यादेरिव वापक्षीणस्य तस्यास्ति नाशव्यवहारः। *"कर्मणा पितृलोकः"* (बृ॰आ॰ १/५/१६) इत्यादि बृहदारण्यकात् स्वर्गप्रदांशनाशस्तु स्यादेव॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'तु' शब्द पूर्वपक्षकी शङ्काके निराकरणके लिए प्रयुक्त है। इसका अर्थ है—विद्योदय अर्थात् विद्या उत्पन्न होनेसे पूर्व अनुष्ठित जो अग्निहोत्रादि नित्यकर्म हैं—वे अपने कार्य विद्यारूप फलमें परिणत हो जाते हैं। प्रमाण क्या है? *'तद्दर्शनात्'* क्योंकि श्रुतिमें इसी प्रकारसे देखा जाता है, यथा *'तमेतं वेदानुवचनेन'* इत्यादि श्रुतिमें अभिहित *'तपसा'* पद यही इङ्गित करता है। अतएव सूत्रका अर्थ इस प्रकार हुआ कि नित्याग्निहोत्रादिसे भिन्न (अन्य) पूर्वकृत पुण्यकर्मका विनाश होता है—इसी प्रकार क्रियमाण पुण्यके विषयमें भी जानना चाहिये। नित्यकर्मका विनाश इस श्रुतिमें नहीं कहा गया है क्योंकि यह नित्यकर्म तो फल उत्पन्न करता है—अर्थात् यदि नित्य अग्निहोत्रादि नष्ट होते तो विद्योत्पत्तिरूप फल नहीं होता। देखो, घरके जल जानेसे दग्ध धान्यादि शस्योंको बीज-क्षेत्र (खेत) में बोया जाये तो उसमेंसे अङ्कुर नहीं निकलते, अतः वे नष्ट हो गये हैं, ऐसा प्रयोग जिस प्रकार उनके लिए नहीं होता, उसी प्रकार नित्यकर्मके नाशका व्यवहार नहीं होता। तब जो कहा गया है कि *'कर्मणा पितृलोकः'* कर्म द्वारा पितृलोककी प्राप्ति होती है—इस बृहदारण्यक-श्रुतिकी सङ्गति क्या होगी? अर्थात् नित्यकर्म द्वारा पितृलोककी प्राप्ति होनेपर कर्मनाश ही कहा जाता है, तो इसकी उपपत्ति यह है कि उसमेंसे स्वर्गजनक पुण्यांश ही नष्ट होता है; इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह अवश्य स्वीकार्य है॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—अग्निहोत्रादीति। वापक्षीणस्येति। क्षेत्रे बीजविक्षेपो वापस्तेन व्ययितस्येत्यर्थः। तत्रैवं विचारणीयम्। अग्निहोत्रादिकं नित्यं काम्यञ्च भवति यावज्जीवमित्यादिश्रवणात् तमेतमित्यादिश्रुतौ (बृ॰आ॰ ४/४/२२) विद्याफलकतया

यज्ञादीनां विधानात्। सन्ध्योपासनमपि नित्यं काम्यञ्च अहरहरिति वीप्सादर्शनात् अकरणात् प्रत्यवायोक्तेश्च कृते फलस्याप्युक्तेश्च। ननु काम्यत्वे विद्यामनिच्छताश्रम-मात्रनिष्ठेनानुष्ठेयमग्निहोत्रादीति चेन्मैवं यावज्जीवादिश्रुत्या तस्यापि तद्विधानात्। अन्यथा प्रत्यवायापत्तिः। ननु विद्यामनिच्छताश्रमिणानुष्ठेयात् तस्मादन्यदिदं यद्विद्यार्थिनानुष्ठेयं संयोगपृथक्त्वात्। यावज्जीवादिश्रुतिकल्पितः संयोगो नित्यः। तमेतमितिश्रुतिकल्पित-स्त्वनित्यः। ततश्च नित्यानित्यसंयोगविरोधात् ततोऽन्यदिदमिति चेत् संयोगभेदेऽपि कर्माभेदात् खादिरवत्। यथा खादिरो यूपो भवति खादिरं वीर्यकामस्येति शास्त्रद्वयबलादेकस्य खादिरस्य नित्यसंयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन तेन तु पुरुषार्थत्वञ्च न विरुध्यते तथाग्निहोत्रादेरपि नित्यत्वं काम्यत्वं च तद्बलादविरुद्धमभ्युपेयम्। ननु काम्यत्वे च यावज्जीवमिति नित्यत्वं श्रुतिविरुद्धम्। मैवं काम्यानुष्ठानेनैव नित्यस्याप्यनुष्ठानात्। अतएव सिद्धवदुत्पन्नरूपाणि यज्ञादीन्यनूद्य विद्यासाधनत्वं तेषां विहितं यज्ञेन दानेनेत्यादिना। तथाच विद्यार्थिनो द्विरनुष्ठानशङ्का निरस्तेति। *'कर्मणा पितृलोकः'* (बृ॰आ॰ १/५/१६) इत्यादि श्रुत्या कर्ममात्रस्य स्वर्गप्रदत्वं श्रूयते। तच्च नित्यकर्मणामप्यविशेषम्। तच्च विषपारदशोधनन्यायेन विद्यैव निर्दहतीति भावेनाह कर्मणेति। तेन सर्वशब्दोऽप्यसङ्कुचितो भावीति॥ १६॥

सूक्ष्मा—सार— *'अग्निहोत्रादीति'* सूत्रमें *'वापक्षीणस्य तस्यास्ति नाश व्यवहार इति'* में वापक्षीणस्य—क्षेत्रमें बीज-निक्षेपका नाम वाप अथवा वपन है, उसके द्वारा व्यायितका (व्यापृतका अर्थात् कर्ममें स्थिरका)। इस क्षेत्रमें विचारणीय विषय इस प्रकारसे है यथा—अग्निहोत्रादि कर्म नित्य एवं काम्य दोनों प्रकारके हैं क्योंकि विधि वाक्यमें *'यावज्जीवम्'* कहा गया है, इसलिए नित्य है और *'तमेतमित्यादि'* श्रुतिमें विद्यारूप फलदातृत्व रूपमें यज्ञादिका विधान रहनेके कारण वह काम्य है। इसी प्रकार सन्ध्योपासनादि कर्म नित्य और काम्य दोनों प्रकारके हैं। कारण *'अहरहः सन्ध्यामुपासीत्'*—इस विधायक वाक्यमें वीप्सा-बोधक *'अहरहः'* पद देखा जाता है एवं अकरणमें (अनुष्ठानके अभावमें प्रत्यवाय श्रुत है) इसलिए नित्य है। पुनः अनुष्ठान करनेपर फलकी भी उक्ति है यथा *'सन्ध्यामुपासते ये तु नियतं संशित व्रताः। विधूत पापास्ते यान्ति ब्रह्मलोक मनामयम्'* इस वाक्यमें सन्ध्यानुष्ठानसे पाप-नाश और ब्रह्मलोक-प्राप्तिफल घोषित है, अब आपत्ति यह है कि यदि अग्निहोत्रादि कर्म काम्य हैं, तो जो विद्यार्थी नहीं है, परन्तु आश्रम-मात्र-निष्ठ हैं, उनके लिए अग्निहोत्र नित्य अनुष्ठेय नहीं होना चाहिये; यह यदि कहते हो तो ऐसा नहीं है क्योंकि *'यावज्जीवमग्निहोत्रं*

जुहुयात्' इस वाक्यमें नित्य अग्निहोत्रका विधान है। उसका पालन न करनेसे प्रत्यवाय होगा। इसमें भी पुनः आशङ्का होती है, जो व्यक्ति विद्या नहीं चाहते, किन्तु आश्रमी हैं, उनके द्वारा अनुष्ठेय अग्निहोत्र कर्मसे विद्यार्थी द्वारा अनुष्ठेय अग्निहोत्र कर्मको भिन्न कहा जायेगा, क्योंकि संयोगपृथक्त्व-न्याय उसमें रहता है; इसका अर्थ है—सम्बन्धके पार्थक्यको लेकर विरोध नहीं है। यहाँ यावज्जीव—श्रुतिकल्पित अग्निहोत्र नित्य है और *'तमेतमित्यादि'* श्रुतिकल्पित है, वह अनित्य है, ऐसा होनेसे नित्यानित्य संयोग-विरोध होता है, अतएव विद्यार्थीके द्वारा अनुष्ठेय अग्निहोत्र, विद्यार्थी-भिन्न द्वारा अनुष्ठेय अग्निहोत्रसे भिन्न है। यह यदि कहते हो, तो कहेंगे—संयोग भेद होनेपर भी (नित्य-अनित्यरूप सम्बन्ध) कर्मका भेद न रहनेके कारण विरोधका अभाव है, जिस प्रकार खादिर-यूपमें देखा जाता है। यथा—*'खादिरो यूपो* (पशु बाँधनेके लिए स्थापित काष्ठ) *भवति'*—इस विधि-वाक्यमें क्रतूपकारकत्व रूपमें विहित यूप नित्य है और *'खादिरं वीर्यकामस्य'*—वीर्यकामीके लिए खादिर यूप कर्त्तव्य है, यह अनित्य (फलार्थिता न रहनेपर) यूप-पुरुषार्थ है, इस प्रकार इनका जिस प्रकारसे विरोध नहीं है, उसी प्रकार अग्निहोत्रादि कर्मका भी नित्यत्व एवं काम्यत्व शास्त्र-द्वयके आधारपर विरोध नहीं है। यदि कहो, काम्य होनेपर *'यावज्जीवम्'* इस उक्तिसे लब्ध नित्यत्व श्रुतिका विरोध हुआ तो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि काम्य अग्निहोत्र-अनुष्ठान द्वारा ही नित्य अग्निहोत्रानुष्ठान सिद्ध होता है। इस युक्तिमें सिद्धवत्-निर्दिष्ट-उत्पन्न यज्ञादिको उद्देश्य करके उनके विद्यासाधनत्वका विधान किया गया है, यथा *'यज्ञेन दानेन'* इत्यादि। फलस्वरूप इसके द्वारा विद्यार्थीके दो बार अग्निहोत्रानुष्ठानकी आशङ्काका निराकरण हुआ। *'कर्मणा पितृलोकः'* कर्मसे पितृलोक प्राप्तव्य है—इत्यादि श्रुति द्वारा कर्ममात्रका स्वर्गजनकत्व श्रुत होता है, अतः इस नित्य कर्मका भी अविशेषत्व (निर्विशेषत्व) है। ऐसा होनेपर उस विष-मिश्रित कर्मके स्वर्गप्रद अंशको विद्या ही पारद-शोधनके समान दग्ध करेगी; इस अभिप्रायसे *'कर्मणा पितृलोकः'* इत्यादि वाक्य कहते हैं। इसके फलसे समस्त कर्मका विनाश करनेमें जो सर्वशब्दका सङ्कोच करना था, वह भी किया नहीं॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—तत्त्वज्ञ पुरुषके सञ्चित पुरातन पुण्य विनाशको प्राप्त होते हैं–यह कहे जानेके कारण काम्यकर्मके समान नित्यकर्मका भी विनाश हो सकता है, इस प्रकारकी आशङ्काके परिहारके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है। बृहदारण्यकमें है—*'उभे उ हैवेष एते तरति'* (बृ॰आ॰ ४/४/२२) इस श्रुतिके अनुसार काम्यकर्मके समान नित्य अग्निहोत्रादि समस्त कर्म ही विद्या द्वारा विनष्ट होते हैं? कि नहीं? इस सन्देह–स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं—विद्याशक्ति अप्रतिरोध्या है, इस कारण नित्यकर्म भी विनष्ट होते हैं। इस प्रकार पूर्वपक्षके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्योदयसे पूर्व अनुष्ठित नित्य अग्निहोत्रादि समस्त कर्म विद्यारूप फल उत्पन्न करनेके बाद निवृत्त हो जाते हैं, नित्यकर्म नष्ट नहीं होते। नित्यकर्मसे अतिरिक्त अन्यान्य पुरातन कर्मका विनाश होता है।

यही बात बृहदारण्यक–श्रुतिमें देखी जाती है—*'तमेतं वेदानुवचनेन'* (उस उपनिषद–गम्य उस आत्माको वेदाध्ययन, यज्ञ और दानसे ब्राह्मणादि जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि बृहदारण्यकके *'कर्मणा पितृलोकः'* वाक्यके द्वारा स्वर्ग–प्रापक पुण्यांश अवश्य ही विनष्ट हो जायेगा।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त होता है—

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्त्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्॥
(श्रीमद्भा॰ ७/१५/४७)

अर्थात् वेद विहित कर्म दो प्रकारके हैं—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। प्रवृत्तिपरक कर्मोंको करनेसे इस संसारमें बार–बार आना–जाना पड़ता है, जब कि निवृत्तिपरक कर्मोंसे अमृत–भोग एवं आत्म–साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त होती है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

अग्निहोत्राद्यपि तु मोक्षानुभवायैव। तु–शब्दात् ब्रह्मदर्शनवतः स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाऽननूक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदि ह वा अप्येनेवंविन्महत् पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यां ततःक्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते

अस्माद्ध्येवात्मना यद्यत् कामयते तत् तत् सृजते (बृ॰आ॰ १/४/१५) *इति तद्दर्शनात्।*

अर्थात् यदि तत्त्वज्ञान होनेपर भी ज्ञानीके स्वकृत पुण्य विद्यमान रहते हैं—तो ऐसा होनेसे मोक्षकी असिद्धि होती है क्योंकि पुण्यकर्म भी मोक्षका प्रतिबन्धक है। पुण्यफलका भोग किये बिना मोक्ष नहीं हो सकता। इस आशङ्कापर कहते हैं अग्निहोत्र यज्ञरूप कर्म भी मोक्ष साधन करते हैं। ये ब्रह्मद्रष्टाके लिए सहयोगी हैं, ऐसा 'तु' शब्दसे सूत्रकार बतलाते हैं। ये विद्याके सहायक ही हैं। जो पुण्य मोक्षके लिए है, वह कभी भी मोक्षका प्रतिबन्धक नहीं होता। अतएव जाना जाता है कि जो व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासु होकर उपासना करते हैं, उनका पुण्य ज्ञानके द्वारा अक्षय-फल-मोक्ष प्रदान करता है। जैसा कि बृहदारण्यकमें कहा गया है कि जो कोई इस लोकसे आत्मलोकका दर्शन किये बिना ही चला जाता है, उसका यह अविदित-आत्मलोक (शोक, भय, मोहादि दोषोंकी निवृत्तिके द्वारा) पालन (भरण) नहीं करता, जिस प्रकार कि बिना अध्ययन किया हुआ वेद अथवा बिना अनुष्ठान किया हुआ कोई अन्य कर्म। इस प्रकार (आत्मलोकको) न जाननेवाला पुरुष यदि इस लोकमें कोई महान पुण्यकर्म भी करे तो भी अन्तमें उसका वह कर्म क्षीण ही हो जाता है; अतः आत्मलोककी ही उपासना करनी चाहिये। जो पुरुष आत्मलोककी ही उपासना करता है, उसका कर्म क्षीण नहीं होता। इस आत्मासे पुरुष जिस-जिस वस्तुकी कामना करता है, उसी-उसीको प्राप्त कर लेता है॥ १६॥

अवतरणिका भाष्य—विद्योपदेशादिप्रवर्त्तकेनेश्वरसङ्कल्पेनैव विदुषां प्रारब्धयोः पुण्यपापयोः स्थितिर्दर्शिता। अथ केषाञ्चिन्निरपेक्षाणां विनैव भोगात् तयोर्विनाशः स्यादिति प्रदर्श्यते। तत् सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतमिति (कौ॰ १/४) कौषीतकिनः पठन्ति। तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामिति तु शाट्यायनिनः। अत्र संशयः। प्रारब्धयोरपि तयोर्भोगं विनापि विनाशः प्रतीतः स क्वचित् स्यान्न वेति। भोग्यैकस्वभावत्वात् तमन्तरासौ न स्यादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इससे पूर्व दिखाया था कि विद्या और उपदेश (भगवत् तत्त्वज्ञानका पथ) इत्यादिके प्रवर्त्तक ईश्वरके सङ्कल्पसे

ही ब्रह्मविद्गणोंके प्रारब्ध पुण्य-पापकी स्थिति होती है। अब इस अधिकरणमें कतिपय निरपेक्ष भक्तोंका भोग किए बिना ही (विद्याकी महिमासे) उन प्रारब्ध पुण्य-पापका विनाश होगा—यह दिखाते हैं। कौषीतकी-ब्राह्मणगण पाठ करते हैं—*'तत् सुकृत दुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपषन्त्यप्रिया दुष्कृतम्'* इसका अर्थ है—तद्—उस समय श्रीहरिके आश्रित ब्रह्मविद् प्रारब्ध पुण्य-पापको अश्वके गर्दन स्थित रोमोंके समान झाड़ देते हैं। उनका प्रिय ज्ञातिवर्ग पुण्यका भोग करता है और अप्रिय व्यक्तिगण पापका भोग करते हैं। शाट्यायनीगण कहते हैं कि उन भक्तके पुत्रोंको पैतृक सम्पत्ति प्राप्त होती है। सुहृत्वर्ग पुण्य-कर्मोंको ग्रहण करते हैं और शत्रु उनकी पाप-क्रियाओंको ले लेते हैं। इस विषयमें संशय है कि प्रारब्ध पुण्य पापका भोग किये बिना ही जो विनाश अवगत होता है, उसका व्यतिक्रम कहीं होता है? कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि पाप-पुण्यका भोग मात्र ही स्वभाव (धर्म) है, वे भोग्य होंगे ही। भोगके बिना इस प्रारब्धका क्षय नहीं हो सकता। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ब्रह्मविदां नित्याग्निहोत्रादिकं फलं जनयति न विनश्यतीत्युक्तं प्राक्। तद्वन्निरपेक्षाणां प्रारब्धं कर्म तेभ्यो विश्लिष्यत् फलं जनयत्विति दृष्टान्तसङ्गत्याह अथ केषाञ्चिदित्यादिना। तदिति। तत् तदा श्रीहरिं व्रजन् विद्वान् सुकृतदुष्कृते प्रारब्धरूपे अपि विधूनुते रोमाणीवाश्वः। स्फुटमन्यत्। तस्येति। पुत्राः, सुताः, शिष्याश्च यथायथं ग्राह्याः। भोगेति। अवश्यभोक्तव्यत्वाद-भोगैकनाश्यस्वभावत्वादित्यर्थः। तमन्तरा भोगं विना। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि ब्रह्मविदोंका नित्याग्निहोत्रादि कर्म फल उत्पन्न होता है, विनाशको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार निरपेक्ष भक्तोंका प्रारब्ध कर्म उन निरपेक्षगणोंसे विश्लिष्ट होकर फल उत्पन्न करेगा, इस दृष्टान्त-सङ्गतिके अनुसार इस अधिकरणका आरम्भ *'अथ केषाञ्चिदित्यादि'* वाक्य द्वारा होता है। *'तत् सुकृत दुष्कृते'*—इत्यादि श्रुतिका अर्थ है तत्-तदा—उस समय, जिस समय श्रीहरिका आश्रय लेकर विद्या प्राप्त की गयी थी, अश्वग्रीवाके सटा-रोमके समान—श्रीहरिके आश्रित वे ब्रह्मविद् प्रारब्ध

पुण्य-पापको झाड़ देते हैं—इस प्रकारसे अन्वय है। अन्य अंशका अर्थ स्पष्ट है। तस्य पुत्रा इति—पुत्राः—पुत्रगण एवं शिष्यवर्ग—यह यथायथ रूपसे ग्रहणीय है। *'भोग्यैकस्वभावत्वादिति'*—एकमात्र भोग द्वारा नाश्यताधर्म हेतु'—यह अर्थ है। *'तमन्तरा'*—उस भोगके बिना। इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अतोऽन्याप्यधिकरणम्

सूत्र—अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः॥ १७॥

सूत्रार्थ—ब्रह्मैकरत परम आर्त्त निरपेक्ष भक्तोंका भोगके बिना ही दोनों प्रकारके प्रारब्ध-पुण्य-पापसे निर्लेप होगा, 'हि' क्योंकि 'अतः' ईश्वरेच्छासे प्रारब्ध स्थितिका निरूपण करनेवाली—'तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादि श्रुति और 'अन्यापि' अन्य श्रुति भी इसका प्रमाण है। 'एकेषाम्' कुछ लोग कौषीतकी-शाखामें जो पढ़ते हैं कि 'उभयोः' प्रारब्ध-सुकृत और दुष्कृत दोनोंका ही भोगके बिना विनाश होता है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—ब्रह्मनिष्ठ अतिशय आर्त्त निरपेक्ष भक्तका भोगके बिना ही पाप-पुण्यका विश्लेष होता है। ईश्वरेच्छासे ही प्रारब्धकी स्थिति है। कौषीतकीगण भी यही पढ़ते हैं॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—ब्रह्मैकरतानां परमातुराणां केषाञ्चिन्निरपेक्षाणां विनैव भोगमुभयोः प्रारब्धयोः पापपुण्ययोर्विश्लेषः स्यात्। तत्र हेतुरन्येति। हि यस्मात् अत ईश्वरेच्छयास्थितारब्धनिरूपकश्रुतेरन्या च श्रुतिरेकेषां शाखायां पठ्यते। तत् सुकृतदुष्कृते इत्याद्या तस्य पुत्रा दायमित्याद्या च। अयं भावः। ज्ञानभोगाभ्यां कर्मविनाशं प्रकाशयन्त्या श्रुत्या सहैतस्याः श्रुतेरविरोधाय विषयभेदोऽवश्यं वाच्यः। न चैषा काम्यकर्मविषया। तदधिगमादिसूत्राभ्यां प्रारब्धातिरिक्तयोर्निखिलयोः पापपुण्ययोर्विनाश-निरूपणात् पापकृत्यायां काम्यत्वाभावाच्च। तस्मादतिप्रेयसां स्वं द्रष्टुमार्त्तानां केषाञ्चिद्भक्तानां स्वाप्तिविलम्बमसहिष्णुरीश्वरस्तत्प्रारब्धानि तदीयेभ्यः प्रदाय तान् स्वान्तिकं नयतीति विशेषाधिकरणे वक्ष्यते। तैश्च तेषां भोगात् तानि भोग्यस्वभावानीति स्वकृतसंस्था च सिद्धेति। ननु तयोरमूर्त्तत्वादकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च नैतद्युक्तमिति चेन्न ईश्वरत्वेनान्यथा-विधाने सामर्थ्यात्। तस्मात् केषाञ्चित् परमातुराणां विनैव भोगात् प्रारब्धानि विश्लिष्यन्तीति सिद्धम्॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—एकमात्र ब्रह्ममें रत परम आर्त्त (उत्कण्ठित) कतिपय निरपेक्ष भक्तोंका भोगके बिना ही उन प्रारब्ध-पुण्य-पापका विश्लेष अर्थात् निर्लेप (विनाश) हो जाता है। इस विषयमें हेतु है—'हि'—क्योंकि, 'अतः' ईश्वरेच्छासे प्रारब्ध-स्थितिका निरूपण करनेवाली *'तस्य तावदेव चिरम्'* (छा॰ ६/१४/२) (उस ज्ञानीको तब तक विलम्ब है) इत्यादि श्रुति है और अन्य श्रुति भी है जो किसी-किसी वेदाध्यायीकी शाखामें पढ़ी जाती है यथा—*'तत् सुकृत दुष्कृत विधुनुते'* (तत्त्वज्ञ जीवके ब्रह्मज्ञानसे सुकृत-दुष्कृत दोनोंका विनाश हो जाता है) इत्यादि। साथ ही शाट्यायनीगणोंके द्वारा पठित श्रुति *'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्'* (कौ॰ १/४) (अर्थात् मरनेवाले विद्वान्‌की चलाचल सम्पत्ति पुत्र पाते हैं, पुण्य-राशि मित्रों और पाप-राशि शत्रुओंको मिलती है) प्रारब्ध अर्थात्—सुकृत एवं दुष्कृत दोनोंका निर्लेप हो जाता है। अभिप्राय यह है कि कोई-कोई श्रुति यह प्रकाश करती है कि ज्ञान एवं भोग द्वारा कर्मका विनाश होता है, *'ज्ञान भोगाभ्यां कर्म'* (छा॰ ४/१४/३) इस श्रुतिके साथ *'तत् सुकृत दुष्कृते विधुनुते'* (भोगके विना सुकृत-दुष्कृत दोनों प्रारब्धकर्मका क्षय होता है) इस श्रुतिका विरोध घटता है—अतः इन श्रुतियोंके विरोधके परिहारके लिए अवश्य ही विषय भेद कहना होगा। *'तत् सुकृतदुष्कृते'* इत्यादि श्रुति काम्यकर्मको विषय बनाकर नहीं कही गयी है, क्योंकि *'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोः'* (ब्र॰सू॰ ४/१/१३) इत्यादि तथा *'इतरस्याप्येववमित्यादि'* (ब्र॰सू॰ ४/१/१४) इन दोनों सूत्रों द्वारा सूत्रकार निरूपण करते हैं कि विद्याके द्वारा प्रारब्धसे भिन्न समस्त पाप एवं पुण्यका समूल विनाश होता है, इसके अतिरिक्त पाप-कर्मका काम्यत्व भी स्वीकृत नहीं हो सकता है (काम्यकर्म विद्याका प्रतिरोधी होता है)। अतएव सिद्धान्त यह है कि अति प्रियतम, स्वयंका दर्शन (भगवत्-दर्शन) करनेके लिए लालायित, आर्त्त (निरतिशय कातर अथवा आतुर) कतिपय भक्तोंकी स्व-प्राप्तिमें (निज-दर्शन-दानमें) विलम्ब सहन न कर सकनेसे भगवान् उन भक्तोंके प्रारब्धको उनके आत्मीयोंको देकर उन निरपेक्ष आर्त्त भक्तोंको अपने समीप ले आते हैं। यह तात्पर्य विशेषाधिकरणमें कहा

जायेगा। काण्व शाखावाले जो यह कहते हैं कि *'तस्य पुत्रा दायमेति'* (कौ॰ १/४) उन भक्तोंके पाप-पुण्य भोग करानेके लिए उन भक्तोंकी सम्पत्तिको ज्ञाति (सम्बन्धी), पुत्र इत्यादि द्वारा, पुण्य-राशि मित्रों द्वारा और पाप-राशि शत्रुओं द्वारा प्राप्त करायी जाती है—तो पूर्वपक्ष द्वारा सम्मत भोगैकस्वभावत्व (प्रारब्ध-सुकृतादि भोगसे ही नष्ट होते हैं) तथा *'निजकृत संस्था'* (भगवत्-कृत-व्यवस्था अर्थात् सिद्धान्त अथवा मर्यादा) भी अक्षुण्ण ही रही। यदि कहो, पाप-पुण्य तो मूर्ति-हीन (आकार-रहित) हैं तथा उसमें अकृतका आगम प्रासङ्गिक होता है—इस दोषसे इस प्रकारकी मीमांसा की जाय कि वे पाप-पुण्य, वस्त्र, अलङ्कार तो है नहीं, जिन्हें भोगार्थ ज्ञाति-वर्गमें वितरित कर दिया जाय; यह तो युक्तियुक्त नहीं है; तो देखो, ऐसा भी नहीं कह सकते। ईश्वरकी महिमा असाधारण है। वे कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुम् अर्थात् अन्यथा विधान करनेमें समर्थ हैं। अतएव सिद्धान्त यह है कि भगवत्-दर्शनकी इच्छाके कारण अति कातर निरपेक्ष अधिकारी भक्तोंका भोगके बिना ही प्रारब्ध विश्लिष्ट होता है॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—अत इत्यादि। ईश्वरेच्छास्थितेति। *"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये"* (छा॰ ६/१४/२) इत्यादिवाक्यादित्यर्थः। ज्ञानभोगाभ्यामिति। यथा पुष्करेति (छा॰ ४/१४/३) तद्यथेषीकेति (छा॰ ५/२४/३) श्रुतिर्ज्ञानेन कर्मविनाशं प्रकाशयति तस्य तावदेव चिरमित्याद्या श्रुतिस्तु भोगेनैव तद्विनाशं तया तया च सहेत्यर्थः। एतस्यास्तत् सुकृतेत्यादिकायाः (कौ॰ १/४)। न चैषेति। एषा तत् सुकृतेत्याद्या श्रुतिः। स्वं द्रष्टुमार्त्तानामिति। भगवद्वीक्षणेन विनातिदुःखितानामित्यर्थः। तदीयेभ्यस्तज् ज्ञातिपुत्रादिभ्यः। तैश्चेति। तैर्ज्ञात्यादिभिस्तेषां सुकृतादीनां भोगात् तानि सुकृतादीनि प्रारब्धानि भोगैकनाश्यानीति भवत्कृतमर्यादा च सिध्यतीत्यर्थः। अमूर्त्तत्वादिति। वस्त्रालङ्कारादिवन्मूर्त्तत्वाभावादित्यर्थः॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार— *'अतोऽन्यापि'* इत्यादि सूत्रमें *'ईश्वरेच्छास्थितेत्यादि'*—इसका अर्थ है— *'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये'* (उसके मोक्ष होनेमें उतना ही विलम्ब है, जब तक कि वह [देह-बन्धनसे] मुक्त नहीं होता) इत्यादि वाक्यसे अवगत—प्रारब्ध ईश्वरेच्छापर्यन्त स्थित होनेके कारण। *'ज्ञान भोगाभ्यां कर्म विनाशमित्यादि'* यथा—पुष्कर पलाश आपो श्लिष्यन्त (कमलपत्रसे जलका सम्बन्ध नहीं होता) इत्यादि श्रुति एवं

'तद् यथेषीकातूल मग्नौ प्रोतम्' इत्यादि श्रुति (जिस प्रकार सींकका अग्रभाग अग्निमें डाल देनेसे तत्काल जल जाता है, जो इस प्रकार जाननेवाला) ज्ञान द्वारा कर्मविनाश एवं कर्मालेपका प्रकाश करती है किन्तु *'तस्य तावदेव चिरम्'* इत्यादि श्रुति भोग द्वारा ही कर्मका विनाश कहती है, अतएव पूर्वोक्त कर्मलेपाभाव एवं कर्म-विनाश श्रुतिके साथ एवं भोग द्वारा कर्म-विनाश श्रुतिके साथ *'एतस्याः श्रुतेरविरोधायेति'* में वर्णित *'एतस्याः'*—इस *'तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते'* इत्यादि श्रुतिका विरोध निवृत्तिके लिए है। *'न चैषा काम्यकर्मविषयेति'*—*'एषा तत्सुकृतदुष्कृते'* इत्यादि श्रुति। *'स्वं द्रष्टुमार्त्तानाम्'* इति—भगवत्-दर्शनके अभावमें निरतिशय कातर। *'प्रारब्धानि तदीयेभ्यः'* इत्यादि उसके ज्ञाति एवं पुत्रादिको। *'तैश्च तेषामिति'*—तैश्च—और उस ज्ञाति एवं पुत्रादि द्वारा उस निरपेक्ष भगवत्-दर्शनके अभावमें आर्त्तभक्तोंका, तानि—वे ही प्रारब्ध सुकृत-दुष्कृत। *'भोगैकनाश्यानीति'*—भोग द्वारा नाशनीय यह उक्ति और *'स्वकृतसंस्था च'*—आपके द्वारा कृत व्यवस्था भी सिद्ध होती है—यह अर्थ है। *'तयोरमूर्त्तत्वादिति'*—सुकृत-दुष्कृत वस्त्र अलङ्कारादिके समान आकृतिहीन—अतः भोगार्थ उनका दान—किस प्रकार सम्भव है? यही पूर्वपक्षीका आशय है॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पहले प्रदर्शित किया गया था कि विद्याके उपदेशादिके प्रवर्त्तक परमेश्वरके सङ्कल्प द्वारा ही तत्त्वज्ञके प्रारब्ध-पुण्यादिकी स्थिति होती है। अब पुनः यह दिखाते हैं कि किसी-किसी निरपेक्ष अधिकारी भक्तका भोगके व्यतिरेकमें ही प्रारब्धका विनाश होता है। पूर्वपक्षीका मत यह है कि प्रारब्धपाप एवं पुण्यकर्मोंका फल भोगके बिना क्षय नहीं हो सकता। इस मतके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीभगवान्में अनन्या भक्तिसे सम्पन्न परमार्त्त किसी-किसी निरपेक्ष भक्तका भोगके बिना ही प्रारब्धका क्षय होता है।

कौषीतक्युपनिषदमें देखा जाता है—*तत् सुकृत-दुष्कृते धूनुते* (कौ॰ १/४) अर्थात् ज्ञानी ज्ञानके द्वारा सुकृत एवं दुष्कृतको त्याग देता है।

छान्दोग्योपनिषदमें वर्णन है—*अश्व इव रोमाणि विधूय पाप चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि।* (छा॰ ८/१३/१)

अर्थात् जैसे घोड़ा अपने धूलियुक्त रोमोंका त्यागकर, झाड़कर निर्मल हो जाता है और जैसे राहुग्रस्त चन्द्रमा राहुके मुखसे मुक्त होकर प्रकाशित होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञ कृतात्मा मैं धर्माधर्मका त्याग करके तथा प्रारब्धके क्षीण होनेपर अकृत (नित्य) ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ।

मुण्डकोपनिषदमें भी देखा जाता है—*'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* (मु॰ ३/२/८)

अर्थात् विद्वान् पाप-पुण्यको नष्ट करके तथा निरञ्जन, निर्लेप, क्लेश-रहित होकर परम साम्य ब्रह्मको प्राप्त करता है।

शाट्यायनीगण पढ़ते हैं—*'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्।'*

अर्थात् उस भक्तके पुत्रोंको पैत्तृक सम्पत्ति प्राप्त होती है। सुहृत पुण्य-कर्मोंको ग्रहण करते हैं और शत्रु उनके पापकर्मोंको ले लेते हैं।

कौषीतकीगण भी यही पाठ करते है—

'तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृत मुपयन्त्य प्रिया दुष्कृतम्', भक्तका प्रिय ज्ञातिवर्ग पुण्यका भोग करता है और अप्रियजन पापका भोग करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाठ है—

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य
पुंसां तदंघ्रिरजसा जितषड्गुणानाम्।
चित्रं विदू रविगतः सकृदाददीत
यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम्॥

(श्रीमद्भा॰ ५/१/३५)

अर्थात् हे महाराज! जिन भक्तोंने भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंकी रजके प्रभावसे भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु—इन छह गुणोंपर विजय प्राप्त कर ली है, उनका इस प्रकारका पौरुष प्रकट होना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। वर्ण-बहिष्कृत अन्त्यज—चाण्डाल आदि नीच योनिका पुरुष भी यदि एक बार भगवान्‌के श्रीनामका उच्चारण कर लेता है, तो उसी क्षण संसार बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवेशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥
(श्रीमद्भा॰ १/१/१४)

अर्थात् भयङ्कर जन्म-मृत्युरूप संसारमें पतित मानव यदि विवश होकर भी भगवान्‌के नामका उच्चारण कर लें, तो इस संसारसे अति शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। भगवान्‌के नामसे यम एवं यमदूतोंकी तो बात ही क्या, स्वयं महाकाल भी भयभीत रहता है।

और भी,

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा॰ २/४/१५)

जिनका कीर्त्तन, स्मरण, श्रीविग्रह-दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं अर्चन शीघ्र ही लोगोंके अनर्थों एवं कल्मषोंका विनाश करता है, ऐसे मङ्गलमय-यश-स्वरूप-माधुर्यमय श्रीभगवान्‌को मैं पुनः-पुनः नमस्कार करता हूँ।

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥
(श्रीमद्भा॰ २/४/१८)

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस (निषादसे शूद्राणीके गर्भोत्पन्न) आभीर, कङ्क, यवन और खस इत्यादि नीच जातियाँ तथा जो कर्मसे ही पापी हैं, वे भी यदि भगवान्‌के आश्रित भगवत्-स्वरूप सद्गुरुके चरणोंमें शरणागत हो जायें, तो इतने ही मात्रसे उनके जातिगत और कर्मगत दोष दूर हो जाते हैं और वे शुद्धि प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे स्वाभाविक रूपसे प्रभुतासम्पन्न, सर्वशक्तिमान भगवान्‌को नमस्कार है। (ज्ञातव्य—यहाँ भक्तिदेवीका प्रारब्ध और अप्रारब्ध पापनाशकत्व गुण व्यक्त हुआ है। भगवान् अपने भक्तोंको श्रीगुरुदेवके

रूपमें इस प्रपञ्चमें भेजते हैं, जो पतित जीवोंका उद्धार करते हैं। ये पतित जीव अपने पहलेके अशुद्ध भावको छोड़कर शुद्ध भावसे भगवद्भजनमें प्रवृत्त होते हैं।)

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
तेऽनैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥

(श्रीमद्भा० ३/९/१५)

जो लोग प्राण त्याग करते समय विवश होकर भी आपके अवतार, गुण और कर्मोंको सूचित करनेवाले देवकीनन्दन, जनार्दन, कंसनिकन्दन आदि नामोंका उच्चारण करते हैं, वे अनेक जन्मोंके सञ्चित पापोंसे तत्काल मुक्त होकर मायाके आवरणसे रहित सच्चिदानन्दस्वरूप आपको प्राप्त हो जाते हैं। हे भगवन्! आप अजन्मा हैं, मैं आपकी शरण लेता हूँ।

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥

(श्रीमद्भा० ३/३३/६)

हे भगवन्! कुक्कुरभोजी अन्त्यज कुलमें उत्पन्न चाण्डाल व्यक्ति भी यदि आपका नाम श्रवण, कीर्त्तन, नमस्कार एवं आपका स्मरण करता है, तो वह भी उसी समय सोमयज्ञका अधिकारी हो जाता है। पुनः जो आपका दर्शन प्राप्त करते हैं, उनका तो कहना ही क्या?

दैतेया यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा व्रजौकसः।
खगा मृगाः पापजीवाः सन्ति ह्यच्युततां गताः॥

(श्रीमद्भा० ७/७/५४)

हे दैत्यबालको! यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, गोप, पशु और पक्षी आदि प्राणियोंको और बहुत-से पापियोंको भगवान् श्रीअच्युतके प्रति भक्तियोगके प्रभावसे भगवत्-प्राप्ति हुई है।

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः,
पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं,
प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥

(श्रीमद्भा॰ १२/३/४४)

मनुष्य मरनेके समय आतुरताकी स्थितिमें अथवा गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्‌के किसी एक नामका उच्चारण कर ले, तो उसके सारे कर्मबन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उसे उत्तम-से-उत्तम उत्तम गति प्राप्त होती है किन्तु कलियुगमें मनुष्य कलियुगके प्रभावसे उन श्रीहरिकी भी आराधना नहीं करते, उससे विमुख रहते हैं।

श्रील रूपगोस्वामी कृत श्रीकृष्णनाम-स्तोत्रमें पाया जाता है—

यद्ब्रह्म-साक्षात्-कृति-निष्ठयापि
विनाशमायाति विना न भोगैः।
अपैति नाम स्फुरणेन तत्ते
प्रारब्धकर्मेति विरौति वेदः॥

हे नाम! अविच्छिन्न तैलधारावत् चिन्तनके द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करनेपर भी जिस प्रारब्धकर्मको भोगना पड़ता है, वह प्रारब्धकर्म आपकी स्फूर्त्तिमात्रसे अर्थात् भक्तोंकी जिह्वापर स्फुरण होनेमात्रसे दूर भाग जाता है। इस बातको वेद उच्च स्वरसे पुनः-पुनः कहते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

मुक्तावनुभवकारणात् यदन्यत् विनश्यति पुण्यमपि तत्। अप्रारब्ध मनभीष्टञ्च तथा ह्येकेषाम् पाठः उभयोस्त्यागेन तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामिति (शाट्यापन)। अनभीष्टमनारब्धं पुण्यमप्यस्य नश्यति। किमु पापं परब्रह्म ज्ञानिनो नात्र संशयः इति पाद्मे॥

अर्थात् अकाम्य पुण्यवान व्यक्तिका जो पूर्वोत्तर काम्य पुण्य है वह नाश और अनुप्रवेश पाता है। इसमें वैशिष्ट्य है कि पूर्वतन काम्यकर्म दो प्रकारके हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध—इनमेंसे प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते और अप्रारब्ध कर्म भी दो प्रकारके हैं—इष्ट और अनिष्ट। उक्त

दोनों प्रकारके कर्मोंमें इष्ट कर्म नष्ट नहीं होते, अनिष्ट कर्मका नाश हो जाता है और उत्तरकालीन कर्म भी इष्ट और अनिष्ट भेदसे दो प्रकारके हैं—इनमेंसे इष्टकर्मका अनुप्रवेश होता है, अनिष्ट कर्मका अनुप्रवेश नहीं। पद्मपुराणमें कहा है कि परब्रह्मज्ञानीके जब अनभीष्ट और अनारब्ध कर्म भी विनष्ट होते हैं, तब जो पाप विनष्ट होगें; उसमें संशय ही नहीं है। शाट्यायन श्रुतिकी व्याख्या की जा चुकी है॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—तेषां तान्यन्यगामीनि भवेषुरित्यत्रासम्भावनानिरासायाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—वह कतिपय परमातुर निरपेक्ष भक्त-विशेषका सुकृत-दुष्कृत ज्ञाति एवं पुत्र-गत होता है—यह अन्यगामी किस प्रकार हो सकता है?—इस विषयमें असम्भावनाकी आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—तेषामिति। केषाञ्चित् परमातुराणां निरपेक्ष-विशेषाणामित्यर्थः। तानि प्रारब्धानि। अन्यगामीनीति। यथा पूरोर्यौवनं ययातिना गृहीतं ययातेर्जरा च पूरुणा तथेदं द्रष्टव्यम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'तेषामित्यादि'* अर्थात् कतिपय परमातुर निरपेक्ष-विशेषके 'तानि'—वे प्रारब्ध अन्यगामीनीति अन्य ज्ञाति अर्थात् पुत्रादि गामी होते हैं—इस विषयमें दृष्टान्त यह है कि राजा ययातिको पुत्र पूरुका यौवन प्राप्त हो गया था और ययातिका वार्द्धक्य पूरुने ग्रहण कर लिया था—इस प्रकारसे इसे जानना चाहिये।

सूत्र—यदेव विद्ययेति हि॥ १८॥

सूत्रार्थ—'यदेव विद्ययेति' अर्थात् 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादि श्रुति जीवके ज्ञान-सम्बन्धसे कर्ममें अतिशय प्रभाव दिखाती है। 'हि'—क्योंकि परमेश्वरके अनुग्रहसे भोगके बिना ही प्रारब्धके लेपका अभाव और प्रारब्धका नाशरूप वैशिष्ट्य जीवमें भी होता है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—जो विद्या द्वारा कृत होता है, वह ही बलवत्तर होता है इत्यादि श्रुति विद्याकी प्रबल सामर्थ्य सूचित करती है क्योंकि परमेश्वरके अनुग्रह-सहकारसे जीवका प्रारब्ध-नाश होता है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य— *"यदेव विद्यया करोति"* (छा॰ १/१/१०) इत्याद्या श्रुतिर्जैव-ज्ञानसम्बन्धात् कर्मणि वीर्यातिशयं दर्शयति। हि यस्मात् अतो विद्यासामर्थ्याप्रतिबन्धरूपात् पारमेश्वरात् प्रसादान्निर्भोगारब्धाभावरूपोऽतिशयो जीवेऽपि क्वचिद्भवेदिति न चित्रम्॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'यदेव विद्यया करोति'* (जो विद्याके द्वारा किया जाता है) इत्यादि श्रुति जीवके ज्ञान-सम्बन्धसे कर्ममें अतिशय प्रभाव (सामर्थ्य) दिखलाती है, क्योंकि इस विद्याके प्रभावसे परमेश्वरके अप्रतिबन्धरूप अनुग्रहसे भोगरहित (भोगके बिना) प्रारब्धरूप उत्कर्ष किसी-किसी जीवमें ही होता है, इसमें आश्चर्य नहीं है। (तात्पर्य यह है कि उद्गीथ विद्यामें जप-यज्ञ-फलको अप्रतिबन्धरूप और विद्वान् द्वारा अनुष्ठित आरोग्य, अन्न आदिकी सिद्धिके लिए प्रबल कर्मान्तरको प्रतिबन्ध कहा जाता है—ये प्रतिबन्ध जन्म-मरणके चक्रमें डाल सकते हैं।) विद्यावानका परमेश्वरके अनुग्रह-सहकारसे प्रारब्ध-नाश होकर मोक्ष हो जाता है॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका— यदेवेति। निर्भोगेति। भोगं विनैव प्रारब्धाभावरूपोऽतिशय इत्यर्थः॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार— *'यदेवेत्यादि'* सूत्रमें। *'निर्भोगारब्धाभावेत्यादि'* का अर्थ है—भोगके बिना ही प्रारब्ध-अभावरूप अतिशय उत्कर्ष होता है॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति— कोई यदि आशङ्का करे कि निरपेक्ष भक्तोंके प्रारब्ध किस प्रकारसे उनके सुतादि-गामी हो सकते हैं? इस असम्भावनाके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रुति जिस प्रकार विद्याके प्रभावसे कर्ममें अतिशय पराक्रमका प्रदर्शन करती है उसी प्रकार ईश्वरके अनुग्रहसे जीवमें भी प्रारब्ध-राहित्यरूप अतिशय प्रभाव दृष्ट होता है।

छान्दोग्यमें पाया जाता है कि *'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'* इत्यादि (छा॰ १/१/१०) अर्थात् विद्या श्रद्धा एवं रहस्यज्ञानके (उपनिषद अर्थात् योगके) द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह अधिक पराक्रमशाली होता है।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार भी पाया जाता है—

जो कर्म विद्याके सहयोगसे किया जाता है, उसकी शक्ति अधिक होती है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन्॥

(श्रीमद्भा॰ ६/२/४९)

अहो! मरते समय भीषण यन्त्रणाको भोगते हुए अजामिल जैसे महापातकीने पुत्रको बुलानेके उद्देश्यसे भगवान्‌के नामका उच्चारण किया और भगवद्धामको प्राप्त हो गया, फिर जो निरपराध व्यक्ति श्रद्धाके साथ हरिनामका निरन्तर कीर्त्तन करते हैं, उन्हें भगवान्‌के धामकी प्राप्ति होगी—इसमें सन्देह नहीं है। यही स्थिर सिद्धान्त है।

एतद्विमानप्रवरमुत्तमःश्लोकमौलिना ।
उपस्थापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि॥

(श्रीमद्भा॰ ४/१२/२७)

हे आयुष्मन्! ध्रुव! उत्तमश्लोक-शिखामणि श्रीहरिने आपके लिए विमान भेजा है, आप कृपा करके इसपर बैठिये।

तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम्।
मृत्योर्मूर्द्धि्न पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम्॥

(श्रीमद्भा॰ ४/१२/३०)

उत्तानपाद-नन्दन ध्रुव विमानपर चढ़ना ही चाहते थे कि उन्होंने मूर्त्तिमान कालको सम्मुख उपस्थित देखा। वे मृत्युके सिरपर पैर रखकर उस अद्भुत विमानपर सवार हो गये।

श्रीमन्महाप्रभुने जगाइ-माधाइका उद्धार करते हुए कहा—

प्रभु बले—शुन शुन तोरा दुइ जन।
सत्य सत्य आमि तोरे करिलाम मोचन॥

कोटि कोटि जन्मे यत आछे पाप तोर।
आर यदि ना करिस, सब दाय मोर॥

(चै॰भा॰म॰ १३/२२६-२२७)

अर्थात् प्रभु बोले—देखो, तुम दोनों भलीभाँति सुन लो। मैंने सत्य ही तुम दोनोंको मुक्त कर दिया है। अब यदि तुमलोग फिरसे पाप

नहीं करोगे, तो तुम्हारे करोड़ों जन्मोंके जितने भी पाप हैं, उन सबका दायित्व मेरा है॥ १८॥

अवतरणिका भाष्य—ततः किं तदाह—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद अवशेषमें क्या होता है, अब यह बता रहे हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादके श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—ततः किमिति। प्रारब्धानां ज्ञात्यादिषु गमनानन्तरं तेषां किमभूदित्यर्थः।

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे श्रीबलदेवकृत-अवतरणिका-भाष्यस्य सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'ततः किमित्यादि'*—प्रारब्ध पाप-पुण्य ज्ञाति एवं पुत्र इत्यादिमें (सञ्चारित) चालित करनेके बाद उनका क्या हुआ, यह अर्थ है।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादके श्रीबलदेवकृत अवतरणिका-भाष्यका टीकानुवाद समाप्त॥

सूत्र—भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते॥ १९॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—प्राप्तव्य-पार्षद-शरीरसे पूर्व 'तु' तो 'इतर' स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर। दोनोंके 'क्षपयित्वा' नाश अर्थात् त्याग 'अथ' के बाद वह विष्णु शरीरको प्राप्त होता है और 'भोगेन' समस्त प्रकारके भोगोंसे सम्पद्यते—सम्पन्न होता है॥ १९॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—प्राप्तव्य शरीरसे पूर्व स्थूल एवं सूक्ष्म दोनोंका विनाश करके विष्णु शरीरको प्राप्त करता है और समस्त भोगोंसे सम्पन्न होता है॥ १९॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—प्राप्तव्यपार्षदशरीरादितरे स्थूलसूक्ष्मशरीरे क्षपयित्वा विहायाथ पार्षदवपुःप्राप्त्यनन्तरं *"भोगेन सोऽश्नुते सर्वान् कामान्"* इत्यादिश्रुत्युक्तेन सम्पद्यते सम्पन्नोभवतीत्यर्थः॥ १९॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—तादृश जीव प्राप्तव्य विष्णु पार्षद-शरीरसे अतिरिक्त भोगमय स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंका नाश करनेके बाद पार्षद-शरीर प्राप्त होनेपर *'भोगेन सोऽश्नुत सर्वान् कामान्'* भोग द्वारा समस्त कामको प्राप्त होता है—इस श्रुतिमें जो कहा गया है, तदनुसार निखिल भोग सम्पन्न होता है॥ १९॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादके श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—भोगेनेत्यादि। स्पष्टार्थम्॥ १९॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—*'भोगेन'* इत्यादि भाष्यका अर्थ सुस्पष्ट है॥ १९॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादके मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—करुणामय श्रीभगवान्की इच्छानुसार उनके भक्तोंको पार्षद-शरीर प्राप्त होता है और इसके अतिरिक्त स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरका विनाश हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

गजेन्द्रो भगवत्स्पर्शाद् विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात्।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः॥

(श्रीमद्भा॰ ८/४/६)

अर्थात् उस समय गजेन्द्र भी भगवत्-संस्पर्शसे अज्ञान-बन्धनसे मुक्त हो गया था और उसने पीतवसनधारी एवं चतुर्भुज होकर श्रीभगवान्के सारूप्यको प्राप्त किया था।

इस श्लोककी टीकामें श्रीलचक्रवर्तीपादने कहा है—*'भगवत्स्पर्शात् भगवत्कर्मकस्पर्शात् तत्र मनोवचोभ्यां स्पर्शात् अज्ञानबन्धतो मुक्तः। स्थूलदेहेन स्पर्शात् स्पर्शमणिन्यायेन भगवतो रूपं प्राप्ते ध्रुव इवेति ज्ञेयम्। देहमव्ययं करोत्विति पूर्वप्रार्थनात्।*

अर्थात् भगवान्को स्पर्श करनेसे और इसमें भी मन एवं वाक्यके द्वारा स्पर्शसे वह गजेन्द्र अज्ञान-बन्धनसे मुक्त हो गया था। उसने स्थूलदेहके द्वारा स्पर्श करनेके कारण स्पर्शमणि-न्यायसे ध्रुवादिके समान भगवान्के सारूप्य (पार्षदत्व) को प्राप्त किया था। उसने पहले प्रार्थना भी की थी कि मेरी देहको अप्राकृत कर दीजिये, इसलिए उसे यह सब प्राप्त हुआ।

मध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

आरब्धपुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पत्स्यते। अथेति नियमसूचकः। आरब्धपुण्यपापस्य भोगेन क्षपणादनु। प्राप्नोत्येव तमो घोरं ब्रह्म वा नात्र संशयः। ब्रह्मणां शतकालात्तु पूर्वमारब्धसंक्षयः। नियमेन भवेन्नात्र कार्या काचिद्विचारणा। इति नारायणतन्त्रे।

अर्थात् तथापि ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्मविद्वेषी—इन्हें क्रमशः मुक्ति और तमः प्राप्ति हो नहीं सकती क्योंकि उक्त दोनोंमेंसे ही प्रत्येकमें ही प्रारब्ध पुण्य और पाप हैं—इस आशङ्काके निवारणके निमित्त कहते हैं कि ज्ञानियोंका प्रारब्ध-कर्म होनेपर भी उनका मोक्ष असिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानी भोग द्वारा प्रारब्ध-कर्मका क्षय करके मोक्षकी प्राप्ति करते हैं। नारायण-तन्त्रमें कहा है कि भोग द्वारा प्रारब्ध पुण्य-पापका भोग द्वारा क्षय करके ब्रह्मपद प्राप्त करता है अथवा घोरतर अन्धकारमें पतित होता है। ब्रह्माका भी शतवत्सरके

प्रारब्ध कर्मका क्षय हो जाता है। अतएव नियम होनेके कारण इसपर कोई विचार नहीं करना चाहिये—यह नियम सिद्ध है॥ १९॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



द्वितीयः पादः

मङ्गलाचरणम्

मन्त्राद् यस्य पराभूताः परा भूतादयो ग्रहाः।
नश्यन्ति स्वलसत्तृष्णः स कृष्णः शरणं मम॥

अनुवाद—भाष्यकार इस द्वितीय पादमें विद्वान्‌के स्थूल-सूक्ष्म शरीरसे निर्गम-वर्णनकी आनुकूल्य-प्राप्तिके लिए भगवत्-शरणागति प्रार्थनारूप मङ्गलाचरण करते हैं—*'मन्त्रादित्यादि'* श्लोकका अर्थ है 'यस्य'—जिन भगवान् श्रीकृष्णके 'मन्त्रात्'—अष्टादशाक्षरादि मन्त्रसे अर्थात् उसके जपके प्रभावसे 'पराः'—प्रबल शक्तिसम्पन्न भूतादयः 'ग्रहाः'—देह-इन्द्रिय-प्राणस्वरूप ग्राहक अर्थात् स्वरूप आवरक (स्वरूपको ढकनेवाले) अथवा कुम्भीरादि (घड़ियालादि) 'पराभूताः'—पराजित हो जाते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्योंमें अक्षम होकर 'नश्यन्ति'—पलायन कर जाते हैं, 'सः'—वे ही स्वलसत्तृष्णः—स्वाधीनकाम अथवा स्वभक्तसङ्कल्परक्षाकारी 'श्रीकृष्णः'—श्रीहरि 'मम शरणम्'—मेरे रक्षक हों।

मङ्गलाचरण टीका—अथ स्थूलसूक्ष्मदेहाद्विदुषो निर्गमं वर्णयन् तद्धेतु भूतां श्रीहरिप्रपत्तीच्छां मङ्गलामाचरति मन्त्राद्यस्येति। यद्विषयकादष्टादशार्णादेर्मन्त्राद्धेतोर्भूतादयो देहेन्द्रियप्राणाः पराभूताः सन्तो नश्यन्ति तथाभूतास्ते तज्जप्तारं हित्वा पलायन्ते। स च जप्ता विशुद्धः सन् श्रीकृष्णं विन्दतीति भावः। कीदृशास्ते पराः प्रबलाः। ग्रहा ग्राहकाः स्वरूपावरका इति यावत्। श्लेषपोषितेन रूपकेणात्रोपमा व्यज्यते। यद्वा मन्त्रणं मन्त्रविचार इत्यर्थः। व्रजकार्यममन्त्रयदित्यादौ तदर्थावगमात् यत्सम्बन्धि-विचारादित्यर्थः। श्रीहरिस्वरूपगुणविभूतिचरितविषयकाद्विमर्शादुपाधिविगमो हरिपदलाभश्च भवेदिति भावः।

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—अब इसके बाद स्थूल और सूक्ष्म देहसे ब्रह्मविद्‌की उत्क्रान्तिका वर्णन करनेमें प्रवृत्त होकर भाष्यकार उसके हेतभूत श्रीभगवान्‌की प्रपत्ति की—शरणागतिकी इच्छारूप मङ्गलाचरण

करते हैं कि श्रीकृष्णविषयक अष्टादशाक्षरादि मन्त्र जपके फलसे भूतादि अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण पराभूत होकर अपना-अपना कार्य करनेमें अक्षम हो जाते है और मन्त्रजप करनेवालेको छोड़कर पलायन कर जाते हैं। अभिप्राय यह है कि वे मन्त्रजपकारी विशुद्ध होकर श्रीकृष्णको प्राप्त करते हैं। ये भूतादि किस प्रकारके हैं? पराः अर्थात् प्रबल, ग्रहाः अर्थात् ग्राहक—आत्मस्वरूपके आवरक। यहाँ ग्रहरूप अर्थात् ग्रह-भूतपिशाचादि—इस श्लेषानुप्राणित रूपकालङ्कार द्वारा उपमालङ्कार ध्वनित होता है अथवा मन्त्राः—इसका अर्थ है मन्त्रण अर्थात् मन्त्र विचार। *'व्रजकार्यममन्त्रयत्'* इत्यादि वाक्यमें मन्त्रणाका अर्थ—विचार पाया जाता है, अर्थात् मन्त्रवाच्य श्रीकृष्णके विचारसे। भावार्थ यह है कि श्रीहरिके स्वरूप, गुण, विभूति और चरित विषयक विचारसे स्थूल-सूक्ष्म देह इत्यादि उपाधियोंका नाश और श्रीहरिपदकी प्राप्ति होगी।

अवतरणिका भाष्य—परस्मिन् पादे देवयानं पन्थानं विवक्षुरस्मिन् पादे विदुषो देहादुत्क्रान्तिप्रकारं विचारयति। छान्दोग्ये श्रूयते। *"अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्"* (छा॰ ६/८/६) इति। तत्र संशयः। किमिह वृत्त्या वाक्सम्पत्तिरुत स्वरूपेणेति मनसो वाक्प्रकृतित्वाभावाद् वागादीनां मनोऽधीनवृत्तिकत्वाच्च वृत्त्यैवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस अध्यायके परवर्ती तृतीय पादमें देवयान पन्थाको विवृत्त (अधिक स्पष्ट) करनेकी इच्छासे प्रणोदित (प्रेरित) होकर इस पादमें ब्रह्मविद्की देहसे निर्गमनके (उत्क्रान्तिके) प्रकारका विचार किया जाता है। छान्दोग्यमें सुना जाता है—*'अस्य सौम्येत्यादि'* (छा॰ ६/८/६) अर्थात् हे सौम्य! देहसे प्रस्थानकारी इस जीवकी वाक्शक्ति मनमें लीन होती है, इसी प्रकार मन प्राणमें, प्राणवायु अग्निमें, और अग्नि परदेवतामें संयुक्त (सम्पन्न) होता है। यहाँ संशय होता है कि जिस वाक्यका मनमें लय कहा गया है तो क्या यह लय वृत्ति द्वारा है? (अर्थात् वाक् शक्तिकी वृत्ति [कार्य] द्वारा लय है?) अथवा स्वरूपतः लय है? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि वृत्ति द्वारा ही लय कहना होगा, स्वरूप-लय यहाँ नहीं कहा जा सकता क्योंकि कारणमें कार्यके लयको स्वरूप-लय कहा गया है, वह

यहाँ सम्भव नहीं है, इसका कारण यह है कि मन वाक्-शक्तिका कारण नहीं है, बल्कि वाक् प्रभृतिकी वृत्ति (कार्य) मनके अधीन है। अतएव वृत्तिके द्वारा ही लय है और ऐसा ही होना उचित है क्योंकि वागादि सभी निज-निज वृत्तिके द्वारा ही मनमें सम्पन्न होते हैं। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एकविंशतिसूत्रकं दशाधिकरणकं द्वितीयं पादं व्याख्यातुमारभते परस्मिन्नित्यादिना। पूर्वत्र स्थूलसूक्ष्मदेहत्याग उक्तस्तमाश्रित्य तत्प्रकारोऽत्र चिन्त्य इत्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। अस्येति। प्रयतो म्रियमाणस्य। किमिह वृत्त्येति। वाक्प्रकृतित्वाभावाद्वागुपादानत्वविरहादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस द्वितीय पादमें इक्कीस सूत्र और दस अधिकरण हैं, इसकी व्याख्या *'परस्मिन् पादे'* इत्यादि वाक्य द्वारा आरम्भ करते हैं। पहले *'परस्मिन् पादे'* इत्यादि वाक्य द्वारा स्थूल-सूक्ष्म देह-त्यागकी बात कही गयी थी, अब उसका अवलम्बन करके उसका प्रकार इस पादमें विचारणीय है। अतएव आश्रयाश्रयिभावरूप सङ्गति जाननी चाहिये। *'अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतः'* इत्यादि में 'प्रयतः'—प्रयाणकारी देहत्यागकारी म्रियमाण जीवका। *'किमिह वृत्त्येति'* भाष्यमें *'वाक्-प्रकृतित्वाभावात्'* इति मन वाक्का उपादान नहीं है, इसीलिए यह अर्थ है।

वागधिकरणम्

सूत्र—वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च॥ १॥

सूत्रार्थ—'वाङ्'—स्वरूपतः वाक् ही 'मनसि' मनमें मिलता है। प्रमाण? 'दर्शनात्' वाक्के थमनेपर (उपरत होनेपर) भी मनकी चेष्टा देखी जाती है 'च' और 'शब्दात्' 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' श्रुतिसे भी यही बोध होता है॥ १॥

सूत्रानुवाद—मनमें वाक्का संयोग होता है यह प्रत्यक्ष भी देखा जाता है और श्रुतिसे भी अवगत होता है॥ १॥

गोविन्दभाष्य—स्वरूपेणैव मनसि वाक् सम्पद्यते। कुतः? उपरतायां वाचि मनसः प्रवृत्तिदर्शनात्। *"वाङ्मनसि सम्पद्यते"* (छा॰ ६/८/६) इति शब्दाच्च।

इतरथा शब्दस्वारस्यभङ्गः। न च मानान्तरेण तत्र वागवगम्यते येन वृत्तिसम्पत्तिः कल्प्येतेति भावः। ननु मनसो वाक्प्रकृतित्वाभावान्न तत्र तस्याः स्वरूपसम्पत्तिः किन्तु वृत्तिसम्पत्तिरेव स्यादप्रकृतावपि वारिणि बह्विवृत्तिसम्पत्तिदर्शनादिति चेदुच्यते। मनसा वाक् संयुज्यते न तु संलीयत इति। अर्थादप्रकृतावपि तस्मिन् स्वरूपसंयोगो भवतीति॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—वाक् (वाणी) स्वरूपतः मनमें परिणत (सम्पन्न) होता है? यह किस प्रमाणसे जानेंगे? उत्तर है कि वाक्के निवृत्त (उपरत) होनेपर भी मनकी प्रवृत्ति अर्थात् मनका कार्य देखा जाता है। इसके अतिरिक्त श्रुति भी है यथा *'वाङ्मनसि सम्पद्यते'*—वाक् मनमें सम्पन्न होता हैं। यदि वाक्का स्वरूपतः मनमें संयोग न मानें तो श्रुतिका (*'वाङ्मनसि सम्पद्यते'* का) स्वारस्य (अभिप्राय) भङ्ग होता है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण (प्रत्यक्ष) द्वारा मनमें वाक्की प्रतीति होती भी नहीं है जिससे वृत्ति-लयकी कल्पना कर ली जाय। यदि कहो, मन वाक्की प्रकृति (उपादान कारण) नहीं है; अतएव इस मनमें वाक्का स्वरूपतः लय कहा नहीं जा सकता, हाँ, वृत्तिका लय हो सकता है—दृष्टान्त रूपमें देखा जाता है कि प्रकृति न होनेपर भी जलमें अग्निकी वृत्तिका लय होता है—ऐसा यदि कहते हो तो कहा जाता है कि मनके साथ वाक्का संयोग होता है, वह उसमें लीन नहीं होता और सम्पत्ति शब्दका यही अर्थ है। बात यह है कि मन वाक्की प्रकृति न होनेपर भी मनमें वाक्का स्वरूप-संयोग होता है, संलय नहीं॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—वाङ्मनसीति। मनसि वाचः संयोगो भवति वाग्वृत्तिस्तु तत्र लीयते। एवं श्रोत्रादीनाञ्च बोध्यम्। एवमेव भाष्यकारोऽपि सङ्गमयिष्यति नन्वित्यादिना। न चेति। क्षीरतण्डुलन्यायेन मनसि वाक्सम्पत्तिर्भवतीत्यर्थः। मनसा वाक् संयुज्यत इति क्षीरनीरन्यायेनेति भावः। नन्वित्यादि। ननु वृत्तिलयोऽप्यनुपादाने कथमिति चेन्न। अग्निवृत्त्यनुपादानेऽपि जले तल्लयदर्शनात्॥ १॥

सूक्ष्मा-सार—*'वाङ्मनसि'* इत्यादि सूत्रमें। मनमें वाक्का संयोग होता है किन्तु वाक् वृत्ति मनमें लीन होती है। इसी प्रकारसे श्रोत्रादिके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये। भाष्यकार भी इस प्रकारसे इस ग्रन्थका *'न च मानान्तरेण'* इत्यादि ग्रन्थ द्वारा समन्वय करेंगे। *'न चेति'*—दुग्धमें

चावल मिश्रणके समान मनमें वाक्‌का मिश्रण होता है—यह तात्पर्य है। पुनः *'मनसा वाक् संयुज्यते'* इत्यादि वाक्य होनेपर दुग्धमें जल मिश्रणके समान—यह भावार्थ है। *'ननु मनसो वाक् प्रकृतित्वाभावादित्यादि'*— यदि कहो, वृत्तिलय, यह किस प्रकारसे सम्भव है? मन तो वाक्‌का उपादान कारण नहीं है; ऐसा भी नहीं है क्योंकि जल अग्नि-वृत्तिका उपादान नहीं है, किन्तु उसमें अग्नि-वृत्तिका लय देखा जाता है॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादके प्रारम्भमें भाष्यकार श्रीमद्‌बलदेव विद्याभूषण प्रभु मङ्गलाचरणमें कहते हैं कि जिन श्रीकृष्णके अष्टादशाक्षरादि मन्त्रके जपके प्रभावसे प्रबल देह, इन्द्रियादि भूतसमूह पराभूत होकर उस कृष्णमन्त्रजपकारीका परित्यागकर देते हैं और वे जपके प्रभावसे विशुद्ध होकर श्रीकृष्णके पादपद्मको प्राप्त करते हैं—ऐसे भक्तोंकी रक्षा करनेवाले स्वाधीन-सङ्कल्प श्रीकृष्ण हमारी शरण हों।

इस अध्यायके परवर्ती पादमें अर्थात् तृतीय पादमें देवयान-पन्था विवृत्त करनेके अभिप्रायसे इस द्वितीय पादमें विद्वान् अर्थात् भगवत्-तत्त्वज्ञकी देहसे उत्क्रमण-रीतिका विचार किया जाता है।

छान्दोग्यमें पाया जाता है—*'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्‌मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् इति'* (छा॰ ६/८/६) इस स्थलपर देखा जाता है कि यह पुरुष जब प्रयाण करता है, तब उसका वाक् मनके साथ मिलित होता है, इसके बाद मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें मिलित होता है। यहाँ संशय यह है कि वाक् क्या वृत्ति द्वारा ही मनमें लयको प्राप्त होता है? अथवा स्वरूपतः लयको प्राप्त होता है? इसपर पूर्व पक्षी कहते हैं कि वृत्ति द्वारा ही लय होगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि वाक् अर्थात् वागिन्द्रिय स्वरूपतः मनमें मिलित होती है। यह प्रत्यक्ष भी देखा जाता है और श्रुतिसे भी अवगत होता है।

यहाँ साक्षात् वागिन्द्रिय ही मनमें संयुक्त होती है, केवल वृत्तिमात्र ही नहीं। इसका कारण यह है कि मनके विलयके पूर्व ही वाक्‌का विलोप होता है, यह विषय प्रत्यक्ष ही है और श्रुतिमें भी यही पाया जाता है—*'वाङ्‌मनसि सम्पद्यते'* अर्थात् वाक् मनमें सम्मिलित होता है

अर्थात् मनमें वाक्‌का संयोग होता है, उसका लय नहीं होता। इस विषयमें भाष्यकारका भाष्य और टीका देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

वाचं जुहाव मनसि तत् प्राण इतरे च तम्।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत्॥
सर्वमात्मस्थ्यजुहवीद् ब्रह्मण्यात्मनमव्यये॥

(श्रीमद्भा० १/१५/४१-४२)

अर्थात् उन्होंने दृढ़ भावनासे वाणीको मनमें, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें और अपानको उसकी क्रियाके साथ मृत्युमें तथा मृत्युको पञ्चभूतमय शरीरमें लीन कर दिया। बादमें मुनि युधिष्ठिरने पञ्चभूतोंके ऐक्यस्वरूप देहको सत्त्वादि त्रिगुणमें लीनकर त्रिगुणको एकत्वमें अर्थात् अविद्यामें लीन कर दिया। तत्पश्चात् सब प्रकारके आरोपोंकी कारण अविद्याको जीवात्मामें एवं जीवात्माको कूटस्थस्वरूप ब्रह्ममें लीन कर दिया।

इन श्लोकोंकी टीकामें श्रीलजीव गोस्वामी प्रभुने कहा है—*'सर्वं तदात्मनि भगवत्पार्षदरूपे अजुहवीत् भावयामास तञ्च आत्मानं नराकृतिपरब्रह्मणि समर्पयामास।'*

अर्थात् श्रीयुधिष्ठिरने अपनी सर्वारोप-हेतु—अविद्याको भगवत् पार्षदरूपमें समर्पित कर दिया। वे यह चिन्तन करने लगे कि उन्होंने अपने पार्षदरूपको परिपूर्णस्वरूप नराकृति परब्रह्ममें समर्पित कर दिया है।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—

वागिन्द्रिय स्वरूपतः मनमें ही सम्पन्न (संलग्न) होती है। इसका कारण भी देखा जाता है कि वागिन्द्रियके उपरत होनेपर भी मनकी प्रवृति (क्रिया) चलती रहती है। श्रुतिमें भी है—साक्षात् वागिन्द्रिय ही मनमें सम्मिलित होती है, केवल वृत्ति नहीं।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—*'वाङ्‌मनसि सम्पद्यते'* (छा० ६/८/६) *इति वागिन्द्रियस्य मनसि संयोगरूपा सम्पत्तिरुच्यते, वागिन्द्रिये उपरतेऽपि मनःप्रवृत्तिदर्शनात् 'वाङ्‌मनसि सम्पद्यते' इति शब्दाच्च।*

अर्थात् वाक् इन्द्रियका मनमें संयोग होता है। इस प्रकार वागिन्द्रियका मनमें संयोग ही (लय होना नहीं) सम्पत्ति शब्दसे कहा

जाता है। वागिन्द्रियके उपरत होनेपर भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। मरणकालमें बोलना बन्द हो जानेपर भी मनमें प्रवृत्ति (चेतना) रहती है। मन बोलनेकी इच्छा करता है क्योंकि वाक्-शक्तिसे उसका संयोग हो जाता है। यदि वाक्-शक्ति मनमें लीन हो जाये (मनके रूपमें परिवर्त्तित हो जाये), तो ऐसा नहीं हो सकता। श्रुति-वचन भी है—*'वाङ्मनसि सम्पद्यते।'*

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

देवानां मोक्ष उत्क्रान्तिश्चास्मिन् पादे उच्यते। वागभिमानिन्युमा मनोऽभिमानिनि रुद्रे विलीयते। वाचो मनोवशत्व दर्शनात्। तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते (छा॰ ६/१५/१) *इति शब्दाच्च। 'उमा वै वाक् समुद्दिष्टो मनो रुद्र उदाहृतः। तदेतन्मिथुनं ज्ञात्वा न दाम्पत्याद् विहीयते॥' इति स्कान्दे।*

देवताओंके मोक्ष एवं उत्क्रान्तिका इस पादमें वर्ण किया जायेगा अर्थात् इस पादमें ज्ञान एवं भोग द्वारा क्षीणकर्मा देवताओंका उत्तरोत्तर-देह-प्रवेश कहा जायेगा। यह देह-लय दो प्रकारका है। देवताओंके उत्तम देह प्रवेशमें देह-लय होता है और दूसरोंकी ब्रह्मनाड़ी द्वारा देहोत्क्रान्ति होती है। इस पादमें अधिकारी भेदसे उक्त दो प्रकारके देह-लयकी ही विवृति हुई है। पहले तो मोक्षके लिए मनमें वाक्के लयका समर्थन करते हैं—क्योंकि वाक् (वाणी) मनके वशीभूत है। प्रत्यक्षमें ही है कि वागभिमानिनी उमा मनोभिमानी रुद्रमें लय प्राप्त करती है। वाणी मनके वशगत है तथा "उसकी वाणी जब तक मनमें नहीं मिलती" इत्यादि श्रुतिसे उस कथनकी पुष्टि होती है। स्कन्दपुराणमें कहा है कि उमा वाक् हैं और रुद्र मन हैं—इस दाम्पत्यभावको जाननेवालेका वैधुर्य नहीं होता अर्थात् वह इन दोनोंसे विहीन नहीं होता॥ १॥

सूत्र—अतएव च सर्वाण्यनु॥ २॥

सूत्रार्थ—'च' और, क्योंकि वाक्का मनमें ही संयोग है, अग्निमें नहीं 'अतएव' इसलिए 'अनु' वाक्के मनमें संयोगके बाद 'सर्वाणि' श्रोत्र इत्यादि समस्त इन्द्रियाँ भी उस मनमें संयुक्त हो जाती हैं॥ २॥

सूत्रानुवाद—वाणीका संयोग मनके साथ ही है, अग्निके साथ नहीं है, अतः समस्त इन्द्रियाँ भी मनके साथ ही संयुक्त होती हैं॥ २॥

गोविन्दभाष्य—यतो वाचो मनस्येव संयोगो नाग्नावतः सर्वाणि श्रोत्रादीन्यपि तत्रैव संयुज्यन्त इति मन्तव्यम्। अनु वाक्सम्पत्त्यनन्तरम्। प्रश्नोपनिषदि श्रूयते। *"तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैर्यच्चित्तस्तनैष प्राण आयाति" इति।* (प्र॰ ३/९-१०) *"यथा गार्ग्य मरीचयोऽस्तं गच्छतोऽर्कस्य सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डले एकीभवन्ति ताः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत् सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति"* (प्र॰ ४/२) इति॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—क्योंकि वाक् का मनमें ही संयोग है, अग्निमें नहीं, इस कारणसे वाक्-सम्पत्तिके अनन्तर कर्ण इत्यादि समस्त इन्द्रियाँ भी उसी मनमें ही संयुक्त होती हैं—यह मानना होगा। अनु शब्दका अर्थ है—वाक्के मनमें संयोगके बाद। प्रश्नोपनिषदमें सुना जाता है—*'तस्मादुपशान्त तेजाः ... प्राण आयातीति'* अर्थात् शरीरसे सूक्ष्मशरीरके उत्क्रमणके बाद देहका उत्ताप (ऊष्मत्व) निवृत्त हो जाता है और बादमें मनमें सम्पद्यमान अर्थात् मन-स्थित इन्द्रियोंके साथ जन्म प्राप्त करता है। और भी, यथा—*'गार्ग्य! मरीचयोऽस्तं गच्छतोऽर्कस्य ... मनस्येकी भवति'* (प्र॰ ४/२) अर्थात् हे गार्गि! जिस प्रकार अस्तगत सूर्यकी किरणें अस्त-गमन कालमें सूर्यके तेजोमण्डलमें ही मिलित (एकीभूत) होती हैं और सूर्यके उदय होनेपर वे पुनः बाहर विचरण करती हैं अर्थात् प्रकाशित हो जाती हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ (इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ) परम देवता (इन्द्रियोंके राजा) मनमें संयुक्त (एकीभूत) हो जाती हैं॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—उक्तश्रुतेर्वाच एव मनसि लयदर्शनात् तदन्येषां श्रोत्रादीनां तत्र न लयं इति भ्रान्तिं निवारयितुमाह—अतएवेति। यस्मादेव मनसो वागुपादानत्वाभावान्मनसि वाचो वृत्तिमात्रलयोऽभिहितः अतएव सर्वाणि श्रोत्रादीनि स्वानुपादानेऽपि मनसि सवृत्तिके स्ववृत्तिमात्रलयेनानुवर्त्तन्त इत्यर्थः। तस्मादिति। तस्मादुत्क्रमणादूर्द्ध्वं उपशान्ततेजा (प्र॰ ३/९) विनिवृत्तदेहौष्णयः पुनर्भवं जन्म मनसि स्थितैरिन्द्रियैरायाति लभत इत्यर्थः। यथेति। हे गार्ग्य! मरीचयोऽर्कस्य किरणाः एतस्मिंस्तेजोमण्डलेऽर्के एकीभवन्ति संयुज्यन्ते। एवं हेति। एतद्वागादीन्द्रियवृन्दम्। मनसो देवत्वं सर्वेन्द्रियप्रधानत्वात्॥ २॥

सक्ष्मा-सार—उक्त श्रुतिका (वाङ्मनसि सम्पद्यते) इससे केवल वाक्के मनमें लय दर्शनके कारण वाक्से भिन्न कर्ण इत्यादि इन्द्रियोंका मनमें लय नहीं होता—इस भ्रमके निराकरणके लिए सूत्रकार *'अतएव'* इत्यादि सूत्र कहते हैं। अतएव—क्योंकि मन वाक्का उपादान-कारण न होनेपर भी उसमें वाक्की वृत्तिमात्रका लय होता है। किन्तु मनके साथ वाक् संयुक्त रहता है, यह बात कही गयी है, इसीलिए श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियोंका उपादान कारण न होनेपर भी ये इन्द्रियाँ निजवृत्तियुक्त मनमें स्ववृत्ति मात्र—लयके साथ अनुसरण करती हैं, यह सूत्रार्थ है। *'तस्मादुपशान्ततेजाः'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—*'तस्माद्'*—देहसे प्राणके उत्क्रमणके बाद, *'उपशान्ततेजाः'*—देहका उत्ताप निवृत्त होनेपर, *'पुनर्भवम्'*—पुनः जन्म, *'मनसि सम्पद्यमानैः इन्द्रियैः'*—मनमें स्थित इन्द्रियोंके साथ, आयाति—प्राप्त होता है, जीव जो चित्तसम्पन्न था, उस चित्तको लेकर प्राणमें आता है। यथा गार्ग्येत्यादि श्रुतिका अर्थ है—हे गार्गी! सूर्यकी किरणें सूर्यके अस्त गमनकालमें जिस प्रकार इस उस तेजोमण्डल सूर्यसे एकीभूत होती हैं अर्थात् संयुक्त होती हैं, पुनः वे सूर्यके उदय होनेपर उससे बहिर्गत होती हैं, इसी प्रकार यह वाक् इत्यादि इन्द्रियाँ परम देवता मनसे संयुक्त होती है। मन समस्त इन्द्रियोंमें प्रधान है, इसलिए मनका परम देवत्व है। इन्द्रियाँ देवताओं द्वारा अधिष्ठित हैं, इसलिए वे देवता हैं, मन उनका परिचालक है, इसलिए परम देवता है॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते है कि मनके साथ वागिन्द्रियके संयोगके बाद श्रोत्रादिका भी मनके साथ संयोग होता है। मनमें सभी इन्द्रियोंका विवक्षित वृत्ति-विलय इस द्वितीय सूत्रसे जब प्रतिपादित हो जाता है, तब प्रथम सूत्रमें वागिन्द्रियका पृथक् ग्रहण क्यों? इस प्रश्नका उत्तर है—*'वाचः पृथक् ग्रहणम्'* अर्थात् वाङ्मनसि—इस श्रुतिके अनुरोधपर सूत्रकारने उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिए वाक्का पृथक् ग्रहण किया है।

प्रश्नोपनिषदमें पाया जाता है—*'तेजो ह वाव उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः'* (प्र॰ ३/९-१०)।

वहीं और भी, दृष्टान्तस्वरूप—

'यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यातं मच्छतः सर्वा एतस्मिंमस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति।'

अर्थात् बाहरसे जो प्रकाशशील अग्नि है, वही जीवकी देह-स्थित उदान वायु है। इसीसे बाह्य अग्नि निज प्रकाश-शक्ति द्वारा जीव देह-स्थित उदानवायुको तेजःसम्पन्न करती है। उदान वायु बाह्य अग्नि द्वारा परिपुष्ट होकर उत्क्रमण-कार्यका सम्पादन करती है। देहसे सूक्ष्मशरीरके उत्क्रमणके बाद शरीरका ताप विनिवृत होनेपर मनमें सम्मिलित इन्द्रियवर्गके साथ जीव पुनः जन्म प्राप्त करता है। इसी प्रश्नोपनिषदमें दृष्टान्त भी है—जिस प्रकार अस्तगत सूर्यकी किरणें अस्तगमन-कालमें उस सूर्यमें ही मिलित होती हैं और उदयकालमें पुनः सूर्यके साथ प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मनमें संयुक्त होती हैं और जन्मके समय पुनः मनके साथ प्रकाशित होती हैं।

पूर्वोक्त गोविन्दतोषणीवृत्तिमें जो श्रीमद्भागवतका प्रमाण दिया गया था। उसे इस स्थलपर भी जानना चाहिये।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें पाया जाता है—

वाचमनु सर्वाण्यपीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यते, तथा दर्शनात्। 'इन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः' (प्र० ३/९) *इति शब्दाच्च॥*

अर्थात् वाक् इन्द्रियके बाद समस्त इन्द्रियोंका मनमें संयोग हो जाता है—यह प्रत्यक्ष दर्शनसे भी प्राप्त होता है। श्रुति भी यही कहती है कि वाक् इन्द्रियके साथ समस्त इन्द्रियाँ भी मनमें स्थित हो जाती है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

अतएव च शब्दात् सर्वाणि दैवतानि यथाऽनुकूलं विलीयन्ते। 'अग्नौ सर्वे देवा विलीयन्ते अग्निरिन्द्रे इन्द्र उमायाम् उमा रुद्रे विलीयते। एवमन्यानि दैवतानि यथानुकूलमिति गौपवन श्रुतेः।'

अर्थात् पूर्वसूत्रमें केवल वाक्-लय ही निर्णीत हुआ था किन्तु समस्त देवोंका लय (मोक्ष) अनिश्वित है; इसलिए मोक्ष असिद्ध हुआ—इस आशङ्कापर कहते हैं कि समस्त देवताओंका ही नियम-नियामक

रूपमें लय सम्भव है। गौपवन-श्रुतिमें कहा है कि अग्निमें समस्त देवताओंका लय होता है एवं अग्नि इन्द्रमें, इन्द्र उमामें और उमा रुद्रमें लय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अन्याय देवता स्व-स्व अनुकूल देवतामें लय प्राप्त करते हैं। अतएव वागादि देवताका मनः इत्यादिमें लयके समर्थनके कारण ज्ञानियोंका मुक्ति नियम सिद्ध हुआ है॥ २॥

अवतरणिका भाष्य—मनः प्राण इति विचारयति। मनश्चन्द्रे प्राणे वा सम्पद्यत इति संशये—*"मनश्चन्द्रम्"* इति श्रुतेश्चन्द्र इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—मन प्राणमें संयुक्त होता है—यही विचार करते हैं—इस समय संशय यह है कि मन चन्द्रमें संयुक्त होता है अथवा प्राणमें संयुक्त होता है। इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब *'मनश्चन्द्रम्'* मन चन्द्रको प्राप्त होता है—यह श्रुति विद्यमान है, तब चन्द्रमें ही लय कहा जायेगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—मनः प्राण इत्यादि। मनसीन्द्रियसम्पत्तिः श्रुतत्वाद् यथोक्ता तथा चन्द्रे मनःसम्पत्तिः श्रुतत्वादेवास्त्विति दृष्टान्तसङ्गतिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—मनमें इन्द्रियका संयोग श्रुत होनेके कारण जिस प्रकार सिद्धान्त किया गया है, उसी प्रकार चन्द्रमें मनका संयोग होता है, यह श्रुत होनेसे वही होना चाहिये; यह दृष्टान्त-सङ्गति इस अधिकरणमें ज्ञातव्य है।

मनोऽधिकरणम्

सूत्र—तन्मनः प्राण उत्तरात्॥ ३॥

सूत्रार्थ—'तत्'—सकल इन्द्रियोंके साथ 'मन':—मन 'प्राणे' प्राणमें संयुक्त होता है। प्रमाण? 'उत्तरात्' परवर्त्ती वाक्य 'मनःप्राणे' से यही बोध होता है॥ ३॥

सूत्रानुवाद—समस्त इन्द्रियोंके साथ मन प्राणमें लीन होता है इसका कारण उत्तरवर्त्ती वाक्य 'मनः प्राणे' है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—तत् सर्वेन्द्रियसहितं मनः प्राणे सम्पद्यते। कुतः? *"मनः प्राणे"* (छा॰ ६/८/६) इत्युत्तरस्मात् वाक्यात्। *"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति"*

(बृ॰आ॰ ३/२/१३) इत्यादिवाक्यन्तु स्वार्थपरं न भवतीत्युक्तं भगवता सूत्रकारेणैव। *"अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वादिति"*॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'तत्'*—समस्त इन्द्रियोंके साथ मन प्राणमें सम्पन्न (संयुक्त) होता है। किस कारणसे? *'मनःप्राणे'* इस परवर्त्ती श्रौत-वाक्यसे यह निर्णय होता है। तब जो *'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति'* अर्थात् जब यह पुरुष मर जाता है, तब उसका वाक् अग्निको प्राप्त होता है अर्थात् अग्निमें संयुक्त (सम्पन्न) होता है, इत्यादि वाक्य विद्यमान है, इसका उपाय क्या होगा। इसके उत्तरमें स्वयं-भगवान् सूत्रकारने ही कहा है कि यह वाक्य स्वार्थ-बोधक नहीं है, इसका अर्थ अन्य प्रकारसे है। यदि कहो कि ऐसा होता है तो अग्नि आदि गतिकी उक्ति किस प्रकार सङ्गत होगी? तो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यह गति गौण प्रयोग है, मुख्य नहीं॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—तदिति। सर्वेन्द्रियवृत्तिलयस्थानं मनः स्ववृत्त्यैव प्राणे लीयते सुषुप्तिमृत्व्यवस्थयोः सवृत्तिके प्राणे सत्येव मनोवृत्तेर्लयदर्शनादिति भावः। स्फुटमन्यत्॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार— *'तन्मनः'* इत्यादि सूत्रमें। समस्त इन्द्रिय-वृत्तिका लय स्थान मन अपनी वृत्तियोंके साथ प्राणमें लीन होता है क्योंकि सुषुप्ति-दशा तथा मृत्यु-अवस्थामें प्राणके वृत्तियुक्त होनेके कारण उसमें मनोवृत्तिका लय देखा जाता है। यही अभिप्राय है। भाष्यका अन्य अंश सुस्पष्ट है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब और एक संशय होता है कि मन चन्द्रमें संयुक्त होता है? अथवा प्राणमें सम्पन्न होता है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि श्रुतिमें जब पाया जाता है कि चन्द्र ही मन है तब यही कहना होगा कि मन चन्द्रमें ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि समस्त इन्द्रियोंके साथ यह मन प्राणमें संयोग प्राप्त करता है। कारण इस प्रकारकी श्रुति है— *'मनः प्राणे'* (छा॰ ६/८/६) समस्त इन्द्रिय-वृत्तिका लयस्थान मन अपनी वृत्तियोंके साथ प्राणमें लीन होता है। सुषुप्ति-दशामें और मृत्यु-अवस्थामें प्राणके वृत्तियुक्त रहनेके कारण उसमें मनोवृत्तिका लय देखा जाता है।

कोई यदि कहे कि बृहदारण्यकमें पाया जाता है—*'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति'* (बृ॰आ॰ ३/२/१३) अर्थात् मृत व्यक्तिका वाक् अग्निमें मिलित होता है, इत्यादि। इसके उत्तरमें भाष्यकारने कहा है कि सूत्रकारकी उक्तिसे ज्ञातव्य है कि इसका अर्थ अन्यरूप है अर्थात् अग्न्यादिमें गति मुख्यार्थमें नहीं है, गौणार्थमें है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

देशे च काले च मनो न सज्जयेत्
प्राणान् नियच्छेन्मनसा जितासुः॥
मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य
क्षेत्रज्ञ एतां निलयेत्तमात्मनि।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात्॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/१५-१६)

अर्थात् योगियोंके लिए देश और काल सिद्धिके कारण नहीं हैं, बल्कि एकमात्र योग ही सिद्धिका कारण है—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके निश्चल अर्थात् स्थिर और सुखकर आसनपर बैठकर प्राण एवं इन्द्रियोंको मन द्वारा संयत करे। इसके पश्चात् मनको अपनी निर्मल बुद्धिमें विलीन कर दे। फिर उस क्षेत्रज्ञ (जीव) को आत्मा अर्थात् शुद्ध जीवमें और इस आत्माको परब्रह्मके साथ एक करके परम शान्तिको प्राप्त हो जाये। ऐसा योगी पुरुष समस्त कार्योंसे विरत हो जाये क्योंकि मुक्त पुरुषके लिए कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

तच्च प्राणेन संयुज्यते, 'मनः प्राणे' इत्युत्तराच्छब्दात्।

और समस्त इन्द्रियोंसे संयुक्त होकर मन प्राणसे संयुक्त हो जाता है। *'मनः प्राणे'* इस उत्तरवर्ती-वाक्यसे यही कहा गया है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'मनः प्राणे' (छा॰ ६/८/६ एवं ६/१५/१) *इत्युत्तराद्वचनान्मनोऽभिमानी रुद्रः प्राणे वायो विलीयते वायोर्वा व रुद्र उदेति वायौ विलीयते तस्मादाहुर्वायुर्देवानां श्रेष्ठः इति च कौण्डिन्य श्रुतिः।*

मनके बाद प्राणका उल्लेख है। *'मनः प्राणे'* इस उत्तर वचनमें ही प्राणमें मनका लय प्रतिपन्न हुआ है। कौण्डिन्य-श्रुतिमें कहा है कि मनोभिमानी रुद्र प्राणवायुमें (प्राणके अभिमानी वायुमें) विलीन होता हैं। वह वायुसे ही उदित होता है और वायुमें ही लीन होता है—यह कहकर वायुको समस्त देवताओंमें श्रेष्ठ बताया है॥ ३॥

अवतरणिका भाष्य—प्राणस्तेजसीत्यत्र विचारः। स सेन्द्रियमनाः प्राणः किं तेजसि सम्पद्यते किं वा जीवे इति वीक्षायां प्राणस्तेजसि (छा॰ ६/८/६) इत्युक्तेस्तेजस्येवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्राण तेजमें (अग्निमें) संयुक्त होता है—अब इस विषयपर विचार किया जाता है। संशय यह है कि इन्द्रिय और मनके साथ प्राण क्या तेजमें सम्पन्न होता है? अथवा जीवात्मामें? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—*'प्राणस्तेजसि'* इस श्रुतिके अनुसार प्राण तेजमें ही संयुक्त होगा—इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—श्रुतत्वाद् यथा प्राणे मनसो लयोऽभिहितस्तथैव तेजसि प्राणस्य लयोऽस्त्विति पूर्ववत् सङ्गतिः। प्राणस्तेजसीत्यादि स्पष्टम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—श्रुतिकी उक्तिके अनुसार जिस प्रकार प्राणमें मनका लय पाया गया है, उसी प्रकार तेजमें प्राणका लय होना चाहिये, इस प्रकारसे दृष्टान्त-सङ्गति इस अधिकरणमें जाननी चाहिये। *'प्राणस्तेजसि'* इत्यादि भाष्यार्थ सुस्पष्ट है।

अध्यक्षाधिकरणम्

सूत्र—सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः॥ ४॥

सूत्रार्थ—'सः' वह प्राण 'अध्यक्षे' अर्थात् देह-इन्द्रियादिके अधिष्ठाता (परिचालक) जीवात्मामें संयुक्त होता है, 'कुतः'—किस प्रमाणसे प्राप्त हुआ? 'तदुपगमादिभ्यः' क्योंकि उस प्राणका अभिमुख (प्रवृत्ति) गमनादि श्रुतिमें पाया जाता है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—देह एवं इन्द्रियादिका अधिष्ठाता प्राण जीवात्मामें सम्पन्न होता है, कारण बृहदारण्यकीय-श्रुति 'तदुपगमादिभ्यः में' यही पाया जाता है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—स प्राणोऽध्यक्षे देहेन्द्रियाद्यधिष्ठातरि जीवे सम्पद्यते। कुतः? तदिति। बृहदारण्यके—*"तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूता ग्रामण्य उपसमीयन्त्येवं हेवंविदं सर्वे प्राणा उपसमीयन्ति। यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति"* (बृ॰आ॰ ४/३/३८) इति प्राणस्य सेन्द्रियस्य जीवोपगामित्वादिश्रवणादित्यर्थः। न चैवं प्राणस्तेजसीति श्रुतिविरोधः, जीवने संयुज्य पश्चात् तेजसीति वक्तुं शक्यत्वात्। गङ्गया संयुज्य सागरं गच्छन्ती यमुना तं गच्छतीति शक्यते वक्तुम्॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यह प्रसिद्ध प्राणवायु अध्यक्ष अर्थात् देह-इन्द्रियादिके अधिष्ठाता-परिचालक जीवात्मामें संयुक्त होती है। प्रमाण क्या है? बृहदारण्यकोपनिषदमें इसका प्रमाण है, यथा—*'तद् यथा राजानं प्रयियासन्तम् ... उपसमीयन्ति'* अर्थात् जिस प्रकार कोई राजा अन्य राजाके निकट जानेकी इच्छा करे तो उसके अङ्गरक्षक, योद्धा, सारथी और सेनापति उसके निकटमें ही रहते हुए उस राजाके साथ चलते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राण इन्द्रियोंके साथ जीवके निकट (आत्माके अभिमुख होकर इसके साथ) गमन करता है। उस समय जीव उस शरीरसे ऊर्ध्वमें उच्छ्वास (प्राणवायुका त्याग) करता है। यहाँ इन्द्रियके साथ प्राणका जीवाभिमुख होकर गमन श्रुत होनेके कारण प्राणका जीवोपगामित्व हेतु सिद्ध होता है। यदि कहो, तब *'प्राणस्तेजसि'* इस श्रुतिका विरोध होता है तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि पहले जीवके साथ संयुक्त होकर बादमें प्राण तेजमें संयुक्त होता है—यह अर्थ किया जा सकता है। जैसे कि कहा जाता है कि यमुना सागरकी ओर जाते समय गङ्गाके साथ मिलित होकर ही उस सागरकी ओर अभिमुख होती है॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—सोऽध्यक्षे इति। स प्राणो निवृत्तवृत्तिकः सन्नध्यक्षे जीवे तिष्ठतीत्यर्थः। कुतः? उपगमादिभ्यः। आभिमुख्येन गमनमुपगमः। तद्यथेति। प्रयियासन्तं यात्रेच्छुं नृपम्। उग्रा अङ्गरक्षकाः। प्रत्येनसोयोद्धारः। सूताः सारथयः। ग्रामण्यः सेनापतयः। तत्र केचित् उग्राः प्रत्येनसः पापिदण्डनाय नियुक्ता जातिविशेषाः ग्रामण्यो ग्रामाध्यक्षा इत्याहुः। उपसमीयन्ति सन्निहिताः सन्तः सार्द्धं चलन्तीत्यर्थः। एवं हैवंविदं जीवं सर्वे प्राणा उपसमीयन्तीति सेन्द्रियस्य प्राणस्य जीवोपगामित्वमुक्तम्। सविज्ञानोभवतीति श्रुतेः करणव्युत्पत्त्या विज्ञानशब्दितस्येन्द्रियवृन्दस्य प्राणसहितस्य प्राप्यकर्मफलज्ञानवति जीवे स्थितिं दर्शयतीत्यादिपदात्। तस्मात् जीवे वृत्त्या प्राणलय इत्यर्थः॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार— *'सोऽध्यक्षे'* इत्यादि सूत्रमें। वह प्राण वृत्तियुक्त होकर अध्यक्ष जीवमें रहता है, यही अर्थ है। प्रमाण क्या है? *'उपगमादिभ्यः'* इति उपगम शब्दका अर्थ है—अभिमुखमें गमन। *'तद्यथा'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—'प्रयियासन्तम्'—अन्य राजाके निकट जानेके इच्छुक राजाको। 'उग्राः'—उसके अङ्गरक्षकगण, 'प्रत्येनसः'—योद्धा-वर्ग, सूताः—सारथिगण एवं ग्रामण्यः—सेनापति-गण। उसमें कोई-कोई व्याख्या करते हैं, उग्राः प्रत्येनसः—प्राणियोंके दण्ड-विधानके लिए नियुक्त उग्र क्षत्रिय जाति विशेष एवं ग्रामीण—ग्रामाध्यक्ष (कोतवाल) इस प्रकारसे। *'उपसमीयन्ति'* अर्थात् सन्निहित रहकर सङ्गमें चलते हैं। *'एवं ह'*—इस प्रकार *'एवं विदम्'*—इस प्रकार ज्ञानी जीवको समस्त प्राण प्राप्त होते हैं; इसमें कहा गया है कि इन्द्रियोंके साथ प्राणकी जीव-प्राप्ति (प्राणकी वृत्ति जीवमें समाप्त होती है)। श्रुतिमें है—*'सविज्ञानो भवति'* प्राण विज्ञानके साथ वर्त्तमान रहता है, *'विज्ञायते अनेन विषयः'*—इस करण वाच्यमें वि-पूर्वक ज्ञा धातुके ल्युट् प्रत्यय सिद्ध होनेके कारण विज्ञान शब्दका अर्थ है—इन्द्रियोंकी पञ्च प्राणके साथ भोग्य कर्मफलके अनुभवकारी जीवमें स्थिति दिखाते हैं। यह भाष्योक्त *'जीवोपगामित्वादि'* इस आदि पदसे जाना जाता है। अतएव अर्थ हुआ, जीवात्मामें वृत्तिके साथ प्राणका लय होता है॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पूर्वपक्षी कहते हैं कि पूर्वोक्त छान्दोग्य श्रुति (६/८/६) में पाया जाता है *'प्राणस्तेजसि'*। अतः उक्त श्रुतिके अनुसार पहले जिस प्रकार वाक् एवं मनके तथा मन और प्राणके सम्मिलनकी बात कही गयी है। इसी प्रकार तेजमें प्राणका सम्मिलन होना चाहिये—इस पूर्वपक्षीके कथनके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि वह प्राण देह, इन्द्रियादि रूप पिञ्जरके अधिष्ठाता जीवमें उसी प्रकार मिलित होता है। जिस प्रकार प्राणियोंके दण्ड-विधानके लिए नियुक्त क्षत्रिय ज्ञाति विशेष कोतवालके साथ रहती है। कारण यही है कि श्रुतिमें जीवके साथ प्राणके सम्मिलनकी बात पायी जाती है।

तेजस् तत्त्वका (तेजः—एक भूत विशेषका) लय जीवमें नहीं हो सकता, क्योंकि तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें एवं आकाशका

ब्रह्ममें—इस प्रकारका तात्त्विक लय श्रुति-प्रतिपादित है। अतः तेजः सहचरित देहके बीजरूप पञ्च सूक्ष्मभूतके परिवारका वह अध्यक्ष है, उसीमें प्राणवृत्तिका लय होता है।

'तद् यथा राजानं ... उच्छ्वासी भवति' (बृ०आ० ४/३/३८) के अनुसार जिस प्रकार राजा जानेके लिए तैयार हुए राजाके अभिमुख होकर उग्रकर्मा एवं पापकर्ममें नियुक्त सूत एवं गाँवके नेता जाते हैं, उसी प्रकार जब यह ऊर्ध्वोच्छ्वास लेने लगता है तो अन्तकालमें सारे प्राण उस आत्माके अभिमुख होकर उसके साथ जाते हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

सर्वमात्मन्यजूहवीद् ब्रह्मण्यात्मानमव्यये।
(श्रीमद्भा० १/१५/४२)

अर्थात् तत्पश्चात् युधिष्ठिरने सब प्रकारके आरोपोंकी कारणस्वरूप अविद्याको जीवात्मामें और जीवात्माको कूटस्थस्वरूप ब्रह्ममें लीन कर दिया।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—

यह प्राण अध्यक्षमें—इन्द्रियाधिपति जीवमें सम्पन्न होता है। कारण? *'तदुपगमादिभ्यः'* अर्थात् प्राणका जीवोपगम अर्थात् जीवमें आश्रय-प्राप्ति इत्यादिके विषयमें श्रुतिमें भी पाया जाता है जैसे कि *'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति'* (बृ०आ० ४/३/३८) अर्थात् अन्तकालमें समस्त प्राण आत्मामें चले जाते हैं। *'तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामति'* (बृ०आ० ४/४/२) अर्थात् जीवके उत्क्रमणके साथ-साथ समस्त प्राण भी उत्क्रमण करते हैं। जीवके साथ प्राणकी प्रतिष्ठाका वर्णन इस प्रकार मिलता है—किसके उत्क्रमण करनेपर मैं उत्क्रमण करूँगा और किसके रहनेपर मैं स्थित रहूँगा?—इत्यादिसे देखा जा सकता है कि प्राण पहले जीवके साथ मिलित होता है, बादमें उसी अवस्थामें तेजके साथ मिलित होता है, जिस प्रकार यमुना नदी गङ्गाके साथ मिलकर सागरकी ओर अभिगमन करती है। तो भी यदि यह कहा जाय कि यमुना सागरकी ओर जा रही है (अथवा यमुना सागरमें मिल रही है) तो यह विरुद्ध नहीं होता, इसी प्रकारसे।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

प्राणो जीवने संयुज्यते। कुतः 'एवमेवममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायान्ति' (बृ०आ० ४/३/३८) *'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति'* (बृ०आ० ४/४/२) *'कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठितः स्याम्'* (प्र० ६/३) *इति 'तदुपगमादिबोधकवाक्येभ्यो' जीव-संयुक्तस्य प्राणस्य तेजसि सम्पत्तिरिति फलितोऽर्थः।*

अर्थात् प्राण जीवात्मामें संयुक्त हो जाता है। कहाँसे प्रमाणित है? 'अन्तकालमें सभी प्राण आत्मामें मिल जाते हैं', 'उस आत्माके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ प्राण भी उत्क्रमण करता है', 'किसके उत्क्रमण करनेपर मैं भी उत्क्रमण कर जाऊँगा' और 'किसके स्थित रहनेपर मैं स्थित रहूँगा' इत्यादि उस प्राणके जीवोपगमनादि (जीव-प्राप्ति) बोधक वाक्योंसे जीव संयुक्त प्राणकी तेजमें सम्पन्नता (संयोग) है—यह श्रुतिका अर्थ है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

स प्राणः परमात्मनि विलीयते। 'सर्वे प्राणमुपगच्छन्ति प्राणःपरमुपगच्छन्ति प्राणं देवा अनुप्राणन्ति प्राणः परमनुप्राणिति तस्मादाहुः प्राणस्य प्राण इति।' प्राणः परस्यां देवतायाम्। मुक्ताः सन्तोऽग्निमाविश्य देवाः सर्वेऽपि भुञ्जते। अग्निरिन्द्रं तथेन्द्रश्च वायुमाविश्य सोऽपि तु। आविश्य परमात्मानं भुङ्क्ते भोगांस्तु वाह्यकान्। नह्यानन्दो निजस्तेषां परैर्लभ्यः कथञ्चन। किमु विष्णोः परानन्दो न ते विष्णाविति श्रुतेः। प्राणस्य तेजसि लयो मार्गमात्रमुदाहृतम्। सर्वेशितुश्च सर्वादेस्तस्यान्यत्र लयः कथम्। इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः।

(अर्थात् मोक्ष-सिद्धिके लिए परमात्मामें प्राणके लयका समर्थन करते हैं—पहले तो सन्देह यह होता है कि परमात्मामें प्राणका लय होता है या नहीं? इस सन्देहके निराकरणके लिए कहते हैं कि) हिरण्यगर्भ नामक प्राण परमात्मामें लय प्राप्त करते हैं, क्योंकि हिरण्यगर्भ प्राण परमात्माके अधीन है। श्रुतियोंमें कहा है कि समस्त देवता ही प्राणमें अनुप्रवेश (अनुगमन) करते हैं, प्राण परमात्माका अनुगमन करता है। प्राणको लय करके ही देवता जीवित रहते हैं। प्राण देवताओंको अनुप्राणित करता है। परमात्मा प्राणको अनुप्राणित करता है। ये प्राण परमात्माको आश्रय किये हुए हैं—इसलिए ही

परमात्माको प्राणोंका प्राण कहते हैं और प्राण परदेवतामें (परमात्मामें) मुक्त होते हैं और मुक्त होकर समस्त देवगण अग्निमें प्रवेश करके भोग करते हैं। अग्नि इन्द्रमें और इन्द्र वायुमें प्रवेश करता है—यह वायु परमात्मामें ही प्रविष्ट होकर बाह्य भोगोंका उपयोग करता है। प्राणका स्वयंका आनन्द नहीं है—वह परमात्मासे ही आनन्द प्राप्त करता है, परन्तु वह आनन्द ही विष्णुका आनन्द है और विष्णुके परानन्दका क्या कहना है—इत्यादि श्रुतिमें विरिञ्चिका लय सम्भव होनेके कारण समस्त ज्ञानियोंका मोक्ष युक्त ही है। प्राणका तेजमें जो लय कहा गया है, वह तो मार्गमात्र बतलाया गया है, सर्वेश सर्वादिके अतिरिक्त अन्यत्र प्राणका लय हो भी कैसे सकता है॥४॥

अवतरणिका भाष्य—तेजसीत्येतद्विचार्यते। स प्राणोजीवस्तेजसि सम्पद्यते उत संहतेषु भूतेष्विति संशये प्राणस्तेजसीत्युक्तेस्तेजस्येवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—'जीव तेजमें सम्पन्न होता है', अब इसका विचार किया जाता है। प्राण सहित जीव केवल तेजमें संयुक्त होता है? अथवा संङ्घीभूत (मिलित) पञ्चभूतमें? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी अपना मत प्रकाश करते है कि जब *'प्राणस्तेजसि'* (छा॰ ६/८/६) श्रुति है, तब केवल तेजमें ही सप्राण जीवका संयोग कहा जायेगा, इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—प्राणस्तेजसीत्यत्र यथा मुख्यार्थं हित्वां प्राणस्य जीवे लयोऽभिहितस्तथा मुख्यार्थं त्यक्तवा जीवस्य ब्रह्मण्येव लये स्थितिदृष्टान्ता-दाक्षिप्यारभते तेजसीत्यादि।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले जिस प्रकार *'प्राणस्तेजसि'* इस श्रुति-वाक्यका मुख्यार्थ त्याग करके प्राणका जीवमें लय कहा गया था, उसी प्रकार मुख्यार्थको त्याग करके जीवका ब्रह्ममें ही लय होता है, इस स्थिति-विषयमें दृष्टान्तके द्वारा आक्षेप करते हुए—*'तेजसीत्येतद् विचार्यते'* इत्यादि वाक्यसे आरम्भ करते हैं।

भूताधिकरणम्

सूत्र—भूतेषु तच्छ्रुतेः॥५॥

सूत्रार्थ—नहीं, केवल तेजमें नहीं परन्तु 'भूतेषु-संहत' पञ्चभूतमें जीवका संयोग होता है। प्रमाण यह है कि 'तच्छ्रुतेः' इस प्रकारकी श्रुति है॥ ५॥

सूत्रानुवाद—प्राण त्याग करते समय जीव पञ्चभूतमें सम्पन्न होता है, केवल तेजमें नहीं क्योंकि श्रुतिमें जीवको सर्वभूतमय कहा गया है॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—जीवः पञ्चसु भूतेषु सम्पद्यते। न केवले तेजसि। कुतः? तत्रैव—जीवस्य *"आकाशमयो वायुमयस्तेजोमय आपोमयः पृथिवीमयः"* (छा॰ ४/४/५) इति सर्वभूतमयत्वश्रवणात्॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जीवात्मा पञ्चभूतमें मिलित होता है, केवल तेजमें ही नहीं। किसलिए? क्योंकि इसी बृहदारण्यकोपनिषदमें है, जीव आकाशमय है, इसी प्रकार वह वायुमय, तेजोमय, जलमय और पृथ्वीमय भी है। इस प्रकारसे जीवका पञ्चभूतमयत्व श्रुत होता है॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—भूतेष्विति। तत्रैव बृहदारण्यके॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—*'भूतेष्वित्यादि'* सूत्रमें *'तत्रैव'* इति भाष्यमें तत्र—बृहदारण्यकोपनिषदमें, यह अर्थ है॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब एक संशय यह होता है कि जीवके साथ प्राण तेजमें ही संयुक्त होता है? अथवा प्राण-संयुक्त-जीव संहतमें अर्थात् मिलित पञ्चभूतमें संयोग प्राप्त करता है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब श्रुतिमें है—*'प्राणस्तेजसि'* प्राण तेजमें संयुक्त होता है, तब जीव प्राणके साथ तेजमें ही सम्पन्न होगा, इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि जीव समन्वित प्राण पञ्चभूतमें ही मिलित होते है; केवल तेजमें नहीं? कारण बृहदारण्यकमें पाया जाता है—*'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः।'* (बृ॰आ॰ ४/४/५)

अर्थात् वह यह आत्मा ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय

और अतेजोमय है। इस प्रकार इस श्रुतिके अनुसार जीवका सर्वभूतमयत्व स्थिर होता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः॥

(श्रीमद्भा० १०/१/३९)

अर्थात् देहान्तके पश्चात् देही कर्मवश बिना यत्नके ही दूसरी देहको प्राप्त करके पूर्व शरीरका परित्याग कर देता है।

श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें भी यही है—

जीवसंयुक्त प्राण ही भूतसंघातमें मिलित होता हैं क्योंकि श्रुति यही कहती है—*'पृथ्वीमय आपोमय ... तेजोमयः।* (बृ०आ० ४/४/५) अर्थात् पृथ्वीमयः, आपोमयः इत्यादि श्रुतिमें जीवकी सर्वभूतमयता बतलायी गयी है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी देख सकते हैं—

स च जीवसंयुक्तस्य तस्य तेजः सहितेषु भूतेषु 'पृथ्वीमय आपोमय वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इति सञ्चरतो जीवस्य सर्वभूतमयत्व श्रवणात्।

अर्थात् जीवविशिष्ट प्राण तेजमात्रसे संयुक्त होकर समस्त भूतोंमें मिलित होता है। वह जीव पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय है—इत्यादि श्रुतिसे उत्क्रमणकालमें जीवका सर्वभूतमयत्व सुना जाता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

भूतेष्वन्येषां देवानां लयः। भूतेषु देवा विलीयन्ते भूतानि परे न पर उदेति नास्तमेत्येकल एव मध्ये स्थितेति बृहच्छ्रुतेः।

अर्थात् केवल अग्निमें ही नहीं, अन्य भूतोंमें भी देवताओंका लय होता है। जैसा कि बृहत्-श्रुतिसे स्पष्ट है—पञ्चभूतोंमें देवता विलीन होते हैं, पृथ्वी आदि देवता परमात्मामें लीन होते हैं। ये उत्पन्न नहीं होते, अस्त नहीं होते, ये स्वतन्त्र होकर देहके मध्य स्थित रहते हैं। *'अग्नावेव देवालीयन्ते'* इस गौपवन-श्रुतिके आधारपर अग्निमें ही समस्त देवताओंका लय कहा गया है, तो ऐसा नहीं है॥५॥

अवतरणिका भाष्य—किञ्च—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—और भी एक बात है, और भी एक प्रमाण है—

सूत्र—नैकस्मिन् दर्शयतो हि॥ ६॥

सूत्रार्थ—'एकस्मिन्' एक तेजमें ही जीवका अवस्थान 'न' नहीं है, 'हि' क्योंकि यही अर्थ प्रश्न एवं उत्तरसे निरूपित हो रहा है, 'दर्शयतो' इस अर्थबोधक श्रुति द्वारा वही बता रहे हैं॥ ६॥

सूत्रानुवाद—एक तेजमें ही जीवका अवस्थान सम्भव नहीं है—इस विषयके प्रश्न एवं प्रतिवचनमें यही निरूपित किया गया है और इसी अर्थकी बोधक श्रुति-स्मृति भी यही दिग्दर्शित करती हैं॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—एकस्मिन् तेजस्येव जीवस्यावस्थानं न मन्तव्यम्। हि यस्मादेतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने निरूपयतः। प्रतिपादितञ्चैतत् तदनन्तरप्रतिपत्तावित्यादिना प्राक्। तथाच तेजःप्रभृतिषु भूतेषु प्राणसम्पत्तिर्जीवद्वारेति सिद्धम्॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—एक तेजमें ही जीवका अवस्थान मानना उचित नहीं है क्योंकि इसी अर्थका अर्थात् जीवका पञ्चभूतमयत्व प्रश्न एवं प्रत्युत्तर वाक्यमें निरूपण किया है। देहसे उत्क्रमणके बाद जीवकी गति अथवा भूताश्रय इत्यादि विषयको पहले ही *'तदनन्तर प्रतिपत्तौ'* (ब्र॰सू॰ ३/१/१) सूत्रमें प्रतिपादित किया था। अतएव सिद्धान्त यह है कि प्राण जीवको आश्रय करके अर्थात् प्राण जीवके साथ तेज इत्यादि पञ्चभूतमें सम्पन्न होता है॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—नैकस्मिन्निति। सूत्रे दर्शयत इत्यत्र व्याख्यान्तरम्। एकस्मिंस्तेज-स्युत्क्रान्तिकाले जीवस्य नावस्थितिरुत्तरदेहारम्भस्य पाञ्चभौतिकत्वेन तस्याः पञ्चस्वावश्यकत्वात्। एतदर्थं श्रुतिस्मृती दर्शयतः। तत्र श्रुतिराकाशमय इत्याद्या। स्मृतिश्च *"सूक्ष्मा मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानान्तु याः स्मृताः। ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं स भवत्यनुपूर्वशः"* इति। मीयन्त इति मात्राः। अविनाशिन्यः प्राङ्मुक्तेः। दशार्द्धानां पञ्चानां भूतानाम्। ननुत्क्रान्तिकाले जीवस्य भूताश्रयत्वे स्वीकृते तौ ह यदुचतुः कर्म हैव तदुचतुरिति कर्माश्रयत्वबोधिका श्रुतिर्विरुद्धा स्यादिति चेन्मैवं कर्मणो बद्धहेतुत्वेनाश्रयत्वं भूतानान्तु देहहेतुत्वेनेत्यविरोधात्। तौ याज्ञवल्क्यार्त्तभागौ। यत् जीवाधारभूतम्॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार— *'नैकस्मिन्'* इत्यादि सूत्रमें। सूत्रोक्त *'दर्शयतः'* पदके प्रश्न और प्रतिवचन—निरूपण-अर्थके समान अन्य व्याख्या है यथा जीवके देहसे उत्क्रमणकालमें केवल तेजमें ही अवस्थिति नहीं है क्योंकि परवर्त्ती देहका उत्पादन पञ्चभूतसे होता है, अतएव उस जीवकी स्थिति पञ्चभूतमें अवश्य ही होना उचित है। इस कथ्यको श्रुति एवं स्मृति दोनोंसे दिखाते हैं। इनमें श्रुति है यथा—*'आकाशमयोवायुमयः'* इत्यादि पूर्व सूत्र (४/२/५) के भाष्यमें उद्धृत। स्मृति है—*'सूक्ष्मा मात्रा विना ... सम्भवत्यनुपूर्वशः'*—(मनुस्मृति १/२७) पञ्चभूतोंकी जो समस्त अविनाशिनी सूक्ष्म मात्रा (अंश) कथित है, वह यह है कि भौत मात्राओंके साथ वह जीव ठीक पहलेके समान देहेन्द्रियादि सङ्घातस्वरूप होता है। 'मात्राः' परिमित होता है—इस अर्थमें 'मा' धातुके कर्मवाच्यमें 'त्र' प्रत्यय है। *'अविनाशिन्यः'* अर्थात् मुक्तिके पूर्व तक स्थिर। *'दशार्द्धानाम्'* अर्थात् पञ्चभूतोंके। यहाँ आपत्ति है कि यदि देहसे उत्क्रमण कालमें जीव पञ्चभूतोंका आश्रय करता है, यह कहते हो तो *'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः कर्म हैव'* (बृ॰आ॰ ३/२/१३) अर्थात् वे जीवका आधार जो कहते हैं, वह कर्मको ही कहते हैं, तो यह कर्माश्रयत्वबोधिनी श्रुति विरुद्ध हो गयी—यह यदि कहते हो तो ऐसा नहीं है; इसका सामञ्जस्य इस प्रकारसे है—कर्मका जो आश्रय कहा गया है, वह बद्धका (इन्द्रिय-विषयक) हेतु (प्रयोजक) होनेसे और पञ्चभूतको जो आश्रय कहा गया है, वह देहके उपादानवश (भूतरूप उपादानसे देहान्तरकी प्राप्ति होती है)। इसलिए कोई विरोध नहीं है। *'तौ यदूचतुः'* इतिमें 'तौ' का अर्थ है—याज्ञवल्क्य और आर्त्तभाग दोनोंने (कर्मको जीवका आश्रय कहा है), 'यत्' से तात्पर्य है—जीवका आधार-स्वरूप॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—और एक प्रमाणके द्वारा सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि एक तेजमें ही जीवका मिलन मानना उचित नहीं है क्योंकि प्रश्न है—*'क्वायं तदा पुरुषो भवति'* (बृ॰आ॰ ३/२/१३) उस समय वह जीवात्मा पुरुष किसके आश्रित रहता है। इस प्रकारसे आर्त्तभागके प्रश्न और उत्तरके द्वारा जीवका पञ्चभूतमें मिलन ही निरूपित हुआ है। अतः जीवके द्वारा प्राणका पञ्चभूतमें ही सम्मिलन

सिद्ध होता है। देहसे उत्क्रमणके बाद इस प्रकारका भूताश्रय-सम्बन्ध *'तदनन्तरप्रतिपत्तौ'* इत्यादि वेदान्तसूत्र (३/१/१) में प्रतिपादित हुआ है। स्मृति एवं श्रुति दोनों ही कहती हैं कि जीव पाञ्चभौतिक देहमें अवस्थान करता है।

छान्दोग्य-श्रुतिमें पाया जाता है—

अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। तासां त्रिवृतंमेकैकां करवाणिति। (छा० ६/३/२-३)

अर्थात् मैं इस जीवात्मरूपसे जल इत्यादि तीनोंमें अनुप्रवेश कर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ और उनमेंसे हरेकको त्रिवृत्-त्रिवृत् (एककी प्रधानता और दोकी गौणता) करूँ।

श्रीविष्णुपुराणमें पाया जाता है—

नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः॥
समेत्यन्योन्य-संयोगं परस्पर-समाश्रयाः।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते॥

(वि०पु० १/२/५२-५३)

अर्थात् विभिन्न पराक्रमवाले वे (भूत) बिना मिले अलग-अलग रहकर समस्त सृष्टिकी रचना करनेमें समर्थ नहीं हो सके। वे परस्पर मिलकर ही एक-दूसरेके आश्रयसे महद् आदिसे लेकर अण्ड तकका उत्पादन करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी—

तत्ते वयं लोकसिसृक्षयाद्य
त्वयानुसृष्टास्त्रिभिरात्मभिः स्म।
सर्वेव वियुक्ताः स्वविहारतन्त्रं
न शक्नुमस्तत् प्रतिहर्त्तवे ते॥

(श्रीमद्भा० ३/५/४८)

अर्थात् हे आदिदेव! लोक-सृष्टिकी कामनासे आपने सत्त्वादि त्रिविध स्वभाव द्वारा हमारी रचना की है। हम सब आपके अधीन हैं, तथापि विरुद्ध-स्वभावके कारण हमारा आपसे वियोग ही रहता है।

अतः आपकी क्रीड़ाके साधनरूप ब्रह्माण्डका निर्माणकर हम आपको समर्पित करनेमें असमर्थ हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

नैकस्मिन् भूते सर्वेषां देवानां लयः 'पृथिव्यामृभवो' विलीयन्ते वरुणेऽश्विनावग्नावग्नयो वायाविन्द्रः सोम आदित्यो बृहस्पतिरित्याकाश एव साध्या विलीयन्ते। 'मृत्यवः पृथिव्यां वरुण आपोऽग्नयस्तेजसि मरुतो मारुत आकाशे विनायका विलीयन्ते।' इति महोपनिषच्चतुर्वेदशिखायाञ्च दर्शयतः। 'अतोऽग्नौ सर्वे देवा विलीयन्ते' इत्यत्र निर्दिष्टानामेव।

अर्थात् देवगणोंकी मुक्तिके लिए पुनः समस्त भूतोंमें देवताओंके लयका समर्थन करते हैं—समस्त भूतोंमें लय होता है? कि नहीं? इस सन्देहपर कहते हैं कि एक अग्निमें समस्त देवताओंका लय नहीं कहा गया है। *'पृथिव्यामृभवः'* इत्यादि दोनों श्रुतियोंके प्रमाणसे प्रत्येक भूतमें ही देवताओंका लय कहा गया है। जिन-जिन भूतोंमें जिन-जिन देवताओंका लय कहा गया है—वे-वे देवता उन-उन भूतसे उत्पन्न होते हैं। महोपनिषदमें कहा है कि ऋभु पृथ्वीमें वरुणमें अश्विनी कुमार, अग्निमें हुताशन, वायुमें इन्द्र, सोम, आदित्य और बृहस्पति आकाशमें साध्यगणोंके साथ विलीन होते हैं। मृत्यु पृथ्वीमें, वरुण जलमें, अग्नि तेजमें, मरुद्गण मरुत्में एवं आकाशमें विनायक तथा साध्यगण विलीन होते हैं। महोपनिषद एवं चतुर्वेदशिखामें इस प्रकारसे समस्त भूतोंमें देवताओंका लय कहा गया है, सुतरां केवल अग्निमें समस्त देवताओंका लय नहीं होता—प्रश्न उठाया गया *'क्वायं तदा पुरुषो भवति'* (बृ॰आ॰ ३०३/२/१३) अर्थात् जीव अपनी वागादि इन्द्रियोंको समेटकर जब दूसरे शरीरमें प्रवेशकी इच्छा करता है, तब वह किसके आश्रित रहता है? इस प्रश्नके उत्तरमें 'कर्माश्रयता' कही गयी, भूताश्रयता नहीं—*'तौ यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः'* (बृ॰आ॰ ३०३/२/१३) 'तौ' अर्थात् याज्ञवल्क्य और आर्त्तभागने कर्मको जीवका आश्रय कहा। श्रीपाद भाष्यकार कहते हैं कि कर्मका जो आश्रय किया गया है, वह बन्धके (अदृष्टके) प्रयोजक (प्रवर्त्तक) के कारण है तथा पञ्चभूतका जो आश्रय कहा गया है, वह देहके उपादान कारणसे है। अतः कोई विरोध नहीं है॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—अथ तस्मिन्नेव वाक्ये विमर्शान्तरम्। इयमुत्क्रान्तिरज्ञस्यैव भवेद्विज्ञस्यापि वेति संशये—*"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते"* (बृ॰आ॰ ४/४/७) इति बृहदारण्यकश्रुत्या विज्ञस्यात्रैवामृतत्वाभिधानेनोत्क्रान्त्यभावादज्ञस्यैवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद इस वाक्यमें अन्य विचार होता है कि यह जो उत्क्रमण (स्थूल-देह-परित्याग) कहा गया, वह क्या अज्ञ (ब्रह्मज्ञानहीन) व्यक्तिके लिए है? अथवा विज्ञका भी इसी प्रकारसे उत्क्रमण होता है? इस संशयके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं कि बृहदारण्यक-श्रुतिमें पाया जाता है कि उपासकके हृदयमें स्थित समस्त वासनाएँ जब अपगत हो जाती हैं तब मरणधर्मा जीव अमृत हो जाता है और वही उसी समय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। अतएव ब्रह्मज्ञ व्यक्तिका इस शरीरमें ही अमृतत्व (मुक्ति) अभिहित होनेके कारण उसमें उत्क्रान्तिका अभाव है, अतः यह उत्क्रमण-उक्ति अज्ञके लिए ही सङ्गत होगी। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेत्यादि। प्राग्देहादुत्क्रान्तिरुक्ता। तामाश्रित्य तत्सम्बन्धी चिन्त्य इत्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले जीवका देहसे उत्क्रमण कहा गया था—इस उत्क्रमणको विषय करके उसपर विचार किया जाता है, यह आश्रयाश्रयिभावरूप सङ्गति—इस अधिकरणमें ज्ञातव्य है।

आसृत्युपक्रमाधिकरणम्

सूत्र—समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य॥ ७॥

सूत्रार्थ—'समाना च' समान ही उत्क्रमण है, 'आसृत्युपक्रमात्' सृति अर्थात् गति (मार्ग) के आरम्भसे अर्थात् नाड़ी-प्रवेशके पूर्व तक 'अमृतत्वञ्चानुपोष्य'—विज्ञका जो अमृतत्व सुना जाता, उसे पूर्वापर पापोंका देहके साथ सम्बन्ध न रहनेके कारण अर्थात् प्राक्तन (पूर्व) कर्मोंका विनाश और क्रियमाण कर्मके लेपनके अभावके द्वारा जानना चाहिये॥ ७॥

सूत्रानुवाद—मूर्धन्य (सुषुम्ना) नाड़ीमें प्रवेशसे पूर्व विज्ञ और अज्ञकी उत्क्रान्ति एकरूप ही है। विज्ञका जो अमृत्व सुना जाता है, वह पूर्व एवं उत्तरकालीन पापोंसे उसकी देहका सम्बन्ध न रहनेके कारण अर्थात् पूर्व कर्मका विनाश एवं उत्तरके अश्लेष द्वारा जानना चाहिये॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—आद्यश्चोऽवधारणे। अज्ञस्य विज्ञस्य च समानैवोत्क्रान्ति-रासृत्युपक्रमादागत्यारम्भान्नाडीप्रवेशात् प्रागित्यर्थः। तत्प्रवेशदशायां त्वस्ति विशेषः। अज्ञस्य नाडीशतेनोत्क्रम्य गतिर्विज्ञस्य तु शताधिकया। तथाहि छान्दोग्याः पठन्ति—*"शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विश्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति"* (छा॰ ८/६/६) इति। एतत् श्रुत्यैकार्थेन *"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रम्"* (बृ॰आ॰ ४/४/२) इत्यादिश्रुतावपि मूर्द्धनिष्क्रमणं विज्ञविषयमन्यच्चाविज्ञविषयं बोध्यम्। यत्तु विज्ञस्यात्रैवामृतत्वश्रवणं तत्किल देहसम्बन्धमनुपोष्यादग्धैव पूर्वोत्तराघविश्लेषविनाशरूपं यदुक्तम्॥ ७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त प्रथम 'च'कारका अर्थ अवधारणार्थक अर्थात् समान ही है। गतिके आरम्भसे नाड़ीमें प्रवेशके पूर्व अज्ञ एवं विज्ञ दोनोंका ही देहसे उत्क्रमण समान है, तो भी नाड़ी-प्रवेश अवस्थामें दोनोंका कुछ वैशिष्ट्य है। यथा—अज्ञकी शत नाड़ी द्वारा उत्क्रमण होकर गति होती है और विज्ञका सौसे अधिक एक (उन सौके अतिरिक्त और एक) सुषुम्ना नाड़ी द्वारा उत्क्रमण होता है। छान्दोग्योपनिषद पाठाध्यायी इसी प्रकारसे पाठ करते हैं—*'शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यः ... उत्क्रमणे भवन्ति'* जीवके हृदयमें एक सौ एक संख्यक नाड़ियाँ हैं, उनमेंसे एक नाड़ी मूर्द्धदेश अर्थात् मस्तककी ओर जाती है—इसे सुषुम्ना कहते हैं—इसी नाड़ीके योगसे उत्क्रमण करनेवाला जीव अमृतत्वकी प्राप्ति करता है और दूसरी जो शत नाड़ियाँ हैं, वे अन्य सभीके उत्क्रमणका पथ होती हैं—ये सभी संसारगतिप्रद होती हैं—इस श्रुतिके साथ एकवाक्यताके कारण *'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रम्'* (उस विद्वान् व्यक्तिका उत्क्रमण अर्थात् बाहर जानेका मार्ग हृदयका अग्र अर्थात् मस्तक-पथसे होता है और अज्ञका निष्क्रमण चक्षु एवं शरीरके अन्य अङ्गोंसे होता है—इत्यादि श्रुतिमें भी विज्ञका मस्तक-द्वारके योगसे निष्क्रमण बताया है और अविज्ञ

संसारीका अन्य प्रकारसे; यह जानना होगा। तब श्रुतिमें जो यह कहा गया कि विज्ञकी इस देहमें ही मुक्ति है—यहाँ इस मुक्ति शब्दका अर्थ है—देह दग्ध होनेसे पहले ही सञ्चित पाप-पुण्यका नाश और परवर्त्ती पापका अश्लेष—जो कहा गया है, वही॥ ७॥

सूक्ष्मा-टीका—समानेति। शतञ्चेति। तासामेकाधिकशतनाडीनां मध्ये एका मुख्या सुषुम्नानाडी। तयोर्द्धमायन्नागच्छन् जनोऽमृतत्वं मोक्षमेति। अन्याः सुषुम्नोत्तराः शतनाड्यः संसारगतिप्रदाः विश्वक् सर्वत उत्क्रमणे भवन्तीति। एतदिति। शतञ्चेति श्रुत्येकवाक्यतयेत्यर्थः। अन्यच्चेति। मूर्द्धन्यनाडीतरनाडीनिष्क्रमणमित्यर्थः। तस्य हैतस्येत्यादौ चक्षुषोऽन्येभ्यश्च शरीरदेशेभ्यः संसारी निष्क्रामति मूर्द्धन्तु विद्वानित्यर्थः। अत्रैवेति। देह एवेत्यर्थः। अनुपोष्येति उष दाहे इत्यस्य ल्यपि रूपम्। यदुक्तमिति। यदमृतत्वं पूर्वमुक्तमित्यर्थः॥ ७॥

सूक्ष्मा-सार—*'समानेत्यादि'* सूत्रमें। *'शतञ्चैका च'* इत्यादि श्रुति—तासां—उस एकाधिक शत नाड़ियोंके मध्य 'एका'—एक प्रधान सुषुम्ना (ब्रह्म) नाड़ी है, उस नाड़ीयोगसे मस्तकमें आकर उस द्वारपर उत्क्रमणकारी जीव अमृतत्व अर्थात् मुक्ति प्राप्त करता है। 'अन्याः' और सुषुम्नासे भिन्न अन्य नाड़ियाँ संसारमें पुनरावृत्ति करा देती हैं, ये (नाड़ियाँ) उत्क्रमणकालमें सर्वांशमें कार्य करती हैं। *'एतत् श्रुत्यैकार्थेन'* इति—शतञ्चैका इत्यादि श्रुतिके साथ एकवाक्यतावशतः—यह अर्थ है। *'अन्यच्चाविज्ञविषयम्'* इतिमें 'अन्यत्' का अर्थ है—मस्तक स्थित सुषुम्ना नाड़ीसे भिन्न नाड़ीयोगके द्वारा देहसे जीवका निष्क्रमण—यह अर्थ है। *'तस्य हैतस्य'* इत्यादिमें पाया जाता है—चक्षुसे एवं अन्यान्य शरीर-देशसे संसारी जीव निष्क्रान्त होता है और विद्वान् मस्तकसे। इस *'विज्ञस्यात्रैवेति'* में 'अत्र' से तात्पर्य है—इस देहमें ही अनुपोष्य—न उपोष्य (देहेन्द्रियादिसे आत्माका सम्बन्ध) दग्ध किये बिना ही; अनुपोष्य पद उपपूर्वक दाहार्थक—'उष्' (उष् दाहे) धातुके ल्यप् प्रत्ययसे सिद्ध होता है। *'यदुक्तमिति'* जो अमृतत्व पहले कहा गया था, वही अमृतत्व॥ ७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः पूर्वोक्त वाक्यमें और एक विचार उपस्थित होता है कि मृत्युके बाद स्थूलदेहके त्याग-कालमें जिस उत्क्रान्तिका विषय कहा गया है, वह क्या केवल ब्रह्मज्ञानहीन अज्ञके (अनुपासकके)

सम्बन्धमें ही प्रयोज्य है? अथवा विज्ञकी (उपासककी) भी वैसी ही उत्क्रान्ति होती है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब बृहदारण्यक (४/४/७) श्रुतिमें पाया जाता है कि जिस समय हृदयमें स्थित समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं, उसी समय जीव अमृत हो जाता है, उसे यहीं (इस शरीरमें ही) ब्रह्म प्राप्त हो जाता है। अतः ब्रह्मज्ञ पुरुषके अमृतत्व प्राप्त होनेके कारण उसमें उत्क्रान्ति दशाका अभाव होता है और अज्ञ जीवकी ही उत्क्रान्ति होती है।

इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि अज्ञ और विज्ञके नाड़ी प्रवेशके पहले उत्क्रान्ति समान ही है। केवल नाड़ी-प्रवेश दशामें प्रभेद होता है। इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्यकारके भाष्य और टीकामें देखनी चाहिये।

श्रीमद्भागवत (१०/८७/१८) में पाया जाता है—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे॥

अर्थात् हे अनन्त! ऋषि-मुनियोंने बहुत-से मार्ग बतलाये हैं। उनमें जो स्थूल-दृष्टिवाले हैं, वे मणिपुर चक्रमें ब्रह्म (अग्नि-वैश्वानर) की उपासना करते हैं, आरुणि सम्प्रदायवाले सम्पूर्ण (१०१) नाड़ियोंके मार्गस्वरूप हृदयमें स्थित (ज्ञानशक्तिदायक) परम सूक्ष्म वस्तु—दहर ब्रह्मकी उपासना करते हैं। इस हृदयमें आपकी उपलब्धिका स्थान सुषुम्ना नाड़ी है, जो ब्रह्मरन्ध्र तक गयी है। इस स्थानको प्राप्त कर लेनेपर मनुष्योंको जन्म-मरणके चक्करमें जाना नहीं पड़ता।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—

श्रुतिके उपक्रम पर्यन्त उत्क्रमण प्रणाली विद्वान् और अविद्वान्की समान होती है। सृति अर्थात् नाड़ी-प्रवेशसे पहले तक। विद्वान् पुरुष नाड़ी-विशेषके द्वारा उत्क्रान्त होकर गमन करता है यह श्रुतिमें है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥

(कठ॰ २/३/१६)

अर्थात् हृदयमें एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमेंसे एक नाड़ी मूर्धाकी ओर जाती है। जो इस नाड़ी द्वारा ऊपरकी ओर गमन करते हैं, वे अमृतत्वको प्राप्त करते हैं। अन्यान्य नाड़ियाँ अपरापर-लोकोंके गमनके लिए हैं। इसलिए इस नाड़ी विशेष द्वारा गतिका उल्लेख रहनेके कारण विद्वान्के लिए इस प्रकारकी उत्क्रान्ति अवर्जनीय अर्थात् निश्चित है। इस नाड़ीके प्रवेशके पहले तक तो कुछ वैशिष्ट्य न रहनेके कारण उत्क्रमण-प्रणाली देवयानादि सृति (मार्ग) पर आरूढ़ होने तक सभीके लिए समान है—नाड़ी-दशामें कुछ विशेष श्रुत होता है। विद्वान्की इस लोकमें अमृतत्व प्राप्तिकी जो श्रुति है, उसके उत्तरमें कहा जाता है कि *'अमृतत्वं च अनुपोष्य।'* इस स्थलपर 'च' शब्दका अर्थ अवधारण है। (वह अपनेको पाप-रहित ही निश्चित करता है।) अनुपोष्य अर्थमें देह, इन्द्रिय इत्यादिके साथ आत्माका जो सम्बन्ध है, वह दग्ध न होनेके कारण (देह दग्ध होनेसे पहले ही) उसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है अर्थात् उसके पूर्वके पाप दग्ध होते हैं और बादमें भी कोई पाप संश्लिष्ट नहीं होता। जो यह कहा गया है कि वहीं ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—इसका अर्थ है उपासनाके समय ब्रह्मानुभव होता है, किन्तु मृत्युके बाद देह-त्याग नहीं होता, ऐसा कदापि नहीं है। अतः विद्याके सामर्थ्यसे आपेक्षिक अमृतत्व (भूत-प्रलय-पर्यन्त स्थायित्व) चाहनेवाले पुरुषके लिए यह मूर्धन्यनाड़ी-निष्क्रमण-रूप उत्क्रमणका उपदेश है॥ ७॥

अवतरणिका भाष्य—उक्तं विशदयति—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—उक्त विषयको ही विस्तृत और सरल करते हैं—

सूत्र—तदापीतेः संसारव्यपदेशात्॥ ८॥

सूत्रार्थ—'आपीतेः' शरीर-सम्बन्ध दग्ध न होने तक 'तत्' विज्ञके निष्पापरूप अमृतत्वको जाने, क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कारके पूर्व तक 'संसार व्यपदेशात्' संसार अर्थात् शरीर-सम्बन्ध कहा गया है॥ ८॥

सूत्रानुवाद—वह अमृतत्व बिना देहके दाहके बिना ही समझना चाहिये, क्योंकि जब तक अर्चिरादि गति द्वारा देश-विशेषमें जाकर

जीव ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं करता है, तब तक देहरूप संसारका व्यपदेश होता है॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—अदग्धशरीरसम्बन्धस्य विज्ञस्य निष्पापरूपं तदमृतत्वं मन्तव्यम्। कुतः? आपीतेरिति। आब्रह्मसाक्षात्कारात् शरीरसम्बन्धलक्षणस्य संसारस्योक्तेरित्यर्थः। तत्साक्षात्कारः खलु देवयानेन पथा संव्योमपदं गत्वैवेति वेदान्तेषु प्रसिद्धम्॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—शरीर-सम्बन्ध-दग्ध नहीं होने तक ही अर्थात् शरीरके रहने तक ही विज्ञका पापराहित्य अर्थात् निष्पाप (पापविनाश और पापका अश्लेष) रूप अमृतत्व जानना चाहिये। किस कारणसे? 'आपीतेः' पात न होने तक अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार पर्यन्त ही जीवका शरीर-सम्बन्धरूप संसार कहा गया है। यह ब्रह्म-साक्षात्कार निश्चित रूपसे देवयान पथ द्वारा परव्योम पद-प्राप्तिके बाद अर्थात् संयोमपदमें जाकर ही होता है—यह समस्त वेदान्तमें प्रसिद्ध है॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—तदापीतेरिति। संसारेति। योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः स्थाणुमन्येऽभिसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतमितिश्रुतावित्यर्थः (कठ॰ २/७)॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार— *'तदीपीतेरित्यादि'* सूत्रमें *'संसार व्यापदेशादिति योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्'* इस श्रुतिमें कहा गया है कि प्राणी देह-प्राप्तिके लिए स्त्री-योनिका आश्रय करते हैं और कोई-कोई (अत्यन्त निकृष्ट प्राणी) वृक्ष, लतादि स्थावरत्वको प्राप्त होते हैं, यथाकर्म और यथाश्रुत अर्थात् जैसा कर्म, जैसा ज्ञान, उसीके अनुसार जन्म होता है॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें पूर्वोक्त विषयको और भी विशद रूपसे अभिव्यक्त करते हैं कि जिसका शरीर सम्बन्ध दग्ध अर्थात् विनष्ट नहीं हुआ है, ऐसे विज्ञकी निष्पापरूप अवस्था ही अमृतत्व है, क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कारके पूर्व तक ही शरीर-सम्बन्ध-रूप संसार रहता है। देवयान-पथके द्वारा परव्योम अर्थात् वैकुण्ठधाम प्राप्त करनेके बाद पर-ब्रह्म अर्थात् भगवत्-साक्षात्कार होता है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त होता हैं—

खट्वाङ्गो नाम राजर्षिज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्त्तात् सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥

तवाप्येतर्हि कौरव्य सप्ताहं जीवितावधिः।
उपकल्पय तत् सर्वं तावत् यत्-साम्परायिकम्॥
अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम्॥
(श्रीमद्भा॰ २/१/१३-१५)

अर्थात् खट्वाङ्ग नामक राजर्षि अपनी परमायुका मुहूर्त्त भर शेष रहनेपर भी इस भूतलपर आये और समस्त विषयोंका परित्याग करके श्रीहरिके श्रीचरणारविन्दमें शरणागत हो गये; क्योंकि श्रीहरिके श्रीचरण ही सभीको अभय प्रदान करते हैं। हे कुरुवंश-प्रदीप परीक्षित्! इस समय तो आपके पास अपनी परमायुका सप्ताह भरका काल ही शेष है—इसी बीच आप अपने कल्याणके लिए पारलौकिक साधन सम्पन्न करें। जब जीवनका अन्तकाल उपस्थित हो जाय, तब मृत्युसे भय नहीं करना चाहिये, बल्कि अनासक्ति (वैराग्य) रूप शास्त्रसे शरीर और शरीरसे सम्बन्धित पुत्र-पत्नी आदिके प्रति भोग-बुद्धि एवं ममताको काट डालना चाहिये।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—

जब तक ब्रह्म-प्राप्ति नहीं होती है, तभी तक संसार अर्थात् देहके साथ सम्बन्ध रहता है—यह वेदमें कहा गया है। छान्दोग्योपनिषदमें कहा है—*'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये'* अर्थात् उसकी ब्रह्म-प्राप्तिमें भी तभी तक विलम्ब है, जब तक प्रारब्ध भोगकर इस शरीरसे नहीं छूट जाता और *'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वाशरीर मकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि'* (छा॰ ८/१३/१) अर्थात् जैसे कि घोड़ा रोओंको झाड़कर चैतन्य हो जाता है—वैसे ही उपासक पापोंको झाड़कर राहुसे मुक्त चन्द्रमाके समान स्वच्छ होकर ब्रह्म-लोकको प्राप्त करता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

'तदमृतत्वं देहसम्बन्ध दग्धैव बोध्यम्। कुतः?' 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्योऽथ सम्पत्स्ये' (छा॰ ६/१४/२) इति वा विमुक्तेः संसारव्यपदेशात्।

अर्थात् यह अमृतत्व देहके दाहके बिना ही समझना चाहिये। कैसे? अर्चिरादि गति द्वारा देश-विशेषमें जाकर जब तक जीव ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं करता, तब तक देह-सम्बन्ध रूप संसारका व्यपदेश होता है। अतः उसकी मुक्तिमें देह-बन्धनसे छूटने भरका विलम्ब है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी द्रष्टव्य है—

समावेतौ। प्रकृतिश्च परमश्च नित्यौ सर्वगतौ नित्यमुक्तावसमावेतौ प्रकृतिश्च परमश्च विलीनो हि प्रकृतौ संसारमेति विलीनः परमे ह्यमृतत्वमेतीति सौपर्णश्रुतिः।

अर्थात् यदि प्रकृतिका नित्यमुक्तत्व प्रतिपादित होता है तो ऐसा होनेपर भगवान्के साथ समस्त प्रकारकी साम्यापत्ति (प्रकृति एवं पुरुष समान हैं) हो सकती है। इस आशङ्कापर कहते हैं कि प्रकृति पुरुषकी नित्यताका साम्य होनेपर भी सर्वसाम्य नहीं है। सौपर्णश्रुतिमें कहा है कि प्रकृति और पुरुष नित्य और सर्वगतत्व रूपमें समान हैं, किन्तु विलय अवस्थामें इनकी समता नहीं है। प्रकृतिमें जो लय है, वह संसारका हेतु है और ईश्वरमें जो लय है वह मुक्तिका कारण है।

अभिप्राय यह है कि प्रकृतिमें विलीन होकर संसार पाता है, परमपुरुषमें लीन होकर अमृतत्व प्राप्त करता है। वही श्रुतिसिद्ध है। मोचक और अमोचकका सर्वसाम्य नहीं होता। यदि केवल प्रयाण (मृत्यु) का ही यह प्रभाव मान लिया जाता है कि विद्वान् और अविद्वान् सभी प्राणियोंके प्राणादिका तात्त्विक लय हो जाता है, तब तो मरण मात्रसे सभी प्राणियोंकी मुक्ति हो जायेगी और *'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'* इत्यादि विधि-शास्त्र और *'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'* इत्यादि विद्या-शास्त्र सभी निरर्थक हो जायेंगे। इस प्रकार अविद्यावान पुरुषके लिए ही संसारका व्यपदेश है॥ ८॥

सूत्र—सूक्ष्मप्रमाणतश्च तथोपलब्धेः॥ ९॥

सूत्रार्थ—विद्वान्का शरीर-सम्पर्क दग्ध नहीं होता, क्योंकि 'सूक्ष्मम्' सूक्ष्मशरीर उनका अनुवर्त्तन करता है, 'च' तथा, 'तथोपलब्धेः' इस प्रकारकी उपलब्धि, 'प्रमाणतः' प्रमाणसे होती है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—इस जगत्में विद्वान्का शरीर-सम्बन्ध दग्ध नहीं होता है, सूक्ष्मशरीरसे ही अनुवर्त्तन होता है—चन्द्र-संवादसे यह देह-सम्बन्ध उपलब्ध होता है॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—नात्र विदुषः शरीरसम्बन्धो दग्धः। सूक्ष्मं शरीरं यदनुवर्त्तते। कुतः? प्रमाणेति। देवयानवर्त्मना गच्छतो विदुषस्तं प्रति ब्रूयात् सत्यं ब्रूयादिति (कौ॰ १/२) चन्द्रमसा संवादवचनेन शरीरसद्भावो ह्युपलभ्यते। अतोऽदग्धदेहसम्बन्धस्यैव तदमृतत्वम्॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस विश्व-प्रपञ्चमें ब्रह्मविदका शरीर-सम्बन्ध दग्ध नहीं होता क्योंकि सूक्ष्मशरीर उसका अनुवर्त्तन करता है। इसका प्रमाण क्या है? क्योंकि श्रुतिसे उसकी शरीर-सत्ता उपलब्ध होती है; यही श्रौत प्रमाण प्रदर्शित है—देवयान पथसे जब वे ऊर्ध्व-गमन करते हैं, तब उस ब्रह्मविद्का चन्द्रके साथ आलाप होता है—*'तं प्रति ब्रूयात्-सत्यं ब्रूयात्'*—अर्थात् उस विद्वान्को लक्ष्य करके कहें, सत्य कहें—अतएव जाना जाता है कि निश्चित रूपसे उस समय भी विद्वान्के शरीरका सम्बन्ध है, अन्यथा बिना शरीरके इस प्रकारसे आलाप होगा कैसे? अतएव अदग्ध-शरीर-सम्बन्धसे ही वह विद्वान् अमृतत्वको प्राप्त होता है॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—सूक्ष्मेति। नात्रेति। अत्र प्रपञ्चे लोके। चन्द्रमसा संवादवचनेनेति चन्द्रमसेति सहार्थे तृतीया। न हि शरीरेन्द्रियसम्बन्धं विना संवादः सम्भवतीत्याशयः॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—*'सूक्ष्ममित्यादि'* सूत्रमें। *'नात्र विदुषः'* इत्यादि—*'अत्र'* का अर्थ है—इस प्रपञ्चात्मक जगत्में। *'चन्द्रमसा संवादवचनेन'* में चन्द्रमसा—चन्द्रमाके साथ—इसी कारण सहार्थमें तृतीया है। शरीर एवं इन्द्रियका सम्बन्ध न रहनेपर आलाप (संवाद) हो नहीं सकता, यह अभिप्राय है॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि विद्वान् व्यक्तिके इस जीवनमें अमृतत्व प्राप्त कर लेनेपर भी उनका शरीर-सम्बन्ध दग्ध नहीं होता क्योंकि मोक्ष प्राप्त न होने तक जिस भी लोकमें गमन करे सूक्ष्मशरीर अनुवर्त्तन करता है। इस विषयमें प्रमाण भी है कि जब देवयान पथसे गमन करते हैं, उस समय चन्द्रके

साथ संवाद करते हैं। कौषीतकी-श्रुतिमें है—*'तं प्रतिब्रूयाद्विचक्षणादृतवो'* (कौ॰ १/२)।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/३१/४३)

अर्थात् देवि! पुरुष उपाधिस्वरूप लिङ्गशरीरके साथ एक लोकसे दूसरे लोकमें भटकता हुआ निरन्तर कर्मफलोंका भोग करता है, फिर भी वह दूसरी देहोंकी प्राप्तिके लिए उन कर्मोंमें ही लगा रहता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

'सूक्ष्म शरीरमनुवर्त्तते' विदुषन्तं प्रतिबूयात्, सत्यं ब्रूयात् इति प्रमाण तस्तद्भावोपलब्धेः।

अर्थात् उपासक स्थूलशरीरको छोड़ते ही सूक्ष्मशरीरका आश्रय लेता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्मशरीर उसका अनुवर्त्तन करता है। विद्वान्के प्रति कहें, सत्य कहें—चन्द्रलोकमें वार्त्तालापके इस प्रमाणसे सूक्ष्मशरीरके तद्भावकी उपलब्धि होती है अर्थात् सूक्ष्मशरीरका होना निश्चित होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

सूक्ष्मत्वं चाधिकं ब्रह्मणः प्रकृतेः ज्ञानानन्दैश्वर्यादिप्रमाणाधिक्यञ्च। सर्वतः प्रकृतिः सूक्ष्मा प्रकृतेः परमेश्वरः। ज्ञानानन्दौ तथैश्वर्यं गुणाश्चान्येऽधिकाः प्रभोरिति हि चतुरश्रुतिः।

अर्थात् इस समय कारणान्तर दिखाते हुए प्रकृति-पुरुषके सर्वसाम्यका प्रतिषेध करते हैं। ब्रह्म प्रकृतिसे अधिक सूक्ष्म हैं एवं ज्ञान, ऐश्वर्य एवं आनन्दादि द्वारा प्रकृतिसे अधिक भी हैं। अतएव ईश्वरके साथ प्रकृतिका समस्त प्रकारसे साम्य नहीं हो सकता। तुर-श्रुतिमें कहा गया है कि समस्त पदार्थोंसे प्रकृति सूक्ष्म है एवं प्रकृतिसे परमेश्वरका सूक्ष्मत्व अधिक है। ईश्वरके ज्ञान, आनन्द और ऐश्वर्य इत्यादि गुण प्रकृतिकी अपेक्षा अधिक हैं।

अतएव स्थूलशरीरके नष्ट होनेपर भी सूक्ष्मशरीर नष्ट नहीं होता॥ ९॥

सूत्र—नोपमर्देनातः॥ १०॥

सूत्रार्थ—अतः इस कारणसे श्रुति 'उपमर्दन' देह-सम्बन्धके नाशके द्वारा 'न' अमृतत्व-प्राप्तिका प्रतिपादन नहीं करती॥ १०॥

सूत्रानुवाद—श्रुति देह-सम्बन्धके विनाशके पश्चात् अमृतत्व नहीं कहती, देह सम्बन्ध रहते ही विद्वान्का निष्पापत्व होता है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—अतो हेतोः *"यदा सर्वे"* (बृ०आ० ४/४/७) एवं (कठ० २/३/१४) इति श्रुतिर्देहसम्बन्धोपमर्देनामृतत्वं वक्तुं न प्रभवति॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस कारण अर्थात् पूर्वोक्त हेतुसे *'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते'* (जिस समय इसके हृदयमें आश्रित सम्पूर्ण कामनाओंका विनाश हो जाता है) इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति देह-सम्बन्ध नाशके पश्चात् अमृतत्व प्राप्त होता है—यह नहीं कहती॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—नोपमर्देनेति। उपमर्देन नाशेन॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार— *'नोपमर्देनेत्यादि'* सूत्रमें 'उपमर्देन' का अर्थ है—नाश द्वारा॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि इस कारणसे भी अर्थात् पूर्वोक्त *'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते'* श्रुतिमें जिस अमृतत्वकी बात कही गयी है, वह देह-सम्बन्धके नाशके बाद प्राप्त होता है—यह कहा नहीं जा सकता, बल्कि देह-सम्बन्धके रहते ही वह अमृतत्व अर्थात् निष्पापत्व प्राप्त हो जाता है। इसी सिद्धान्तको निश्चित जानना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

न यावदेभ्यां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत्॥

(श्रीमद्भा० ५/११/१५)

अर्थात् हे नरनाथ! ज्ञानोदयके द्वारा मायाका तिरस्कार करते हुए जीव जब तक असत्-सङ्गसे रहित होकर एवं काम-क्रोधादि

षड्-रिपुओंपर विजय प्राप्त करके आत्म-तत्त्वको नहीं जान लेता, तब तक वह इस संसार-चक्रमें भटकता ही रहता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें देखा जा सकता है—

अतः 'अथ मर्त्योऽमृतो भवति' (बृ०आ० ४/४/७) *इति न देहसम्बन्धोपमर्देनामृतत्वं वदति।*

अर्थात् इसलिए उक्त कारणोंसे *'अथ मर्त्योऽमृतो भवति'* वह मरणधर्मा अमृत हो जाता है इत्यादि श्रुति देह-सम्बन्ध-विनाशके बाद अमृतत्वका कथन नहीं करती।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

अतस्तस्य ये विशेषगुणास्तेषामनुपमर्देननैव साम्यम्। देशतः कालतश्चैव समा प्रकृतिरीश्वरे। उभयोरप्यबद्धत्वं तदबन्धः परात्मनः। स्वतः एव परेशस्य सा चोपास्ते सदा हरिम्। प्रकृतेः प्राकृतस्यापि ये गुणास्ते तु विष्णुना। नियता नैव केनापि नियता हि हरेर्गुणाः॥ इति भविष्यत्पर्वणि।

अर्थात् यदि पुरुषके साथ प्रकृतिका साम्य नहीं होता है तो ऐसा होनेपर प्रकृतिके नित्य मुक्तत्वादिसे भी साम्य नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मादिके समान प्रकृतिका भी लय हो सकता है। इस आशङ्काके समाधानके लिए कहते हैं—परमेश्वरके जो स्वातन्त्र्यादि असाधारण (विशेष) गुण हैं, उनसे भिन्न नित्य मुक्तत्वादिमें पुरुषका साम्य है। भविष्यत्पर्वमें कहा है कि देश, कालादिमें प्रकृतिका ईश्वरसे साम्य है और प्रकृति तथा पुरुष—ये दोनों ही अबद्ध (स्वतन्त्र) हैं। विशेष रूपसे परमेश्वर स्वतन्त्र हैं और प्रकृति परमात्माके ही बन्धनमें रहती है तथा सर्वदा श्रीहरिकी उपासना करती रहती है। प्रकृतिके जितने भी गुण हैं, वे विष्णु द्वारा नियत रहते हैं और सभी प्राकृत गुण उसे विष्णुसे ही प्राप्त होते हैं। प्रकृति परमात्माके गुणोंसे नियत रहती है। श्रीहरिके गुण किसीमें भी नहीं हैं॥ १०॥

सूत्र—तस्यैव चोपपत्तेरूष्मा॥ ११॥

सूत्रार्थ—'ऊष्मा' मृत्युसे पूर्व स्पर्शमें उपलभ्यमान स्थूलदेहकी ऊष्मा 'तस्यैव' इस सूक्ष्म शरीरकी ही ऊष्मा है, 'च' और, यह बात 'उपपत्तेः' युक्तिसिद्ध है॥ ११॥

सूत्रानुवाद—जीवित कालमें उष्णता रहती है, मरणके समय नहीं; अतः इस स्थूलकी उष्मा सूक्ष्मदेहकी उष्मा है—यह बात युक्तिसिद्ध है॥ ११ ॥

गोविन्दभाष्य—मृत्योः प्राक् स्थूलदेहे यः संस्पर्शेनोष्मोपलभ्यते सोऽस्य सूक्ष्मस्यैव देहस्य धर्मो न तु स्थूलस्य। कुतः? उपपत्तेः। तद्युक्ततद्वियुक्तयोर्जीवन्मृतदेहयोरुष्मोपलम्भानुपलम्भाभ्यां सूक्ष्मदेहस्यैवायमुष्मेति युक्तेरित्यर्थः। मानान्तराय च शब्दः। तथा चोष्मानुमितसूक्ष्मदेहयुक्तो विज्ञोऽपि उत्क्रामतीति॥ ११ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मृत्युसे पूर्व स्थूलदेहमें सम्यक् स्पर्श द्वारा जो ऊष्मा (उत्ताप) उपलब्ध होती है, वह उस जीवके सूक्ष्मशरीरका ही धर्म है, स्थूलदेहका नहीं। कारण? उष्मायुक्त जीवित अवस्थामें ऊष्माकी उपलब्धि होती है और मृत देह उष्मा-वियुक्त होती है—उसकी ऊष्माकी उपलब्धि नहीं होती—इसी युक्तिसे ही सूक्ष्मदेहकी ऊष्माका अनुमान करना होगा। इसमें अन्य प्रमाण भी है जिसके लिए 'च' शब्दका प्रयोग हुआ है। श्रुति इत्यादि वाक्य ही इसके प्रमाण हैं। अतएव सिद्धान्त यह स्थिर (निश्चित) होता है कि ऊष्मा द्वारा अनुमित सूक्ष्मदेहके साथ ही ब्रह्मविद् भी अज्ञकी तरह देहका त्याग करता है। उत्क्रमणमें समान भाव है॥ ११ ॥

सूक्ष्मा-टीका—स्थूलदेहादन्यः सूक्ष्मदेहोऽस्तीत्यत्र प्रमाणमाह तस्यैव चेति। स्थूलदेहे योऽयमुष्मोपलभ्यते सोऽस्यैव सूक्ष्मस्यैव सूक्ष्मदेहस्य धर्मः। सति तस्मिन्नुपलब्धेस्तस्मिन् निर्गते मृतदेहेऽनुपलब्धेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यैवोपपत्तेः। तद्युक्तेति। सूक्ष्मयुक्तसूक्ष्मवियुक्तयोरित्यर्थः। मानान्तराय—श्रुत्यादिवाक्यानि संग्रहीतुम्॥ ११ ॥

सूक्ष्मा-सार—स्थूलदेहसे भिन्न और एक सूक्ष्मदेह भी है—इस विषयमें *'तस्यैव चेत्यादि'* सूत्र द्वारा प्रमाण दिखाते हैं। मृत्युसे पूर्व जीव-दशामें जीव-शरीरसे जो उष्मा अथवा उत्ताप अनुभूत होता है—वह सूक्ष्मशरीरका ही धर्म है। इस सूक्ष्मशरीरके रहनेपर ही उष्माकी उपलब्धि होती है, यह अन्वय है और सूक्ष्मशरीरके चले जानेपर मृतदेहमें और उष्मा उपलब्ध नहीं होती—यह व्यतिरेक है—इसके द्वारा सूक्ष्मशरीरकी सत्ता स्वीकार की जाती है, इस कारण (स्थूलशरीरमें उष्माका त्वाच प्रत्यक्ष और बन्द कानोंके द्वारा उत्पादित आन्तरनादका श्रावण प्रत्यक्ष—ये दोनों ज्ञान स्थूलशरीरसे भिन्न ऐसे

लिङ्गशरीरके सद्भावका अवगम करा रहे हैं, जो कि अन्वय-व्यतिरेक द्वारा उष्मादिके जनक हैं और आगमोंमें जो सूक्ष्मशरीरके नामसे प्रसिद्ध है।) *'तद्युक्ततद्वियुक्तयोरिति'*—सूक्ष्म-युक्त एवं सूक्ष्म-वियुक्त देहको यथाक्रमसे जीवदेह एवं मृतदेह कहा जाता है, अतएव उष्मा सूक्ष्मदेहकी है—इस युक्तिके कारण—यह अर्थ है। *'मानान्तरायेति'* श्रुति इत्यादि वाक्य संग्रहके लिए 'च' शब्द प्रयुक्त है॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें और एक युक्ति दिखाते हैं कि मृत्युसे पूर्व स्थूलदेहके स्पर्शमें जिस ऊष्मा अर्थात् उत्तापका बोध होता है, वह सूक्ष्मशरीरकी ही उष्णता है। मृत्युके बाद फिर वह नहीं रहती। सूक्ष्मयुक्त देह ही जीवित-देह है और सूक्ष्म वियुक्त देहको मृतदेह कहा जाता है। इसलिए जाना जा सकता है कि विज्ञ व्यक्तिका भी सूक्ष्मशरीरके साथ उत्क्रमण होता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

विकर्षतोऽन्तर्हृदयाद्दासीपतिमजामिलम् ।
यमप्रेष्यान् विष्णुदूता वारयामासुरोजसा॥
(श्रीमद्भा॰ ६/१/३१)

अर्थात् उस समय यमदूत दासीपति अजामिलके शरीरमेंसे जीवात्माको (सूक्ष्मशरीर) निकाल ही रहे थे कि तभी विष्णुदूतोंने बलपूर्वक उन्हें रोक दिया।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

स्थूलदेहे सूक्ष्मदेहस्यैव धर्मभूतः उष्मोपलभ्यते। तस्मिन्नसति तदनुपलब्धेरित्युपपत्तेः।

अर्थात् स्थूलशरीरमें जो उष्माकी उपलब्धि होती है, वह इसी सूक्ष्मशरीरका गुण अर्थात् स्वाभाविक धर्म है। सूक्ष्मशरीरके रहनेपर ही स्थूलशरीरमें उष्माकी उपलब्धि होती है। उस सूक्ष्मदेहके स्थूलदेहसे भिन्न हो जानेपर उष्मा अनुपलब्ध हो जाती है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

द्विधाहीदमवद्धस्य तदुष्मवदनुष्मवच्च। तत्रोष्मवत् परं ब्रह्म यन्न जिघ्रन्ति न पश्यन्ति न शृण्वन्ति न विजानन्ति अथानुष्मावत् प्रकृतिश्च प्राकृतं च यन्न जिघ्रन्ति जिघ्रन्ति च यन्न पश्यन्ति पश्यन्ति च यन्न

शृण्वन्ति शृण्वन्ति च यन्न जानन्ति जानन्ति चेति सौपर्णश्रुतेः। किञ्चित् साम्योपपत्तेः।

अर्थात् पुनः युक्ति दिखाते हुए ईश्वरके साथ प्रकृतिके किञ्चित् साम्यका समर्थन करते हैं—प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही अबद्ध हैं। जगत् शीतल एवं उष्ण दो प्रकारका दृष्टिगत होता है। उसमें जो उष्णता है। वह परब्रह्मकी है, परमात्मा न सूँघते हैं, न देखते हैं, न सुनते हैं, न जानते हैं, जो शीतलता हैं, वह प्रकृतिकी और प्राकृत वस्तुओंकी स्वाभाविक है, जो नहीं सूँघते और सूँघते भी हैं, जो नहीं देखते, देखते भी हैं, जो नहीं सुनते, सुनते भी हैं, जो नहीं जानते, जानते भी हैं—इस सौपर्ण-श्रुतिमें प्रकृति एवं पुरुषमें किञ्चित् साम्य दिखलाया गया है॥ ११॥

अवतरणिका भाष्य—अथाशङ्क्य समाधत्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद मुक्ति विषयमें आशङ्का उठाकर समाधान करते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेति। मुक्तिप्रक्रमायाथशब्दः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस बार मुक्तिके प्रक्रमके लिए अथ शब्दका प्रयोग हुआ है।

सूत्र—प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्॥ १२॥

सूत्रार्थ—'प्रतिषेधात्' श्रुतिमें विद्वानकी उत्क्रान्ति निषिद्ध है, अतएव उसका उत्क्रमण नहीं होगा, 'चेत्'—यदि यह कहते हो तो 'इति न'—ऐसा नहीं है, शारीरात्—यह उत्क्रमण-निषेध देहसे नहीं है, किन्तु जीवात्मासे है—यह तात्पर्य है॥ १२॥

सूत्रानुवाद—देहसे प्राणकी उत्क्रान्तिका कहींपर निषेध नहीं है, किन्तु जीवात्माका शरीर-सम्बन्ध निषिद्ध हुआ है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—विदुष उत्क्रान्तिर्न स्यात्। *"अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"* इति बृहदारण्यके (४/४/६) तस्य तत्प्रतिषेधादिति चेन्नात्र देहात् प्राणनिष्क्रान्तिर्न प्रतिषिद्धा किन्तु शारीराज्जीवादेव। देहात्तु तस्यासौ दर्शितास्ति॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—पूर्वपक्षी कहते हैं कि ब्रह्मविद्का देहसे उत्क्रमण नहीं है क्योंकि श्रुति कहती है—*'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम इत्यादि ... ब्रह्माप्येति'* अर्थात् यदि वह साधक बाह्य विषयोंमें कामना-रहित होता है अथवा आन्तर विषयक कामनाओंसे वर्जित होता है अथवा सर्वदा भगवदानन्दानुभवसे परितृप्तकाम होता है, उसकी प्राणवायु देहसे नहीं निकलती किन्तु वह ब्रह्म-सदृश होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—इस बृहादरण्यक-श्रुतिमें विद्वान्के प्राणोत्क्रमणका निषेध बतलाया है; यह यदि कहते हो, तो ऐसा नहीं है—इस श्रुतिमें जिस उत्क्रमणका निषेध किया गया है, उसे जीवात्मासे (शरीर-सम्बन्धी जीवसे) जानना चाहिये। जीवसे प्राणका उत्क्रमण कहीं देखा ही नहीं गया कि उसका प्रतिषेध हो जाता—देहसे प्राणके निर्गमनका निषेध नहीं है। देहसे विद्वान्का उत्क्रमण पहले भी सर्वत्र दिखाया गया है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रतिषेधादिति। अकामो बाह्यविषयककामनाशून्यः। निष्कामो हार्दविषयककामनाशून्यः। आप्तकामो भगवदानन्दनुभवेन परितृप्तः। ईदृशो यो ब्रह्मवित् तस्य प्राणास्तत्स्वरूपालिङ्गदेहविशिष्टान्नोत्क्रामन्ति। किन्तु तेन सन्ध्याय विरजातटं चलन्तीत्यर्थः। स खलु ब्रह्मैव ब्रह्मसदृशः सन् ब्रह्माप्येति लभत इत्यर्थः। तस्य तदिति। विज्ञस्य देहादुत्क्रान्तिनिषेधादित्यर्थः। तस्यासाविति। तस्य विदुषः। असावुत्क्रान्तिः॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—*'प्रतिषेधादित्यादि'* सूत्रमें *'अथाकामयमानो'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ—अकाम-शब्दका तात्पर्य है—बाह्य विषयक कामनाओंसे रहित, निष्काम अर्थात् आन्तर विषयक कामनाओंसे रहित, आप्तकाम अर्थात् भगवदानन्द-अनुभवके कारण परितृप्त। तादृश—इस प्रकार जो ब्रह्मवित् हैं, उनकी प्राणवायु लिङ्ग-देह-विशिष्ट है—इस प्रकार स्वरूपसे उत्क्रान्त नहीं होता, किन्तु उसके साथ संयुक्त होकर विरजा-तट पर (रजोगुणातीत नदीके किनारेपर) चला जाता है, यह अर्थ है। वह साधक ब्रह्म-सदृश होकर क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होता है। *'तस्य तत्प्रतिषेधादिति'* में 'तस्य' का अर्थ है—विज्ञका, तत्प्रतिषेधात्—देहसे निष्क्रमण निषिद्ध होनेके कारण, यह अर्थ है। *'तस्यासौ दर्शितास्ति'* में *'तस्य'* का अर्थ है—उस ब्रह्मविद्का, *असौ*—यह उत्क्रमण देखा गया है॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकारने प्रस्तुत सूत्रमें पूर्वपक्षकी आशङ्का करते हुए समाधान किया है कि यदि कोई पूर्वपक्षी कहे कि बृहदारण्यकमें विद्वान् व्यक्तिकी उत्क्रान्तिका निषेध है जैसे कि कहा गया है—*'नु कामयमानो-अथाकामयमानो योऽकामो ... ब्रह्माप्येति'* (बृ॰आ॰ ४/४/६) अर्थात् विद्वान्के प्राणकी उत्क्रान्ति नहीं होती, वह ब्रह्मत्व प्राप्त करके अर्थात् ब्रह्म सदृश होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है। इसलिए प्राणकी उत्क्रान्तिका प्रतिषेध हुआ है। इस प्रकार पूर्वपक्षको उठाते हुए सूत्रकार स्वयं कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है। इस श्रुतिमें देहसे प्राणकी उत्क्रान्तिका निषेध नहीं है, यह निषेध तो जीवसे कहा गया है—यह जानना चाहिये। शारीर अर्थात् जीव (आत्मा) को छोड़कर प्राण कहीं भी नहीं जाते, यही कहा गया है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३१/४४)

अर्थात् जीवका उपाधिस्वरूप लिङ्गदेह एवं आत्माका अनुगामी भोगाधिष्ठान यह स्थूलदेह—इन दोनोंका परस्पर संगठित होकर कार्य न करना ही प्राणीकी मृत्यु और दोनोंका साथ-साथ प्रकट होना जन्म कहलाता है॥ १२॥

सूत्र—स्पष्टो ह्येकेषाम्॥ १३॥

सूत्रार्थ—इस विषयमें विवाद करनके लिए कुछ भी नहीं है 'हि'—क्योंकि 'एकेषाम्' कुछ माध्यन्दिन वेदाध्यायीके मतमें देहावच्छिन्न आत्मासे ही इस उत्क्रमणके सम्बन्धमें प्रतिषेध 'स्पष्टः' स्पष्ट देखा जाता है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—उक्त विषयमें विवाद निराधार हैं क्योंकि माध्यन्दिन शाखामें स्पष्ट कहा है कि शरीरसे प्राणकी उत्क्रान्ति नहीं होती है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—नैवात्र विवदितव्यम्। हि यस्मादेकेषां माध्यन्दिनानां शारीरात् प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधः स्पष्टो दृश्यते। *"न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव*

समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (बृ॰आ॰ ४/४/६) इति। अत्रैवेति पुरःप्राप्ये ब्रह्मण्येवेत्यर्थः। यत्तु काण्वाम्नाये आर्त्तभागप्रश्ने विद्वत्प्राणानुत्क्रान्तिपरं याज्ञवल्क्योत्तरं दृश्यते तत् किल परमार्त्तैकान्तिपरतया बोध्यम्। यच्च निर्विशेषब्रह्मात्मैक्यध्यायि-नोऽनुत्क्रान्तिपरं तदित्याह तन्मन्दं तदर्थावेदकपदादर्शनात् निर्विशेषत्वाद्यसिद्धेश्च॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—विद्वान्‌के प्राण निष्क्रान्त होते हैं? कि नहीं? इस विषयमें विसंवाद (विवाद) करनेके लिए कुछ भी नहीं है क्योंकि माध्यन्दिनशाखीगणोंकी कतिपय श्रुतियोंमें शारीर आत्मासे प्राणकी उत्क्रान्तिका निषेध स्पष्ट देखा जाता है। जैसे कि यह श्रुति है—*'न तस्मात् प्राणा उत्क्रान्ति ... ब्रह्माप्येति'* अर्थात् उस शारीर आत्मासे प्राणवायुका उत्क्रमण नहीं होता, किन्तु यह प्राण कुछ समय बाद प्राप्य ब्रह्ममें लीन हो जाता है। 'एव' शब्दसे तात्पर्य है कि वह ब्रह्मभूतका ब्रह्ममें पर्यवसान है अर्थात् ब्रह्मके सदृश होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। तब काण्वशाखीय-श्रुतिमें आर्त्तभागके प्रश्नमें याज्ञवल्क्यका जो उत्तर देखा जाता है कि विद्वान्‌का प्राणोत्क्रमण नहीं है—इसका तात्पर्य यह है कि भगवत्-दर्शनके लिए परमार्त्त जो एकान्तीभक्त हैं, उनके ही प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; यह जानना चाहिये। लेकिन वही कहकर यह जो विशेष धर्म शून्य (निर्विशेष) ब्रह्मके साथ जीवात्माके ऐक्यके ध्यानकर्त्ता व्यक्तिके प्राणकी अनुक्रान्तिमें अर्थात् उत्क्रमणके निषेधमें जो तात्पर्य किया जाता है—यह असङ्गत है। कारण यह है कि इस प्रकारके तात्पर्यका ज्ञापक पद वहाँ (वेदमें) देखा नहीं जाता और फिर ब्रह्मका निर्विशेष धर्मकत्वादि असिद्ध (अप्रमाणित) भी तो है॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—स्पष्टो हीति। अत्र शारीरात् प्राणोत्क्रान्तिः प्रतिषिद्धेत्यस्मिन्नर्थे। न तस्मादिति। तस्मात् शारीरात्। यत्त्विति। काण्वाः पठन्ति। याज्ञवल्क्येति होवाच। यत्रायं पुरुषो म्रियते तदास्मात् शरीरात् प्राणा उत्क्रामन्त्याहो नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव संविलीयते स उच्छ्रूयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते इति। अस्यार्थः। आर्त्तभागः पृच्छति। हे याज्ञवल्क्य! यदायं ब्रह्मवित् पुरुषो म्रियते तदास्मात् तद्देहात् तेन सह प्राणा उत्क्रामन्ति न वेति प्रश्नार्थः। निर्याणकाले प्राणैः सहितो मूर्द्धन्यनाड्या गच्छति किंवा यावद्देहपातं तत्रैव स्थित्वा तत्पाते सति पश्चाद्गच्छतीति यावत्। तत्रोत्तरम्। नेति होवाच (बृ॰आ॰ ३/२/११) इति। ते तत्प्राणा यावद्देहनिपातमत्रैव देहे तिष्ठन्ति। स ब्रह्मविदुच्छ्रूयति उच्छूनदेहो भवति। आध्मायति बाह्येन वायुना

पूरितो भवति। एवमाध्मातो मृतो निश्चेष्टः शेत इति। इत्थं प्रारब्धफलभूतं देहोच्छूयनादिकं किञ्चिदनुभूषाधिकं स्वज्ञातिपुत्रेभ्यः प्रदाय पश्चान्मोक्षं विन्दतीति। एषा श्रुतिः प्राणोत्क्रान्तिवादिनां कथं सङ्गच्छेतेति चेत् तत्राह। परमार्त्तैकान्तिनिष्ठं बोध्यमिति। तान् हि स्वयं श्रीहरिरेवागत्यात्रैव तद्देहोपाधिं विनिर्धूय दिव्यतनुभाजो विधाय गरुत्मत्यारोप्य स्वधाम नयतीति विशेषाधिकरणे निर्णेष्यते। इतरथा बहुभिरुत्क्रान्ति-वाक्यैः सह विरोधापत्तिः स्यादिति भावः। यच्चेति। तदेव काण्वाम्नायमाश्रित्य मायिनो वर्णयन्ति। सविशेषब्रह्मध्यायिनः सलिङ्गस्येयमुत्क्रान्तिर्नतु निर्विशेषब्रह्मात्मैक्यध्यायिनः तस्य तप्तायःपिण्डनिक्षिप्तनीरबिन्दुवदत्रैव लिङ्गदेहस्य विलयः स्यादत्रैव समवलीयते इति श्रुतेः। अत्रैवेति। निखिल प्रपञ्चभ्रमाधिष्ठानतयावगते निर्विशेषे स्वात्मभूते ब्रह्मण्येवेत्यर्थः। कृत्स्नः प्रपञ्चः खलु स्वाज्ञानेन स्वस्मिन् कल्पितो रज्जाविव भुजङ्गादिः। स्वज्ञाने सति तु स्वस्मिन्नेव स विलीयते रज्जुज्ञाने सति तदज्ञानकल्पितो यथा भुजङ्गादिरिति। तस्मात् तद्धयायिनो नास्त्यत्क्रान्तिरिति। तत्र तदर्थस्तु। उत्पन्नब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारस्य विदुषो यदायं स्थूलः प्रत्यक्षपुरुषो देहो म्रियते निश्चेष्टो भूमौ शेते तदास्माद्देहात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत नेति तत्रैव विलयं यान्तीति पृष्टोऽनुत्क्रान्तिपक्षमाश्रित्य नोत्क्रामन्तीत्युक्तवा तर्हि मृतो न स्यादित्याशङ्क्य अत्रैव समवलीयन्त इति तद्विलयं प्रतिज्ञाय तत् सिद्धये स उच्छूयतीत्यादिकमवोचत्। तत्र देहोच्छूयनादिभिरुत्क्रान्त्यभावः सिद्ध इति चेन्मैवमेतत्। तत्र हेतुस्तदर्थावेदकेति। न ह्येषा श्रुतिस्तादृशीं विवर्त्तवादमयीं कल्पनां सहते तत्प्रत्यायकपदादर्शनात्। हेत्वन्तरञ्चाह निर्विशेषेति। न निर्विशेषं ब्रह्म तत्र प्रमाणविरहात्। न च तेन सहात्मैक्यं द्वैत्वश्रुतिव्याकोपात्। न चैक्यं ध्येयं ब्रह्मणो ध्येयत्वात्॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—*'नैरात्र विवदितव्यम्'* इतिमें 'अत्र' का अर्थ है—शारीर (शरीराभिमानी) आत्मासे प्राणोत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध है, इस विषयमें। *'न तस्मादित्यादि'* माध्यन्दिन-श्रुति—'तस्मात्' शारीर आत्मासे। *'यत्तुकाण्वाम्नाये'* इत्यादि काण्वशाखीय ब्राह्मणगण पाठ करते हैं—*'याज्ञवल्क्येति होवाच'* इत्यादि। *'यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात् ... मृतः शेते'* इति अर्थात् ऋतभागके पुत्र आर्त्तभागने याज्ञवल्क्यसे जिज्ञासा की—अहे याज्ञवल्क्य! जिस समय यह ब्रह्मविद् पुरुष मरता है, उस समय उसकी देहसे उस जीवात्माके साथ प्राणोंका उत्क्रमण होता है? या नहीं? प्रश्नका तात्पर्य है कि देहसे निर्याणकालमें प्राणके साथ मस्तक-स्थित सुषुम्ना नाड़ीके योगसे क्या जीव चला जाता है? अथवा जिस समय तक देहपात नहीं होता, तब तक देहमें ही रहता है तथा देहपात होनेके बाद चला जाता है। इसपर याज्ञवल्क्यका उत्तर था—*'नेति होवाच'*

इत्यादि इसका अर्थ है—याज्ञवल्क्यने कहा, नहीं! ऐसा नहीं है। उसकी प्राणवायु देहपात पर्यन्त इसी देहमें ही रहती है। मृत्युके बाद उस ब्रह्मविद्की देह स्फीत हो जाती है (फूल जाती है), बाह्य वायु द्वारा पूर्ण हो जाती है और उसके बाद चेष्टाशून्य (निष्क्रिय) होकर पड़ी रहती है। इस प्रकार प्रारब्धकर्मका फल देहकी स्फीतता, बाह्य वायु द्वारा पूरण इत्यादि कुछ भोग करके उसके अतिरिक्त प्रारब्धकर्मको निज ज्ञाति एवं पुत्रको देनेके बाद वह मोक्षको प्राप्त होता है। यदि कहो, यह श्रुति प्राणके उत्क्रान्तिवादियोंके पक्षमें किस प्रकारसे सङ्गत है? इसपर कहते हैं—परमार्त्त—एकनिष्ठ भक्तोंके प्राणोंकी उत्क्रान्ति नहीं होती, इस उक्तिको सङ्गत जानें। बात यह है कि स्वयं (मूर्त्तिमान) श्रीहरि ही आकर इस शरीरमें ही उस परमार्त्त एकान्तिनिष्ठ भक्तोंकी देहोपाधिका नाश करके दिव्यतनु प्रदान करते हैं एवं बादमें स्ववाहन गरुडपर आरोहण कराके निजधाममें ले जाते हैं। यह बात विशेषाधिकरणमें निर्णीत होगी। ऐसा न माननेपर बहु उत्क्रान्ति वाक्यके साथ इस श्रुतिका विरोध हो पड़ेगा, यही भावार्थ है। *'यच्च निर्विशेषेत्यादि'*—काण्वशाखियोंकी इस श्रुतिका अवलम्बन करके मायावादी (केवलाद्वैतवादी) व्याख्या करते हैं। सविशेष ब्रह्मध्यानकारियोंका लिङ्गशरीरके साथ देहसे उत्क्रमण होता है किन्तु निर्विशेष ब्रह्मके साथ आत्माके अभेद-ध्यानकारीके लिङ्गदेहका लय उत्तप्त लौह-कटाहमें निक्षिप्त जल-बिन्दुके समान इसी स्थानपर ही होता है, क्योंकि श्रुति है—*'अत्रैव समवलीयते।'* 'अत्रैव'—इसका अर्थ है—निखिल विश्व-प्रपञ्चका भ्रम ब्रह्मके ऊपर होता है, उसका अधिष्ठान ब्रह्म है—इस प्रकार जीवात्मभूत निर्विशेष ब्रह्म विज्ञात होनेपर उसमें समस्त लीन हो जाता है क्योंकि समस्त प्रपञ्च स्व-स्वरूपके अज्ञानवश स्वयंमें ही कल्पित है, यथा रज्जुमें सर्प इत्यादि। जिस समय जीव शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभावके रूपमें स्वयंको जान लेता है, उस समय उस प्रपञ्चका स्वयंमें ही लय होता है, जिस प्रकार रज्जुको रज्जुके रूपमें जाननेपर उसमें अज्ञान-कल्पित सर्पादि लयको प्राप्त होते हैं। अतएव सिद्धान्त है—ब्रह्मके साथ जीवके अभेद ध्यान करनेवालेका उत्क्रमण नहीं होता; इस विषयमें उक्त श्रुतिका अर्थ वे (केवलाद्वैतवादी) इस प्रकारसे

करते हैं। यहाँ प्रश्न है—ब्रह्मके साथ जीवात्माके अभेदका अनुभव जिन्हें हुआ है, उस ब्रह्मविद्का जिस समय यह स्थूल प्रत्यक्ष पुरुषसमन्वित देह मृत होकर निश्चेष्ट-अवस्थामें भूमिमें पड़ा रहता है, उस समय उसकी देहसे प्राण निष्क्रान्त होते हैं? अथवा इस देहमें ही लयको प्राप्त होते हैं? जारत्कारव (जरत्कारु गोत्रवाले) आर्त्तभागके द्वारा इस बातकी याज्ञवल्क्यसे जिज्ञासा करनेपर 'उसका उत्क्रमण नहीं होता', इस पक्षको लेकर उन्होंने कहा, नहीं उत्क्रान्त नहीं होता। बादमें आर्त्तभागने आशङ्का की कि ऐसा होनेपर क्या मरता नहीं? उसके अपनोदनके लिए उन्होंने कहा—इस शरीरमें ही प्राण विलीन होते हैं, इस प्रकारसे विलय-पक्षमें प्रतिज्ञा करके उसे सङ्गत करनेके लिए ही—'यह शरीर स्फीत होता है' इत्यादि कहा गया है। इसमें देहकी स्फीतता इत्यादि द्वारा प्राणकी उत्क्रान्तिका अभाव सिद्ध हो रहा है। केवलाद्वैतवादी यदि इस प्रकारसे व्याख्या करें, तो कर नहीं सकते, इसका कारण है—*'तदर्थावेदक पदादर्शनात्'*—इति अर्थात् यह श्रुति इस प्रकारसे विवर्तवाद कल्पनाकी पक्षपाती नहीं है क्योंकि विवर्त्तबोधक कोई पद ही वहीं देखा नहीं जा रहा है। इस विषयमें अतिरिक्त और एक हेतु बतलाते हैं—ब्रह्म निर्विशेष हैं, इसका कोई प्रमाण भी नहीं है। उस ब्रह्मके साथ आत्माका ऐक्य है यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उसमें द्वैत-श्रुतिका विरोध होता है। और एक बात है—ऐक्य ध्यान भी असङ्गत है कारण ब्रह्म ही वहाँ ध्येय रूपमें निर्दिष्ट हैं (जो जीव एवं ब्रह्मके ऐक्यका चिन्तन करते हैं—वे अपनेको ब्रह्म मानते हैं—फिर प्राणोंका निकलना किसका हुआ। यह सिद्धान्त ही वेद-विरुद्ध है)॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि माध्यन्दिन शाखावलम्बीगणोंके विचारमतमें जीवसे प्राणके उत्क्रमणके सम्बन्धमें स्पष्ट रूपसे निषेध दिखायी देता है।

काण्व-आम्नायमें आर्त्तभागके प्रश्नमें याज्ञवल्क्यके उत्तरमें जो देखा जाता है कि विद्वान्का प्राणोत्क्रमण नहीं होता; लेकिन वह-परमार्त्त एकान्ति भक्तोंके सम्बन्धमें ही जानना चाहिये। यह बात *'विशेषञ्च दर्शयति'* (ब्र॰सू॰ ४/३/१६) में और स्पष्ट होगी। मायावादी

यदि कहें कि निर्विशेष ब्रह्मके साथ आत्माके ऐक्यका ध्यान करनेवालेके लिए ही प्राणका उत्क्रमण-श्रुतिमें निषिद्ध हुआ है—तो यह सङ्गत नहीं है। कारण है कि इस प्रकारसे विवर्त्तवादकी अर्थबोधक कोई श्रुति नहीं है, विशेष रूपसे ब्रह्मका निर्विशेषत्वादि असिद्ध है। यह कहनेसे द्वैत-श्रुतिका भी विरोध होता है क्योंकि वहाँ ध्येय वस्तुके रूपमें ब्रह्मका निदर्शन है। इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्यकारकी सूक्ष्मा टीकामें है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

तदोत्तानपदः पुत्रो ददर्शान्तकमागतम्।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्त्वा आरुरोहाद्भुतं गृहम्॥
(श्रीमद्भा॰ ४/१२/३०)

अर्थात् उत्तानपाद-नन्दन ध्रुव भगवत्-प्रेरित विमानपर आरोहण करना ही चाहते थे कि उन्होंने मूर्त्तिमान कालको सम्मुख उपस्थित देखा। वे मृत्युके सिरपर पैर रखकर उस अद्भुत विमानपर सवार हो गये।

इस प्रकार आर्त्तभागको दिये गये उक्त उत्तरमें जीवात्माके प्राणके उत्क्रमणका निषेध हुआ है, शरीरके अनुत्क्रमण (शरीरसे प्राण नहीं निकलने) की चर्चा नहीं है। आर्त्तभागके प्रश्नमें उपासक जीवका प्रसङ्ग ही नहीं है। उपासक जीवके प्राण ब्रह्म प्राप्तिके पूर्व तक उससे छूटते नहीं हैं। अनुपासकको प्राण एकाएक नहीं छोड़ते, अपितु सूक्ष्म रूपसे संसक्त होकर उस जीवके साथ जाते है। शरीर तो सभीका मर जाता है—शरीरसे प्राण निकलनेपर उसमें बाह्य वायु भर जाती है, वह फूलकर नगाड़े जैसा बजने लगता है। शरीरसे प्राणोत्क्रमण है, शारीर (जीवात्मा) से नहीं। महाभारत (१२/३३३/१९) में भी द्वैपायनात्मज श्रीशुकदेवके आदित्यमण्डल-प्रस्थान अर्थात् देशान्तर-गतिका वर्णन हुआ है, तो वह उनके ऊपर विद्या-जनित योग-बलका चमत्कार है। अपने शरीरके साथ ही वे अन्तरिक्ष तक पहुँच गये थे। शरीरसे उनकी उत्क्रान्ति नहीं थी॥ १३॥

सूत्र—स्मर्यते च॥ १४॥

सूत्रार्थ—'च' और 'स्मर्यते' स्मृतिमें भी ब्रह्मविद्‌के मस्तकपर स्थित सुषुम्ना नाड़ी द्वारा उत्क्रमण पाया जाता है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—स्मृति विद्वान्‌की मुर्द्धा नाड़ीसे उत्क्रान्ति कहती है, अतएव विद्वान्‌की भी उत्क्रान्ति है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—*"ऊद्ध्वमेक: स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम्। ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्"* (याज्ञवल्क्य-स्मृति) इति। स्मृतिश्च विदुषो मूर्द्धन्य-नाड्योत्क्रान्तिमाह। तथाच विदुषोप्युत्क्रान्तिरस्तीति सिद्धम्॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'ऊर्द्ध्वमेक:'* इत्यादि अर्थात् उन समस्त नाड़ियोमें सुषुम्नारूप एक रश्मि ऊर्ध्वमें अर्थात् मस्तक तक जाते हुए (मूर्द्धापर्यन्त) अवस्थित है। यह सूर्यमण्डलको भेदकर ब्रह्मलोकका भी अतिक्रमण करती है। इस नाड़ी मार्गके द्वारा साधक परम गति अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह स्मृति-वाक्य भी ब्रह्मविद्‌के मस्तकपर स्थित नाड़ी-योगसे उत्क्रमण बतलाता है। ऐसा होनेपर यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि विद्वान्‌का भी देहसे उत्क्रमण होता है॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—स्मर्यत इति। एक: सुषूम्नारूपो रश्मि:॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—*'स्मर्यते च'* इस सूत्रमें। *'ऊर्द्ध्वमेक:'* इत्यादि भाष्यमें एक:—सुषुम्नारूपी रश्मि है॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—ब्रह्मविद्‌की उत्क्रान्तिके विषयमें स्मृति-प्रमाण भी है। अब सूत्रकार यही बतलाते हैं।

श्रीरामानुजाचार्यने अपने भाष्यमें इस स्थलपर याज्ञवल्क्य-स्मृतिको उद्धृत करते हुए कहा है कि *'ऊर्ध्वमेक स्थितस्तेषां योभित्त्वा सूर्यमण्डलम्। ब्रह्मलोक मतिक्रम्य तेन याति परांगतिम्॥'* अर्थात् विद्वान्‌का भी मूर्धन्य नाड़ी द्वारा उत्क्रमण होता है अर्थात् सूर्यमण्डलको भेदते हुए वह ब्रह्मलोकका भी अतिक्रमण कर परमगति अर्थात् गोलोकको प्राप्त करता है।

महाभारतमें कहा गया है—

सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु।
जगाम भित्वा मूर्द्धानं दिवमभ्युत्पपात ह॥

अर्थात् निष्काम उपासक भक्तकी आत्मा देहके प्रत्येक मार्गका अवरोधकर सुषुम्ना नाड़ीके द्वारा मूर्द्धाका भेदन करते हुए देवयान मार्गकी और उत्क्रमण करती है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त होता है—

पार्ष्ण्यापीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्द्धनसु।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत् तनुम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१५/२४)

यदि योगी अपने शरीरको त्याग करना चाहता है तो वह पादमूल अर्थात् एड़ीसे गुदाद्वारको दबाकर प्राणवायुको क्रमशः हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मस्तकमें आरोपित करे, फिर वहाँसे ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा उसे ब्रह्मके समीप ले जाकर शरीरका त्याग कर दे॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—सेन्द्रियग्रामः सप्राणो जीव उत्क्रान्तिकाले तेजः प्रभृतिषु सूक्ष्मभूतेषु सम्पद्यते इत्यभिहितं सैषा सम्पत्तिर्विज्ञस्य न सम्भवेदित्याशङ्क्य परिहृतञ्च। अथेदं विमृश्यते। विदुषो वागादयः प्राणास्तद्वपुर्भूतानि सूक्ष्मभूतानि च स्व-स्वहेतौ सम्पद्यन्ते परमात्मनि वेति संशये *"यत्रास्य पुरुषस्य"* (बृ॰आ॰ ३/२/१३) इत्यादि श्रुतेः स्व-स्वहेताविति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पहले कहा गया था कि जीवात्मा और इन्द्रियों प्राणवायुके साथ देहसे उत्क्रमणके समय तेज इत्यादि सूक्ष्मभूतोंसे संयुक्त होती है—यह संयोग विद्वान्में सम्भव नहीं है, यह आशङ्का करके उसका समाधान भी किया गया था। अब यह विचार किया जाता है—विद्वान्की वाक् इत्यादि इन्द्रियाँ और उसके शरीरके उपादान सूक्ष्मभूत भी अपने-अपने कारणमें लीन होते हैं? अथवा परमात्मामें? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि *'यत्रास्य पुरुषस्य'* इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है कि अपने-अपने कारणमें ही लीन होते हैं। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सेन्द्रियेति। अत्राक्षेपः सङ्गतिः। सेन्द्रियप्राणो जीवो ब्रह्मणि लीयत इति यत् पूर्वमुक्तं तन्न युक्तं स्व-स्वहेतावग्न्यादौ वागादेर्लयश्रवणात् इत्याक्षिप्य तत्र समाधानात्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस अधिकरणमें आक्षेप नामक सङ्गति है। पहले जो कहा गया था कि इन्द्रिय एवं प्राणके साथ जीव

ब्रह्ममें लीन होता है, यह तो युक्ति सङ्गत नहीं है क्योंकि वागादिका निज-निज कारण अग्नि इत्यादिमें लय श्रुत होता है, इस प्रकार आक्षेप (आपत्ति) करके समाधान होनेके कारण आक्षेप-सङ्गति सिद्ध हुई है।

परसम्पत्त्याधिकरणम्

सूत्र—तानि परे तथा ह्याह॥ १५॥

सूत्रार्थ—'तानि'—उस तेज शब्दसे संज्ञित वाक् इत्यादि, प्राण और सूक्ष्मभूत सभी 'परे' आत्मस्वरूप परब्रह्ममें संयुक्त हो जाते हैं 'हि' क्योंकि 'तथा' इसी प्रकारसे श्रुतिने 'आह' कहा है॥ १५॥

सूत्रानुवाद—वागादि इन्द्रियाँ, प्राण तथा भूतसमूह सर्वात्मस्वरूप परब्रह्ममें सम्पन्न हो जाते हैं—'तानि तेजः परस्याम्' श्रुति यही कहती है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—तानि तेजः परस्यामित्यत्र तेजः शब्दितानि वागादिप्राणभूतानि परे सर्वात्मभूते ब्रह्मणि सम्पद्यन्ते तस्यैव सर्वोपादानत्वात्। कुतः? हि यस्मात् *"तेजः परस्यां देवतायाम्"* (छा॰ ६/८/६) इति श्रुतिरेव तथाच। यत्रास्येत्यादिकन्तु जहत्स्वार्थमित्यभाणि प्राक्॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'तानि तेजः पर स्याम्'* इस श्रुतिमें तेज संज्ञासे संज्ञित वाक्, इन्द्रिय, प्राण एवं जीवके आश्रयभूत सूक्ष्म पञ्चभूत—ये सभी सर्वात्मभूत परब्रह्ममें लीन (सम्पन्न) हो जाते हैं क्योंकि वे सबके उपादान कारण हैं। इसका प्रमाण क्या? उत्तर है— *'तेजः परस्यां देवतायाम्'* अर्थात् तेज परदेवतामें संयुक्त होता है—यह श्रुति यही कहती है। तब जो *'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति'* इत्यादि श्रुति अन्य रूपसे कहती है—उसकी उपपत्तिमें पहले ही कह दिया गया है कि जहत्स्वार्थ लक्षणा (जिस लक्षणामें पद स्व अर्थका त्याग करता है) द्वारा अग्नि इत्यादि शब्द ब्रह्मके बोधक हैं॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—तानीति। तेजः परस्यामित्यत्र तेजःशब्देन सेन्द्रियप्राणस्य जीवस्याश्रयभूतं सूक्ष्मभूतपञ्चकं बोध्यम्॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार— *'तानि पर'* इत्यादि सूत्रमें। *'तेजः परस्याम्'* इत्यादि श्रुतिस्थ 'तेजः'-शब्दसे इन्द्रिय एवं प्राण-समन्वित जीवके आश्रयस्वरूप सूक्ष्मपञ्चभूतोंको जानना होगा॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब एक और आक्षेयमूलक प्रश्न करते हैं कि ब्रह्मविद्की वाक् प्रभृति इन्द्रियाँ एवं उसके शरीरके उपादान भूतसमूह क्या अपने-अपने कारणमें लीन होते हैं? अथवा परमात्मामें संयुक्त होते हैं? इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि अपने-अपने कारणमें ही लीन होते हैं। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि *'तानि'*—अर्थात् ये प्राण, इन्द्रिय और सूक्ष्मभूत समस्त ही परब्रह्ममें संयुक्त होते हैं क्योंकि वे ही सर्वात्मभूत एवं सर्वोपादानस्वरूप हैं। वही श्रुतिमें भी है। छान्दोग्य-श्रुति (६/८/६) में है—*'वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्।'*

अर्थात् हे सोम्य! मरणको प्राप्त हुए इस पुरुषकी वाक् मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है।

श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें भी पाया जाता है—

श्रुतिके अनुसार ही कार्यकी कल्पना करनी चाहिये। सुषुप्ति और प्रलयकाल (मूर्च्छा) में जीव जिस प्रकार परमात्म-सम्पत्तिके द्वारा सुख-दुःख भोग जनित-श्रमका अपनोदन करता है, उसी प्रकार यहाँ भी अर्थात् मुक्तावस्थामें भी जीवात्माके कार्यकलाप परमात्मामें संसक्त रहते हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

तेजः प्रभृति भूतसूक्ष्माणि परस्मिन् सम्पद्यन्ते। 'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा॰ ६/८/६) इत्याह श्रुतिः।

अर्थात् विद्वान्के वाक्, प्राण एवं सूक्ष्मभूत अपने आश्रय-स्थान परमात्मामें सम्पन्न रहते हैं, जैसा कि श्रुतिका वचन है—*'तेजः परस्यां देवतायाम्'* (तेज परदेवतामें लीन हो जाता है) यह श्रुति परमात्माको सुषुप्ति एवं प्रलयकी भाँति विश्राम-स्थानके रूपमें कहती है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी देखा जा सकता है—

प्राणद्वारेण सर्वाणि दैवतानि परमात्मानि विलीयन्ते। सर्वे देवाः प्राणमाविश्य देवे मुक्ता लयं परमे यान्त्यचिन्त्ये इति कौषारवश्रुतिः।

अर्थात् प्राणके सकाशसे (द्वारसे) सारे देवता परमात्मामें विलीन होते हैं, जैसा कि कौषारव-श्रुतिका कथन है—'सारे देवता प्राणमें प्रविष्ट होकर परम अचिन्त्य देवमें लीन होकर मुक्त हो जाते हैं।' इस प्रकार मोक्ष-विषयमें चतुर्मुखसे इतर देवताओंकी भगवत्-प्राप्तिका प्रसङ्ग है। चित्रकेतु (वृत्रासुर), शिशुपाल, दन्तवक्र आदिके देहसे तेज निकलकर भगवान् श्रीकृष्णमें लीन हो गया था, ऐसा उल्लेख इसी तथ्यका द्योतक है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे॥

(श्रीमद्भा० १०/८७/१८)

हे अनन्त! ऋषि-मुनियोंने बहुत-से मार्ग बतलाये हैं। उनमें जो स्थूलदृष्टिवाले हैं, वे मणिपुर चक्रमें ब्रह्म (अग्नि-वैश्वानर) की उपासना करते हैं, आरुणि सम्प्रदायवाले सम्पूर्ण (१०१) नाड़ियोंके मार्गस्वरूप हृदयमें स्थित (ज्ञानशक्तिदायक) परम सूक्ष्म वस्तु—दहर ब्रह्मकी उपासना करते हैं। इस हृदयमें आपकी उपलब्धका स्थान सुषुम्ना नाड़ी है, जो ब्रह्मरन्ध्र तक गयी है। इस स्थानको प्राप्त कर लेनेपर मनुष्योंको जन्म-मरणके चक्करमें जाना नहीं पड़ता॥ १५॥

अवतरणिका भाष्य—अथ तत्रैव पुनर्विमर्शान्तरम्। या खलु परमात्मनि विद्वत्प्राणादिसम्पत्तिरुक्ता सा किं वाङ्मनसीत्यादिवत् संयोगापत्तिः किंवा *"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्र"* इत्यादिवत् तादात्म्यापत्तिरिति सन्देहे पूर्वस्वारस्यप्राप्तेरविशेषाच्च तद्वत्संयोगापत्तिरिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसी विषयपर और एक अन्य विचारका आरम्भ होता है। परमात्मामें विद्वान्‌की जो प्राणादि सम्पत्ति कही गयी है, यह सम्पत्ति क्या 'वाङ्मनसि—वाक् मनमें संयुक्त होता

है' इत्यादिके समान संयोगकी अर्थ बोधक है? अथवा जैसे प्रवाहित नदियाँ समुद्रमें मिल जाती हैं इत्यादिके तत्स्वरूपापत्तिरूप लयकी (तादात्म्य भावकी) प्रकाशक है? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—पूर्वकी स्वरसता-प्राप्तिके कारण अर्थात् पूर्वमें वाक् इत्यादिका मन इत्यादिमें संयोग अर्थ अभिप्रेत होनेके कारण और तेजकी भी ब्रह्मसम्पत्तिके विषयमें कोई भी विशेष उक्ति न रहनेके कारण वागादिके मन इत्यादिमें संयोगके समान ब्रह्मसम्पत्ति शब्दका ब्रह्ममें संयोग अर्थ ही कहा जायेगा—इस मतके उत्तरमें सिद्धन्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र विद्वत्प्राणादेर्ब्रह्मणि सम्पत्तिरुक्ता तामाश्रित्य तस्याः स्वरूपं वर्ण्यमित्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। अथ तत्रैवेत्यादि। पूर्वस्वारस्येति। पूर्वत्र वागादीनां मनःप्रभृतिषु संयोगापत्तिरेव व्याख्यातेत्यर्थः। अविशेषाच्चेति। तादात्म्यापत्तिबोधकविशेषानुपलम्भाच्चेत्यर्थः। एवं प्राप्ते।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले ब्रह्मविद्के प्राण इत्यादि की जो ब्रह्ममें सम्पत्ति कही गयी, उसका आश्रय करके इस सम्पत्तिका स्वरूप वर्णनीय है—इस कारण इस अधिकरणका आरम्भ है; अतएव इसमें आश्रयाश्रयिभावरूप सङ्गति ज्ञातव्य है। *'अथ तत्रैव विमर्शान्तरम्'* इत्यादि। *'पूर्वस्वारस्यप्राप्तेरिति'* अर्थात् पूर्वमें व्याख्याकी गयी थी कि वाक् इत्यादिका मन इत्यादिमें संयोगापत्ति (वाणीका मनमें मिलना) ही सम्पत्ति शब्दका अर्थ है, इस व्याख्याके हेतुसे एवं *'अविशेषाच्च'* तादात्म्यापत्ति बोधक किसी शब्द-विशेषकी अनुपलब्धिके कारण संयोग-प्राप्ति ही सम्पत्ति शब्दका अर्थ है। इस प्रकारका मत प्राप्त होनेपर सूत्रकार कहते हैं—

अविभागाधिकरणम्

सूत्र—अविभागो वचनात्॥ १६॥

सूत्रार्थ—'अविभागो' सम्पत्ति शब्दका अर्थ अविभाग अर्थात् तादात्म्य-प्राप्तिरूप लय है, संयोग नहीं, कारण क्या है? 'वचनात्' श्रुति यही कहती है॥ १६॥

सूत्रानुवाद—अचिन्त्यशक्ति समन्वित परमात्मामें प्राणादिका अविभाग अर्थात् तादात्म्य-प्राप्तिरूप लय है, संयोग नहीं। श्रुतिका यही आदेश है॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—अचिच्छक्तिविशिष्टे परमात्मनि प्राणादेरविभागस्तादात्म्यापत्तिः। कुतः? वचनात्। षष्ठे प्रश्ने *"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति"* इति प्राणादीनां फलानां परमात्मनि सम्पत्तिमभिधाय पुनः *"भिद्यते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते", "स एषोऽकलोऽमृतो भवति"* (प्र० ६/५) इति तासां नामरूपाभेदस्योक्तेः। अयं भावः—स्थूलशरीरादुत्क्रान्तस्य जीवस्य विदुषः सूक्ष्मं शरीरं विद्यया विप्लुष्टकारीषपिण्डवज्जीर्णमप्यनुवर्त्तते। अथाण्डाद्विनिष्क्रान्तस्य तस्याष्टमावरणे प्रकृतौ तद्विकारभूतं सूक्ष्मं तद्विलीयते। स तु विशुद्धः प्राप्तब्राह्मवपुः प्रकृत्यपाश्रयेण तेन ब्रह्मणा सह संयुज्यत इति॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'अचिच्छक्ति विशिष्ट'* अर्थात् तमःशक्तिसम्पन्न परमात्मामें प्राण इत्यादिका अविभाग अर्थात् लयरूप जो तादात्म्यापत्ति है—यही सम्पत्ति शब्दका अर्थ है। प्रमाण क्या है? *'वचनात्'* क्योंकि इसी प्रकारकी उक्ति है। षट्प्रश्नीमें छह प्रश्नोंके उत्तरमें है—*'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति'*—इसका अर्थ है—*'अस्य परिद्रष्टुः'*—इस ब्रह्मदर्शनकारी पुरुषके 'इमाः' ये सब निज अनुभवविषयीभूत, 'षोडशकलाः' अर्थात् सूक्ष्मपञ्चभूतोंके (पञ्चतन्मात्राओंके) साथ ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन), 'पुरुषायणाः' परमात्मामें आश्रित 'पुरुषं प्राप्य'—परमात्माको प्राप्त होकर 'अस्तं गच्छन्ति' उनमें लयको प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार प्राणादि (इन्द्रिय इत्यादि) कलाओंका (विकारोंका) परमात्मामें लय (संयोग) बताकर पुनः कहते हैं—उन सब कलाओंके लयके बाद इन कलाओंके नाम-रूपका भी परमात्मामें लय हो जाता है, इस प्रकार वह पुरुष अमृत हो जाता है। इस स्थलपर कलाओंके नाम-रूपका लय बतला रहे हैं, इसलिए तादात्म्यापत्ति है। भावार्थ यह है कि ब्रह्मविद् पुरुषके स्थूलशरीरसे (पाञ्चभौतिक देहसे) निर्गत होनेपर उसका सूक्ष्मशरीर (सप्तदश विकारात्मक लिङ्गशरीर) विद्याके द्वारा विप्लुष्ट अर्थात् दग्ध होकर जीर्ण कारीषपिण्डके (दुग्ध गोमय पिण्डके) समान भस्मीभूत होकर भी

उस जीवका अनुसरण करता है। इसके बाद ब्रह्माण्डके सप्तावरणसे निर्गत उस ब्रह्मवित् पुरुषका विकारभूत वह सूक्ष्मशरीर अष्टम आवरणस्वरूप प्रकृतिमें विलीन हो जाता है। उस समय वह विरजा नदीमें स्नात होकर अर्थात् प्रकृतिके सम्पर्कसे विमुक्त (विशुद्ध) होकर भगवान्के सङ्कल्पसे सिद्ध पार्षद शरीरको (ब्राह्म-वपुको) प्राप्त होता है और प्रकृतिके सम्बन्धसे सर्वथा रहित ब्रह्मके साथ संयुक्त होता है॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—अविभाग इति। अचिदिति। तमःशक्तिमतीत्यर्थः। एवमेवेति। अस्य परिद्रष्टुर्ब्रह्मानुभविनो जनस्य इमाः स्वानुभवगम्याः षोडशकलाः सूक्ष्मभूतपञ्चक-सहितान्येकादशेन्द्रियाणीत्यर्थः। प्राणपञ्चकसहितानि तानीत्येके। पुरुषायणाः परमात्माश्रयाः। पुरुषं परमात्मानम्। अस्तं गच्छन्ति तमःशक्तिके तत्रैव लीयन्ते। *"गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा"* इत्यत्र तु मनसः पृथिवीविकारत्वेनैक्यविवक्षया पञ्चदशत्वं बोध्यम्। प्राणादीनामिति। कलालयोक्त्यनन्तरं तन्नामरूपलयमुक्त्वा *"स एषोऽकलोऽमृत"* इत्युक्तेर्निरवशेषस्तल्लय इति भावः। विप्लुष्टेति। बन्धकत्वशक्तिस्तस्य दग्धेत्याशयः। विशुद्धः विरजास्नातः प्रकृतिगन्धशून्य इत्यर्थः। प्राप्तेति लब्धभगवत्सङ्कल्पसिद्धपार्षदविग्रहः। प्रकृत्यपाश्रयेणेति। यत् प्रकृतिर्विदुरात् संश्रयति तेन ब्रह्मणा सह युक्तो मिलितो भवतीत्यर्थः। सहेति श्रीविग्रहेणाश्लेषं सूचयतीति॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—*'अविभाग'* इत्यादि सूत्रमें। *'अचिच्छक्तिविशिष्ट'* इत्यादि भाष्य—अचिच्छक्तिविशिष्ट अर्थात् तमः शक्तिसम्पन्न परमात्मामें। *'एवमेवास्य'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—*'अस्य परिद्रष्टुः'*—उस ब्रह्म-साक्षात्कारी पुरुषके 'इमाः'—ये सब अर्थात् निज अनुभवसिद्ध, षोडशकलाः—पञ्चसूक्ष्म महाभूत और एकादश इन्द्रिय—ये सोलह अंश। कोई-कोई कहते हैं, पञ्चसूक्ष्म महाभूत सहित—इसके स्थलपर पञ्च प्राणोंके सहित। पुरुषायणाः—परमात्माको आश्रय करके स्थित। पुरुषम् अर्थात् परमात्मामें। *'अस्तं गच्छन्ति'* अर्थात् तमः शक्तिसम्पन्न ब्रह्ममें लीन होते हैं। तब जो *'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः'* इस वाक्यमें पन्द्रह कलाएँ कही गयी हैं, यह मनके पृथ्वीके विकारत्वके कारण उसके साथ अभेद विवक्षा द्वारा जानना चाहिये। (घ्राण और मन दोनोंकी एक प्रकृति पृथ्वी है।) *'प्राणादीनां कलानामिति'*—सोलह कलाओंकी ब्रह्ममें लयोक्तिके बाद उनके नामरूपका लय कहा गया, उसके बाद वह ब्रह्मवित्

जीवात्मा कलारहित होकर अमृत होता है, यह कहनेके कारण निःशेषमें उसका लय जाना गया, यही भावार्थ है। *'विप्लुष्टकारीष-पिण्डवदित्यादि'*—इसका अभिप्राय है कि प्राणादिकी बन्धनकारित्व शक्ति दग्ध हो गयी। विशुद्ध-विरजा नदीमें स्नान करके अर्थात् सर्वथा प्रकृतिके सम्पर्कसे रहित होकर। *'प्राप्त ब्राह्मवपुः'*—भगवान्‌के सङ्कल्पवश सिद्ध अपने पार्षद शरीरको प्राप्त करके। *'प्रकृत्यपाश्रयेण इति'*—जिनका प्रकृति दूरसे ही आश्रय करती है, उन परमात्माके साथ मिलित होता है, यह अर्थ है। *'सह संयुज्यते'*—यह श्रीविग्रहके साथ संयोग सूचित करता है॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पुनः और एक विचार उत्थापित किया जा रहा है कि परमात्मामें विद्वान्‌के प्राणादि संयुक्त होते हैं—यह जो कहा गया है, वह क्या वाक्‌के मनके साथ संयोगके समान है? अथवा समुद्रमें नदीके मिलनके समान तादात्म्य-भावकी प्राप्ति है? इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि दोनों श्रुतियोंमें अविशेषमें अभिधानके कारण वाक्‌के मनमें संयोगकी भाँति ब्रह्ममें संयोग ही कहा जायेगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि अचित्-शक्ति-विशिष्ट परमात्माके साथ प्राणादिका अविभाग अर्थात् तादात्म्यापत्ति ही सिद्ध होती है।

इस विषयपर भाष्य और टीकामें विस्तृत आलोचना है।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—

ब्रह्मज्ञ मुक्तिकालमें ब्रह्मके साथ एक नहीं होता किन्तु अविभाग अर्थमें ऐसे सम्बन्ध-विशेषको प्राप्त होता है जो अपृथक्-रूप होता है अर्थात् जिसका पृथक् कहकर व्यवहार नहीं किया जा सकता, इतना ही।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

तेषां वागादिभूतसूक्ष्माणां परेऽविभागस्तादाम्यापत्तिः 'भिद्यते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते' इति वचनात्।

अर्थात् विद्वान्‌की (भक्त उपासककी) वागादि, सूक्ष्मभूत आदि की सम्पत्ति परब्रह्म भगवान्‌में अविभाग अर्थात् तादात्म्यापत्तिरूप ही है क्योंकि श्रुति इस प्रकार कहती है कि उन इन्द्रियादि कलाओंके नाम

और रूप नष्ट हो जाते हैं, उनके नाश होनेपर जो अविनाशी तत्त्व शेष रहता है, वही पुरुष है, उसे ब्रह्मवेता अमृतस्वरूप कहते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

एते देवा एतमात्मानमनुविश्य सत्याः सत्यकामाः सत्यसङ्कल्पाः यथा काममन्तर्बहिः परिचरन्तीति गौप-वनश्रुतिः। तत्परमेश्वरकामाद्यविभागेनैव तेषां सत्यकामत्वं कामेन मे काम आगाद्हृदयाद्हृदयं मृत्योः (तै॰ ३/१५/१४) *इति वचनात्। मुक्तानां सत्यकामत्वं सामर्थ्यञ्च परस्य तु। कामानुकूलकामत्वं नान्यत्तेषां विधीयते–इति ब्राह्मे।*

अर्थात् देवताओंके मुक्ति-विषयमें भगवदधीनत्वका समर्थन करते हैं अन्यथा भगवान्के सर्वोत्तमत्वकी हानि होती है। देवता भगवत्-अधीन हैं अथवा स्वतन्त्र हैं?—यह सन्देह है। यदि देवता स्वतन्त्र हैं, तो ऐसा होनेपर परमात्माकी सर्वोत्तमात्वोक्तिका विरोध होता है—इस दोषके परिहारके लिए कहते हैं—देवता स्वतन्त्र नहीं हैं, वे परमात्माके अधीन हैं। देवता परमात्मामें प्रवेश करके सत्य, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प होते हैं और इच्छानुसार अन्तर एवं बाह्य विचरण करते हैं—इत्यादि गौपवन-श्रुतिमें देवताओंका जो सत्यकामत्व कहा गया है, वह परमेश्वरकी इच्छानुसार होता है—यही स्वीकार करना होगा। परमात्मामें प्रविष्ट होनेके कारण परमेश्वरकी कामना आदिसे उनका सम्बन्ध जुड़ जाता है, इसीसे देवताओंका सत्यकामत्व है। वे भगवत्-कामानुसार ही कामना करते हैं। अतः अस्वतन्त्र देवताओंमें जो सत्यकामत्व है, वह दुःखानुभव नहीं है। ब्रह्मपुराणमें कहा है कि मुक्तोंका जो सत्यकामत्व है, वह परमेश्वरकी ही सामर्थ्यसे है, अन्यथा उनका कामानुकूल कामत्व (अभिलाषा) सम्भव नहीं हो सकता। स्पष्ट ही कहा गया है कि यह परमात्माके अतिरिक्त उनमें और कहाँसे आ सकता है? अतएव मुक्तोंकी अस्वतन्त्रताके कारण विष्णुका सर्वोत्तमत्व सिद्ध हुआ।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥

(श्रीमद्भा॰ २/१०/६)

अर्थात् जब श्रीहरि योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब जीवोंका उपाधियोंके साथ जो शयन (महाप्रलयके समय परमेश्वरमें लय) है, उसीका नाम निरोध है। मायिक स्थूल एवं सूक्ष्म रूप दोनों पदोंका परित्याग करके निज स्वरूपमें अर्थात् शुद्ध जीव-रूपमें और किसी-किसीका भगवत्-पार्षद-रूपमें विशुद्ध भावसे अवस्थानका नाम 'मुक्ति' है॥ १६॥

अवतरणिका भाष्य—अथ विद्वदुत्क्रान्तौ प्रतिज्ञातं विशेषं दर्शयितुमारम्भः। *"शतञ्चैका च"* इति वाक्ये शताधिकया विदुषो गतिरन्याभिस्तु अविदुष इत्येष नियमो युक्तो न वेति सन्देहे नाडीनामतिसौक्ष्म्यात् बाहुल्याच्च दुर्विवेचनतया पुरुषेण ग्रहीतुमशक्यत्वान्न युक्तः। *"तयोर्द्धमायन्नमृतत्वमेति"* इति यादृच्छिकोत्क्रान्त्यनुवादो भविष्यतीत्येवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद अब विद्वान्के (उपासकके) देहसे उत्क्रमणके विषयमें पूर्व निरूपणके सम्बन्धमें प्रतिज्ञात-विशेष (ज्ञात-विषय-विशेष) को दिखानेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है। पूर्वोक्त *'शतञ्चैका च'* इत्यादि वाक्यमें वर्णित शताधिक अर्थात् सौसे अधिक शतातीत अर्थात् एक सुषुम्ना नाड़ीके योगसे ब्रह्मविद्का उत्क्रमण (गति) है और अन्यान्य नाड़ियोंके योगसे अविद्वान्का उत्क्रमण है—यह जो नियम स्थिर किया गया था, वह युक्तिपूर्ण है? कि नहीं है? इस सन्देह पर पूर्वपक्षी कहते हैं—नाड़ियोंकी अति सूक्ष्मताके कारण और उनके बहुसंख्यत्वके कारण यह विषय विवेच्य (विवेचनाके योग्य) नहीं है, इसकी मीमांसा नहीं की जा सकती कि कौन-सी सुषुम्ना है और कौन-सी नाड़ियाँ उससे अलग हैं? अतः यह पार्थक्य न कर सकनेके कारण उस सुषुम्ना नाड़ीको ग्रहण नहीं किया जा सकता अर्थात् उस नाड़ीके साथ पुरुषका गमन करना असम्भव लगता है। अतएव यह नियम सङ्गत नहीं है, तब जो कहा गया है कि *'तयोद्र्ध्वमायन्नमृतत्वमेति'* अर्थात् उस सुषुम्ना नाड़ीके योगसे ऊर्ध्वमें जाकर अमृतत्व (मुक्ति) प्राप्त करता है—इस प्रकारका जो वाक्य है, उसमें किसी एक विशेष नाड़ीके नामका उल्लेख नहीं है, तब इस वाक्यका क्या होगा? यादृच्छिक अर्थात् ईश्वरकी इच्छानुसार यदि कोई किसी एक नाड़ीका आश्रयकर

उत्क्रान्ति करता है और ऊर्ध्व गमन करनेपर अमृतत्व प्राप्त करता है—तो यह स्थिति अनिर्दिष्ट है—ऐसी पूर्वपक्षीय सङ्गतिका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—मूर्द्धन्यनाड्या निष्क्रान्तस्योपासकस्य प्राणादयो ब्रह्मणि लीयन्ते। स तु शुद्धः सह ब्रह्मणा संयुज्यत इति यत् पूर्वमुक्तं तन्न युक्तम्। तया विद्वन्निष्क्रान्तेर्नियन्तुमशक्यत्वादित्याक्षेपादारभ्यते। अथेत्यादि। यादृच्छिकेति। यदृच्छया चेत् कश्चित् तया उत्क्रामति तर्हि मोक्षमेतीति। एवं प्राप्ते।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि मस्तक स्थित सुषुम्ना नाड़ीके योगसे देहसे निर्गत ब्रह्मोपासकके प्राण इत्यादि कलाएँ ब्रह्ममें लीन होती हैं और वह जीव विरजा-स्नात होकर ब्रह्मके साथ संयुक्त होता है, यह तो युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि उस नाड़ीके विवेकके अभावमें उसकी सहायतासे विद्वान्के निष्क्रमणका नियम किया नहीं जा सकता, इस आक्षेपके साथ इस अधिकरणका आरम्भ होता है। अतएव इसमें आक्षेप सङ्गति है। *'अथेत्यादि यादृच्छिकेति'*—यदि कोई ईश्वरेच्छावश उस नाड़ीयोगसे उत्क्रमण करता है, तब वह मुक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतके ऊपर सूत्रकार कहते हैं—

तदोकोऽधिकरणम्

सूत्र—तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनु-स्मृतियोगाच्च हार्द्दानुगृहीतः शताधिकया॥ १७॥

सूत्रार्थ—उत्क्रमणके इच्छुक विद्वान्का 'तत् ओकः' अर्थात् ऐसे जीव का जो ओक (आयतन) हृदय है, वह 'अग्रज्वलनम्' प्रकाशिताग्र होता है अर्थात् उस आयतनका मुख प्रद्योतित होता है, 'तत्प्रकाशित द्वारो' उस प्रकाशित द्वारके द्वारा अर्थात् हृदयवर्ती श्रीहरि सुषुम्नाके मूल उसे प्रकाशित कर दिये जानेपर उस नाड़ीका विवेक जीवके लिए अशक्य नहीं होता, क्योंकि 'विद्यासामर्थ्यात्' विद्याकी शक्ति और 'तच्छेषगत्यनु' विद्याकी चरम गति 'अनुस्मृतियोगात्' शास्त्रमें स्मृत होनेके कारण 'हार्द्दानुगृहीतः' हृदयवर्त्ती श्रीहरि द्वारा जीव अनुग्रहीत होकर 'शताधिक' नाड़ी योगसे उत्क्रमण करता है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—इन्द्रिय और प्राणके लयके बाद मार्ग-गमनके आरम्भमें उस जीवका स्थानरूप जो हृदय है, उसके अग्रभागका प्रकाश होता है, उस प्रकाशसे जिसका द्वार प्रकाशित हुआ है, वह गमनेच्छुक उपासक जीव विद्याकी सामर्थ्यसे और विद्याकी चरम गतिके अनुस्मरणसे हार्द ब्रह्मसे अनुग्रहीत होकर सौसे भिन्न उस सुषुम्ना नाड़ी द्वारा गमन करता हैं॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—विज्ञः शताधिकया सुषम्नयैव नाड्या निष्क्रामति। न चेयं नाडी तेन विवेक्तुमशक्या भवेत्। यदयं विद्यासामर्थ्यादिहेतुभ्यां हार्द्दानुगृहीतो भवति। विद्योपासना तस्याः सामर्थ्यात् प्रभावात्। विद्याशेषभूता या गतिरातिवाहिकैस्तत्पद-प्राप्तिस्तस्याः स्मृतिसातत्याच्च। हार्द्देन हृदयमन्दिरेण हरिणानुकम्पितो भवतीत्यर्थः। ततश्च तस्योपसंहृतवागादिकरणस्योच्चिक्रमिषोर्जीवस्योकः स्थानं हृदयमग्रज्वलनं प्रकाशिताग्रं भवति। स तु जीवस्तत्प्रकाशितद्वारस्तेन हार्द्देन श्रीहरिणा प्रकाशितं द्वारं शताधिकया नाड्या मूलं यस्मै तादृशः सन् तां नाडीं विजानातीति। तया विदुषो गतिर्युक्तेति॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्मवित् शताधिक (एकशत नाड़ीके अतिरिक्त) सुषुम्ना नाड़ीके योगसे देहसे निष्क्रमण करता है। विवेचनके (विचार-विमर्शके) द्वारा इस नाड़ीको पृथक् करना (पहचान लेना) विद्वान्के लिए अशक्य नहीं है क्योंकि विद्याके बल और विद्याकी चरम गतिकी स्मृतिके कारण हृदयवर्त्ती परमेश्वर द्वारा अनुग्रह प्राप्त करके वह उस नाड़ीको जान लेता है। *'विद्या सामर्थ्यात्'* विद्या अर्थात् सम्यक् उपासना—इसके सामर्थ्य अथवा प्रभावके कारण। *'तच्छेषगत्यानु-स्मृतियोगाच्चेति'*—विद्याके शेषभूत (अङ्गभूत अथवा फलभूत) मूर्धन्य नाड़ीसे सम्बन्ध (सम्पर्क) वाली जो गति (अनुशीलन अथवा चिन्तन योग्य गति) है अर्थात् आतिवाहिक (विद्वानोंको ले जानेवाले) देवताओंकी सहायतासे जो गति अर्थात् ब्रह्म-पदकी प्राप्ति है, उसकी स्मृति अर्थात् सतत अनुशीलनके कारण। विद्वान् निज हृदय-मन्दिरमें स्थित श्रीहरि द्वारा अनुग्रहीत होता है। इस अनुग्रहके कारण वाक् इत्यादि इन्द्रियोंके उपसंहृत (ब्रह्ममें संयोग) विशिष्ट देहसे अर्थात् जो इन इन्द्रियोंको समेटकर उत्क्रमणका इच्छुक है उस जीवका ओक (आयतन) अर्थात् आश्रय हृदय प्रकाशिताग्र हो जाता है। हृदयवर्त्ती श्रीहरि उसके हृदयके द्वारको परम भास्वर शताधिक सुषुम्ना नाड़ी

द्वारा प्रकाशित कर देते हैं। भगवत्-अनुकम्पासे वह जीव हृदय-द्वारका प्रकाश पाकर उस नाड़ीको पहचान लेता है। अतः इस सुषुम्नाके योगसे विद्वान्‌की गति युक्तियुक्त है॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—तदिति। अग्रज्वलनमिति। अग्रं नाडीद्वारमुखम्। तस्य ज्वलनं प्राप्यकर्मोपासनफलज्ञानरूपं प्रद्योताख्यं तेन प्रकाशित द्वारो विद्वानविद्वांश्च भवति। विद्वान् शताधिकया तस्मात् हृदयादुद्गतया मूर्द्धानं प्राप्तया भासुरया रविरश्मिभिरेकीभूतया सुषम्नया निर्गच्छति। अविद्वांस्त्वन्याभिः। नाड्यनियमे तच्छेषगत्यनुस्मृतिवैर्यथापत्तिर्विद्यासामर्थ्यं हीयेतेति भावः। तेनेति। उत्क्रामता ब्रह्मोपासकेनेत्यर्थः। अयं तदुपासकः। आतिवाहिकैर्देवविशेषैः। ततश्चेत्यादि स्फुटार्थम्॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार— *'तदित्यादि'* सूत्रमें *'अग्रज्वलनम्'* इति—अग्र अर्थात् नाड़ीका द्वार-मुख, उसका ज्वलन अर्थात् कर्मोपासनाका प्राप्तव्य फल-ज्ञान-रूप प्रद्योतन नामक प्रकाश, इसके द्वारा विद्वान् और अविद्वान् दोनोंका ही द्वार-प्रकाश होता है। इनमें विद्वान्, सौसे अधिक जो नाड़ी हृदयसे उठकर मस्तक तक गयी है, उस देदीप्यमान (परम भास्वर) रवि-रश्मिके साथ तादात्म्य स्थापितकर अर्थात् मिलकर सुषुम्ना द्वारा निष्क्रान्त होता है और जो ब्रह्मविद् नहीं है (अविद्वान् है), अज्ञ है, वह अन्य नाड़ीके योगसे (मूर्धा-ब्रह्मरन्ध्रको छोड़कर शरीरके अन्य भागसे) निष्क्रान्त होता है। यदि इस प्रकारसे नाड़ी-विशेषके द्वारा गतिका नियम नहीं रहता, तब विद्याके फल आतिवाहिक देवताओंकी सहायतासे ब्रह्मलोककी गतिका अनुशीलन व्यर्थ होता एवं विद्याका सामर्थ्य भी लुप्त होता, यह भावार्थ है। *'स चेयं नाड़ी तेन विवेक्तुमशक्या इति'* में 'तेन' का अर्थ है—उत्क्रमणकारी ब्रह्मोपासक द्वारा। *'यदयं विद्यासामर्थ्यादिति'* में 'अयम्' का अर्थ है—ब्रह्मोपासक। *'आतिवाहिकैस्तत्पदप्राप्तिरिति'* में 'आतिवाहिकैः' का अर्थ है—जो समस्त विशेष देवता उन्हें ले जाते हैं, उनकी सहायता से। *'ततश्च तस्योपसंहतवागादि करणस्य'* इत्यादि भाष्यका अर्थ स्पष्ट है॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब इसके बाद विद्वान्‌की उत्क्रान्तिके वैशिष्ट्यके-विचारका प्रदर्शन किया है। पहले जो कहा था कि विद्वान् सौसे अधिक एक सुषुम्ना नामकी नाड़ीके योगसे उत्क्रमण करता है।

इस विषयपर संशय है कि यह नियम युक्तियुक्त हो सकता है? कि नहीं? इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि नाड़ियाँ अतिशय सूक्ष्म और बहुसंख्यक हैं। अतः पुरुष उन्हें पहचानकर किसके द्वारा गति प्राप्त करेंगे—यह असम्भव होनेके कारण अयुक्त है। पुनः जिस एक नाड़ीके अवलम्बनसे ऊर्ध्वमें गमनसे ही मुक्ति हो सकती है, श्रुतिमें उस विशेष-नाड़ीका उल्लेख भी नहीं है, अतएव यह यादृच्छिक अनुवाद (सामान्य उत्क्रान्ति) ही सङ्गत है। पूर्वपक्षीके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्वान्की शताधिक सुषुम्ना नाड़ीके योगसे ऊर्ध्व-गति असम्भव नहीं है, क्योंकि वे लोग विद्याकी सामर्थ्यसे श्रीभगवान्के अनुग्रहसे उक्त नाड़ीको पहचान सकते हैं। दूसरी बात यह है कि आतिवाहिक देवता उस विद्वान् पुरुषको उस पदपर ले जाते हैं। भगवान् श्रीहरिकी कृपासे विद्वान्का हृदय-द्वार प्रकाशित हो जाता है और सुषुम्ना नाड़ी-पथसे उसकी ब्रह्मलोकमें गति होती है। हृदय-देशसे उत्थित ब्रह्म-नाड़ी नितान्त भास्वर है और वहाँसे सौर-रश्मियोंसे तादात्म्य स्थापितकर वह आदित्य-मण्डलमें प्रवेश कर लेती है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

वैश्वानरं याति विहायसा गतः
सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शोचिषा।
विधूतकल्कोऽथ हरेरुदस्तात्
प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/२४)

अर्थात् कर्मीजन देहकी समाप्तिपर आकाश-मार्गसे जब ब्रह्मलोककी ओर जाते हैं, तब उस ज्योतिर्मयी सुषुम्ना नाड़ीयोगसे वे पहले अग्निलोकमें अग्नि नामक देवताके पास जाते हैं। उस स्थानपर उनके सारे कल्मष (बचे-खुचे मल) भी दूर हो जाते हैं। इसके बाद वे ऊपर स्थित शिशुमार नामक ज्योतिर्मय चक्रमें स्थित आदित्यादि ध्रुवान्त पदकी ओर जाते हैं।

श्रीरामानुजभाष्यके सारमें भी देख सकते हैं—

विद्वान् पुरुष शताधिक एक विशिष्ट मूर्द्धन्य नाड़ी द्वारा ही उत्क्रमण करता है। नाड़ीको पहचानना उसके लिए असम्भव नहीं है क्योंकि परमपुरुष श्रीभगवान्‌की आराधनाभूत अत्यन्त प्रिय विद्याके प्रभावसे और यह गति विद्याकी शेष (अङ्ग) कहे जानेसे स्वयंको भी अत्यन्त प्रिय होती है। अतएव उस गतिके अनुस्मरण-योगसे परितुष्ट हुए श्रीभगवान्‌का अनुग्रह-भाजन होनेपर जीवके वासस्थान हृदयका अग्रभाग प्रज्वलित हो जाता है। तब भगवान्‌के अनुग्रहसे वह विद्वान् पुरुष उस सुषुम्ना नाड़ीको पहचान लेता है—इसलिए इस पथसे उसकी गति सम्भव हो जाती है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

उत्क्रान्तिकाले हृदयस्याग्रेज्वलनं भवति। तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतत इति (बृ॰आ॰ ६/४/२) *श्रुतेः। तत्प्रकाशित द्वारो निष्क्रामति। विद्यासामर्थ्यात्। यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः,* (श्रीगी॰ ८/६)—*इति स्मृतेः। विद्याशेष गत्युनुस्मरणयोगाच्च। आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता इति हि* (छा॰ ४/१४/१) *लिङ्गम्। हृदिस्थेनैव हरिणा तस्यैवानुग्रहेण तु। उत्क्रान्तिर्ब्रह्मरन्ध्रेण तमेवोपासतो भवेदिति चाध्यात्मे। शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका। तयोद्धर्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्तीति च।* (छा॰ ८/६/६ एवं कठ.२/६/१६)

अर्थात् इससे पूर्व देवताओंके मोक्षका वर्णन करके अब मनुष्योंकी मुक्तिके लिए प्रतिपादन करते हैं कि अज्ञानियोंके मरणसे ज्ञानियोंके देहोत्क्रमणमें वैशिष्ट्य है, अन्यथा ज्ञानका सामर्थ्य अतिशय असिद्ध होता है। इसपर सन्देह होता है कि ज्ञानियोंका देहोत्क्रमण क्या साधारण अज्ञानियोंके मरणके समान है? अथवा उनके मरणमें कोई विलक्षणता है? ज्ञानियोंका देहोत्क्रमण अर्थात् मरण अज्ञानीके मरणसे अविशेष होनेपर ज्ञानकी सामर्थ्य असिद्ध होती है। इस दोषके परिहारके लिए कहते हैं कि ज्ञानियोंका मरण अज्ञानियोंके मरणके समान नहीं है, उनके मरणमें वैशिष्ट्य है। ज्ञानियोंके मरणकालमें भगवदाश्रय उनका हृदयाग्र प्रज्वलित होता है और उस प्रज्वलनसे (दीप्तिसे) हृदयाग्र प्रकाशित होता है। इस प्रकाशसे ज्ञानीका नाड़ी-द्वार

पूरा प्रकाशित हो जाता है और इसी प्रकाशित (प्रकाश द्वारा दिखलाये गये) नाड़ी-द्वारके द्वारा ज्ञानीके प्राण निकलते हैं—इसलिए ज्ञानी विद्याके प्रभावसे अथवा उपासनाकी सामर्थ्यसे अपने मरणको जान सकते हैं। अज्ञानीके प्राण अज्ञानान्धकारसे निकलते हैं—इसलिए अज्ञानी अपना मरण जान नहीं सकते। स्मृतिमें कहा है कि जो व्यक्ति जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए अपने कलेवरका परित्याग करता है, वह उसी-उसी भावको प्राप्त होता है। (इस कथनमें स्मृति-योग अथवा मार्ग [गति] के चिन्तनका अभ्यास दिखाया है) आचार्य बादरायण गतिका (निष्क्रमणका) स्वरूप बतलाते हैं कि विद्या-विशेष द्वारा ही ज्ञानीकी गति होती है। अध्यात्म विद्या प्रमाणसे जाना जाता है कि श्रीहरिके हृदयस्थ होनेपर उनके अनुग्रहसे उनके उपासकोंके प्राणोंका उत्क्रमण ब्रह्म-रन्ध्रके द्वारा होता है। छान्दोग्य-श्रुतिकी व्याख्या पूर्वोल्लिखित है॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—छान्दोग्ये *"अथ यत्रैतस्मात् शरीरादुत्क्रामत्येतैरेव रश्मिभिरूर्द्धमाक्रमते। स ओमिति वा होह म्रियते स यावत् क्षिप्येत् मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषां* (छा॰ ८/६/५) *तदेष श्लोकः। शतञ्चैका च"* (छा॰ ८/६/६) इत्यादि श्रूयते। इहैतद्गम्यते मूर्द्धन्यनाड्या निष्क्रम्य रश्म्यनुसारी सन् गच्छतीति। तत्र संशयः। अहन्येव मृतस्य रश्म्यनुसारित्वमृत निश्यपीति। निशि रविरश्म्यभावात् अहन्येव मृतस्य तदिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—छान्दोग्योपनिषदमें है—'*अथ यत्रैतस्मात् शरीरादित्यादि*' अर्थात् इसके बाद जब जीव इस स्थूलदेहसे निकल जाता है, तब वह रवि-रश्मियोंके योग (सम्बन्ध) से ऊर्ध्वमें गमन करता है, वही यथोक्त साधनसम्पन्न ब्रह्मविद् ॐकार-प्रतिपाद्य श्रीहरिका ध्यान करता हुआ मरता है अर्थात् चला जाता है। 'वाह' एवं 'ओह'—ये दोनों निपात अवधारणके लिए हैं। भावी उत्क्रमणकारी वह विद्वान् उत्क्रमणके पूर्व जितने समय तक मनका क्षेप होता है अर्थात् मन चलता है, उतने ही समयमें अर्थात् मनोवेग (मनकी गति) से आदित्य-मण्डलमें पहुँच जाता है। यह आदित्यरूप पथ हरिके लोकको प्राप्त करानेवाला है। यह विद्वानोंके लिए ब्रह्मलोक-प्राप्तिका साधन है और अज्ञ व्यक्तियोंके लिए इस सूर्यके द्वारा ही विष्णुलोकमें

गतिका निरोध है। इसी कारण *'शतञ्चैका नाड्यः'* इत्यादि श्लोक श्रुत होता है। इस वर्णनसे यह अवगत हो जाता है कि विद्वान् मस्तकस्थ नाड़ीके योगसे निकलकर सूर्य-रश्मियोंका अनुसरण करता है और उसके फलस्वरूप वह ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है। यहाँ संशय यह है कि दिवाभागमें मृत व्यक्ति क्या रश्मिका अनुसरण करता है? अथवा रात्रिमें भी सौर-रश्मियोंका अनुसरण होता है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि रात्रिकालमें सूर्यरश्मिके अभावके कारण उस समय मृत्यु होनेपर मृत व्यक्ति दिवाभागमें ही रश्मिका अनुसरण करता है। उस समय रवि रश्मिका सम्बन्ध नहीं घटता। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र ब्रह्मनाड्योत्क्रम्य रविरश्मिभिरेकीभूतया तयोद्‌र्ध्वं गच्छन् मोक्षमेतीत्युक्तं तन्न युक्तं रात्रावुत्क्रान्तस्य तद्रश्म्यसम्बन्धादित्याक्षिप्य समाधेः प्राग्वत् सङ्गतिः। छान्दोग्येऽथ इत्यादि। स ओमिति। स यथोक्तसाधनसम्पन्नो विद्वान् ब्रह्मानुभवी ओमित्योङ्कारप्रतिपाद्यं श्रीहरिं ध्यायन् म्रियते गच्छति। वा हेत्युहेति च निपातोऽवधारणे। स उत्क्रमिष्यन् विद्वान् यावन्मनः क्षिप्येत् यावता कालेन मनःक्षेपो भवेदित्यर्थः। तावदादित्यं गच्छतीति मनोवेगेन गतिरुक्ता। एतद्वै लोकद्वारं श्रीहरिलोकप्रापकं यदादित्यरूपम्। प्रपदनं प्रपद्यते तल्लोकमनेनेति। निरोधोऽविदुषां अभक्तानामादित्येनैव तल्लोकगतिनिरोधो भवतीत्यर्थः। पूर्वपक्षे निश्युत्क्रामतः सूर्योदयापेक्षा फलं सिद्धान्ते तु तदनपेक्षेति ज्ञेयम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले अधिकरणमें कहा गया था कि ब्रह्मविद्‌का मृत्युके बाद सुषुम्ना नाड़ी-पथसे उत्क्रान्त होता है और सूर्य-रश्मिके साथ मिलित उस नाड़ी द्वारा ऊर्ध्व गमन करके मुक्तिको प्राप्त होता है किन्तु यह तो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि रात्रिकालमें उत्क्रान्तके पक्षमें सूर्य-रश्मिका अभाव है। यह आक्षेप करके समाधान हेतु यहाँ भी आक्षेप-सङ्गति है। *'अथ यत्रैतस्मात्'* इत्यादि वाक्य छान्दोग्योपनिषदमें है। *'स ॐ'* इत्यादि में 'सः' का अर्थ है वह यथोक्त साधनसम्पन्न ब्रह्मवित्—ब्रह्म-साक्षात्कारी 'ॐ'—इस प्रणववाच्यसे श्रीहरिका ध्यान करते-करते मृत होता है अर्थात् चला जाता है। 'वाह' एवं 'ओह' ये दोनों निपात अवधारणके लिए हैं। वह विद्वान् उत्क्रान्त होनेसे पहले जितने समयमें मनःक्षेप होता है अर्थात् मन चलता है, उसीमें आदित्य-मण्डलमें गमन करता है। इसमें

मनोवेग द्वारा यही गति कही गयी है। *'एतद् वै खलु लोकद्वारम्'*— श्रीहरिधाम-प्रापक, जो आदित्यस्वरूप है *'प्रपदनम्'* जिसके द्वारा वह लोक प्राप्त होता है। निरोधः—अविद्वान्—अभक्तका आदित्य द्वारा ही विष्णुलोकमे गतिरोध होता है। पूर्वपक्षके उद्देश्यमें रात्रिभागमें उत्क्रमणकारीके लिए सूर्योदयकी अपेक्षा है। सिद्धान्ती मतमें सूर्यादिकी अपेक्षा नहीं है—यह ज्ञातव्य है।

रश्म्यनुसार्यधिकरणम्

सूत्र—रश्म्यनुसारी॥ १८॥

सूत्रार्थ—'रश्म्यनुसारी' ब्रह्मविद् जिस समय मरता है, उसी समय रश्मिका अनुसरण करता हुआ गमन करता है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—विद्वान्के दिन या रात जिस समयमें भी मृत्यु होवे, वह सूर्य-रश्मिके आश्रयसे ही गमन करता है॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—यदा कदापि मृतो विद्वान् रश्म्यनुसारी सन् गच्छति। विशेषाश्रवणादिति शेषः॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस किसी भी समय विद्वान् मरता है—वह सूर्य-रश्मिका अनुसरण करता हुआ गमन करता है। इस विषयमें कोई विशेष प्रभेद (भेद-विशेषका उल्लेख) सुना नहीं जाता॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—रश्मीति। यदेति। यदा कदापीति वासरे रात्रौ चेत्यर्थः॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार— *'रश्मीति'* सूत्रमें। यदेत्यादि भाष्यमें—यदा कदापि इति दिन और रातमें—यही अर्थ है॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब और एक पूर्वपक्ष उत्थापित होता कि छान्दोग्यमें पाया जाता है कि *'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते'* (छा॰ ८/६/५) अर्थात् विद्वान् पुरुष जब इस शरीरसे उत्क्रमण करता है तब वह रवि-रश्मिकी सहायतासे ऊर्ध्वमें गमन करता है। इस स्थलपर संशय हो सकता है कि केवल दिवाकालमें मृत्यु होनेपर रवि-रश्मिकी सहायता मिल सकती है किन्तु रात्रिमें मृत्यु होनेपर यह सम्भव नहीं है। इसलिए पूर्वपक्षी कहते हैं

कि ऐसा होनेपर दिवा-भागमें मृत्यु होनेपर ही ऐसी गति होगी; इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्वान् व्यक्तिकी चाहे दिवा-कालमें मृत्यु हो अथवा रात्रिकालमें उसकी गति रवि-रश्मियोंके अनुसार ही होगी। कारण है कि श्रुतिमें दिवा-रात्रिका कोई विशेष उल्लेख नहीं है?

श्रीमद्भागवत (३/३२/६-७) में पाया जाता है—

निवृत्तिधर्मनिरता निधर्मा निरहंकृताः।
स्वधर्मात्तेन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा॥

सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम्।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम्॥

अर्थात् जो बुद्धिमान पुरुष काम एवं अर्थ आदिरूप भोग-विलासकी प्राप्तिके उद्देश्यसे वर्णाश्रमोचित धर्मोंका उपयोग नहीं करते, अपितु स्व-धर्मका पालन करते हुए ईश्वरमें कर्म समर्पित कर देते हैं, ऐसे पुरुष शुद्ध-चित्त, प्रशान्त, निवृत्ति-धर्म-परायण, निरहङ्कार और अनासक्त होते हैं। ये सूर्यमार्ग (अर्चिमार्ग या देवयान) के द्वारा सर्वव्यापी, पूर्णपुरुष, प्रकृतिके उपादान एवं निमित्त कारण स्वरूप श्रीहरिको प्राप्त होते हैं—जो कार्य-कारणरूप जगत्के नियन्ता हैं और इसकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार करते हैं।

श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें पाया जाता है—कि *'अथैतैरव रश्मिभिः'*, 'उन्हीं रश्मियोंके आश्रयसे' श्रुतिमें इस प्रकारसे अवधारक पदके कारण यह निश्चय हो जाता है कि रश्मियोंके सहारे ही उपासककी ऊर्ध्व गति होती है। यह पाक्षिक नहीं है, नित्य है क्योंकि पाक्षिक होनेपर तो *'एतैरेव'* में 'एव' शब्दका प्रयोग अनर्थक (व्यर्थ) होगा। विद्याका अपने फलके साथ नित्य सम्बन्ध होता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

विद्वान्मूर्द्धन्यया नाड्या निष्क्रम्य सूर्यरश्मानुसार्येवोर्द्धवं गच्छति 'तैरेव रश्मिभिः' इत्यवधारणात्। अर्थात् विद्वान् मूर्द्धन्य नाड़ीसे निकलकर सूर्य-रश्मियोंके अनुसार ऊर्ध्व लोकमें जाता है। 'इन रश्मियोंके सहारे ही'—यह अवधारण वाक्य है—अर्थात् यह निश्चित है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

निष्क्रामति सहस्रं वा आदित्यस्य रश्मयः आसु नाडीष्वातातास्तत्र श्वेतः सुषुम्नो ब्रह्मयानः सुषुम्नायामा ततस्तत् प्रकाशेनैष निर्गच्छतीति हि पौत्रायण श्रुतिः।

अर्थात् यदि प्रकाशित नाड़ी द्वारा ही निष्क्रमण होता है, तो ऐसा होनेपर नाड़ीके अभ्यन्तरमें जो अन्धकार है उस अन्धकारका भी गमन होता है—इस आशङ्कापर कहते हैं कि ज्ञानीका नाड़ीके अन्तर्गत स्थित अन्धकारसे उत्क्रमण नहीं होता, जिससे ज्ञानीका मरण अज्ञानीके मरणके समान हो जाय। सूर्यकी सहस्र रश्मियाँ (आदित्य-मण्डलमें) प्रवाह रूपसे फैलती हैं, वे इन नाड़ियोंमें प्रविष्ट हो जाती हैं और जो रश्मियाँ इन नाड़ियोंसे प्रसृत होती हैं (फैलती हैं), वे समस्त नाड़ियोंको प्रकाशित करती हैं। रश्मियोंके नाड़ियोंमें विस्तृत होनेपर उनमें जो सुषुम्ना नाड़ी है, वह ब्रह्मयान है—इसी सुषुम्ना पथसे ज्ञानीके प्राण जाते हैं (छा॰ ८/६/२)॥ १८॥

सूत्र—निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च॥ १९॥

सूत्रार्थ—'चेत्' यदि कहो, ऐसा होनेपर तो 'निशि' रात्रि भागमें 'न' मृतका सौर-रश्मिका अनुसरण नहीं होता, 'इति न' तो ऐसा नहीं है, कारण 'सम्बन्धस्य' शिराके साथ रश्मिका सम्बन्ध है, 'यावद्देह भावित्वाद्'—जितने समय तक देह रहता है, उतने समय तक वह सम्बन्ध भी रहता है—यह केवल यौक्तिक हो, ऐसा नहीं है, 'दर्शयति च'—श्रुति भी इस प्रकारसे दिग्दर्शन करती है॥ १९॥

सूत्रानुवाद—रात्रिमें नाड़ी और रश्मिका सम्बन्ध विच्छेद हो जाय तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि नाड़ी और रश्मिका सम्बन्ध देहकी स्थिति पर्यन्त रहता है और यही अर्थ श्रुति भी दर्शाती है॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—ननु रात्रौ रविरश्म्यभावात् तदानीं मृतस्य न तदनुसारित्वमिति चेन्न। कुतः? सम्बन्धस्येति। शिरारश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्। यावद्देहोऽस्ति तावत् तत्सम्बन्धश्चेति। यदा कदापि मृतस्य तद्घटते। अतश्च ग्रीष्मक्षपासु देहज्वालोपलभ्यते। अन्यदा तु शीतप्रतिबन्धान्नेति। न चेदं यौक्तिकमित्याह दर्शयति चेति। *"अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते तथा आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः*

प्रतायन्ते ते अमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः" (छा० ८/६/२) इति छान्दोग्येश्रुतिस्तथा दर्शयति। *"संसृष्टा वा एते रश्मयश्च नाड्यश्च नैषां विभागो यावदिदं शरीरमत एतैः पश्यत्येतैरुत्क्रमते एतैः प्रवर्त्तते"* इति श्रुत्यन्तरञ्च। तथाच विदुषस्तदनुसारित्वं नियतमिति॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि रात्रि-कालमें सौर-रश्मिके अभावके कारण उस समय मृत व्यक्तिका रश्मिका अनुसरण नहीं होगा—यदि ऐसा कहते हो, तो ऐसा नहीं है; कारण क्या है? शिराके साथ रश्मिका संयोग—जितने समय तक देहमें रहता है, उस अवधि तक रश्मि-सम्बन्ध भी रहेगा ही। अतएव दिवा हो या रात्रि हो—किसी भी समय मृत व्यक्तिका यह सम्भव होगा ही। और इसी कारणसे ही अर्थात् देहके साथ रश्मिके संयोगके कारण ग्रीष्म कालकी रात्रिमें देहताप उपलब्ध रहता है! अन्य ऋतुओंमें देह-ज्वाला जो उपलब्ध नहीं होती—उसका कारण है शीत उस ज्वालाको प्रतिबद्ध कर देता है। यह कहना केवल युक्तिसिद्ध हो ऐसा नहीं है, श्रुति भी वही दिखाती है! यथा *'अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ... अमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः'* इति आदित्यसे प्रसृत सौर-रश्मियोंका इन नाड़ियों अर्थात् शिराओंसे सम्बन्ध होकर इन नाड़ियोंमें उन किरणोंका विस्तार होता है। ये रश्मियाँ सूर्यसे सम्बन्धित हैं—अतः ये नाड़ीसे निष्क्रान्त होकर सूर्यके साथ सम्बन्ध प्राप्त करती हैं और उसीमें व्याप्त हो जाती हैं। छान्दोग्य-श्रुति इस प्रकारसे दिखलाती है। इस विषयमें अन्य श्रुति भी है यथा—*'संसृष्टा वा एते रश्मयश्च ... एतैः प्रवर्त्तते'* इति अर्थात् सूर्यकी ये रश्मियाँ और जीव-देहकी शिराएँ परस्पर सम्बन्धयुक्त होती हैं। जितने समय तक यह शरीर रहता है, उतने समय तक इनका (इन रश्मियोंका) विच्छेद नहीं है। अतएव इन रश्मियोंके द्वारा जीव दर्शन करता है इनकी ही सहायतासे देहसे उत्क्रान्त होता है और इनकी शक्तिसे ही कार्य करता है अथवा चेष्टित रहता है। अतएव सिद्धान्त यह है कि विद्वान्का रश्मि-अनुसरण अवश्यम्भावी है॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—निशीति। शिराः नाड्यः। तत् रश्म्यनुसारित्वम्। अन्यदा हेमन्तशिशिरनिशासु। अमुष्मादिति। प्रतायन्ते विस्तृता भवन्ति। ते रश्मयः। नाडीवृन्दमादित्ये सम्बध्य स्थितम् ग्रामेष्वैव महापथः। सृप्ताः सम्बन्धा भवन्ति॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार— *'निशीदित्यादि'* सूत्रमें *'नाड्यः'*—शिराएँ, *'तावत् तत्सम्बन्धश्च'* में 'तत्' का अर्थ है—रश्म्यनुसारित्व। *'अन्यदा तु'* शीतप्रतिबन्धादितिमें 'अन्यदा'—हेमन्त एवं शीतकालकी रात्रिमें। *'अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते'* इतिमें प्रतायन्ते—विस्तृत होती हैं। *'ते अमुष्मिन्नादित्य'* इति में 'ते' का अर्थ है—वे रश्मियाँ। शिराएँ सूर्यके साथ सम्बन्धित होकर उसी प्रकार स्थित हैं, जिस प्रकार गाँवोंसे सम्बन्धयुक्त महापथ। *'अमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः'* इति में सृप्ताः अर्थात् सम्बन्ध होता है॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि रात्रिकालमें मृत्यु होनेपर रश्मि-अनुसारित्व घटित नहीं होता—पूर्वपक्षीकी यह उक्ति सङ्गत नहीं हो सकती क्योंकि जब तक देह-सम्बन्ध रहता है, तब तक शिरा-रश्मिका सम्बन्ध रहता है। दृष्टान्तस्वरूप कहा जा सकता है कि ग्रीष्मकालमें रात्रिमें देहमें ज्वालाकी उपलब्धि होती है और अन्य समयमें शीतकी प्रतिबन्धकताके कारण उपलब्धि नहीं होती।

छान्दोग्यमें द्रष्टव्य है—

तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।

(छा॰ ६/१४/२)

अर्थात् उसके लिए मोक्ष होनेमें उतना ही विलम्ब है, जब तक कि वह (देहबन्धनसे) मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह ब्रह्मसे सम्पन्न हो जाता है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत
निरुद्धसप्तास्वयनोऽनपेक्षः ।
स्थित्वा मुहूर्त्तार्द्धमकुण्ठदृष्टि-
र्निर्भिद्य मूर्द्धन् विसृजेत् परं गतः॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/२१)

अर्थात् प्राणोंके सात मार्ग हैं—दो कान, दो नेत्र, दो नासाछिद्र और मुख—इन सात छिद्रोंको रोककर इस तालुमूलमें स्थित प्राणवायुको दोनों भौंहोंके बीच स्थित आज्ञाचक्रमें स्थापित कर दे।

यदि ब्रह्मा इत्यादिके पदके भोगकी इच्छा नहीं है, तो उस स्थानपर आधी घड़ीके लिए प्राणवायुको वहीं रोक दे। इसके बाद अकुण्ठ दृष्टि (स्थिर लक्ष्य) के साथ प्राणोंको सहस्रारमें ले जाकर परमात्मामें स्थित हो जाय। तत्पश्चात् ब्रह्म-रन्ध्रका भेदन करते हुए देह, इन्द्रियादिका परित्याग कर दे।

ब्रह्माण्डपुराणमें पाया जात है—

वैश्वानरे द्युनद्यां वा सूर्ये वा देह एव वा।
विधूय सर्वपापानि यान्ति किन्तुघ्नकेशवम्॥

अर्थात् वैश्वानर (अग्नि) में हो, गङ्गामें हो, सूर्यमें हो अथवा इसी देहमें हो, विद्वान् समस्त पापोंका धोकर किन्तुघ्न केशवको प्राप्त होते हैं। (किन्तुघ्न-ज्योतिष-शास्त्रीय प्रसिद्ध ग्यारहवाँ करण—इस करणका जातक मित्र-अमित्र, धर्म-अधर्म और स्तोत्र-वादमें तुल्य रहता है—भगवान् श्रीकृष्णको इन सभी कारणोंसे किन्तुघ्न कहा जाता है।)

बृहत्-तन्त्रमें पाया जाता है—

देवयानस्य मार्गस्था अहःशब्दाभिसंज्ञिताः।
पितृयानस्य मार्गस्था रात्रिशब्दाह्वया मताः॥

अर्थात् देवयान मार्गस्थ अहः (जिसका कभी विनाश नहीं होता) शब्दसे संज्ञित हैं और पितृयान मार्गस्थ रात्रि (सदैव प्रकाशवान रहनेवाले) शब्दसे जाने जाते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

रश्म्यभावान्निशि ज्ञानिन उत्क्रमणं न युक्तमिति चेत् न सर्वदा सम्बन्धाद्रश्मीनां कियत् कालम्? यावद्देहो विद्यते तावद्रश्मिसम्बन्धोऽस्त्येव संसृष्टा वा एते रश्मयश्च नाड्यश्च नैषां वियोगो (विभागो) यावदिदं शरीरमत एतैः पश्यत्येतैरुत्क्रामत्येतैः प्रवर्त्तत इति माध्यन्दिनायन श्रुतिः।

अर्थात् यदि रश्मिके अनुसार ही प्राणका उत्क्रमण होता है तो ऐसा होनेपर यह जिज्ञास्य हो सकता है कि समस्त ज्ञानियोंका रश्मिके अनुसार ही उत्क्रमण होता है अथवा किसी-किसी ज्ञानीका उक्त रूपसे उत्क्रमण होता है। यदि कहो कि समस्त ज्ञानियोंका ही रश्मिके अनुसार गमन होता है तो रात्रिमें रश्मिके अभावके कारण रात्रिकालमें

उत्क्रमण नहीं हो सकता। और यदि कहो कि किसी-किसी ज्ञानीका ही रश्मिके अनुसार उत्क्रमण होता है तो अज्ञानीके मरणसे ज्ञानीके उत्क्रमणका कोई वैशिष्ट्य नहीं रहता। इस दोषके परिहारके लिए कहते हैं—समस्त ज्ञानियोंका रश्मिके अनुसार ही उत्क्रमण होता है। रजनीमें बाह्य आदित्यका प्रकाश न रहनेपर भी अन्तःसूर्यका नाड़ीसे सम्बन्ध सर्वदा रहता है, इसलिए समस्त ज्ञानियोंके रश्मिके अनुसार उत्क्रमणमें कोई बाधा नहीं है। जब तक शरीर रहता है, तब तक सूर्यकी किरणोंका सम्बन्ध रहता है, जैसा कि माध्यन्दिनायन श्रुतिमें कहा गया है—जीवके जन्मसे ही नाड़ियों और रश्मियोंका सम्बन्ध है। जब तक शरीर रहता है, तब तक इनसे वियोग नहीं होता। इन रश्मियोंके सहयोगसे ही उत्क्रमण-कालमें जीव मार्ग देखता है।

अतः रात्रिमें भी ब्रह्म-नाड़ियोंके साथ सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं है। रात्रिमें भी रश्मियोंके ताप (ऊष्मादि) कार्य उपलब्ध होते हैं—*'प्रतापादिकार्यदर्शनात्'*—यहाँ 'आदि' पदसे चन्द्रमाके माध्यमसे प्राप्त आतपका संग्रह कर लेना चाहिये क्योंकि चन्द्रमाके शीतल कलेवरका स्पर्श करता हुआ जो सूर्यका रश्मि-मण्डल इस अचला-तलपर पहुँचता है, उसीको हम चन्द्रिका कहते हैं—अतः सौर्य रश्मियोंका सञ्चार रात्रिमें भी अवरुद्ध नहीं होता है और मृत विद्वान् दिनकी प्रतीक्षा न करके वितत सौर्य-रश्मियोंके द्वारा अभीष्ट गतिको प्राप्त हो जाता है। रश्मियोंकी अपेक्षा ही नहीं रहती, विद्वान् मनकी गतिसे आदित्यमण्डलमें पहुँच जाता है॥ १९॥

अवतरणिका भाष्य—अथेदं विचार्यते। दक्षिणायने मृतेन विदुषा विद्याफलं प्राप्यते न वेति। उत्तरायणस्य ब्रह्मलोकमार्गत्वेन श्रुतिस्मृत्योः पाठात् भीष्मादीनां तत्प्रतीक्षादर्शनाच्च नेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद यह विचार किया है कि दक्षिणायानमें मृत ब्रह्मविद्को विद्या-फल प्राप्त होता है? कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि नहीं, दक्षिणायनमें मृत व्यक्तिको यह फल प्राप्त नहीं होगा क्योंकि श्रुति और स्मृतिमें कहा है कि उत्तरायण ब्रह्मलोक-प्राप्तिका पथ अर्थात् उपाय है और भीष्म

इत्यादिकी उत्तरायणकी प्रतीक्षा महाभारतमें देखी जाती है। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—दिवसे निशि वा मृतस्य विदुषो रश्म्यनुसारेण ब्रह्मलोकगतिरिति यदुक्तं तदुत्तरायणविषयमस्तु न तु दक्षिणायनविषयं तस्य विगर्हितत्वात् इति प्रत्युदाहरणसङ्गत्यारभ्यते अथेदयित्यादिना। भीष्मादीनामिति। तत्प्रतीक्षादर्शनात् शरीरत्यागायोत्तरायणकालापेक्षादर्शनादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—दिन अथवा रात्रिमें मृत ब्रह्मविद्की रश्मिके अनुसार ब्रह्मलोकमें गति होती है, यह जो बात कही जाती है—वह उत्तरायण-विषयक होनी चाहिये, दक्षिणायन-विषयमें नहीं क्योंकि दक्षिणायन मृत्युके पक्षमें निन्दितकाल है, इस प्रत्युदाहरण सङ्गतिके अनुसार *'अथेदं विचार्यते'* कहकर अधिकरणका आरम्भ करते हैं। *'भीष्मादीनां तत्प्रतीक्षादर्शनाच्च इति'* में *'तत् प्रतीक्षादर्शनात्'* अर्थात् शरीर-त्यागके लिए उत्तरायण-कालकी प्रतीक्षा दृष्ट होती है, इस कारण, यह अर्थ है।

दक्षिणायनाधिकरणम्

सूत्र—अतश्चायनेऽपि दक्षिणे॥ २०॥

सूत्रार्थ—'अतश्च' क्योंकि विद्याका फल अवश्यम्भावी है, पाक्षिक नहीं है (हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है—ऐसा नहीं है) इसलिए और उस विद्या द्वारा प्रतिबन्धक कर्मका सर्वथा क्षय होता है—इसलिए भी 'दक्षिणे अयनेऽपि' दक्षिणायन कालमें भी मृत विद्वान् व्यक्ति विद्याका फल प्राप्त करेगा ही॥ २०॥

सूत्रानुवाद—विद्याका फल पाक्षिक नहीं है। प्रतिबन्धक कर्मका क्षय होनेपर विद्वान् दक्षिणायनमें भी विद्याका फल प्राप्त करेंगे॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—अतो विद्यायाः पाक्षिकफलत्वाभावात् तया प्रतिबन्धककर्मणां परिक्षयाच्च दक्षिणेऽप्ययने मृतो विद्वान् प्राप्नोत्येव विद्याफलं पूर्वपक्षस्तु मन्दः। उत्तरायणशब्देनातिवाहिकदेवताया वक्ष्यमाणत्वात्। भीष्मप्रतीक्षायाः पितृदत्तस्वच्छन्दमृत्युता-ख्यापनार्थत्वेनाचारपालनार्थत्वेन वा अदूषकत्वाच्चेति॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अतः—क्योंकि विद्याका फल पाक्षिक नहीं है और विद्या द्वारा प्रतिबन्धक कर्मोंका सर्वतोभावसे क्षय होता है इसलिए दक्षिणायनमें मृत विद्वान्को भी विद्याका फल प्राप्त होगा ही। अतएव पूर्वपक्षीका मत निन्दनीय है। उत्तरायण शब्दके वाच्य आतिवाहिक देवता हैं—यह बादमें बतलाया जायेगा। तब जो भीष्मके देहपातके लिए उत्तरायणकी प्रतीक्षा देखी जाती है वह उनके पिता शान्तनु द्वारा दिये गये यथेच्छ-मृत्यु-वरकी सार्थकता-ख्यापनके लिए एवं सदाचार-पालनके उद्देश्यसे है—अतः यह प्रतीक्षा (अनुदीक्षा) दोषावह नहीं है॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—अतश्चेति। चोऽवधारणे। पितृदत्तेति। पितुः शान्तनोर्दारसुखाय सत्यवतीं याचमानो भीष्मो मद्दौहित्राणां त्वया सह सापत्न्यं दूषणमिह भावीति तत्पित्रा दाशराजेनोक्तो राज्यं दारपरिग्रहञ्च न कुर्यामिति नियमं कृत्वा सत्यवतीमानीय पित्रे निवेदयामास। तेनान्यदुष्करेण व्रतेन सन्तुष्टः पिता स्वेच्छामरणं वरं तस्मै ददावित्यादिपर्वण्युक्तं—*"तच्छ्रुत्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शान्तनुः। स्वच्छन्दमरणं तुष्टो ददौ तस्मै महात्मने"* इति॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार— *'अथश्चेति'* सूत्रमें 'च' कार अवधारण (निश्चय) अर्थ में है। *'पितृदत्त स्वच्छन्द मृत्युतेति'*—भीष्मदेवने पिता शान्तनुके स्त्री-सुख सम्पादनके लिए दाशराजके पास उसकी कन्या सत्यवतीके लिए प्रार्थना की। तब दाशराजने उनसे कहा, यदि ऐसा होता है तो मेरे दौहित्रोंका अर्थात् सत्यवतीके गर्भजात सन्तानोंका तुम्हारे साथ पैतृक सम्पत्तिके भागको लेकर विवाद होगा—इस क्षेत्रमें यह दोष अवश्यम्भावी है; दाशराजके यह कहनेपर भीष्मने प्रतिज्ञा की, मैं राज्य भी नहीं लूँगा और दार-परिग्रह (विवाह) भी नहीं करूँगा—यह प्रतिज्ञा करके सत्यवतीको लाकर पिताके हाथोंमें समर्पण कर दिया। पिता शान्तनुने दूसरोंके द्वारा असाध्य इस व्रतसे सन्तुष्ट होकर पुत्र भीष्मको स्वेच्छा-मृत्युरूप वरदान दिया था। यह उपाख्यान महाभारतके आदिपर्वमें कहा गया है। यथा—*"तच्छ्रुत्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शान्तनुः। स्वच्छन्दमरणं तुष्टो ददौ तस्मै महात्मने।"* शान्तनु भीष्म द्वारा कृत इस दुष्कर प्रतिज्ञाको सुनकर सन्तुष्ट हुए एवं उन्हें इच्छाधीन मृत्युरूप वर प्रदान किया॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पुनः और एक विचार उत्थित हुआ है कि विद्वान् व्यक्तिकी दक्षिणायनमें मृत्यु होनेपर उसकी विद्याका फल-मुक्ति उसे प्राप्त होगी? कि नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि दक्षिणायनमें मृत व्यक्तिको विद्याका फल प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि श्रुति-स्मृतिमें उत्तरायणको ही ब्रह्मलोक-प्राप्तिके उपायके रूपमें स्थिर किया गया है। भीष्मको भी मृत्युके लिए उत्तरायणकी अपेक्षा करते देखा जाता है। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विद्वान् व्यक्तिकी जिस किसी भी अयनमें (कालमें) मृत्यु क्यों न हो—विद्याका फल-मुक्ति उसे अवश्य ही प्राप्त होगी। दक्षिणायनमें मृत्यु होनेपर भी मुक्ति अवश्यम्भावी है।

इस विषयमें विस्तारपूर्वक आलोचना भाष्यकारके भाष्य और टीकामें प्राप्त है।

श्रीमद्भागवतमें भीष्मके वाक्यमें भी पाया जाता है—

भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्त्तयन्।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः॥

(श्रीमद्भा॰ १/९/२३)

अर्थात् जिनका अन्तःकरण भक्तिपरायण है, ऐसे योगीभक्त पूर्ण भक्तिभावसे इन श्रीकृष्णमें अपने मनको समर्पित कर देते हैं और मुखसे इनका नाम-सङ्कीर्त्तन करते हुए देह त्याग करते हैं और कामनाओं तथा कर्म-बन्धनसे भी मुक्त हो जाते हैं।

श्रीनिम्बार्कभाष्यमें भी पाया जाता है—

उक्तहेतोर्दक्षिणायनेऽपि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः।

अर्थात् उक्त हेतुसे ही दक्षिणायनमें भी मृत विद्वान् पुरुषकी ब्रह्म-प्राप्ति होती है।

श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें भी पाया जाता है—

विद्वान् व्यक्ति (उपासक) यदि कभी चन्द्रलोकको प्राप्त होता भी है तो *'तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति'*—'वहींसे वह ब्रह्मकी महिमाको प्राप्त होता है'—इत्यादि श्रुतिके अनुसार यह ज्ञात होता है कि दक्षिणायनमें विद्वान्की मृत्यु होनेपर उसकी चन्द्रलोककी प्राप्ति (चान्द्रमसी गति) पथिश्रमका (मार्गमें जानके कष्टका) निवारण

करनेके लिए एक उपायमात्र है। कारण यह है कि ब्रह्मज्ञके संसार-बन्धनका कोई हेतु न रहनेके कारण चन्द्रमण्डलमें गमनकी भी कोई प्रतिबन्धकता हो नहीं सकती। स्वेच्छामृत्यु वर-प्राप्त भीष्मादिकी योगबलसे उत्तरायणकी प्रतीक्षा केवल उस उत्तरायणकी प्रशस्तता (श्रेष्ठता) दिखाते हुए साधारण-धर्म-प्रवर्त्तनके लिए है। इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भगवद्गीताके (८/२३-२७) श्लोक भी आलोच्य॥ २०॥

अवतरणिका भाष्य—ननु *"यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ"* (श्रीगी॰ ८/२३) इत्युपक्रम्य *"शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः"* (श्रीगी॰ ८/२६) इत्युपसंहृतं भगवता। तत्र कालप्राधान्येनोपक्रमादहरादिकालविशेषा मोक्षाय निर्द्दिष्टाः प्रतीयन्ते। ततश्च रात्रौ दक्षिणायने च मृतस्याविशेषोऽसौ न भवेदितीमां शङ्कां परिहरति—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आशङ्का होती है कि *'यत्र काले ... वक्ष्यामि भरतर्षभ'* (श्रीगी॰ ८/२३) अर्थात् जिस समय मरनेपर योगीगण पुनः संसारमें नहीं आते और जिस समयपर मृत व्यक्तिकी संसारमें पुनरावृत्ति होती है, हे भरतप्रधान! मैं तुम्हें उन दोनों कालोंके विषयमें कहूँगा—इस प्रकार उपक्रम करके उपसंहारमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा—जगत्‌की दो चिरन्तन गति हैं—शुक्ल और कृष्ण। इनमें पहली अर्थात् शुक्ला गति द्वारा अनावृत्ति (पुनरावृत्तिका अभाव) है और दूसरी कृष्णा गति द्वारा जीवकी संसारमें पुनरावृत्ति होती है। यहाँ कालकी प्रधानता दिखानेके लिए उपक्रम किया गया है। इसी कारण दिवाभाग, उत्तरायण, शुक्लपक्ष इत्यादि काल-विशेषको मुक्तिके कारण—रूपमें (मोक्ष हेतु) निर्दिष्ट किया गया है—यह प्रतीत होता है। ऐसा होनेपर रात्रिभागमें और दक्षिणायनमें मृत व्यक्तिका आपके (सिद्धान्तीके) द्वारा समर्थित अविशेष (काल-नैरपेक्ष्य) नहीं हो सकता (अर्थात् उत्तरायणादि काल-विशेष) ही हो सकता है। तात्पर्य यह है कि रात्रि और दक्षिणायनादिमें जो मरण है, उसमें तथा दिवस और उत्तरायणादिके मरणमें भेद हो सकता है—इस प्रकारकी आशङ्काका परिहार किया जाता है—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादके श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—आशङ्कते नन्विति। शुक्लकृष्णे अर्चिरादिधूमादिरूपे। एते गती। तत्र गीतायाम्। असौ मोक्षः। योगिन इति।

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे श्रीबलदेवकृत-अवतरणिका-भाष्यस्य सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'ननु'* कहकर पूर्वपक्षी आशङ्का करते हैं—शुक्ल कृष्णे इति—अर्चिः इत्यादि मार्गमें जो गति है, वह शुक्ला गति है और धूमादि योगसे जो गति है वह कृष्णा गति है—इस प्रकार गतिका यह स्वरूप है। *'एते जगतः शाश्वते मते'* इतिमें 'एते' का अर्थ है—ये दो पथ। *'तत्र कालप्राधान्येनेत्यादि'* में तत्रका अर्थ है—गीता-ग्रन्थमें। *'मृतस्याविशेषोऽसौ'* इति में 'असौ' का अर्थ है—यह मोक्ष। *'योगिनः इति'*—योगिनः इत्यादि सूत्रमें शङ्काका निरास करते हैं।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादके श्रीबलदेवकृत अवतरणिका-भाष्यका टीकानुवाद समाप्त॥

सूत्र—योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्त्ते चैते॥ २१॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'च' और 'योगिनः प्रति' योगियों अर्थात् ब्रह्मनिष्ठोंके सम्बन्धमें चन्द्रगति हेय है एवं अर्चिरादि मार्गमें गति उपादेय (ग्रहणीय) है, यह 'स्मर्यते'-स्मृत होता है क्योंकि 'ऐते'—ये दोनों 'स्मार्त्तें'—स्मृतिगम्य हैं॥ २१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—योगी-ब्रह्मनिष्ठोंके लिए हेय एवं उपादेय रूपमें चन्द्रगति और अर्चिरादि गतिका स्मरण है, विद्वान्‌के लिए काल-विशेषका कोई नियम नहीं है॥ २१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—योगिनो ब्रह्मनिष्ठान् प्रति हेया चन्द्रगतिरुपादेया त्वर्च्चिरादिगतिस्तत्र स्मर्यते। यदेते स्मार्त्ते स्मृत्यर्हे भवतः *"नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन"* (श्रीगी॰ ८/२७) इत्युक्तेः। ततश्च नात्र विदुषः कालविशेषो नियन्तव्यः। कालप्राधान्येनोपक्रमस्तु नास्ति। अग्न्यादेः कालत्वासम्भवात्। किन्त्वातिवाहिका देवास्ते तत्तच्छब्दैरभिधीयन्ते। वक्ष्यति चैवं भगवान् सूत्रकारः आतिवाहिकास्तलिङ्गादिति। *"दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च। मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतन्तु गर्हितम्"* इत्यादिकन्तु भवत्यज्ञविषयम्। विज्ञः खलु यत्र क्वापि त्यजन् वपुरुपैति हरिम्॥ २१॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—योगियोंको अर्थात् ब्रह्मनिष्ठोंको उद्दिष्ट करके चन्द्रगतिका हेयत्व एवं अर्चिरादि गतिका उपादेयत्व गीतामें स्मृत है क्योंकि ये दोनों गति स्मृतिका विषय हुई हैं; इसका प्रमाण है—*'नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन'* अर्थात् हे पृथानन्दन अर्जुन! इन दोनों पथोंको जान लेनेपर कोई भी योगी विमूढ़ नहीं होता—यह भगवत्-उक्ति है। इससे देखा जाता है कि ब्रह्मविद्के उत्क्रमण-विषयमें काल विशेषका कोई भी नियम नहीं है ठीक है, तब जो काल-विशेषके प्राधान्यके लिए *'यत्र काले त्वनावृत्तिम्'* इत्यादि ग्रन्थका उपक्रम हुआ है, उसका क्या? ऐसा भी नहीं है अर्थात् काल-प्राधान्यके द्वारा उपक्रम नहीं है। अग्नि, अर्चिः—ये कालस्वरूप हो नहीं सकते, आतिवाहिक (मार्ग दर्शक) देवतामें ही उनका तात्पर्य है अर्थात् ये देवता ही अग्नि इत्यादि शब्द द्वारा अभिहित होते हैं। सर्वज्ञ सूत्रकार व्यासदेव इसी बातको आगे—*'अतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्'* (ब्र॰सू॰ ४/३/४) में कहेंगे। तब जो विपरीत स्मृति-वाक्य देखा जाता है कि—*'दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च। मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतन्तु गर्हितम्'* अर्थात् दिवाभाग, शुक्लपक्ष और उत्तरायणकाल—ये सब काल-विशेष मुमूर्ष-साधकोंके पक्षमें ही प्रशंसनीय हैं और इसके विपरीत अर्थात् रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन—ये सब निन्दित हैं—यह उक्ति अविद्वान्परक है—इसे ब्रह्मविदोंसे भिन्न अन्य अज्ञ

जनोंको अधिकार करके कही गयी जाननी चाहिये। जो विज्ञ अर्थात् भक्त हैं—वे किसी भी समय शरीरका परित्याग करें—वे श्रीहरिको ही प्राप्त होते हैं॥ २१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—योगिन इति। *"स्मृत्यर्हतायां प्रमाणं नैते"* (श्रीगी॰ ८/२७) इति। अग्न्यादेरिति। *"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।"* (श्रीगी॰ ८/२४) इत्यत्राग्निज्योतिःशब्दाभ्यां अर्चिर्बोध्यम्। आदिना धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः दक्षिणायनमिति धूमो ग्राह्यः। न हि तयोः कालत्वं सम्भावयितुमपि शक्यम्। तस्मात् सर्वास्ता देवता बोध्याः। स्फुटमन्यत्॥ २१॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृत-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—*'योगिन'* इत्यादि सूत्रमें। स्मरणीयता विषयमें *'नैते सृती'* इत्यादि भगवत्-वाक्य प्रमाण रूपमें दिखलाते हैं। *'अग्न्यादेः कालत्वा सम्भवादिति'*—*'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः'*—यह स्मृति-वाक्य है—इस स्मृति-वाक्यमें अग्नि एवं ज्योतिः शब्द द्वारा अर्चिः ज्ञातव्य है। *'अग्न्यादेः'* इस आदिपदसे ग्राह्य *'धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्'* इस वाक्यमें कहा गया धूम ग्रहणीय है। इस अर्चिःके और धूमके कालस्वरूपत्वकी किसी प्रकारसे सम्भावना की नहीं जा सकती। अतएव अग्नि इत्यादिको आतिवाहिक देवता जानें। भाष्यका अन्यांश स्पष्ट है॥ २१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार पूर्वोक्त विषयको और भी दृढ़ करते हैं। यद्यपि श्रीगीतामें ब्रह्मनिष्ठके लिए चन्द्रगतिका हेयत्व एवं अर्चिरादि गतिका उपादेयत्व उक्त है, तथापि बादमें जो कहा गया

कि—इन दोनों प्रकारकी गति अवगत होनेपर योगी कभी भी मोहको प्राप्त नहीं होते। अतः इससे स्पष्ट जाना जा सकता है कि ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तिके लिए किसी प्रकारका कोई काल-नियम नहीं है।

वर्षमें सूर्य छह मास उत्तरी और छह मास दक्षिणी गोलार्द्धमें रहता है—इन दोनों षाण्मासिक कालोंको उत्तरायण और दक्षिणायन कहते हैं। २१ जूनसे लेकर २२ दिसम्बर तक दक्षिणायन और शेष छह मास उत्तरायणके होते हैं। देवलोकोंकी स्थिति उत्तरी आकाशके विशाल प्राङ्गणमें दूर-दूर तक फैली मानी जाती है। उत्तरायणमें सूर्यके प्रखर आलोकसे सभी देवलोक आलोकित रहते हैं—अतः प्रकाशके दिनोंमें यात्रा-मार्ग प्रशस्त रहता है पर विद्वान्‌के लिए तो दानों अयन समान ही हैं, क्योंकि विद्याकी सामर्थ्य किसी काल या देशसे प्रभावित नहीं होती। हार्द-विद्याका अपने फलके साथ सम्बन्ध नित्य है, यह पाक्षिक अयनादि पक्षोंपर आधारित नहीं हैं।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

ऐते सृती ते नृप वेदगीते
त्वयाभिपृष्टे च सनातने च।
ये वै पुरा ब्रह्मण आह तुष्ट
आराधितो भगवान् वासुदेवः॥

(श्रीमद्भा॰ २/२/३२)

अर्थात् हे राजन्! तुमने जो यह पूछा था कि 'मरणशील व्यक्तिको क्या करना चाहिये?' इत्यादि प्रश्नोंके द्वारा मुक्ति विषयसे सम्बन्धित 'वेदों' में कथित दो प्रकारके सनातन मार्ग—सद्यमुक्ति एवं क्रममुक्ति—ये दो पथ तुम जानना चाहते थे—मैंने उन सबका वर्णन कर दिया। प्राचीन कालमें ब्रह्माजीने भगवान् श्रीवासुदेवकी आराधना की थी और भगवान्‌से यही प्रश्न किये थे। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर इन दोनों मार्गोंके बारेमें यही ब्रह्माजीको बतलाया था।

इस श्लोककी टीकामें श्रीलविश्वनाथचक्रवर्तीपाद कहते हैं—*"सृती ब्रह्ममार्गौ 'निर्भिद्य मूर्द्धन् विसृजेत् परं गतः' इति यावत् सद्यो मुक्तिरेका सृतिः, 'यदि प्रयास्यन' इत्यादिना क्रममुक्तिश्च द्वितीया सृतिः। ऐते सृती वेदेन गीते न तु स्वोत्प्रेक्षिते। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि*

स्थिताः। अथ मर्त्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।' इति सद्योमुक्तिः। 'तेऽर्चिरभिसंभवन्ति' इत्यादिना क्रममुक्तिश्च वेदेनैवोक्ता।"

'सृती'—ये दो प्रकारकी गति अर्थात् ब्रह्ममार्ग–ब्रह्मप्राप्तिका पथ है। यदि अनपेक्ष है अर्थात् किसी प्रकारकी भोगाकाङ्क्षा नहीं है तो इस स्थानपर अर्द्ध मुहूर्त्त रहकर परब्रह्मको प्राप्त इन प्राणोंको ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाय, उसके बाद ब्रह्मरन्ध्रको निर्भेद करके प्रयाणके समय देह एवं समस्त इन्द्रियोंका परित्याग कर दे—यह सद्योमुक्ति (गति) है और यदि ब्रह्मपद अथवा खेचरगणोंके क्रीड़ास्थान इत्यादिकी प्राप्तिकी अभिलाषा रहती है तो क्रममुक्तिरूप द्वितीय गति कही गयी है। इन दोनोंकी गतियोंका वेदमें उल्लेख है। हमारे द्वारा उत्प्रेक्षित (मनः कल्पित) नहीं हैं। कठोपनिषद (२/३/१४) में कहा गया है कि *'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते'* अर्थात् मनुष्योंके हृदयमें जो कामनाएँ रहती हैं वे सभी कामनाएँ जब दूर हो जाती हैं तब मर्त्त्य अर्थात् मरणशील मानव अमृतत्वकी प्राप्ति करता है और इस जीवनमें ही ब्रह्मको भोग करनेमें समर्थ होता है अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त करता है। इस प्रकारके वर्णनसे सद्योमुक्ति कही गयी है। *'तेऽर्चिरभिसंभवन्ति'*—अर्थात् वे अर्चिः मार्गसे गमन करते हैं—इत्यादि द्वारा क्रम मुक्तिकी बात वेदमें कही गयी है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

यत्र काले त्वनावृत्तिः (श्रीगी॰ ८/२३) *इत्यादिना च योगिनः प्रति सृतिद्वयं स्मर्यते। ते चैते स्मरणार्ह, अतो न कालविशेषनियमः।*

'यत्र काले त्वनावृत्तिः' इत्यादि भगवान् द्वारा कथित वाक्यसे योगियों (ब्रह्मनिष्ठों) के लिए—दो प्रकारकी सनातन गतिका स्मरण है। 'देवयान' ज्ञान प्रकाशक होनेके कारण शुक्ला गतिके नामसे प्रसिद्ध है—ब्रह्मवित् योगी इसी गतिका अवलम्बनकर देवयानमें अर्चिरादि लोकोंसे होकर क्रमपथसे मोक्ष प्राप्त करते हैं और धूम आदि मार्ग 'पितृयान' अन्धकारमय, तमोमय होनेके कारण कृष्णगति नामसे प्रसिद्ध है, इष्टपूर्त्तादि अनुष्ठानोंको करनेवाले इसी कृष्णगतिका अवलम्बनकर पितृयानसे धूमादि देवताओंका अनुवर्त्तनकर चन्द्रलोकमें ज्योतिःस्वरूप सुख भोगकर अन्तमें पुनः संसारमें प्रत्यावर्त्तन करते हैं। ये दोनों गति योगके अङ्गके रुपमें नित्य स्मरण करने योग्य हैं। इन दोनोंसे अतीत

जो भक्तिमार्ग है, उसका अवलम्बन करनेसे साधक कभी भी मोहग्रस्त नहीं होता। भक्तोंके लिए काल-विशेषका कोई नियम नहीं है।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यके सारमें पाया जाता है—

पुनः विद्वान्‌की ब्रह्मप्राप्तिके सम्बन्धमें आशङ्का उत्थापन करते हुए उसके समाधानमें प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि जिस पथसे आवृत्ति और अनावृत्ति होती है, वे दोनों ही पथ योगी पुरुषके सम्बन्धमें स्मरणीय रूपमें स्मृतिशास्त्रमें कहे गये हैं। अतः विद्वान्‌के ब्रह्मप्राप्तिके सम्बन्धमें संशयका कोई कारण नहीं है। यहाँ साधारण रूपसे मुमूर्षोंकी मृत्युके कालविशेषका जो उल्लेख है, वह वास्तवमें उस सम्बन्धमें नहीं है बल्कि जो योगी-योगनिष्ठासम्पन्न हैं, उनके प्रति स्मार्त्तमें अर्थात् स्मृतिके विषयीभूत होकर स्मरणार्ह देवयान और पितृयान नामकी गति स्मृत है अर्थात् योगाङ्ग रूपमें नित्य स्मरण करने योग्य है। तात्पर्य यह है कि योगियोंको सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि उत्तरायणमें देह त्याग करनेपर पुनः संसारमें प्रत्यावर्त्तन करना नहीं होता किन्तु दक्षिणायनमें देहत्याग होनेपर संसारमें आना होगा। उपसंहारमें भी इसी प्रकार व्यक्त हुआ है—*'नैते सृती ... भवार्जुन'* (श्रीगी॰ ८/२७), *'अग्निजर्योतिः'* और *'धूमो रात्रिः'* कथनसे उसी श्रुतिमें उक्त 'देवयान' और 'पितृयान' दोनों पथोंको जानना होगा। इसके अतिरिक्त उपक्रममें *'यत्र काले'* में यह काल शब्द भी कालाभिमानी आतिवाहिक देवतापरक है क्योंकि अग्नि एवं धूमादि पदार्थोंका कालत्व असम्भव है। अतएव *'तेऽर्चिषम् अभिसम्भवन्ति'* अर्थात् वे अर्चिःके (किरणके) अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं, इस श्रुतिमें विहित-देवयान पथ विद्यानिष्ठ व्यक्तियोंको मात्र अनुक्षण (नित्य-निरन्तर) स्मरण करा देनेके लिए है, किन्तु मुमूर्षके लिए मरण-काल-विशेषका उपदेश किया नहीं है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

न केवलं कालादि कृते ब्रह्मचन्द्रगती स्मर्येते किन्तु ज्ञानयोगिनः कर्मयोगिनश्च। अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः। धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते इति। (श्रीगी॰

८/२४, २५) *अत्र योगीति विशेषणात् स्मरण-निमित्ते चैते गती, गत्यनुस्मरणात् ब्रह्म चन्द्रं वा गच्छति ध्रुवम्। अननुस्मरतः काले स्मरणं प्राप्य वै गतिरिति चाध्यात्मे।*

अब ज्ञानीका रात्रिमें उत्क्रमणका प्रतिपादन व्यर्थ है, क्योंकि *'दक्षिणे मरणाद् याति स्वर्गम्'* अर्थात् 'दक्षिणायनमें मरणसे स्वर्ग प्राप्त होता है' इत्यादि वचनसे जिस प्रकार दक्षिणायनमें उत्क्रमणका अयोग है, उसी प्रकार रात्रिमें उत्क्रमणमें अयोगापत्ति होनेपर विशेष दोष नहीं है। इस आशङ्काके परिहारके लिए कहते हैं 'दक्षिणायनमें मरणसे स्वर्ग होता है'—इस वचनके अनुसार दक्षिणायनमें उत्क्रमणका अयोग नहीं कहा जा सकता। उक्त स्मृतिमें वचनके सद्भावसे ज्ञानीका दक्षिणायनमें उत्क्रमण सम्भव है, क्योंकि सूर्यकी सहस्ररश्मिका नाड़ी-सम्बन्ध-सर्वदा विद्यमान रहता है। नारायणाध्यात्म विद्यामें कहा गया है कि सूर्यकी सहस्र रश्मियोंमें पाँचसौ दक्षिणायन और पाँचसौ उत्तरायणके रूपमें निर्दिष्ट हैं। इन समस्त रश्मियोंका सर्वदा देहीमें सम्बन्ध रहता है। केवल कालकी दृष्टिसे ही चन्द्रमासी अथवा ब्रह्मगतिका वर्णन नहीं किया गया है अपितु ज्ञानयोगी और कर्मयोगीकी दृष्टिसे यह वर्णन हुआ है। अग्नि ज्योतिः अह उत्तरायणके छह मासमें ब्रह्मवेत्ता जाकर ब्रह्मको प्राप्त करते हैं। धूम, रात्रि, कृष्ण एवं दक्षिणायनके छह मासोंमें कर्मयोगी चान्द्रमसी गति प्राप्त कर पुनः लौटते हैं—इत्यादिमें योगी विशेषण देकर इन गतियोंमें गतिके स्मरणका महत्त्व दिखाया गया है। गतिके अनुस्मरणसे ब्रह्म या चन्द्रको निश्चित प्राप्त करता है। यदि कालका स्मरण नहीं रहता तो भगवत्-स्मरणके अनुसार गति होती है—यह आध्यात्ममें कहा गया है।

अब ब्रह्मप्राप्तिमें गत्युनुस्मरणकी आवश्यकताका समर्थन करते हैं। सबसे पहले सन्देह होता है कि विद्या गति-स्मरण-सापेक्ष है? कि नहीं? इस सन्देहपर यदि कहो, ब्रह्मगतिके लिए विद्यानुस्मरणकी अपेक्षा नहीं की जाती, अग्नित्योतिरित्यादि वचनसे केवल ब्रह्म चन्द्र गतिका कालाधीनत्व कहा गया है। अब गतिके कालादिकृतत्वके कारण ज्ञानकी मोक्ष-साधनता नहीं हो सकती—इस आशङ्कापर कहते हैं—अग्निज्योतिरित्यादि वचनसे जो ब्रह्मचन्द्रगतिका कालादिकृतत्व

स्मृत हुआ है, वह नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्मचन्द्रगति विद्याधीन है, कालाधीन नहीं है। अध्यात्मविद्यावचनसे ब्रह्मचन्द्रगतिका विद्याधीनत्व कहा गया है। अतएव विशिष्टक्रमसे विद्या सापेक्षताके कारण ही ज्ञानका मोक्ष–साधनत्व सिद्ध होता है।

श्रीमद्भगवद्गीताकी व्याख्यामें श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने कहा है कि 'मेरे अनन्य भक्तगण बिना कष्टके ही मुझे प्राप्त करते हैं, किन्तु जो मेरी अनन्य भक्ति प्राप्त न करके कर्म–ज्ञानादिपर विश्वास करते हैं, उनके लिए मेरी प्राप्ति बहुकष्टमिश्रित है। उनका गमनकाल और मार्ग देश–काल द्वारा परिच्छिन्न हैं। उसका विवरण दे रहा हूँ, जिस कालमें मृत्यु होनेपर योगी पुनः संसारमें नहीं आते हैं तथा जिस कालमें मृत्यु होनेसे उनका पुनरागमन होता है—उसे बता रहा हूँ, श्रवण करो॥'२१॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके द्वितीय पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



तृतीयः पादः

मङ्गलाचरणम्

यः स्वप्राप्तिपथं देवः सेवनाभासतोऽदिशत्।
प्राप्यं च स्वपदं प्रेयान ममासौ श्यामसुन्दरः॥

अनुवाद—यः अर्थात् जो लीलामय श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भक्तिके आभास मात्रसे ही सन्तुष्ट होकर भक्तको अपनी प्राप्तिका पथ (अर्चिः इत्यादि पथ) निर्दिष्ट कर देते हैं अथवा गरुड़पर आरोहण कराके प्राप्य निजधाम अथवा निज-चरण युगल प्रदान करते हैं, वे मेरे परम प्रिय हों।

मङ्गलाचरण टीका—अथ भगवत्प्रापकार्च्चिरादिमार्गनिरूपकं तृतीयपादं व्याचिख्यानुर्भगवत्प्रीतिकामनां मङ्गलमाचरति य इति। स्व-प्राप्तिपथमर्च्चिरादिमार्गं क्वचिद्वैनतेयारूढस्वभूतञ्च बोध्यम्। स्वपदं स्वधाम स्वपादद्वन्द्वञ्च। सेवनाभासतो भक्त्याभासेनापि। अजामिलादीनां यथा नामकीर्त्तनाद्याभासैस्तत्पदाप्तिः पुराणेषु निरूप्यते।

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—अब जिस भगवत्-प्रापक अर्चिः इत्यादि पथकी सहायतासे श्रीभगवान्‌के निकट जाया जा सकता है, उसीका निरूपण करनेवाले तृतीय पादकी व्याख्या करनेके अभिप्रायसे भाष्यकार भगवत्-प्रीति-कामनात्मकरूप मङ्गलाचरण प्रस्तुत करते हैं। स्वप्राप्तिपथम्—यह कहनेसे जानना चाहिये किसी भी क्षेत्रमें अर्चिः इत्यादि पथ और किसी-किसी स्थलपर गरुड़के ऊपर निजस्वरूपभूत निजधाम। स्वपदके अन्तर्गत स्वपदका अर्थ है—स्वधाम वैकुण्ठादि एवं निज चरण-युगल। सेवनाभास अर्थात् भक्तिके आभासके द्वारा भी। जिस प्रकार अजामिलादिने नाम-कीर्त्तनादि आभासके द्वारा ही उनके पदको प्राप्त किया था—यह श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें निरूपित है।

अवतरणिका भाष्य—पादेस्मिन् ब्रह्मलोकप्रापणः पन्थाः प्राप्यञ्च ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते। छान्दोग्ये—"*अथ यदु चैवास्मिन् शव्यं कुर्वन्ति यदि च*

नार्च्चिषमेवाभिसम्भवत्यर्च्चिषोऽहरह आपूर्यमाणमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासान् तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्यात् चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" (छा॰ ४/१५/५) इत्यर्च्चिः प्रथमः पन्थाः श्रूयते। कौषीतकीब्राह्मणे (१/३)—*"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकम् स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्"* इत्यग्निः प्रथमः। बृहदारण्यके (५/१०/१) तु—*"यदा ह वै पुरुषोऽस्मात् लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन ऊद्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छति"* इत्यादौ वायुः प्रथमः। *"क्वचित् सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति"* (मु॰ १/१२/११) इति सूर्यरूपश्च श्रुतः। एवमन्यत्रान्यादृशश्च। इह भवति संशयः—किमयं नानाविधो ब्रह्मलोकमार्गः किंवा नानाश्रुत्युक्तपर्वकोऽर्चिरादिरेक एवेति। भिन्नप्रकरणत्वादथैतैरेवेत्यवधृत्यनुरोधाच्च नानाविध इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस पादमें ब्रह्मलोकमें जानेका पथ और प्राप्य ब्रह्मस्वरूप निरूपित हुए हैं। छान्दोग्योपनिषदमें वर्णन है—*'अथ यदु चैवास्मिन् शव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभि-सम्भवत्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् ... मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते।'* अर्थात् और जो इन अक्षिपुरुषकी ब्रह्म-बोधसे उपासना करते हैं, उनका मरण होनेपर उनके पुत्र-शिष्य इत्यादि आत्मीयगण उनका शव-संस्कार-दाहादि कार्य करें अथवा न करें, अपनी उपासनाके अक्षय फलस्वरूप वे उपासकगण अर्चिः इत्यादि पथके द्वारा श्रीहरिके साथ मिलित होते हैं। अर्चिः इत्यादि देवगण इन उपासकोंको विष्णुपदकी प्राप्ति करा देते हैं। पहले तो ये अर्चिः उन्हें शुक्ल-पक्ष देवता तक ले जाते हैं, उसके बाद उत्तरायण देवता तक, तब क्रमसे संवत्सर देवता तक, उससे आदित्य तक, आदित्यसे चन्द्र तक और चन्द्रमासे विद्युत तक पहुँचा देते हैं। वहाँ स्थित उपासकोंको एक अमानव पुरुष आकर ब्रह्मलोकमें ले जाता है। यही देवपथ और ब्रह्मपथ है। इस पथका आश्रय करनेवाले उपासकगण इस जन्म-मृत्युरूप-आवर्त्त युक्त-मनुष्य जगत्में फिर लौटकर नहीं आते। यहाँ यह अर्चिः प्रथम पथ सुना जाता है। कौषीतकीब्राह्मणमें श्रुत होता है—*'स एतं देवयानं ... स ब्रह्मलोकम्'* अर्थात् वह मृत ब्रह्मविद् देवयान पथके

द्वारा अग्निलोकमें जाता है, उसके बाद वह वायुलोक, क्रमसे वरुणलोक, आदित्यलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और अन्तमें ब्रह्मलोक जाता है—यहाँ अग्नि प्रथम पथके रूपमें वर्णित है। बृहदारण्यकमें कुछ अन्य रूप ही है। यथा—*'यदा ह वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति ... स आदित्यमागच्छति'* इत्यादि अर्थात् जिस समय वह ब्रह्मविद् पुरुष इस लोकसे प्रस्थान करता है, वह सबसे पहले वायुको प्राप्त होता है, वायुलोक पहुँचनेपर उसे वायु छिद्र प्रदान करती है। जिस प्रकार रथके चक्रके मध्यमें छिद्र होते हैं, उसी प्रकार वह वायु-प्रदत्त छिद्र-पथसे ऊर्ध्वमें चला जाता है बादमें वह आदित्यको प्राप्त होता है—इत्यादि श्रुतिमें वायुको प्रथम पथ कहा गया है। और किसी श्रुतिमें ऐसा भी वर्णन है कि सूर्यके द्वारा विरजा मार्गका आश्रय लेकर गमन करता है—यहाँपर सूर्यरूप प्रथम पथ वर्णित हुआ है। इस प्रकार अन्यान्य श्रुतियोंमें भी विभिन्न पथ श्रुत होते हैं। अब यहाँ संशय यह है क्या ब्रह्मलोक गमनका मार्ग नाना प्रकारका है? अथवा एक ही अर्चिरादि पथ श्रुतियोंमें नानाविध स्तरोंके रूपमें वर्णित है? पूर्वपक्षी निश्चय करते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमें इनका वर्णन होनेके कारण तथा *'अथैतैरेव'* इत्यादि श्रुतिमें अवधारणार्थक 'एव' शब्द प्रयुक्त होनेके कारण इन समस्त पथोंकी सहायतासे वह ब्रह्मलोक पहुँचता है—यह प्रतिपादित होनेके कारण तथा अवधारणाके अनुरोधसे इस स्थलपर नानाविध पथ ही कहे जायेंगे—इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—षोडशसूत्रकं नवाधिकरणकं तृतीयपादं व्याख्यातुमारभते पादेऽस्मिन्नित्यादिना। पूर्वपादेऽङ्गभूतोत्क्रान्तिश्चिन्तिता, इह त्वङ्गीभूतोऽर्च्चिरादिमार्गश्चिन्त्यत इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावः सङ्गतिः। पूर्वन्याये ब्रह्मविदां मृत्युकालानियमो निरूपितस्तद्वत् तन्मार्गानियमोऽस्तु। प्रकरणभेदात् मार्गभेदप्रतीतेरिति दृष्टान्तसङ्गतिः। अथेत्यादिः। तस्यार्थः। अस्मिन्नक्षिपुरुषब्रह्मोपासकगणे मृते सति यदि पुत्रशिष्यादयः शव्यं शवसम्बन्धि संस्कारादि कर्म कुर्वन्ति यदि वा न कुर्वन्ति उभयथाप्यक्षतोपास्तिफलास्ते तदुपासका अर्च्चिरादिभिर्हरिमभिसम्भवन्ति मिलन्तीत्यर्थः। अर्च्चिरादयो देवास्तदुपासकांस्तत्पदं प्रापयन्ति राजनिदेशवर्त्तिनो मार्गपालका यथा राजोपटौकितानि प्रियाणीति। उपासका देहान्निष्क्रम्यार्च्चिरभिसम्भवन्ति। तदर्च्चिस्तानहःपर्यन्तं नयत्येवमग्रेऽपि

योज्यम्। ततः शुक्लपक्षदेवताम्। ततः षण्मासोपलब्धितामुत्तरायणदेवतां ततः संवत्सरदेवतां तत आदित्यं ततश्चन्द्रं ततो विद्युतमित्यर्थः। तत्र तत्र स्थितांस्तदुपासकान् ब्रह्मलोकादागत्यामानवः पुरुषो ब्रह्म गमयति। अश्च मा च तयोरनवः ते अनवे वा यस्य सः। नित्यनूतनभावेन सर्वदैव अपश्यन्नित्यर्थः। अथवा अमतीत्यमः सर्वव्यापी। अनिति जीवयति सर्वानित्यनस्तं हरिं वाति उपासकान् सूचयतीति सः। सर्वथा तन्नित्यपार्षद इत्यर्थः। अत्रार्च्चिःशब्देन नक्षत्राभामण्डलमर्थः। पूर्वपक्षे ज्वालाभासोर्नपुंस्यर्च्चिरिति नानार्थवर्गात् सिद्धान्ते त्वग्निरिति ज्ञेयम्। अर्च्चिरादि-भिर्देवैर्विशिष्टत्वाद्देवपथः ब्रह्मप्रापकत्वाद्ब्रह्मपथश्चैष मार्गः। एतेन पथा। मानवं सर्गम्। आवर्त्तं जन्ममरणाद्यावृत्तिमत्त्वादावर्त्तरूपम्। षडुदङ्ङेति मासानित्यत्र उदङ् उत्तराभिमुखः सन्नादित्यो षाण्मासानेतीति योज्यम्। स एतमिति। स विद्वान् हरिभक्तस्तल्लोकपतिभिर्हरिं नीयत इत्यर्थः। यदा हेति। पुरुषो हरिध्यायी विद्वान् यदास्माल्लोकात् देहात् प्रैति स तदेति शेषः। प्राप्ताय तस्मै स वायुस्तत्र विजिहीते विवरं करोतीत्यर्थः। यथा रथचक्रस्य खं छिद्रं तेन वायुदत्तेन छिद्रेण द्वारा स विद्वानूर्द्ध्वः सन्नाक्रमते इत्यर्थः। क्वचिदिति। ते विरजामार्गतत्फलप्रतिबद्धशून्या हरिभक्ता इत्यर्थः। एवमन्यत्रेति। नाडीसम्बन्धरूपश्च पन्था इत्यर्थः। किमयं नानेति। पूर्वपक्षे येन केनचित् पथा गमनं सिद्धान्ते तु विद्यैक्यात् विकल्पाभावः फलम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—इस तृतीय पादमें सोलह सूत्र, नौ अधिकरण हैं, इनकी व्याख्या करनेकी अभिलाषासे भाष्यकार *'पादेऽस्मिन् ब्रह्मलोकप्रापणः पन्थाः'* इत्यादि वाक्य द्वारा आरम्भ करते हैं। पूर्वपादमें (द्वितीय पादमें) अङ्गस्वरूप उत्क्रमणका विचार हुआ था और इस तृतीय पादमें अङ्गीभूत अर्चिः इत्यादि पथका विचार हो रहा है। इस प्रकार इस पादकी अङ्गाङ्गिभाव अर्थात् उपकार्योपकारक—भाव नामक सङ्गति जाननी चाहिये। पूर्वाधिकरणमें कहा गया था कि ब्रह्मविद्गणोंके मृत्युकालका जिस प्रकार कोई भी नियम नहीं है, उसी प्रकार आश्रयणीय पथका भी कोई नियम नहीं होना चाहिये, क्योंकि प्रकरण भिन्न होनेसे विभिन्न पथ प्रतीत हो रहे हैं। इस प्रकार पूर्व-न्यायके साथ दृष्टान्त सङ्गति है। *'अथ यदु चैवास्मिन्'* (छा० ४/१५/५) इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—अस्मिन्—अक्षिपुरुष—ब्रह्मोपासकके मृत होनेके बाद यदि पुत्र-शिष्य इत्यादि शव-संस्कार कर्म करें अथवा न भी करें, दोनो पक्षमें ही ब्रह्मोपासनाका फल अक्षुण्ण होनेके कारण अक्षि पुरुषकी ब्रह्म-बोधसे उपासना करनेवाले अर्चिः इत्यादि मार्गके

द्वारा श्रीहरिके साथ मिलित होते हैं। अर्चिरादि देवतागण उन उपासकोंको विष्णुपद प्राप्त करा देते हैं। जिस प्रकार राजाज्ञाके अनुवर्ती-मार्गके पालकगण राजाकी उपढौकनीभूत प्रियवस्तुओंको (उपहारोंको सम्मानपूर्वक) राजाको प्राप्त करा देते हैं। ये उपासकगण देहसे निष्क्रान्त होकर अर्चिःमें मिलित होते हैं। अर्चिः देवता इन्हें (उपासकोंको) दिनाभिमानी देवता तक पहुँचा देते हैं, इस प्रकारकी योजना आगे भी करनी चाहिये। उससे शुक्लपक्ष—देवता ले जाते हैं, उससे क्रमपूर्वक माघादि छहमाससे पूर्ण उत्तरायण देवता तक, वहाँसे संवत्सराभिमानी देवता तक, वहाँसे आदित्य तक, आदित्यसे चन्द्र, चन्द्रसे विद्युत तक ले जाते हैं। उपासकगणके उस अर्चिरादिमें स्थित होनेपर एक अमानव पुरुष ब्रह्मलोकसे आकर उन्हें ब्रह्मकी प्राप्ति करा देता है। अमानव शब्दकी व्युत्पत्ति है—अश्च (विष्णुः) माच (लक्ष्मीः) उनके लिए 'अनवः' हैं, ऐसा पुरुष अथवा वे दोनों 'अ' और 'मा' जिनके लिए नव (नूतन) नहीं हैं, इस प्रकारसे अर्थात् नित्य-नूतन रूपमें उन्हें सर्वदा देखते हैं, यह अर्थ है अथवा अमति इति अमः—सर्वव्यापी, अनिति—जीवयति। अन्तर्भूतण्यर्थ सर्वान् (अन् धातुसे निष्पन्न) जो सबको जीवित रखते हैं—इस व्युत्पत्तिमें 'अन' शब्दका अर्थ है 'हरि' उन्हें 'वाति' अर्थात् उपासकगणोंको जो दिखा देते हैं ऐसे पुरुष, वे ही अमानव हैं। इस व्युत्पत्तिके आधारपर जो अमानव हैं, वे समस्त प्रकारसे ही श्रीहरिके नित्य पार्षद हैं—यह अर्थ होता है। इस श्रुतिमें उक्त 'अर्चिस्'-शब्दके द्वारा नक्षत्रका दीप्तिमण्डल अर्थ वाच्य है। पूर्वपक्षीके मतमें *'ज्वालाभासो न पुंस्यर्चिः'* ज्वाला भी एवं दीप्ति अर्थमें, अर्चिस् शब्द स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग है। यह नानार्थवर्गमें है। इस कारण यहाँ अर्चिस् शब्दका अर्थ दीप्ति कहा गया है। सिद्धान्ती सूत्रकारके मतमें अर्चिस् शब्दका अर्थ है—'अग्नि'—यह जानना चाहिये। इस पथको अर्चिः इत्यादि देवताओंसे अधिष्ठित होनेके कारण देवपथ और ब्रह्मका प्रापक होनेके कारण ब्रह्मपथ नामसे अभिहित किया जाता है। *'एतेन प्रतिपद्यमाना इति'* में 'एतेन'—इस पथके द्वारा। *'इह मानवमावर्त्तमिति'* मानवम्—सृष्टि, 'आवर्त्तम्'—जन्म-मृत्युकी पुनः-पुनः आवृत्ति होनेके कारण आवर्त्त

स्वरूप। *'षडुदङ्‌डेति मासानिति'* में 'उदङ्' का अर्थ है—उत्तराभिमुख होकर सूर्यके छह मासमें गमन करता है—इस रूपसे योजनीय है। *'स एतं देवयानं इति'* में 'सः' का अर्थ है—वह ब्रह्मविद् हरिभक्त अग्नि इत्यादि लोकवासियोंके द्वारा विष्णुलोकमें ले जाया जाता है। *'यदा ह वै पुरुष'* इत्यादि इसका अर्थ है—'पुरुषः'—हरिका ध्यान करनेवाला ब्रह्मविद् यदा—जब इस लोकसे—देहसे निष्क्रान्त होता है—उस समय। वायुलोकमें प्राप्त उन्हें (हरिभक्तोंको) वायु स्वयंसे छिद्र प्रदान करती है। जिस प्रकार रथचक्रका छिद्र होता है, उसी प्रकार वायु-प्रदत्त छिद्र द्वारा वह विद्वान् ऊद्‌र्ध्वगामी होकर उठ जाता है—यह अर्थ है। *'क्वचित् सूर्य द्वारेण ते विरजा'* इति में 'ते' का अर्थ है विरजापथ और उसके फलके प्रतिबन्धकरहित हरिभक्तगण। *'एवमन्यत्रान्या दृशश्चेति'* अन्यादृश इति—नाड़ी-सम्बन्धरूप पथ। *'किमयं नानाविध इति'* में पूर्वपक्षीके मतमें पूर्वोक्त बहुविध पथमें जिस किसी भी पथके द्वारा गमन अभिप्रेत है और सिद्धान्ती सूत्रकारके मतमें जब विद्या एक ही है, तब तदनुसार प्रकारान्तर नहीं है—यह सिद्धान्त है।

अर्चिराद्यधिकरणम्

सूत्र—अर्चिरादिना तत्प्रथितेः॥ १ ॥

सूत्रार्थ—'अर्चिरादिना'—समस्त ब्रह्मविद् ही प्राथमिक अर्चि इत्यादि पथसे ब्रह्मलोकको ओर जाते हैं, प्रमाण—'तत्प्रथितेः'—श्रुतिमें ऐसी ही गतिका उपदेश है॥ १ ॥

सूत्रानुवाद—सभी विद्वान् प्रथम अर्चिरादि पथके अवलम्बन द्वारा ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं—श्रुतियोंमें सर्वत्र इसीकी प्रसिद्धि है॥ १ ॥

गोविन्दभाष्य—सर्वोऽपि विद्वानर्च्चिःप्रथमेनैव वर्त्मना ब्रह्मलोकं व्रजति। कुतः? तत्प्रथितेः। *"तद् य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते ते अर्च्चिषम्"* (छा॰ ५/१०/१) इति पञ्चाग्निविद्याप्रकरणस्थेन वचसा विद्यान्तरशालिनामप्यर्च्चिरादिनैव पथा गत्युपदेशादित्यर्थः। *"द्वावेव मार्गौ प्रथितावर्च्चिरादिर्विपश्चिताम्। धूमादिः कर्मिणाञ्चैव सर्ववेदविनिर्णयाद्"* इति स्मृतिश्च। एवं सति यत्र विसदृशः पन्थाः श्रूयते तत्र गुणोपसंहारवदनुक्तानां समावेशः प्रकरणभेदेऽपि विद्यैक्यात्। एवञ्चावधृतिरपि रश्मिप्राप्तिपरैव। अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गः॥ १ ॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—समस्त विद्वान् ही अर्चिःरूप प्रथम पथके द्वारा ब्रह्मलोक जाते हैं। प्रमाण क्या है? *'तत्प्रथितेः'* श्रुतिमें यही प्रख्यात है। यथा *'तद् य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते ते अर्चिषम्'* अर्थात् उन ब्रह्मको जो इस प्रकारके लक्षणोंसे सम्पन्न जानते हैं और जो अरण्यमें श्रद्धाको ही तपस्या जानकर उपासना करते हैं—वे दोनों ही मृत्युके बाद अर्चिः पथको प्राप्त होते हैं। *'पञ्चाग्निविद्याप्रकरणेस्थित'*—इस वाक्य द्वारा यही उपदिष्ट होता है कि विद्यान्तरशाली अर्थात् अन्य विद्याके उपासकगणोंकी भी अर्चिः इत्यादि मार्ग-योगसे गति होती है, इसीलिए सबका ही यही एक पथ कहा जाता है—यह तात्पर्य है। दो पथ विख्यात हैं—इनमें पहला ब्रह्मविदोंका अर्चिः इत्यादि पथ, दूसरा कर्मियोंका धूमादि पथ। कारण है कि वेदके समस्त सिद्धान्तमें इसीका समर्थन है—यह स्मृति-वाक्य भी *'द्वावेव मार्गौ प्रथितौ इति'* प्रमाणस्वरूप ब्रह्मतर्क ग्रन्थमें देखा जा सकता है। ऐसा होनेपर यदि किसी-किसी श्रुतिमें जो इसके विपरीत पथ सुने जाते हैं, उसमें भी प्रधान कर्ममें अङ्ग-कर्मके उपसंहारके समान अनुक्त पथोंका अन्तर्भाव समझना होगा; क्योंकि प्रकरणगत भेद रहनेपर भी विद्यागत ऐक्य है। तब जो *'अर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति'* इस वाक्यमें अवधारणार्थक (इतर व्यावर्त्तक) अथवा अन्ययोग-व्यवच्छेदक 'एव' शब्द है—उसकी सङ्गति क्या होगी? तो उसकी सङ्गति है कि समस्त वाक्य सौर-रश्मि-प्राप्ति-तात्पर्यपर है। ऐसी अवधारणा नहीं करेंगे तो वाक्योंमें भेद-प्रसङ्ग हो पड़ेगा॥ १॥

सूक्ष्मा-टीका—अर्च्चिरादिनेति। विद्यान्तरेति। पञ्चाग्निविद्यावतामपीत्यर्थः। द्वावेवेति ब्रह्मतर्के। पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ। दुर्जनाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिण इति मोक्षधर्मे च। प्रकरणभेदेऽपीति। न च प्रकरणभेदान्मार्गभेदः शक्यो वक्तुम्। अर्च्चिराद्येकदेशस्य सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् विद्यावेद्ययोरैक्याच्च। तथा चानुक्तानां समावेश एव श्रेयानिति॥ १॥

सूक्ष्मा-सार—*'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः'* इस सूत्रमें *'विद्यान्तर शालिनामपीत्यादि'* भाष्यमें 'विद्यान्तर' अन्य विद्या अर्थात् पञ्चग्नि विद्या, तत्परायणोंका भी। *'द्वावेव मार्गौ प्रथितौ'* इति—यह स्मृति-वाक्य ब्रह्मतर्क-ग्रन्थसे उद्धृत है। पुनः महाभारतके मोक्षधर्ममें भी है,

यथा—*'पन्थानौ पितृयानश्च ... मोक्षिणः'* इति पितृयान एवं देवयान दोनों पथ विख्यात हैं, इनमें दुर्जन व्यक्ति (कर्मीगण) पितृयानसे एवं मोक्षाधिकारी (ब्रह्मविद्गण) देवयानसे गमन करते हैं। *'प्रकरण भेदेऽपि विद्यैक्यात्'* इति—प्रकरण-भेदसे उक्त होनेके कारण मार्ग-भेद है—यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि इन पथोंमें अर्चिः इत्यादिके एकांशका सर्वत्र प्रत्यभिज्ञान होता है एवं दोनों ही विद्या वेद्य हैं, इसलिए दोनोंका ऐक्य है। अतएव अर्चिरादियोंके मध्य अनभिहित विषयोंका भी आदिपदसे ग्राह्यत्वके रूपमें अन्तर्भाव स्वीकार करना ही सुष्ठुतर है॥ १॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस तृतीय पादमें सोलह सूत्र और नौ अधिकरण हैं। इसके पूर्व पाद अर्थात् द्वितीय पादमें अङ्गस्वरूप उत्क्रमणपर विचार किया गया था और अब भगवत्-प्रापक अङ्गीभूत अर्चिः इत्यादिका निरूपण करनेवाले इस तृतीय पादकी व्याख्या करनेकी अभिलाषासे भाष्यकार श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभु श्रीभगवान्की प्रीतिकी कामनासे मङ्गलाचरण करते हुए कहते हैं कि जो भक्तिके आभाससे भी सन्तुष्ट होकर निजधामको प्राप्त करानेवाले पथका प्रदर्शन करते हैं एवं अपनी पद-सेवाका अधिकार प्रदान करते हैं, वे श्रीश्यामसुन्दर मेरे परम प्रिय हों अर्थात् मेरे प्रति परम प्रसन्न हों। श्रीभगवान्की प्रसन्नताके व्यतिरेकमें भगवत्-तत्त्व निरूपण सम्भव नहीं है। इसलिए प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भमें ही वे मङ्गलाचरणमें श्रीभगवान्की प्रसन्नताके लिए प्रार्थना करते हैं।

इस पादमें ब्रह्मलोक अर्थात् विष्णुलोक गमनका पथ एवं प्राप्य ब्रह्मस्वरूप निरूपित हुए हैं। ब्रह्मोपासकका देहत्याग होनेपर पुत्र अथवा शिष्यादि शव-सम्बन्धी संस्कारादि कार्य करें अथवा न करें, वे अपनी उपासनाके फलसे ही अर्चिरादि मार्ग द्वारा विष्णुलोक गमन करते हैं। इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्य एवं टीकामें देखनी चाहिये। विभिन्न श्रुतियोंमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर भिन्न-भिन्न रूपसे गमनकी बातें उल्लिखित हैं। अब संशय यह है कि ब्रह्मलोक-गमनका पथ क्या नाना प्रकारसे है? अथवा विभिन्न श्रुतियोंमें नाना प्रकारसे कहे जानेपर भी अर्चिरादि पथ एक ही है? इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि

जब भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमें उनका विशेष रूपसे उल्लेख है, तब विभिन पथ ही कहे जायेंगे। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं पहले समस्त विद्वान् व्यक्ति अर्चिरादि पथसे विष्णुलोक जाते हैं, क्योंकि ऐसी गति ही श्रुतिमें प्रसिद्ध है। स्मृतिमें भी पाया जाता है—कर्मीगण धूम्रादि पथसे और विद्वद्‌गण अर्चिरादि पथसे परलोकमें गमन करते हैं। तब जो विभिन्न पथकी बातें श्रुतियोंमें पायी जाती हैं तो गुणोपसंहारके समान उसमें अनुक्तका समावेश भी जानना होगा, जैसे प्रधान कर्ममें अङ्ग कर्मोंका उपसंहार होता है, क्योंकि प्रकरण-भेद रहनेपर भी विद्याका ऐक्य है। इस स्थलपर अवधारणका तात्पर्य रश्मि-प्राप्ति-परत्व ही है, अन्यथा वाक्योंमें भेदका प्रसङ्ग आता है।

विद्वान्‌की गतिके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट्।
विश्वोऽथ तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/१५/५४)

अर्थात् निवृत्तिनिष्ठ ज्ञानी अग्नि, सूर्य, दिवस, सायंकाल, शुक्लपक्ष, पूर्णिमा, उत्तरायणके अधिष्ठाता देवताओंके सान्निध्यमें विभिन्न लोकोंमें प्रवेश करके ब्रह्मलोक पहुँचता है। ब्रह्मलोक प्राप्त व्यक्तिके भोग जब समाप्त हो जाते हैं, तब उसकी 'विश्व' अर्थात् स्थूलोपाधि हो जाती है। तब वह स्थूलको सूक्ष्ममें लीन करके सूक्ष्मोपाधिक 'तैजस' हो जाता है। इसके पश्चात् सूक्ष्मको कारणमें लय करके कारणोपाधिक 'प्राज्ञ' हो जाता है, फिर सर्वत्र साक्षीस्वरूपमें अनुगत होनेके कारण इस कारणोपाधिको साक्षीस्वरूपमें लय कराके 'तुरीय' हो जाता है। अन्तमें सभी पूर्ववर्त्ती अवस्थाओंके साक्षीत्वमें विलीन हो जानेपर वह शुद्ध आत्मस्वरूप हो जाता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है॥ १॥

अवतरणिका भाष्य—इदानीं वाक्यान्तरपठितस्य वाय्वादेरर्च्चिमार्गे सन्निवेशः स्यादित्येतत् प्रदर्शयितुमारम्भः। *"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्"* (कौ॰ १/३) इत्यत्र श्रूयमाणो वायुरर्च्चिरादिपथे सन्निवेश्यो न वेति वीक्षायां क्रमाश्रवणात् कल्पकाभावाच्च नेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब वाक्यान्तरमें पठित वायु इत्यादि मार्गोंका अर्चिः पथमें अन्तर्भाव (सन्निवेश) होता है—यह दिखानेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ है। *'स एत देवयानं पन्थानमापद्याग्नि-लोकमागच्छति स वायुलोकम्'* अर्थात् वह ब्रह्मविद् मृत्युके बाद देवयान पथके द्वारा अग्निलोकमें जाता है, उसके बाद वायुलोकमें जाता है—इस श्रुतिमें वायुके सन्दर्भमें जो सुना जा रहा है, उस वायुका अर्चिरादि पथमें अन्तर्भाव है या नहीं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि नहीं, वायुका इस अर्चिरादि पथमें सन्निवेश नहीं होगा, क्योंकि एक तो उसमें क्रम श्रुत नहीं है और दूसरे कल्पका अभाव है अर्थात् ऐसी कल्पनाका कोई हेतु भी नहीं है। इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—इदानीमिति। सर्वेषु प्रकरणेषु मार्गैक्यं प्रागुक्तं तन्न युक्तम्। वायुस्थानानिश्चयेनानेकमार्गताया दुर्निवारत्वादित्याक्षिप्य समाधानादाक्षेपोऽत्र सङ्गतिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'इदानीमित्यादि'* भाष्यमें। पूर्वपक्षी आपत्ति कर सकते हैं कि आपने पहले जो यह कहा था कि सभी प्रकरणोंमें पथ एक ही है, तो यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि उसमें वायु-स्थानके अनिश्चयके कारण अनेक मार्ग होंगे ही, यह दुर्निवार है (इसे टाला नहीं जा सकता)। यह आक्षेप करके उसके समाधान हेतु इस अधिकरणमें आक्षेप नामक सङ्गति ग्राह्य है।

वाय्वधिकरणम्

सूत्र—वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्॥ २॥

सूत्रार्थ—'अब्दात्' संवत्सरके बाद आदित्यमें गमनसे पहले कौषीतकी श्रुत्यध्यायीगण 'वायुम्' वायुशब्दका सन्निवेश करते हैं। प्रमाण क्या है? क्योंकि 'अविशेषविशेषाभ्याम्' कहीं अविशेष रूपसे उपदेश और कहीं विशेष रूपसे उपदेश—दोनों ही हैं॥ २॥

सूत्रानुवाद—कौषीतकी श्रुत्यध्यायीगण अर्चिरादि वाक्यमें संवत्सरके आगे एवं आदित्य गमनसे पहले वायु शब्दका सन्निवेश करते हैं, क्योंकि अविशेष एवं विशेष दोनों ही रूपोंमें उपदेश है॥ २॥

गोविन्दभाष्य—अर्च्चिषमित्यादावब्दात् संवत्सरात् परमादित्यात् पूर्वं वायुं निवेशयन्ति। कुतः? अविशेषेति। स वायुलोकमित्यविशेषेणोपदिष्टस्य *"यदाह वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति"* (बृ॰आ॰ ५/१०/१) इत्यादौ *"स वायुमागच्छति"* इति सूर्यात् पूर्ववर्त्तित्वेन विशेषेणोपदेशादित्यर्थः। एवं सति *"मासेभ्यो देवलोकं* (बृ॰आ॰ ६/२/१५) *देवलोकादादित्यम्"* इति बृहदारण्यकोक्तो देवलोकोऽपिवायुरेव ज्ञेयः। *"योऽयं पवन एष एव देवानां गृहः"* इति देवनिवासस्थानत्वेनोक्तेः। अपरे त्वाहुः—देवलोकोऽपि वर्त्मपर्वविशेषः। स च संवत्सरात् परत्र पूर्वत्र च वायोर्निवेश्यः। न तु माससंवत्सरयोर्मध्ये, तयोः सम्बन्धप्रसिद्धेः। तथाच संवत्सरादित्ययोर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ सन्निवेश्याविति॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'अर्चिषमेवाभिसम्भवन्ति'* इत्यादि (छा॰ ५/१०/१, २) श्रुतिमें संवत्सर शब्दके बाद तथा आदित्य शब्दसे पहले श्रुति-वाक्यमें वायु शब्दका पाठ करते हैं। प्रमाण क्या है? *'स वायुलोकमागच्छति'* (कौ॰ १/३) अर्थात् 'वह वायुलोकको प्राप्त होता है', इस श्रुतिमें अविशेष अर्थात् सामान्य रूपसे वायु उपदिष्ट है और *'यदा ह वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति'* (जब वह पुरुष इस लोकसे गमन करता है) इत्यादि श्रुतिमें *'स वायुमागच्छति'*—वह वायुलोकमें आता है—तो यह वाक्य *'सूर्यमागच्छति'* सूर्यसे पूर्ववर्त्ती स्थान-विशेषका (सन्निवेश अथवा रचना-स्थानका) विशेष रूपसे उपदेश करता है, इसलिए यह अर्थ है। इस सिद्धान्तमें *'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्'* अर्थात् मासके अनन्तर देवलोकको और देवलोकसे आत्यिलोकको प्राप्त करता है, यह बृहदारण्योक्त देवलोक भी वायु तात्पर्यमें ही कहा गया समझना चाहिये। कारण यह है कि *'योऽयं पवन एष एव देवानां गृहः'* अर्थात् यह जो प्रसिद्ध वायु है, यही देवताओंका गृह अर्थात् निवास-स्थान है—इस श्रुतिमें वायुको देवताओंके निवास-स्थानके रूपमें कहा गया है। दूसरे व्याख्याकर्त्ता कहते हैं कि देवलोक भी एक ही पथका स्तर-विशेष (सोपान-विशेष) है। यह देवलोक संवत्सरके बाद (आगे) और वायुके पहले सन्निवेश्य (निवेश योग्य) है, किन्तु मास और संवत्सरके मध्यमें वायुका सन्निवेश हो नहीं सकता क्योंकि मास और संवत्सरका परस्पर अवयव-अवयवी भाव (सम्बन्ध) प्रसिद्ध है अर्थात् संवत्सर कहनेसे मासको भी जाना जाता है। अतएव सिद्धान्त है कि संवत्सर और आदित्यके मध्य देवलोक एवं वायुलोक सन्निवेश्य हैं॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—वायुमिति। संवत्सरात् परमादित्यात् पूर्वं गन्तारो वायुमभिसम्भवन्ति। कौषीतकीब्राह्मणे वायोः कुतश्चिदानन्तर्यपूर्वत्वं वा विशेषो न ज्ञायते। तदावेदकपदालाभात्। बृहदारण्यके तु सेत्यादिगमनद्वारत्वाद्वायोरादित्यात् पूर्ववर्त्तित्वं विशेषो ज्ञायते अतः संवत्सरादित्ययोरन्तरान्तर्वर्त्ती वायुरित्यर्थः। अपरे त्विति। त्रयोदशपर्वा ब्रह्मलोक-पद्धतिरितिवादिन इत्यर्थः। तयोरिति। माससम्वत्सरयोरवयवावयविभावेन सम्बन्धात् इत्यर्थः॥ २॥

सूक्ष्मा-सार— *'वायुमब्ददित्यादि'* सूत्रमें। *'संवत्सरात् परमादित्यादित्यादि'*—संवत्सरके बाद आदित्यलोकमें जानेसे पहले गमनकारी वायुमें सम्भूत (मिलित) होता है। कौषीतकीब्राह्मणमें वायुके ठीक बादमें अथवा ठीक पहले इस प्रकारसे कोई वैशिष्ट्य देखा नहीं जाता क्योंकि उसका ज्ञापक कोई पद नहीं है, किन्तु बृहदारण्यकमें 'सा' इत्यादि द्वारा यह विशेष जाना जाता है कि वायुके गमनद्वारत्व हेतु आदित्यलोकमें जानेसे पूर्व। अतएव संवत्सर एवं आदित्य—इन दोनोंके मध्य वायु वर्त्तमान है, यह अर्थ है। *'अपरेत्वाहुरित्यादि'*—ब्रह्मलोक पहुँचनेके तेरह स्तर (विश्रामस्थान) जो कहते हैं, ये अपर पदका यही अर्थ है। *'तयोः सम्बन्धप्रसिद्धेः'* इति—मास और संवत्सर—इन दोनोंके अवयवावयविभाव सम्बन्ध हेतु—यह तात्पर्य है॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब इसके बाद वाक्यान्तरमें पठित वायु इत्यादिका अर्चिरादि मार्गमें सन्निवेश होगा—यह दिखानेके लिए इस प्रकरणका आरम्भ किया गया है। कौषीतकी-उपनिषदमें पाया जाता है— *'स एतं देवयानं पन्थानम् ... स वायुलोकं स वरुणलोकम्'* इत्यादि (कौ॰ १/३) अर्थात् वह व्यक्ति देवयान पथको प्राप्त होकर अग्निलोकके बाद वायुलोकमें और इसके बाद वरुणलोक इत्यादिमें गमन करता है। इस स्थलपर संशय यह है कि श्रुति वर्णित वायु इत्यादि अर्चिरादि मार्गमें सन्निवेश्य होंगे या नहीं? पूर्वपक्षी कहते हैं कि क्रम और कल्पनाके अभावके कारण वे सन्निवेशित नहीं होंगे—इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पूर्वोक्त अर्चिरादि वाक्यमें संवत्सरके बाद आदित्यमें गमनसे पहले वायु शब्द सन्निविष्ट है। यह बृहदारण्यकमें पाया जाता है।

पूर्वोक्त कौषीतकीमें जो वायुलोकमें गमनकी बात प्राप्त होती है—वह अविशेष रूपसे उल्लिखित है और *'यदा ह वै पुरुषोऽस्मात्*

लोकात् प्रैति' (बृ॰आ॰ ५/१०/१) इत्यादि श्रुति-वाक्यमें आदित्यके पूर्ववर्ती यह भी विशेष रूपसे उपदेश है। इसलिए छान्दोग्यानुसार देवलोक शब्दसे वायुको ही जानना होगा। कोई-कोई कहते हैं कि देवलोक भी पथका ही सोपान विशेष है। यह देवलोक संवत्सरके बाद और वायुसे पहले सन्निविष्ट होगा; किन्तु वह मास और संवत्सरमें निविष्ट नहीं होगा क्योंकि उनका परस्पर अवयव-अवयवी भाव सम्बन्ध प्रसिद्ध है अर्थात् संवत्सरके मध्य मास भी है। अतः संवत्सर और आदित्यके मध्य देवलोक तथा वायुलोक सन्निवेश्य है। ब्रह्मलोक प्राप्तिमें तेरह विश्रामस्थान हैं अर्थात् तेरह दिव्यलोक (स्थान) में पहुँचकर या रुककर जाना होता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्त्तते॥

(श्रीमद्भा॰ ७/१५/५५)

अर्थात् तत्त्वज्ञानी इस पथको 'देवयान' मार्ग कहते हैं। प्रवृत्ति पथपर चलनेवालोंको उन सभी लोकोंकी प्राप्तिके बाद पुनः इस संसारमें लौटना पड़ता है। किन्तु जो रागादि वासनाओंसे रहित परमात्माके उपासक आत्मज्ञानी जीव हैं, उन्हें जन्म-मृत्युके प्रवाहमें वापस नहीं लौटना पड़ता।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी पाया जाता है—

अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

(श्रीगी॰ ८/२४)

अर्थात् अग्नि, ज्योति, शुभदिन, शुक्लपक्ष, छः मासरूप उत्तरायणकाल—इन समस्त कालोंके अभिमानी देवताओंके मार्गमें जो समस्त ब्रह्मविद् व्यक्ति प्रमाण करते हैं, वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥ २॥

अवतरणिका भाष्य—*"स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकम्"* (कौ॰ १/३) इत्यत्र विचारः। इह श्रुतो वरुणलोकोऽर्च्चिरादिपर्वतया सन्निवेश्यो न वेति विषये वायोरिवास्य व्यवस्थापकाभावान्नेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापति लोकमिति'* वह मृत ब्रह्मविद् वरुणलोकमें गमन करता है, बादमें इन्द्रलोक और क्रमसे प्रजापति लोकमें जाता है—इस कौषीतकी-श्रुतिमें वर्णित विषयपर विचार किया जाता है। इस श्रुतिमें श्रुत वरुणलोक क्या अर्चिः इत्यादिके स्तर रूपमें सन्निवेश्य है अथवा नहीं है? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—वायुके समान जब कोई व्यवस्थापक प्रमाण नहीं है, तब वरुणलोक अर्चिः इत्यादिके स्तर रूपमें सन्निवेश्य नहीं होगा—इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं।

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्रार्च्चिरादिपथे वायोर्निवेशो गदितः सोऽस्तु मास्तु वरुणस्य तद्वद्विशेषाभावादिति प्रत्युदाहरणसङ्गत्यारभ्यते स वरुणलोकमित्यादि। अस्येति वरुणलोकस्य।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वाधिकरणमें अर्चिस् इत्यादिके पथमें वायुका सन्निवेश युक्तिप्रमाणसे कहा गया था। अतएव वही हो, किन्तु वरुणकी इस प्रकारसे विशेष उक्ति न रहनेके कारण सन्निवेश नहीं होना चाहिये, इस प्रत्युदाहरण (उदाहरणको दिखाकर आक्षेप) सङ्गति द्वारा आरम्भ करते हैं। *'वरुणलोकम्'* इत्यादि वाक्यमें। *'वायोरिवास्येति'* में 'अस्य' का अर्थ है—वरुणलोकका।

तडिदधिकरणम्

सूत्र—तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्॥ ३॥

सूत्रार्थ—चन्द्रमासे विद्युतमें जाता है, इस श्रुतिमें कथिम 'तडितः' विद्युतके 'अधि' ऊपर 'वरुणः' यह वरुण विवेशनीय है, क्योंकि 'सम्बन्धात्' तड़ित और वरुणका परस्पर सम्बन्ध है॥ ३॥

सूत्रानुवाद—चन्द्रमाके बाद जो विद्युत् कहा गया है, उसके बाद वरुण शब्दका सन्निवेश है, क्योंकि विद्युत् और वरुणका परस्पर सम्बन्ध है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—*"चन्द्रमसो विद्युतम्"* इत्युक्तायास्तडितोऽध्युपरिष्टादसौ वरुणो निवेश्यः। कुतः? सम्बन्धात्। तडिद्वरुणयोः सम्बन्धसत्त्वात्। विद्युत्पूर्विका हि वृष्टिर्भवति। *"यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरे नृत्यन्त्यथापः*

प्रपतन्ति विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वै" (छा॰ ७/११/१) इति श्रवणात्। स्वसन्धिवृष्टिगतनीराधिपतित्वेन वरुणस्य तडिता सम्बन्धः प्रसिद्धः। वरुणादुपरि तु इन्द्रप्रजापत्योर्निवेशः। स्थानान्तराभावात् पाठसामर्थ्याच्च। तदेवमर्च्चिरादिप्रजापत्यन्ता द्वादशपर्वा त्रयोदशपर्वा वा ब्रह्मलोकपद्धतिरिति सिद्धम्॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'चन्द्रमसो विद्युतम्'* अर्थात् चन्द्रलोकसे विद्युत्लोकमें जाता है—इस श्रुतिमें वर्णित विद्युत्के अनन्तर यह वरुण निवेशनीय है अर्थात् वह उपासक वरुणलोकमें जाता है। किस कारणसे? विद्युतके साथ वरुणका सम्बन्ध है—इसलिए। किस प्रकार? यह देखो, प्रथम विद्युत् प्रकाशित होती है, तत्पश्चात् वर्षा होती है। श्रुतिमें भी पाठ है *'यदा हि विशाला विद्युतः ... वर्षिष्यति वै'* अर्थात् जब बहुत विशाल विद्युत् तीव्र स्तनित (भयङ्कर गर्जना) करते हुए जलसे भरे हुए मेघोंके उदरमें नृत्य करती है (प्रकाशित होती है, अथवा क्रीड़ा करती है) उसके बाद ही वृष्टि होती है। पर्जन्य विद्योतित होते हैं, शब्द (गर्जना) करते हैं, तब अनुमान हो जाता है कि वर्षा होगी। इससे जाना जाता है कि विद्युतके साथ सम्बन्धयुक्त वृष्टिका कार्यगत जलके अधिपति रूपमें वरुणके साथ असाधारण सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध प्रसिद्ध भी है। वरुणके बाद (आगे) इन्द्र और प्रजापतिका सन्निवेश है क्योंकि उनके प्रवेशका स्थानान्तर कोई दूसरा स्थान नहीं है और श्रुतिके पाठक्रम प्रमाणवश (सामर्थ्यवश) यही कहा भी जाता है। अतएव इस प्रकारसे अर्चिःसे आरम्भ करके प्रजापति पर्यन्त बारह स्तरोंसे (पर्वोंसे) युक्त ब्रह्मलोक पथ है अथवा शिरामें सूर्य-रश्मिके प्रवेशको लेकर यह ब्रह्मलोक पथ तेरह पर्वोंसे (विश्रामस्थानोंसे) समन्वित है अर्थात् तेरह दिव्यलोकोंमें पहुँचकर अथवा पड़ावोंमें रुकते हुए ब्रह्मलोक तक जाना होता है—यही सिद्ध होता है॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—तडित् इति। सम्बन्धादिति। तडित उपरि सजला मेघा वीक्ष्यन्ते। वरुणस्तु जलाधिपतिरतस्तयोः सम्बन्ध इत्यर्थः। विद्युत्पूर्विकायां वृष्टौ श्रुतिमुदाहरति यदाहीत्यादि। वक्तव्यमर्थं योजयति स्वसम्बन्धीति। कुतो निवेशस्तत्राह वरुणादुपरीति। द्वादशपर्वेति। अर्च्चिर्दिनसितपक्षैरिहोत्तरायणशरन्मरुद्रविभिः। विधुविद्युद्-वरुणेन्द्रद्रुहिणैश्चागात् पदं हरेर्मुक्तः। एवमेवोक्तं श्रीवैष्णवे। मुक्तोऽर्च्चिर्द्दिनपूर्वपक्ष-षडुदङ्मासाब्दवातांशुमच्चन्द्रै विद्युदपांपतीन्द्रविधिभिः सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः। श्रीवैकुण्ठमुपेत्य

नित्यमजडं तस्मिन् परब्रह्मणः सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्यः पुमानिति। त्रयोदशपर्वेति। नाडीरश्मिप्रवेशान्तरमर्च्चिः प्रविशति ततो दिनं ततः शुक्लपक्षं ततः उत्तरायणं ततः सम्वत्सरं ततो देवलोकं ततो वायुं ततः आदित्यं ततश्चन्द्रं ततो विद्युतं ततो वरुणं ततः इन्द्रं ततः प्रजापतिमित्येवं त्रयोदशपर्वणा अर्च्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं परमव्योमाख्यं श्रीहरिलोकं प्राप्नोतीति॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार— *'तडितोऽधि'* इत्यादि सूत्रमें 'कुतः? *'सम्बन्धात्'* इस भाष्यमें। विद्युत्के ऊपर (बादमें) सजल मेघ देखा जाता है, वरुण जलके अधिष्ठात्री देवता हैं अतः विद्युत एवं मेघ (वरुण) इन दोनोंका सम्बन्ध लोक एवं वेदमें प्रसिद्ध है, यह अर्थ है। प्रथम विद्युत् होती है एवं बादमें वृष्टि होती है, इस विषयमें श्रुतिका उल्लेख करते हैं—*'यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितर्निघोषा जीमूतोदरेषु प्रभृत्यन्त्यथापः प्रपतन्त विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा'* (छा॰ ७/११/१) अर्थात् जब भयानक रूपसे गर्जना करती हुई विशाल विद्युत (बिजली) मेघके भीतर चमकती है, तब वर्षा होती है। अब इसके बाद इस श्रुति—अर्थके साथ प्रकृत (प्रस्तावित) वक्तव्य विषयकी योजना *'स्वसम्बन्धि'* इत्यादि वाक्य द्वारा करते हैं। वरुणका सन्निवेश कहाँ होगा? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—पहले वरुणका सन्निवेश, उसके बाद इन्द्र एवं प्रजापतिका निवेश है। *'अर्चिरादि प्रजापत्यन्ता द्वादशपर्वेति'*—अर्चिस्, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, वर्ष, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, वरुण, इन्द्र एवं प्रजापतिकी (ब्रह्माकी) सहायतासे मुक्त पुरुषोंको श्रीहरिका पद (वैकुण्ठधाम) प्राप्त हुआ है। इसी प्रकारसे ही विष्णुपुराणमें भी कहा गया है, यथा *'मुक्तोऽर्चिर्दिन ... धन्यः पुमान् इति।'* मुक्तपुरुष अर्चिस्, दिन, शुक्ल-पक्ष, उत्तरायण छह मास, संवत्सर (वर्ष), वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, वरुण, इन्द्र एवं धाता (ब्रह्मा) इन सबकी सहायतासे विरजा नदीपर उपनीत होता है, वहाँसे अभिषेकके बाद शाश्वत चैतन्यमय श्रीवैकुण्ठधाममें जाता है। वहाँ परब्रह्मसे सायुज्य प्राप्त होनेके बाद वह सौभाग्यवान पुरुष उनके साथ आनन्दका आस्वादन (अनुभव) करता है। इसमें बारह पर्व वर्णित हैं। *'त्रयोदशपर्वा वेति'*—नाड़ीमें सौर-रश्मि प्रवेशके बाद अर्चिःमें प्रवेश, बादमें दिन, उसके बाद शुक्लपक्ष, क्रमसे उत्तरायण, संवत्सर,

देवलोक, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, वरुण, इन्द्र, अन्तमें प्रजापति (ब्रह्मा)—इस प्रकार त्रयोदश स्तर-युक्त अर्चिः इत्यादि पथके द्वारा ब्रह्मलोक अर्थात् परम-व्योम नामक श्रीवैकुण्ठधामको प्राप्त होता है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पुनः और एक विचार उत्थित हुआ है कि कौषीतकी-श्रुतिमें जो यह पाया जाता है कि विद्वान् व्यक्ति मृत्युके बाद वरुणलोक गमन करता है, तत्पश्चात् इन्द्रलोकमें गमन करता है इत्यादि। इस स्थलपर संशय यह है कि उक्त वरुणलोक क्या अर्चिरादि पथके सोपान रूपमें सन्निवेश्य है? अथवा नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि वायुकी भाँति व्यवस्थापकके अभावके कारण यह सन्निवेश्य नहीं होगा। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि तड़ित्के अर्थात् विद्युतके बाद ही वरुणलोक सन्निवेश्य है, क्योंकि विद्युत्का और वरुणका परस्पर असाधारण स्मबन्ध है। विद्युत्के बाद ही वृष्टि होती है और अप्पति (वरुण) इस जलके (वृष्टिके) अधिपति हैं—इसलिए उन दोनोंका सम्बन्ध है—यह श्रुति-स्मृतिमें प्रसिद्ध है। (बिजली चमक रही है, मेघ गरज रहे हैं, वर्षा होगी—ऐसा लोकोक्ति विषयक ब्राह्मण भी है।) वरुणके बाद (ऊपर) फिर इन्द्र और प्रजापति सन्निवेश्य होते हैं, क्योंकि उनके लिए अन्य कोई स्थान है ही नहीं। सभा-भवनादिमें आगेका स्थान पहले आनेवाले व्यक्तियोंसे भर जाता है, अतः पश्चात् आगन्तुकोंको पिछला स्थान ही मिलता है। इन्द्रादि आगन्तुक हैं और वरुणके पश्चात् पठित भी। इस प्रकार स्थानान्तरके अभाव और पाठके सामर्थ्यसे वरुणके ऊपर इन्द्र और प्रजापति हैं। अतएव अर्चिःसे आरम्भ करके प्रजापति पर्यन्त बारह स्तर अथवा किसीके मतमें तेरह पर्वयुक्त ब्रह्मलोक अर्थात् परव्योमनामक श्रीहरिलोक-गमनकी पद्धति सिद्ध हुई है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद्वरुणलोकं वरुण-लोकात् प्रजाप्रतिलोकम् इति कौण्डिन्यश्रुतिः। संवत्सरात्तडितमागच्छति तडितः प्रजापतिलोकमितिच गौप-वनश्रुतिः। तत्र तडितो वरुणं गच्छति तडिता ह्येते वरुणलोकस्तडिदुपरि

मुक्तामयो राजते। तत्रासौ वरुणो राजा सत्यानृते विचिन्वतीत्युपरि सम्बन्धश्रुतिः।

अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिमार्गमें संवत्सरके बाद तड़ित्लोककी प्राप्ति होती है—यही प्रतिपादन करते हैं—इस समय क्या संवत्सरके बाद तड़ित्लोककी प्राप्ति होती है? अथवा वरुणलोककी प्राप्ति होती है—यह सन्देह होता है। 'माससे संवत्सर, संवत्सरसे वरुणलोक और वरुणलोकसे प्रजापतिलोकमें गमन करता है' इत्यादि कौण्डिन्य-श्रुति और 'संवत्सरसे तड़ित्लोक और तड़ित्लोकसे प्रजापति लोकोंमें गमन करता है' इत्यादि गौपवन-श्रुति—इन दोनोंका ही समान प्रमाण है। अतएव संवत्सरके बाद अधिकारी भेदसे दोनों लोकोंकी प्राप्ति हो सकती है—इस आशङ्काके निरासके लिए कहते हैं—प्रजापतिलोकमें गमनके लिए मार्ग भेदसे संवत्सरके बाद दोनों लोकोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। संवत्सरके बाद तड़ित्लोककी प्राप्ति होती है—यही प्रकृत सिद्धान्त है। 'तड़ित्से वरुणलोकमें गमन करता है' इत्यादि श्रुतिमें तड़ित्लोकसे ऊपर वरुणलोक है—यह कहा गया है—इसलिए तड़ित्लोकके बाद ही वरुणलोककी प्राप्ति जानी जाती है। संवत्सरके बाद वरुणलोककी प्राप्ति नहीं होती। वरुणलोकमें वरुण राजा सत्य और अनृतकी विवेचना करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

अग्निः सूर्यो दिवा प्राहुः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट्।

(श्रीमद्भा॰ ७/१५/५४)

अर्थात् वह निवृत्तिनिष्ठ ज्ञानी क्रमशः अग्नि, सूर्य, दिन, सायंकाल, शुक्लपक्ष, पूर्णमासी और उत्तरायणके अभिमानी देवताओंके पास जाकर ब्रह्मलोकमें पहुँचते हैं॥ ३॥

अवतरणिका भाष्य—अथार्च्चिरादिविचारान्तरं—अर्च्चिरादयो वर्त्मचिह्नान्युता-र्च्चिरादिव्यक्तय आहोस्विद्विदुषां गमयितार इति सन्देहे वर्त्मचिह्नानीति तावत् प्राप्तं तच्चिह्नसारूप्येण निर्द्देशात्। तथाहि लोका निर्द्दिशन्ति पुराग्निर्गत्य नदीं याहि ततो गिरिं ततो घोषमिति। तत्तद्व्यक्तयो वा वाचनिकत्वात्। एवं प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब अर्चिः इत्यादि पथके विषयमें अन्य विचार किया जाता है। इसमें सबसे पहले संशय यह है कि

ये अर्चिरादि बारहपर्व क्या पथके चिह्न-विशेष हैं? अथवा ये अर्चिः प्रभृति तद्-तद् व्यक्ति स्वरूप हैं? अथवा विद्वानोंको विष्णुधाममें गमन करानेके लिए सहायक (देवता-विशेष) हैं? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि अर्चिः इत्यादि पथके चिह्न ही हैं—यह पाया भी गया है। उनके समान रूपवाले चिह्नोंका भी मार्गके चिह्न कहकर उल्लेख किया गया है। इसमें लौकिक दृष्टान्त इस प्रकार है कि लोकमें गन्तव्य स्थानपर जानेके लिए यात्रियोंको दिग्दर्शित किया जाता है कि पुर (नगर) से बाहर जानेपर नदी प्राप्त होगी, तत्पश्चात् एक पर्वत मिलेगा और उसके बाद एक घोषपल्ली (अहीरोंका छोटा-सा गाँव) मिलेगी—इस स्थलपर जिस पकार पथके चिह्न निर्दिष्ट हुए हैं और उन चिह्ननोंको देखकर गमन भी किया जाता है, उसी प्रकारसे अर्चिरादि भी पथके चिह्न हैं अथवा अर्चिरादि ही स्वरूपमें वक्तव्य हैं, क्योंकि वाचनिक द्वारा व्यक्तिका ही उल्लेख हुआ है। पूर्वपक्षके इस समाधानपर सिद्धान्ती सूत्रकार स्वमत दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ब्रह्मलोकमार्गे अर्च्चिरादयो वर्णितास्तानाश्रित्य तेषां देवतात्वं वर्ण्यमिति आश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले ब्रह्मलोक-गमनके पथ रूपमें अर्चिरादि देवता प्रतिपादित हुए थे, अब उन्हींको लेकर विद्युत् पर्यन्त उन एक-एकका देवतात्व वर्णनीय है; इसलिए आतिवाहिकत्व निरूपित हो रहा है; इस प्रकारसे आश्रयाश्रयिभाव सङ्गति जाननी चाहिये।

आतिवाहिकाधिकरणम्

सूत्र—आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्॥ ४॥

सूत्रार्थ—'आतिवाहिकाः' श्रीपुरुषोत्तम द्वारा अपने समीपमें लाये जानेके लिए नियुक्त अर्चिः इत्यादिको देवता रूपमें जानना चाहिये, इससे भिन्न वे पथके चिह्न भी नहीं हैं, व्यक्ति भी नहीं हैं, क्योंकि 'तल्लिङ्गात्' श्रुतिमें तद् बोधक लिङ्ग (लक्षण) है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—भगवान् श्रीपुरुषोत्तम द्वारा नियुक्त ये अर्चिरादि देवतागण हैं, ये सब चिह्न अथवा व्यक्ति नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें आतिवाहिक शब्द गमनकारीके लिए पथ-प्रदर्शकका बोधक है॥४॥

गोविन्दभाष्य—अतिवाहे पुरुषोत्तमेन नियुक्तास्तेऽर्च्चिरादयो देवा भवन्ति। न तु तानि ताश्चेति प्रतिपत्तव्यम्। कुतः? तलिङ्गात्। आतिवाहिकलिङ्गं गन्तृणां गमयितृत्वं तस्मात् *"तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति"* (छा॰ ४/१५/५) इत्यन्ते श्रुतस्य पुरुषस्य गमयितृत्वावगमात् तत्साहचर्यादर्च्चिरादीनामपि तन्मन्तव्य-मित्यर्थः॥४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अपने समीपमें लाये जानेके लिए पुरुषोत्तम श्रीहरि द्वारा नियुक्त अर्चिः इत्यादि आतिवाहिक (मार्गप्रदर्शक) देवताओंके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये अर्चिरादि वैकुण्ठ जानेके पथके चिह्न नहीं है और इन्हें तत्-तत् स्वरूप भी नहीं जानना चाहिये। कारण? क्योंकि इसका ज्ञापक लिङ्ग (प्रमाण) है। आतिवाहिक लिङ्ग कहनेसे तात्पर्य है जो गमनकारियोंको उनके लक्ष्य-स्थानपर गमन कराते हैं। श्रुति भी कहती है—*'तस्मात् तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति'* अर्थात् उससे (प्रजापतिलोकसे) ईश्वर प्रेरित अमानव पुरुष उन मुक्त पुरुषोंको ब्रह्मलोक पहुँचा देते हैं। इस प्रकार परिसमाप्तिपर श्रुत अमानव पुरुषका ही ब्रह्मलोक प्रापकत्व जाना जाता है। अतएव सङ्ग-सङ्गमें पठित होनेके कारण अर्चिः इत्यादिका भी आतिवाहिकत्व अथवा गमयितृत्व (अमानवके सहायत्व रूपमें) जानना चाहिये॥४॥

सूक्ष्मा-टीका—आतिवाहिका इति। अतिवाहे स्वोपासकानां प्रशस्ते नयने। अतिशब्दः प्रशंसायामिति विश्वः। तत्र नियुक्त इति ठक्। तानि ताश्चेति। तानि चिह्नानि। ताश्च व्यक्तयः। तद्गमयितृत्वम्। किञ्च एष देवपथ इत्युक्तस्तेषां गन्तव्यत्वमसन्देहं स वरुणलोकमित्याद्युक्तेश्चेति तत्त्ववादिनः॥४॥

सूक्ष्मा-सार—*'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्'* इस सूत्रमें। आतिवाहिक शब्दका अर्थ है 'अतिवाहमें' अर्थात् निज उपासकोंका प्रशंसित—अपने समीपमें प्रापण-विषयमें (पहुँचानेमें) नियोजित—अर्थात् नियुक्त। इसकी व्युत्पत्ति है—अति शब्दका अर्थ है 'प्रशंसा'—यह विश्वकोषमें कहा गया है। अतिवाहमें नियुक्त (अधिकृत)—इस अर्थमें अतिवाह शब्दके उत्तरमें *'तत्र नियुक्तः'* (पा॰ ४/४/६९) इस सूत्रसे ठक् प्रत्यय होता है,

'ठस्येकः' (पा॰ ७/३/५०) सूत्रसे 'ठ' के स्थानपर इक् करके—*'यस्येति च'* (पा॰ ६/४/१४८) सूत्रसे अकारका लोप होता है)—यह व्युत्पत्ति जाननी चाहिये। *'न तु तानि ताश्चेति'* में 'तानि' का अर्थ है—पथके चिह्न, 'ताः' का अर्थ है वे अर्चिरादि व्यक्ति। *'तत् साहचर्यादिति'* में 'तत्' से तात्पर्य है—गमयितृत्व (लक्ष्य स्थानका प्रापकत्व)। और एक बात है—*'एष देवपथः'*—यह कहनेमें, जो गन्तव्यस्थल है—यह निःसन्देह है एवं *'स वरुणलोकम्'* इत्यादि उक्ति रहनेके कारण जो गन्तव्य स्थान है, यह निर्णीत हुआ है। यह बात तत्त्ववादी कहते हैं॥४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब एक और अन्य विचार उत्थापित होता है। पूर्वोक्त विषयमें संशय यह है कि अर्चिरादि क्या पथके चिह्न-विशेष हैं? अथवा व्यक्ति-विशेष? अथवा विद्वान्के परिचालक वैकुण्ठलोक-प्रापक देवता विशेष? पूर्वपक्षी कहते हैं कि पथके चिह्न सारूप्यमें निर्देशके कारण अर्चिरादि पथके चिचिह्न-विशेष ही कहे जायेंगे। लौकिक दृष्टान्तमें भी पाया जाता है किसी पथचारी (पथिक) को लोकमें जैसे निर्दिष्ट किया जाता है कि पुर (नगर) से बाहर जानेपर नदीके पास पहुँचोगे, उसके बाद पर्वत पड़ेगा और उसके बाद घोषपल्ली (आभीरग्राम) पहुँचोगे इत्यादि। इस स्थलपर भी इसी प्रकार पथचिह्नोंका निर्देश पाया जाता है अथवा वाक्यके द्वारा उल्लिखित होनेके कारण अर्थात् वाचनिक होनेके कारण इन्हें व्यक्ति विशेष समझना चाहिये। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रीभगवान्ने अपने समीपमें ले आनेके लिए अर्चिरादिको अतिवाह-कार्यमें नियुक्त किया है, इस कारण उन्हें देवता-विशेष समझना होगा। वे पथके चिह्न अथवा व्यक्ति विशेष नहीं हैं।

जानेवालेको ले जानेवालेकी सामर्थ्यको ही अतिवहन कहा जाता है। जैसा कि छान्दोग्यमें कहा भी गया है—*'तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति'* (छा॰ ४/१६/५) वह अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्मकी ओर अर्थात् ब्रह्मलोक पहुँचाता है। यह अमानव पुरुष भगवान् द्वारा प्रेरित अथवा नियुक्त होता है।

अतएव अर्चिरादि देवताओंको इन अमानव दूतगणोंके सहकारी (सहयोगी) रूपमें मानना उचित है। सिद्धान्त यह है कि उपासक जीव

ब्रह्मलोककी ओर गति करना चाहते हैं किन्तु वे स्थूलशरीरसे रहित होते हैं, उनकी इन्द्रियाँ भी सङ्कुचित होती हैं, संज्ञाहीन होनेके कारण स्वयं गति करनेमें अक्षम होते हैं, अब यदि अर्चिरादि भी वाहक न होकर मार्गके चिह्नमात्र हैं, जड़ हैं, तब ये (अर्चिरादि) जीवात्माको ले जानेमें स्वतन्त्र रूपसे सक्षम नहीं हैं। भगवान्‌की सर्वाध्यक्षतामें लोकपालादि देवगणोंकी अपने-अपने कार्यमें जैसे स्वातन्त्र्य है, वैसे ही अर्चिरादिके अभिमानी देवगणोंको आतिवाहिक मानना ही दृष्टानुसारी एवं युक्ततर है। दूसरी बात यह है भी है कि अवस्थित (अचल) वृक्षादि मार्गके चिह्न होते हैं, क्योंकि वे अपने स्थानसे व्यभिचरित नहीं होते अर्थात् टलते नहीं हैं, किन्तु अर्चिरादि अनवस्थित पदार्थ हैं—वे इधर-उधर गमन करते हैं। ऐसा न होनेपर ये अकिञ्चित्कर (निष्क्रिय) हो पड़ेंगे।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

निशम्य म्रियमाणस्य मुखतो हरिकीर्त्तनम्।
भर्त्तुर्नाम महाराज पार्षदाः सहसापतन्॥

(श्रीमद्भा॰ ६/१/३०)

अर्थात् हे महाराज! मरते समय अजामिलके मुखसे अपने स्वामी भगवान् विष्णुका नाम-सङ्कीर्त्तन सुनकर और उसीको हरि-कीर्त्तन (अपराधशून्य साङ्केत्यरूप नामाभास) मानकर भगवान् विष्णुके पार्षद बड़े वेगसे झटपट वहाँ आ पहुँचे।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—*'पूर्वोक्तस्त्वातिवाहिको वायुः पूर्वगमनलिङ्गात्।'*

अर्थात् पहले कहा गया था कि ब्रह्मप्राप्ति मार्गमें तेजप्राप्तिके बाद वायु-मार्गका आश्रय करते हैं। यह वायु आतिवाहिक वायु है, साधारण प्रत्यक्ष-सिद्ध वायु नहीं है—यही प्रतिपादन करते हैं, अन्यथा वायुका उत्तमत्व असिद्ध होता है। वायु शब्दसे अमुख्य आतिवाहिक वायुको ही ग्रहण करना होगा, क्योंकि पहले आतिवाहिक वायु ही कही गयी थी।॥४॥

अवतरणिका भाष्य—चिह्नव्यक्तिपक्षयोरसिद्धेश्चैवं स्वीकार्यमित्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—चिह्न और व्यक्ति—ये दोनों पक्ष सर्वथा असिद्ध हैं—इसलिए भी यही स्वीकार करना होगा। सूत्रकार यही कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वपक्षं निराकर्त्तुमाह चिह्नेति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्वपक्षके निरासके लिए कहते हैं—*'चिह्नव्यक्तिपक्षयोरित्यादि'* अर्थात् चिह्न और व्यक्ति-विशेष इन दोनों पक्षोंकी असिद्धिके लिए ऐसा स्वीकार करना होगा—इस उद्देश्यसे कहते हैं—

सूत्र—उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः॥५॥

सूत्रार्थ— *'उभयव्यामोहात्'*—अर्चिः इत्यादि शब्द तद्-तद् व्यक्ति तात्पर्यपर नहीं हैं और मार्ग-चिह्न भी नहीं हैं, क्योंकि उसमें दोनों ही असिद्ध (अप्रमाणित) हैं; रात्रिमें मृत व्यक्तिके दिवसादिके साथ सम्पर्कके अभावमें अर्चिः इत्यादिका उस समयमें अवस्थान नहीं रहता और जड़त्वके कारण प्रापकत्व धर्म भी असम्भव है, अतएव तद्-तद् व्यक्ति-परत्व असिद्ध है 'तत्सिद्धेः' और फिर ये पथ श्रुति-सिद्ध हैं, इसलिए इन्हें आतिवाहिक स्वरूपमें जानना चाहिये॥५॥

सूत्रानुवाद—रात्रिमें मृत्यु होनेपर दिवसके सम्बन्धका अभाव होता है, उस समय अर्चिरादिका अवस्थान नहीं होता—अतएव उसे मार्ग-चिह्न नहीं कहा जा सकता। जड़त्वके कारण उसमें प्रापकत्व (नेतृत्व) धर्म भी नहीं रहता। अतः अर्चिः इत्यादिमें उभयपक्ष (तद्-तद् व्यक्ति तात्पर्यपरक) एवं मार्गचिह्न असङ्गत होते हैं। श्रुति प्रसिद्ध होनेके कारण इन्हें आतिवाहिक देवता ही समझना चाहिये॥५॥

गोविन्दभाष्य—रात्र्यादिषु मृतस्याहरादिसम्बन्धाभावादर्च्चिरादीनामनवस्थितेर्न मार्गचिह्नत्वम्। जडत्वेन नेतृत्वायोगाच्च न तत्तद्व्यक्तित्वमित्युभयपक्षव्यामोहात् तस्य श्रुतिसिद्धेश्च तेषामातिवाहिकत्वमित्यर्थः॥५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन इत्यादिमें मृत ब्रह्मविद्के दिवा, शुक्लपक्ष एवं उत्तरायणसे सम्पर्कके अभावके कारण

अर्चिः इत्यादिकी अस्थिति (अनवस्था) है, इसलिए इन्हें पथके चिह्न कहना ठीक नहीं है, और फिर ये चिह्न जड़ हैं, इसलिए इनका प्रापकत्व (अतिवाहकत्व) धर्म भी नहीं है। अतएव तद्-तद् व्यक्तिस्वरूप भी कहा नहीं जाता, अर्थात् जड़ताके वश नेतृत्वकी असम्भावनाके हेतु वे सब व्यक्तिविशेष नहीं हो सकते—इस प्रकार उभय पक्ष असङ्गत होते हैं, और फिर अर्चिरादिरूपत्व एवं प्रापकत्वधर्म श्रुतिसिद्ध हैं। इसलिए वे आतिवाहिक, देवतास्वरूप हैं—यह अर्थ है॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—रात्र्यादिस्विति। रात्रौ मृतस्य दिवसरविसम्बन्धो न भवति। दिवसे दर्शे वा मृतस्य न चन्द्रसम्बन्धः। दक्षिणायने मृतस्य नोत्तरायणसम्बन्ध इत्यर्थः। अनवस्थितेरिति। गिरिनद्यादीनामिव संस्थितानामेव मार्गचिह्नत्वं न तु चलतामित्यर्थः। एवमुभयव्यामोहात् पक्षद्वयेऽप्यज्ञानादित्यर्थः॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—*'रात्र्यादिषु'* इत्यदि भाष्य—रात्रिमें मृतका दिवस एवं आदित्यसे सम्बन्ध घटित नहीं होता, पुनः दिवसमें और अमावस्यामें मृतके पक्षमें चन्द्रसे सम्बन्ध सम्भव नहीं है, इसी प्रकार दक्षिणायनमें मृतका उत्तरायणसे सम्बन्ध भी नहीं है यह अर्थ है। *'अर्चिरादीनाम-नवस्थितेरिति'*—गिरि, नदी इत्यादिकी जिस प्रकार स्थिरता है, उसी प्रकार संस्थित अर्थात् अचञ्चल स्थिर वस्तुएँ मार्गचिह्न हो सकती हैं, परन्तु अस्थिर वस्तुओंका ऐसा नहीं हो सकता, यह अर्थ है। इस प्रकारसे दोनोंके मार्गचिह्न एवं तद्-तद् व्यक्तिके अज्ञानके कारण यह पूर्वपक्ष-मत असिद्ध (असङ्गत) है। यह तात्पर्य है॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त सिद्धान्तको ही युक्ति द्वारा सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें और भी दृढ़तापूर्वक समझा रहे हैं कि रात्रिमें मृत्यु होनेपर दिवसादिके साथ सम्बन्धके अभावके कारण अर्चिरादिकी उस समय असंस्थिति रहती है, इसलिए उनका चिह्नत्व हो नहीं सकता और जड़त्वके कारण नेतृत्व भी असम्भव है—इसलिए उनका व्यक्तित्व भी कहा नहीं जा सकता। अतएव उभय (दोनों) पक्षोंमें ही असङ्गत होनेके कारण श्रुति प्रसिद्ध उनका आतिवाहिक देवत्व ही स्थिर सिद्धान्त है॥ ५॥

अवतरणिका भाष्य—पुरुषोत्तमेन प्रयुक्तोऽमानवः पुरुषोऽर्च्चिःपर्यन्त-मागत्योपासकान्नयत्युत विद्युत्पर्यन्तमिति संशये भूपर्यन्तागतैः पार्षदैरजामिलादे-र्नयनादर्च्चिःपर्यन्तमिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—भगवान् श्रीपुरुषोत्तम द्वारा प्रेरित अमानव पुरुष अर्चिः स्थान पर्यन्त आकर ब्रह्मोपासकोंको विष्णुधाम ले जाते हैं? अथवा विद्युत् पर्यन्त आकर ले जाते हैं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि विष्णु-पार्षदगण पृथ्वीलोक तक आकर अजामिल इत्यादिको विष्णुधाम ले गये थे। इस प्रकार श्रुत होनेके कारण अर्चिः पर्यन्त अमानव पुरुषका आगमन कहा जायेगा, इसपर सिद्धान्त-पक्षी कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—प्रागर्च्चिरादयो देवाः प्रतिपादितास्तानाश्रित्य विद्युदन्तानां केवलानां तेषां आतिवाहिकत्वं निरूप्यत इति प्राग्वत् सङ्गतिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पूर्व अधिकरणमें अर्चिः इत्यादिका आतिवाहिक देवताके रूपमें प्रतिपादन किया गया था। उन देवताओंका आश्रय करके विद्युत् पर्यन्त प्रत्येकका पृथक्-पृथक् आतिवाहिकत्व निरूपित हुआ था, इस प्रकार पूर्वके समान आश्रयाश्रयिभाव सङ्गति जाननी चाहिये। *'पुरुषोत्तमेन इत्यादि'* अवतरणिका भाष्य-टीका सुस्पष्ट है।

वैद्युताधिकरणम्

सूत्र—वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः॥ ६॥

सूत्रार्थ—'ततः' मृत विद्वान्के विद्युत्लोकमें उपस्थित होनेके बाद 'वैद्युतेन' विष्णुपार्षद (अमानव) के द्वारा 'एव' ही विष्णुलोक तक लाया जाता है और विद्वान् पुरुषको पुरुषोत्तमधाम ले जाया जाता हैं, क्योंकि 'तच्छ्रुतेः' श्रुतिमें यही कहा गया है॥ ६॥

सूत्रानुवाद—विद्युत्-प्राप्तिके अनन्तर विष्णुपार्षद विद्युत् पर्यन्त आकर उपासकोंको विष्णुलोकमें ले जाते है। श्रुतिमें अमानव पुरुषको ही पहुँचानेवाला कहा गया है॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—ततो विद्युत्प्राप्त्यनन्तरं वैद्युतेन विद्युत्पर्यन्तागतेन तत्पार्षदेन विद्वान् ब्रह्म प्राप्यते। कुतः? तच्छ्रुतेः। *"चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति"* (छा॰ ४/१५/५) इति तच्छ्रवणात्। वरुणादीनान्तु तत्सहकारित्वेन तत् सिद्धम्। एषा पद्धतिः साधारणी। अजामिलस्य विशेषत्वात् तथात्वं असाधारणमिति बोध्यम्॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ततः—उसके बाद अर्थात् ब्रह्मविद्‌के विद्युतलोकमें पहुँचनेके बाद, *'वैद्युतेन एव'* अर्थात् विद्युत्‌लोक पर्यन्त आगत विष्णुपार्षद ब्रह्मविद्‌को ब्रह्मलोक तक पहुँचा देते हैं। प्रमाण? क्योंकि श्रुति है—यथा—*'चन्द्रमसो विद्युतं ... ब्रह्म गमयति'* (छा॰ ४/१५/५) अर्थात् चन्द्रमासे ब्रह्मविद्‌गण विद्युल्लोक जाते हैं—विद्युत्प्राप्तिके पश्चात् अमानव विष्णुपारिषद उन्हें ब्रह्मलोकमें ब्रह्मके निकट पहुँचा देते हैं—इस श्रुतिके रहनेके कारण यह सिद्ध हुआ है। यदि कहो, ऐसा होनेपर पूर्वोक्त श्रुतिप्राप्त वरुणलोक, इन्द्रलोक और प्रजापतिलोककी सङ्गति किस प्रकार होगी? इसपर कहा गया है कि वरुणादि इन पार्षदोंके सहयोगी (सहकारी) मात्र हैं, इस रूपमें उसकी सङ्गति है। यह पद्धति साधारणी है अर्थात् यह पथ सभी उपासकोंके लिए समान है। अजामिलके पक्षमें विष्णुपारिषदोंके भूलोक पर्यन्त आकर उसे विष्णुधाम ले जानेकी जो बात कही जाती है, उसे विशेष व्यवस्थाके अनुसार असाधारण जानना चाहिये॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—पुरुषोत्तमेनेत्यादि। वैद्युतेनेति। *"स एतान् विद्युल्लोकस्थानित्यर्थः"* (छा॰ ४/१५/५) तत्सहेति। अमानवपुरुषानुगामितया तद्गमयितृत्वं सिद्धमित्यर्थः। विद्युदन्तानां गमयितृत्वं मुख्यम्। वरुणादीनास्तु तत्पुरुषसहचारित्वाद् गौणं तदित्यर्थः। साधारणी सर्वोपासकतुल्या। विशेषत्वाद्विलक्षणोपासकत्वात्। अजामिलाद्भगवन्नाम-माहात्म्ययाथात्म्यप्राकट्येन तत्पार्षदादिस्नेहभाजनत्वादिति यावत्॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार— *'वैद्युतेनैव'* इत्यादि सूत्रमें। *'स एतान् ब्रह्म गमयति'* इति भाष्यमें एतान्—विद्युत्‌लोक-स्थित यह अर्थ है। *'वरुणादीनान्तु तत्सहकारित्वेनेति'*—अमानव पुरुषके अनुगमनके कारण ब्रह्म-गमयितृत्व सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि विद्युत् पर्यन्त लोकका विष्णु-पद-प्रापकत्व मुख्य है और वरुण इत्यादि उस अमानव पुरुषके सहचारी हैं, इसलिए यह गौण है। *'एषा पद्धतिः साधारणीति'* में 'साधारणी' का अर्थ

है—सभी उपासकोंके लिए समान है। *'अजामिलस्य विशेषत्वादिति'* में विशेषत्वात्—विलक्षण उपासकत्वके कारण। बात यह है कि अजामिलसे श्रीभगवान्‌का नाम-माहात्म्य यथायथ रूपसे प्रकट होनेके कारण वह विष्णुपार्षदोंका अत्यधिक स्नेह-भाजन हुआ था, इसलिए भूलोक पर्यन्त विष्णुपार्षदोंका आगमन हुआ था॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—इस स्थलपर और एक संशय यह है कि पुरुषोत्तम श्रीभगवान् द्वारा नियुक्त वह अमानव पुरुष अर्चिः पर्यन्त आकर उपासकोंको ले जाते हैं? अथवा विद्युत् पर्यन्त आकर ले जाते हैं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब विष्णुपार्षदगण भूमण्डलपर आकर अजामिलको ले गये थे, तब अमानव पुरुषका अर्चिः पर्यन्त ही आगमन माना जायेगा। इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि भगवान्‌के पार्षदगण विद्युत्‌लोक तक आकर उपासकोंको ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं—यही जानना होगा, क्योंकि श्रुतिमें विद्युत्‌लोक पर्यन्त आगमन सुना जाता है। वरुणादिका उनके सहकारित्व रूपमें निरूपण हुआ है। यही साधारण पथ है। अजामिलके विशेषत्वके कारण उनका पृथ्वीपर आकर उसे ले जाना एक असाधारण अर्थात् विशेष दृष्टान्त जानना चाहिये।

श्रीमद्भागवत (६/३/१८) में प्राप्त होता है—

भूतानि विष्णोः सुरपूजितानि
दुर्दर्शलिङ्गानि महाद्भुतानि।
रक्षन्ति तद्भक्तिमतः परेभ्यो
मत्तश्च मर्त्यानथ सर्वतश्च॥

अर्थात् भगवान् श्रीविष्णुके ये सेवक देवताओंके भी पूज्य हैं। उनका अलौकिक रूप दर्शन अति दुर्लभ है। वे भगवान्‌के भक्तोंकी शत्रुओंके कवलसे, मुझसे और अग्नि, जल आदि समस्त प्राकृतिक उत्पातोंसे सब प्रकारसे रक्षा करते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें देख सकते हैं—

'प्रकारन्तरेण तत्र तत्रोच्यमानत्वाद्वायोरपि परतो ब्रह्मणोऽर्वाग् गन्तव्योऽस्तीति नाशङ्कनीयम्। विद्युत्पतिना वायुनैव स एतान् ब्रह्म गमयति (छा॰ ४/१५/६) *इति ब्रह्मगमन श्रुतेः। विद्युत्पतिर्वायुरेव नयेद्*

ब्रह्म न चापरः। कुतोऽन्यस्य भवेच्छक्तिस्तमृते प्राणनायकम्' इति *बृहत्तन्त्रे।*

प्रकारान्तरसे लोकोंमें गमनकी बात कहकर ब्रह्मप्राप्ति मार्गमें वायु ही अन्तिम मार्ग है अर्थात् परब्रह्मलोकसे प्रथम वायुप्राप्ति कही गयी है। परब्रह्मके व्यतिरेकमें वायु गन्तव्य है—ऐसी आशङ्का हो नहीं सकती, क्योंकि विद्युत्पति वायु द्वारा ही ज्ञानी (उपासक) ब्रह्मलोक पहुँचाया जाता है, यह निश्चित है। ब्रह्मगमन-श्रुतिमें वायुलोकसे ही ब्रह्मलोक-गमन कहा गया है। बृहत्तन्त्रमें कहा है कि विद्युत्पति वायु ही ब्रह्मके पास ले जाते हैं, और कोई दूसरा यह कर नहीं सकता, उस प्राणनायक वायुके अतिरिक्त और किसमें वहाँ तक पहुँचनेकी शक्ति है? अतएव प्रमाणित होता है कि ब्रह्मलोक गमनमें वायु ही अन्तिम मार्ग है॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—एवं गतिमाख्याय गम्यं वक्तुमाह। *"स एतान् गमयति"* इति विषयवाक्यम्। तत्र बादरिमतं तावदुच्यते। अयममानवः पुमान् परमेव ब्रह्म गमयतीत्युत कार्यं चतुर्मुखाख्यमिति वीक्षायां ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वात् तयोर्द्धमित्यमृतत्वश्रवणाच्च परमेवेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—यहाँ तकके प्रबन्धमें ब्रह्मविद्की गति कही गयी। अब गन्तव्य-पुरुषके सम्बन्धमें बतानेके लिए विचार करते हैं—इस विषयपर सर्वप्रथम बादरि नामक ऋषि-विशेषका मत दिखाते हैं। इस गम्य (गन्तव्य) विषयपर संशय यह है कि वे अमानव पुरुष उपासकोंको क्या परब्रह्मके निकट ले जाते हैं? अथवा कार्य-ब्रह्म चतुर्मुख (कमलासन) तक पहुँचा देते हैं। इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—ब्रह्म शब्दकी जब परब्रह्ममें ही शक्ति है, तब उस मुख्य अर्थके द्वारा *'तयोर्ध्वमयान्नमृतत्वमेति'* (छा॰ ८/६/६ एवं कठ॰ ६/१६) (वह सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ऊपर जाता हुआ अमृतत्वको प्राप्त करता है) इस श्रुतिमें अमृतत्व श्रवणके कारण परब्रह्मपर ही कहेंगे। इसपर सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—एवमित्यादि। आहेति। कार्यमित्यादिसूत्राणीत्यर्थः। पूर्वत्रामानवेन प्रापितं ब्रह्मोक्तं तदाश्रित्य तस्य कार्यत्वपरत्वे चिन्त्ये इति प्राग्वत् सङ्गतिः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'एवमित्यादि ... वक्तुमाहेति आह कार्यम्'* इत्यादि—वक्ष्यमाण सूत्रोंको कहते हैं, यही अर्थ है। पूर्वाधिकरणमें अमानव पुरुष ब्रह्मको प्राप्त करा देता है, यह बतलाया गया था। उसका अवलम्बन करके वह ब्रह्म जो कार्य-ब्रह्म है एवं ब्रह्मन् शब्दका प्रतिपाद्य उसीसे हो सकता है—ये दोनों विचारणीय हैं, इसलिए यहाँ भी आश्रयाश्रयिभाव सङ्गति है।

कार्याधिकरणम्

सूत्र—कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः॥७॥

सूत्रार्थ—'कार्यम्' ब्रह्मपदसे यहाँपर कार्य-ब्रह्म चतुर्मुख ब्रह्मा ज्ञेय हैं, बादरि यह सिद्धान्त करते हैं। कारण यह है कि 'अस्य गत्युपपत्तेः' इन कार्य-ब्रह्मकी प्राप्ति ही सङ्गत होती है॥७॥

सूत्रानुवाद—विश्वव्यापक परब्रह्म गन्तव्य नहीं हो सकते, इसलिए चतुर्मुख कार्य-ब्रह्ममें गति होती है। यह ऋषि बादरिका मत है॥७॥

गोविन्दभाष्य—कार्यमेव ब्रह्म गमयतीति बादरिर्मन्यते। कुतः? अस्येति। अस्य कार्यस्यैकदेशित्वात् गतिरुपपद्यते। न तु सर्वदेशस्य परस्येति भावः॥७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—बादरि ऋषि मानते हैं कि *'ब्रह्म गमयति'* (ब्रह्मलोकको जाता है) इस वाक्यमें गमयितव्य (गन्तव्य) ब्रह्म कार्य-ब्रह्मपर (चतुर्मुख ब्रह्मा) हैं। कारण क्या है? ये कार्य-ब्रह्म परिच्छिन्न हैं। उन कार्यब्रह्मके एकदेशित्वके कारण ब्रह्मविद्का उनके साथ संयोग सङ्गत है। अभिप्राय यह है कि सर्वव्यापी परब्रह्मके साथ संयोग असम्भव है अर्थात् परब्रह्म-धाममें गमन असम्भव है॥७॥

सूक्ष्मा-टीका—कार्यमिति। अस्येति। विभोर्गन्तव्यत्वासम्भवात् परिच्छिन्ने चतुर्मुखे गतिरित्यर्थः। तथाच नपुंसकस्य ब्रह्मशब्दस्य लक्षणया तत्र प्रयोग इति ज्ञेयम्॥७॥

सूक्ष्मा-सार— *'कार्यं बादरिः'* इत्यादि सूत्रमें। *'अस्येति'* भाष्यमें विश्वव्यापक परब्रह्म गन्तव्य नहीं हो सकते, इसलिए चतुर्मुख कार्य-ब्रह्ममें गति होती है, यही अर्थ है। ऐसा होनेसे नपुंसक लिङ्ग ब्रह्मन् शब्दका पुलिङ्ग चतुर्मुखमें प्रयोग लक्षणा द्वारा है, यह जानना चाहिये॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब गतिके विषयका वर्णन करते हुए गन्तव्यका निर्देश करते हैं कि अमानव पुरुष उपासकगणोंको ब्रह्मलोक ले जाते हैं—इस विषयवाक्यमें संशय यह है कि ब्रह्मलोक कहनेसे क्या चतुर्मुख ब्रह्माका लोक जानना होगा? अथवा परब्रह्मधाम? इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ब्रह्म शब्दके मुख्यार्थसे जब परब्रह्म ही जाना जाता है, तब परब्रह्मधाममें ही ले जाना माना जायेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें बादरि ऋषिके मतका उल्लेख करते हैं कि बादरिके मतमें ब्रह्मलोक गमन कहनेसे यहाँ चतुर्मुख ब्रह्माका ही लोक जाना जाता है। कार्य-ब्रह्मधाममें एकदेशित्व एवं परिच्छिन्नत्व विचारसे गमन सङ्गत है किन्तु सर्वव्यापक अपरिच्छिन्न परब्रह्मधाममें गमन असम्भव है। जो विश्वव्यापक परब्रह्म हैं—वे गन्तव्य हो ही नहीं सकते, इसलिए ही चतुर्मुख कार्य-ब्रह्ममें गति है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यच्चक्षुरासीत् तरणिर्देवयानं
त्रयीमयो ब्रह्मण एव धिष्ण्यम्
द्वारञ्च मुक्तेरमृतञ्च मृत्युः
प्रसीदतां नः स महाविभूतिः॥

(श्रीमद्भा॰ ८/५/३६)

अर्थात् जो अर्चिरादि मार्गके अधिष्ठातृ देवता हैं, जो वेदोंके साक्षात् मूर्त्तिमानस्वरूप हैं, जो ब्रह्मके उपासनास्थल हैं, जो मुक्तिका द्वार एवं अमृतस्वरूप हैं, जो कालरूप होनेके कारण मृत्यु हैं और सूर्य जिनके नेत्रस्वरूप हैं, वे परम ऐश्वर्यशाली भगवान् हमपर प्रसन्न हों।

श्रीमध्वभाष्यमें देखा जाता है—

स एतान् ब्रह्म गमयतीति (छा॰ ५/१०/२) *कार्यं ब्रह्म गमयतीति बादरिर्मन्यते। 'ऋते देवान् परं ब्रह्म कः पुमान् प्राप्नुयात् क्वचित्। यद्यपि ब्रह्मदृष्टिः स्याद् ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्' इत्यध्यात्मवचनात्। तस्यैव गत्युपपत्तेः।*

अर्थात् पूर्व-पूर्व सूत्रोंमें मार्गका विचार करते हुए उक्त मार्गमें गत व्यक्तियोंके गन्तव्यका निरूपण किया गया था। यद्यपि ब्रह्म ही उक्त मार्गगत व्यक्तियोंके गन्तव्य हैं, तथापि ब्रह्म शब्दसे तात्पर्य चतुर्मुख ब्रह्म हैं अथवा परब्रह्म? यह सन्देह होता है। इसपर आचार्य-प्रवर बादरि कहते हैं कि जो कार्य हैं, उत्पत्तिमान हैं और चतुर्मुखब्रह्म हैं, वे ही जीवोंके लिए वायु-प्रेरण करते हैं। यद्यपि ब्रह्म शब्दसे परब्रह्म ही मुख्य है, तथापि इस स्थलपर परब्रह्मको स्वीकार नहीं किया जा सकता। ज्ञानी उक्तमार्ग द्वारा चतुर्मुख ब्रह्माको प्राप्त करके ही परम ब्रह्मको प्राप्त कर सकते हैं। स्मृति-प्रमाण अध्यात्मसे जाना जाता है कि श्रेष्ठ देवता चतुर्मुख ब्रह्माके अतिरिक्त कोई भी परब्रह्मको प्राप्त नहीं कर सकता। यदि ब्रह्मदृष्टि है, तो ब्रह्मलोकमें गमन किया जा सकता है। अतएव अर्चिरादि मार्गगत ज्ञानियोंके चतुर्मुख ब्रह्म ही गम्य हैं।

'यो ब्रह्माणं विदधाति' (श्वे॰ ६/१८) इत्यादिमें हिरण्यगर्भका सर्वप्रथम अजरूपमें वर्णन किया गया है तथा ब्रह्मके समीपवर्ती होनेसे उन्हें भी ब्रह्म ही कहा गया हैं॥७॥

सूत्र—विशेषितत्वाच्च॥८॥

सूत्रार्थ—इस विषयमें और भी एक प्रमाण हैं, वही दिखाते हैं, विशेषितत्वाच्च—छान्दोग्य-श्रुति द्वारा वे कार्यब्रह्म ही विशेषित हैं—इस कारण भी ब्रह्मन् कहनेसे कार्यब्रह्म ही जानना होगा॥८॥

गोविन्दभाष्य—*"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये"* इति छान्दोग्यश्रुत्या विशेषितत्वाच्च कार्यमेव गमयतीत्यर्थः॥८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'प्रजापतेः सभां वेश्मप्रपद्ये'* (छा॰ ८/१४/१) अर्थात् प्रजापतिके (चतुर्मुखब्रह्माके) सभारूप गृहको प्राप्त होता हूँ—इस श्रुति द्वारा ब्रह्मन् शब्द ही विशेषित है, इसलिए भी कार्यब्रह्मको ही जाना जाता है॥८॥

सूक्ष्मा-टीका—विशेषितत्वादिति। प्रजापतेरिति चतुर्मुखस्येत्यर्थः॥८॥

सूक्ष्मा-सार—*'विशेषितत्वाच्च'* इस सूत्रमें। *'प्रजापतेः सभाम्'* इति भाष्यमें *'प्रजापतेः'* का अर्थ है—प्रजापतिका अर्थात् चतुर्मुखका॥८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार और भी एक प्रमाणके द्वारा विशेषित करते हैं कि छान्दोग्यमें भी पाया जाता है कि *'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये'* अर्थात् 'चतुर्मुख ब्रह्माकी सभाको प्राप्त होता हूँ।' यह वाक्य पूर्वोक्त वाक्यका पोषक है अर्थात् वहीं गतिकी उपपत्ति होती है। वही गन्तृ-गन्तव्यभाव सम्भव है। इन्हीं कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भके निकट ले जानेकी बात कही गयी है।

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माकी सभाका उल्लेख पाया जाता है—

ततो ब्रह्मसभां जग्मुर्मेरोर्मूर्द्धनि सर्वशः।
सर्वं विज्ञापयाञ्चक्रुः प्रणताः परमेष्ठिने॥

(श्रीमद्भा॰ ८/५/१८)

जब तीनों लोकोंको श्रीहीन देखकर इन्द्र, वरुण आदि देवतागण बहुत सोच-विचार करके भी किसी निर्णयपर न पहुँच सके, तब सारे देवता एकत्रित होकर सुमेरु पर्वतके शिखरपर स्थित ब्रह्माजीकी सभामें पहुँचे। उन्होंने ब्रह्माजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनके समक्ष सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदन कर दिया।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

यदि ह वा परमभिपश्यति प्राप्नोति ब्रह्माणं चतुर्मुखं प्राप्नोति ब्रह्माणं चतुर्मुखम् इति कौषार व श्रुतौ।

अर्थात् यदि केवल युक्ति द्वारा ही ब्रह्म शब्दके अमुख्यार्थको स्वीकार करके चतुर्मुख ब्रह्मकी कल्पना हुई हो—ऐसा नहीं है। श्रुति प्रमाणसे भी अमुख्य चतुर्मुख ब्रह्म ही प्रतिपादित हैं। कौषारव-श्रुतिमें ब्रह्म शब्दसे चतुर्मुख ब्रह्माका ही विशेष रूपसे उल्लेख है कि यदि परमात्माको देखनेकी अर्हता प्राप्त करता है, तो चतुर्मुखको प्राप्त करता है, निश्चित ही चतुर्मुख ब्रह्माको प्राप्त करता है—इससे बादरि मतकी पुष्टि होती है।॥ ८॥

सूत्र—सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः॥ ९॥

सूत्रार्थ—बृहदारण्यकमें जिस अपुनरावृत्तिका उल्लेख है, वह चतुर्मुख ब्रह्माके साथ परब्रह्म-सामीप्यको लेकर है अर्थात् यदि चतुर्मुखको प्राप्त होना कहते हो तो बृहदारण्यककी उक्ति व्याहत

(बाधित) होगी क्योंकि वहाँ पुनरावृत्तिका अभाव कहा है—फिर भी चतुर्मुख लोक-स्थितोंकी पुनरावृत्ति होती है—इस विरोधके परिहारके लिए 'सामीप्यात् तु'—परब्रह्म सामीप्य प्राप्तिके अभिप्रायसे 'तद्व्यपदेशः' यह कथन है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—बृहदारण्यकीय पुनरावुत्तिके निषेधका व्यपेदश (कथन) सामीप्य अभिप्रायसे है॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—*"स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावन्तो वसन्ति। तेषां इह न पुनरावृत्तिरस्ति"* (बृ॰आ॰ ६/२/१५) इति बृहदारण्यके योऽयमपुनरावृत्तिव्यपदेशः स तु सामीप्याभिप्रायेण भविष्यति। विद्वांसः कार्यं ब्रह्म प्राप्य तेन सह तदव्यवहितं परं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति। ततः पुनर्नावर्त्तन्त इति॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'स एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ... तेषामिह न पुनरावृत्तिः'* अर्थात् वे नित्यपार्षद अमानव पुरुष विद्युल्लोकमें आकर ब्रह्मविद्गणोंको (उपासकोंको) ब्रह्मलोकोंमें ले जाते हैं। ब्रह्मलोकोंको प्राप्त ये श्रेष्ठ उपासकगण पराख्य भगवत्-शक्तिनिष्ठ होकर ब्रह्मलोकमें वास करते हैं। उनकी इस पृथ्वीमें पुनरावृत्ति नहीं होती। बृहदारण्यकमें यह जो पुनरावृत्तिके अभावका (निषेधका) व्यपदेश (कथन) है—उसे सामीप्य अभिप्रायसे ही जानना चाहिये। बात यह है कि परब्रह्मके सामीप्य-अव्यवहित-हेतुसे (व्यवधान-राहित्यके कारण) दूसरे ब्रह्मका (कार्यब्रह्मका) परब्रह्मके रूपमें प्रयोग हुआ है। समस्त विद्वान् कार्यब्रह्मको प्राप्त होकर उनके साथ उनसे अव्यवहित (कार्यब्रह्मसे व्यवधान रहित) होकर परब्रह्मको प्राप्त होते हैं, वहाँसे इस चराचर विश्वमें उनकी पुनः आवृत्ति नहीं होती॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—सामीप्यादिति। स इति। स नित्यपार्षदोऽमानवः पुरुषः। एत्य विद्युल्लोकमागत्य। ब्रह्मलोकानिति बहुवचनं प्रकाशाभिप्रायेण बोध्यम्। पराः श्रेष्ठाः। परावन्तः पराख्यभगवच्छक्तिनिष्ठा इत्यर्थः। तेषां ब्रह्मलोकगतानामिह प्रपञ्चे पुनरावृत्तिर्न भवतीत्यर्थः॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—*'सामीप्यात्तु'* इत्यादि सूत्रमें। *'स एत्य'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है, 'सः'—श्रीहरिके नित्यपार्षद अमानव पुरुष 'एत्य'—विद्युत्

लोकमें आकर। ब्रह्मलोकान् इति ब्रह्मलोक एक होनेपर भी बहुवचनका प्रयोग बहुत-से प्रकाशोंको लेकर जानना चाहिये। पराः—श्रेष्ठ, परावन्तः—परा नामक भगवत्-शक्ति परायण। *'तेषामिह न पुनरावृत्तिरिति'*—'तेषाम्' का अर्थ है—ब्रह्मलोकगत उन मृत ब्रह्मविदोंका, इह—इस चराचर विश्वमें पुनरागमन नहीं होता॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अमानव पुरुष विद्युल्लोकमें आकर विद्वानोंको जिन ब्रह्मलोकोंमें ले जाते हैं (बृ॰आ॰ ६/२/१५)—यह परब्रह्मके सामीप्य अभिप्रायसे ही कहा गया है—यह जानना होगा। बात यह है कि चतुर्मुख ब्रह्माके लोकमें गये पुरुष अन्तमें ब्रह्माके साथ परब्रह्म (परा नामक भगवच्छक्तिपरायण) के धाममें ही गमन करते हैं। इस धामके प्राप्त होनेपर पुनरावर्त्तन नहीं होता।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभवनान्मुनिः॥

मद्भक्तः प्रतिबुद्ध्यार्थो मत्प्रसादेन भूयसा।
निःश्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम्॥

प्राप्नोतीहाञ्जसा धीरः स्वदृशा छिन्नसंशयः।
यद्गत्वा न निवर्त्तेत योगी लिङ्गविनिर्गमे॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२७/२७-२९)

इस प्रकार पुरुष बहुत-से जन्म-ग्रहण करके बहुत-सी योनियोंमें भ्रमण करता हुआ जिस समय आत्म-चिन्तनमें निमग्न रहकर भगवदाश्रयसे ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त प्रकारके भोगोंसे वैराग्य प्राप्त कर लेता है, तब वह धैर्यवान भक्त मेरे प्रति प्रीतिके साथ मेरे भक्तियोगसे मेरी कृपासे आत्माका अनुभव कर लेता है, तब इसी जन्ममें ही अतिशीघ्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत, नित्यानन्द नामक ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है। इस स्थितिमें आत्म-ज्ञान होनेके कारण उसके सारे संशय छिन्न हो जाते हैं और लिङ्गशरीरके नाश होनेपर उस मङ्गलमय स्थानको जाता है, जहाँसे कभी जीवका पुनरागमन नहीं होता।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

ब्रह्मविदाप्नोति परमिति (तै॰ २/१) *तद्व्यपदेशस्तत्समीप एव परमपि प्राप्नोतित्येतदर्थएव।*

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' श्रुतिमें चतुर्मुख ब्रह्मको प्राप्त करके अचिरात् परब्रह्मको प्राप्त होते हैं—यही कहा गया है—चतुर्मुख प्राप्तिका प्रतिषेध नहीं है और पहले ही ब्रह्मप्राप्ति होगी—यह भी कहा नहीं है। अतः यही व्यपदेश होता है कि ब्रह्मविद् सामीप्यसे ही परम ब्रह्मकी प्राप्ति करता है॥ ९॥

अवतरणिका भाष्य—कदेत्यपेक्षायामाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—ब्रह्मलोकमें गमन कब होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—कदेत्यादिकं विशदार्थम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—कदा इत्यादि भाष्यका अर्थ विशद् (सुस्पष्ट) है।

सूत्र—कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्॥ १०॥

सूत्रार्थ—'कार्यात्यये' चतुर्मुखलोक पर्यन्त समस्त ब्रह्माण्ड-कार्यका लय हो जानेपर 'तदध्यक्षेण' उस कार्य-ब्रह्मलोकके अध्यक्ष चतुर्मुखके 'सह' साथ 'अतः' उन कार्यब्रह्मसे 'परम्' परब्रह्मको प्राप्त होते हैं। चतुर्मुखके साथ परब्रह्मकी प्राप्तिका कारण? 'अभिधानात्' बृहदारयकमें इसी प्रकार कहा गया है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—कार्यरूप चतुर्मुख ब्रह्माके लोक पर्यन्त ब्रह्माण्डका प्रलय होनेपर उस ब्रह्मलोकके अध्यक्ष ब्रह्माजीके साथ परब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—कार्यस्य चतुर्मुखलोकपर्यन्तस्याण्डस्यात्यये विलये सति तदध्यक्षेण चतुर्मुखेन सहातः कार्यात् चतुर्मुखात् परं ब्रह्म प्राप्नोति। सह प्राप्तौ हेतुरभीति। *"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"* (तै॰ २/१) इत्युपक्रम्य *"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा"* (तै॰ २/१) इति तदुक्तेरित्यर्थः। अत्र ब्रह्मणा चतुर्मुखेन सहेत्यर्थः॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—चतुर्मुख लोक-पर्यन्त कार्य-ब्रह्माण्डके सर्वथा लय (प्रलय) होनेके बाद वे ब्रह्मविद् उपासकगण उस चतुर्मुखलोकके अध्यक्ष ब्रह्माके साथ (कार्यब्रह्म चतुर्मुख लोक-प्राप्तिके बाद) परब्रह्मको प्राप्त होते हैं। चतुर्मुखके साथ परब्रह्मकी प्राप्तिमें प्रमाण है—*'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* (अर्थात् ब्रह्मविद् परमधामको प्राप्त होता है) इस प्रकार उपक्रम (आरम्भ) करके *'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा'* अर्थात् वह उपासक ब्रह्माके (चतुर्मुखके) साथ समस्त भोग्य-वस्तुओंका भोग करता है—इत्यादि कथन वेदमें देखा जाता है। इस तैत्तिरीय-श्रुतिमें जो *'सह ब्रह्मणा'* कहा है—उसका अर्थ है—चतुर्मुख ब्रह्माके साथ। ऐसी ही बृहदारण्यकमें भी उक्ति है—*'तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावंतो वसन्ति'* (बृ॰आ॰ ६/२/१५) उन ब्रह्मलोकोंमें अनन्त संवत्सरों तक रहनेसे। (इस प्रकार बहुवचनान्त अनेक ब्रह्मलोकोंके [ब्रह्मलोकके अनेक प्रकाशके] वर्णनसे तथा वहाँके रहनेकी विशेष विज्ञप्तिसे कार्यब्रह्मकी प्राप्ति ही सिद्धि होती है।)॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—कार्यात्ययेत्यादि स्पष्टम्॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—कार्यात्यये इत्यादि सूत्रका भाष्यार्थ सुस्पष्ट है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई प्रश्न करे कि चतुर्मुख ब्रह्माके लोकमें गये हुए उपासकगण परब्रह्मधाममें कब गमन करते हैं? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि चतुर्मुख ब्रह्माके लोक पर्यन्त ब्रह्माण्डका लय होनेपर ये उपासकगण ब्रह्माके साथ ही परब्रह्मधामको प्राप्त होते है। इस प्रकारकी उक्तिका कारण है कि वेदमें भी यही अभिधान (कथन) है।

श्रीरामानुजके भाष्यमें भी पाया जाता है—

कार्यस्य ब्रह्मलोकस्यात्यये तदध्येक्षण हिरण्यगर्भेणाधिकारिकेणा-वसिताधिकारेण विदुषा सह स्वयमपि तत्राधिगतविद्यः। अतः कार्याद् ब्रह्मलोकात् परंब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्चिरादिना गतस्यामृतत्वप्राप्त्यपुनरावृत्त्याभिधानात् 'ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यंति सर्वे' (तै॰ अनु॰ २४) *इति वचनाच्चावगम्यते।*

अर्थात् कार्यब्रह्मलोकके अवसान होनेपर उसके अध्यक्ष-हिरण्यगर्भ ब्रह्माके साथ उनका अधिकार क्षय होनेपर अधिगतविद्य (प्राप्तविद्य)

विद्वान् कार्यब्रह्मलोकसे परब्रह्मको प्राप्त करता है। अर्चिरादि द्वारा पुनरावृत्ति रहित-अमृतत्वकी प्राप्ति करता है। यह 'वे ब्रह्मलोकसे परार्धकालमें मुक्त होकर अमृतत्वको प्राप्त करते हैं'—इस श्रुतिसे अवगत होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी देखा जा सकता हैं—

ते हि ब्रह्मणाम् अभिसम्पद्य यदैतद्विलीयतेऽथ सह ब्रह्मणा परमभिगच्छन्तीति सौपर्ण श्रुतेर्महाप्रलये तदध्येक्षण ब्रह्मणा सह गच्छन्ति।

अर्थात् अब प्रलयके पूर्व ब्रह्मकी प्राप्ति होती है? अथवा प्रलयके बाद? यह आशङ्का होती है। यदि कहो प्रलयके पूर्व ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, तो यह हो नहीं सकता और प्रलयके बाद ब्रह्म-प्राप्तिका कोई प्रमाण भी नहीं है तब ब्रह्म-प्राप्ति कब होती है? इस आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं कि वे उपासक जब ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, तब समस्त कार्योंके विनाशरूप (विलीनरूप) प्रलय होनेपर, वे सभी कार्यस्वामी चतुर्मुखके साथ परब्रह्ममें गमन करते हैं—इस सन्दर्भमें सौपर्ण-श्रुति रहनेके कारण प्रमाणका अभाव नहीं हैं; जिसमें स्पष्ट कहा है कि महाप्रलयमें सृष्टिके अध्यक्ष ब्रह्मके साथ परमात्माकी प्राप्ति करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता हैं—

द्विपरार्द्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्माणस्तु ते।
तावदध्यासते लोकं परस्य परिचिन्तकाः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/३२/८)

अर्थात् परमेश्वर-दृष्टिसे जो हिरण्यगर्भ विराट् पुरुषकी उपासना करते हैं, द्विपरार्द्ध कालके बाद ब्रह्माजीका जिस समय लय हो जाता है, इनकी भी ब्रह्माजीके साथ मुक्ति हो जाती है॥ १०॥

सूत्र—स्मृतेश्च॥ ११॥

सूत्रार्थ—'च' और इस विषयमें 'स्मृतेः' स्मृति-वाक्य भी प्रमाण हैं॥ ११॥

सूत्रानुवाद—स्मृतिमें कहा गया है कि प्रलय होनेपर ये सभी विद्वद्गण ब्रह्माजीके साथ परम पदको प्राप्त होते हैं॥ ११॥

गोविन्दभाष्य— *"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्"* इति स्मरणाच्च। (कूर्मपुराण पूर्वखण्ड १२/२६९) तथा चार्च्चिषमित्यादावर्च्चिरादयः सनिष्ठा हिरण्यगर्भं प्रापयन्तीति बादरिमुनेः सिद्धान्तः॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'ब्रह्मणा सह ते सर्वे ... प्रविशन्ति परं पदम्'* इति अर्थात् सत्यलोकगतमें (चतुर्मुखलोकगतमें) गये सनिष्ठ श्रीहरिगतचित्त सभी उपासकगण महाप्रलय उपस्थित होनेपर ब्रह्माधिकारके क्षय होनेके बाद परब्रह्मलोकमें प्रवेश करते हैं। ऐसा स्मृति-वाक्य रहनेके कारण पूर्वोक्त वाक्यार्थ सप्रमाण है। अतएव *'अर्चिषम्'* इत्यादि श्रुतिमें अर्चिः इत्यादि आतिवाहिक देवगण सनिष्ठ उपासकोंको हिरण्यगर्भ चतुर्मुख ब्रह्माजीके पास ले जाते हैं—यह बादरि मुनिका सिद्धान्त है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—स्मृतेश्चेति। ब्रह्मणेति। ते सत्यलोकं गताः सनिष्ठास्तदुपासकाः। प्रतिसञ्चरे महाप्रलये संप्राप्ते सति। अन्ते ब्रह्माधिकारक्षये सति ब्रह्मणा सह परस्य श्रीहरेः परं पदं विशन्ति। कीदृशास्ते कृतात्मानः श्रीहरिनिहितधिय इत्यर्थः॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार— *'स्मृतश्चेति'* सूत्रमें। *'ब्रह्मणा सह ते सर्वे'* इत्यादि स्मृति-वाक्यका अर्थ है—ते—उस सत्यलोकमें (चतुर्मुख-लोकमें) गत सनिष्ठ पर-ब्रह्मके उपासकगण, प्रतिसञ्चरे—महाप्रलयमें। संप्राप्ते—उपस्थित होनेपर, अन्ते—चतुर्मुख ब्रह्माका अधिकार क्षय होनेके बाद, ब्रह्मणा सह—चतुर्मुख सहित, परस्य परं पदम्—श्रीहरिके सर्वोत्तम पदको प्राप्त होते हैं। वे किस प्रकारके हैं? कृतात्मानः—श्रीहरिमें सन्निहित मति परायण॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र द्वारा बादरि मुनिका मत बतलाते हैं कि स्मृतिशास्त्रके अनुसार भी यह अवगत हो सकता है कि सत्यलोकगत भगवत्-उपासकगण महाप्रलयकालमें ब्रह्माके साथ श्रीहरिके पद अर्थात् सर्वोत्तम पद (वैकुण्ठधाममें) प्रवेश करते हैं।

श्रीमद्भागवत (३/३२/१०) में भी पाया जाता है—

एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रतिष्टा
जे योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः।
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं
ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः॥

अर्थात् जिन्होंने श्वास एवं प्राणोंको जीत लिया है, वे विरक्त योगी पुरुष दूर जाकर ब्रह्मलोकमें देहका परित्याग करके हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीमें प्रविष्ट होते हैं। वे 'ब्रह्माजीके उपासक' इस अभिमानसे युक्त होकर ब्रह्माजीके साथ ही परमानन्दस्वरूप, पुराणपुरुष, भगवान्‌को प्राप्त होते हैं। अभिमानके कारण ही उनका आदिपुरुष नारायणमें आत्यन्तिक लय नहीं होता, प्राकृतिक लय होता है। जगत्‌की सृष्टिके समय उनकी भी सृष्टि होती है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते परात्मानः प्रविशन्ति परं पदमिति च। स्मृतेश्चोक्तार्थोऽवगम्यते।

अर्थात् स्मृति-प्रमाण दिखा करके पूर्वोक्त अर्थका समर्थन करते हैं कि प्रत्येक सृष्टिमें ब्रह्माके साथ ब्रह्मलोकके सभी जीव प्रलय होनेपर परमात्माके परमधाममें प्रवेश कर जाते हैं। इस स्मृति-प्रमाणसे भी उस कार्यब्रह्मत्वकी बात ज्ञात होती है।

श्रीरामानुजभाष्यमें भी पाया जाता है—

स्मृतेश्चायमर्थोऽवगम्यते—
ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

अतः कार्यमुपासीनमेवार्चिरादिको गणो नयतीति बादरेर्मतम्।

अर्थात् स्मृतिसे भी इस कथनकी पुष्टि होती है—प्रत्येक प्रलयमें वे सब ब्रह्माके साथ कृतार्थ होकर परमपद प्राप्त करते हैं। बादरिका मत है कि कार्यब्रह्मके उपासकोंको ही अर्चिरादि गण ले जाते हैं। (यह पूर्वपक्ष है।)

इस प्रकार सू॰ ४/३/६ से ४/३/१० तक बादरि आचार्यका मत कहा॥ ११॥

अवतरणिका भाष्य—तत्रैव जैमिनेर्मतमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—*'स एतान् ब्रह्म गमयति'*—इस वाक्यमें पूर्वमीमांसाकार जैमिनिका मत दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—तत्रैवेति। व्यवहिताधिकरणेनास्याश्रयाश्रयिभावः सङ्गतिः। तत्र स एतान् ब्रह्म गमयतीत्यस्मिन् वाक्ये इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'तत्रैवेत्यादि'*—व्यवहित अधिकरण अर्थात् *'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः'* इस विप्रकृष्ट अधिकरणके साथ इस अधिकरणकी आश्रयाश्रयिभावरूप सङ्गति है। तत्र—इसका अर्थ है—*'स एतान् ब्रह्म गमयति'*—इस पूर्वोक्त वाक्यमें।

परं जैमिनिरित्यधिकरण्

सूत्र—परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्॥ १२॥

सूत्रार्थ—'जैमिनिः' महर्षि जैमिनि 'मुख्यत्वात्' ब्रह्मन् शब्दके मुख्यार्थ द्वारा 'परम्' परब्रह्म अर्थ ही कहते हैं, चतुर्मुख नहीं॥ १२॥

सूत्रानुवाद—जैमिनि कहते हैं कि परब्रह्मका ध्यान करनेवाले परब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं। ब्रह्म शब्द मुख्यवृत्तिके द्वारा परब्रह्मका ही वाचक है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—परमेव ब्रह्म तद्ध्यातृन् स गमयतीति जैमिनिर्मन्यते। कुतः? मुख्यत्वात्। ब्रह्मशब्दस्य तदभिधायकत्वात्। न च गत्यनुपपत्तिः स्वभक्तानां सर्वोपाधिविनिवृत्तिपूर्वकस्वपदाप्तिख्यातये भगवता यथागत्यनुमननात्॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—नपुंसकलिङ्ग ब्रह्मन् शब्दका मुख्य अर्थ परब्रह्म है। यह अर्थ छोड़कर कार्यब्रह्म अर्थ लेनेपर लक्षणाका आश्रय करना पड़ता है। इसलिए परब्रह्मके उपासकोंको ये अमानव श्रीहरि-पार्षद परब्रह्मके निकट ले जाते हैं—यह अर्थ ही जैमिनि मानते हैं। यदि कहो कि ऐसा माननेपर तो परब्रह्म जो विश्वव्यापक हैं—उनके साथ संयोग किस प्रकार होगा? इसका उत्तर हैं अपने भक्तोंकी स्थूलशरीरादि सकल उपाधियोंकी निवृत्ति करते हुए अपने पद (धाम) की प्राप्ति करानेके लिए श्रीभगवान् इस प्रकारकी गतिका अनुमोदन करते हैं—इस भगवत्-इच्छामें परब्रह्मका संयोग असङ्गत नहीं है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—परमिति। मुख्यत्वादिति। नपुंसकस्य ब्रह्मशब्दस्य परब्रह्म-वाचकत्वादित्यर्थः। सर्वोपाधीति। यद्यपि भगवान् सर्वत्रास्ति तथापि स्वभक्तानां निरवद्यानां अर्च्चिरादिभिः परव्योमगतिर्भवेदिति तन्महिमप्रसिद्धये तादृशीं गतिमभिमन्यते तेन जनानुग्रहश्चेत्यर्थः॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार—*'परं जैमिनि'* इत्यादि सूत्रमें। *'मुख्यत्वात्'*—इस भाष्यमें क्लीवलिङ्ग *'ब्रह्मन्'* शब्द अभिधा शक्तिके आधारपर परब्रह्मवाचक है—इस कारण यह अर्थ है। *'सर्वोपाधि'* इत्यादि—यद्यपि भगवान् समस्त स्थानोंपर ही हैं, तो भी उनके निष्पाप निज भक्तोंकी अर्चिः इत्यादिकी सहायतासे परमव्योममें—वैकुण्ठमें गति होती है। इस प्रकार निज महिमा प्रकटनके लिए वे इस प्रकारकी गतिका अनुमोदन करते हैं, फलस्वरूप लोगोंके प्रति अनुग्रह भी होता है। (यह उत्तर पक्ष है।)॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब जैमिनि ऋषिके मतको उत्थापित करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जैमिनि ऋषि 'ब्रह्मन्'-शब्दके मुख्यार्थ (अभिधाशक्तिके) विचारसे ब्रह्मलोकमें गमन कहनेसे परब्रह्म-पदकी ही प्राप्ति मानते हैं। इससे पूर्वोक्त गतिकी अनुपपत्ति (अप्रमाणिकता) हो गयी—यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि भगवत्-इच्छा ही अपने भक्तगणोंके सर्वोपाधिविनिवृत्तिपूर्वक स्व-पद-प्राप्तिके निमित इस प्रकारकी गतिका अनुमोदन करती है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८७/१८)

अर्थात् हे अनन्त! ऋषि-मुनियोंने बहुत-से मार्ग बतलाये हैं। उनमें जो स्थूलदृष्टिवाले हैं, वे मणिपुर चक्रमें ब्रह्म (अग्नि-वैश्वानर) की उपासना करते हैं, आरुणि सम्प्रदायवाले सम्पूर्ण (१०१) नाड़ियोंके मार्गस्वरूप हृदयमें स्थित (ज्ञानशक्तिदायक) परम सूक्ष्म वस्तु—दहर ब्रह्मकी उपासना करते हैं। इस हृदयमें आपकी उपलब्धिका स्थान सुषुम्ना नाड़ी है, जो ब्रह्मरन्ध तक गयी है। इस स्थानको प्राप्त कर लेनेपर मनुष्योंको जन्म-मरणके चक्करमें जाना नहीं पड़ता।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें प्राप्त है—*'परंब्रह्म नयति', 'एतान् ब्रह्मगमयति' इति ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन् मुख्यत्वात्।*

अर्थात् अर्चिरादिगण विद्वान् पुरुषको सीधे परमात्माके पास पहुँचा देते हैं—*'परंब्रह्म नयति'* (परंब्रह्मको प्राप्त कराते हैं), *'एतान् ब्रह्म गमयति'* (इन्हें ब्रह्मकी ओर ले जाते हैं) इत्यादि श्रुतियोंमें परब्रह्म परमात्मा ही ब्रह्म शब्दका अभिधेय हैं। नपुंसक ब्रह्मकी मुख्यवृत्ति परब्रह्ममें ही है। ब्रह्मका 'परम्' विशेषण भी कहा है। अतः परब्रह्म-प्राप्ति ही होती है—ऐसा जैमिनिका मत है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'ब्रह्मशब्दस्य तत्रैव मुख्यत्वात् परमेव ब्रह्म गमयतीति जैमिनिर्मन्यते।'

अर्थात् पक्षान्तरमें कहते हैं—वायु सबको ब्रह्ममें प्रवेश कराता है, इस स्थलपर परब्रह्म ही अर्थ जानना होगा, कार्यब्रह्म चतुर्मुख नहीं। ब्रह्मशब्दका परब्रह्म ही मुख्यार्थ है, मुख्यार्थका परित्याग करके कभी भी अमुख्यार्थकी कल्पना नहीं की जाती—जैमिनि आचार्य ऐसा कहते हैं। अतः परब्रह्मको ही प्राप्त कराते हैं॥ १२॥

सूत्र—दर्शनाच्च॥ १३॥

सूत्रार्थ—जैमिनि कहते हैं, 'दर्शनात्' दहर विद्यामें और भी एक प्रमाण दृष्ट होता है। 'च' इसलिए भी 'ब्रह्मन्' शब्दका परब्रह्म अर्थ ग्राह्य है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—दहर-विद्यामें परब्रह्म विषयिणी गतिसे सम्बन्धित वचन देखा जाता है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—दहरविद्यायामथ *"य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय"* (छा॰ ८/३/४) इत्यादिश्रुतम्। एषा गतिः परब्रह्मकर्मिकैव। गन्तव्यस्य तस्यामृत-त्वादिधर्मदर्शनात्, गन्तुः स्वरूपाभिनिष्पत्तिदर्शनाच्च। न चैतत् सर्वं कार्यब्रह्मपक्षे सङ्गच्छेत्। नापि तस्यैतत् प्रकरणं, किन्तु परस्यैवेति। काठकेऽपि (२/३/१६) शतञ्चेत्यादिना गतिः पठिता, साऽपि परकर्मिकैवामृतत्वश्रुतेरन्यत्र धर्मादिति तस्यैव प्रकरणाच्च॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—दहर-विद्यामें *'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय'* अर्थात् इसके बाद इस भौतिक देहसे निष्क्रान्त होनेपर जीवकी ब्रह्मलोकमें गति होती है, इत्यादि श्रुत होता है। यह गति अर्थात् प्राप्ति परब्रह्म-विषयिणी है क्योंकि उन्हें ही तो गन्तव्य अथवा

प्राप्य कहा गया है। उन ब्रह्मके ही अमृतत्वादि धर्म कहे गये हैं—गन्तव्यकारी इसीका दर्शन करता है तथा साथ ही स्वरूपकी अभिनिष्पत्तिके (स्वरूप-प्राप्तिके) दर्शन करता है। ये सब उक्तियाँ कार्यब्रह्मके पक्षमें सङ्गत नहीं हो सकतीं और यह प्रकरण भी कार्यब्रह्मका नहीं है, अपितु परब्रह्मका प्रकरण है। कठोपनिषदमें भी *'शतञ्चैका नाड्यः'* इत्यादि द्वारा जिस गतिका वर्णन है, वह भी परब्रह्मकर्मक (परब्रह्म-सम्बन्धी) अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति रूपमें है क्योंकि इस गमन क्रियाके कर्मकारकको अमृतस्वरूप कहा गया है। इसी उपनिषदके अन्य एक अंशमें *'धर्मात्'* कहकर धर्मके हिसाबसे परब्रह्मके ही अमृतत्वादि धर्म अवगत होते हैं॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—परं ब्रह्मैव गन्तव्यमिति भावेनाह दर्शनाच्चेति। दहरस्य गन्तव्यत्वं दृष्टं। तस्य परब्रह्मत्वमसन्देहमित्याह गन्तव्यस्येत्यादि। समुत्थायेत्यनन्तरं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। एष आत्मेति होवाच एतदमृतमभय-मेतद्ब्रह्मेतिश्रवणादित्यर्थः॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार—ब्रह्मन्-शब्दका परम ब्रह्म ही अर्थ है और वे ही गन्तव्य हैं—इस अभिप्रायसे *'दर्शनाच्च'* यह कहते हैं। 'दहर' जो गन्तव्य है, वही दिखाते हैं—और वह दहर जो परब्रह्मस्वरूप है, वह भी निःसन्देह है। *'गन्तव्यस्य तस्य'* इत्यादि वाक्यमें भाष्यकार यही कहते हैं। पूर्वोक्त *'अस्माच्छरीरात् समुत्थाय'* (छा॰ ८/१२/३) इस परवर्त्ती श्रुतिके पाठमें यथा *'ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतम् ब्रह्म'* (छा॰ ८/३/४) ज्योतिः प्राप्त होकर ये जीव निज स्वरूपको प्राप्त करते हैं॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जैमिनिके मतके समर्थनमें श्रुति प्रमाण भी देखा जाता है जैसे कि छान्दोग्योपनिषदमें कहा गया हैं *'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म।'* (छा॰ ८/३/४) अर्थात् यह जीव इस शरीरसे उठकर परब्रह्मकी ही ज्योतिः प्राप्तकर अपने स्वरूपको प्राप्त करता है। यह आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्मलोक शब्दसे परब्रह्मधाम भी जाना जाता है। कार्यब्रह्मके लोकमें गमन माननेसे उपास्यके अमृतत्वादि धर्म

और उपासककी स्वरूपाभिनिष्पत्ति सम्भव नहीं होती क्योंकि चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति और विनाश हैं और उन्हें प्राप्त करनेपर अमृतत्व अर्थात् मोक्ष भी प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि कठोपनिषदमें कहा है कि *'शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासाम्'* (कठ० २/३/१६) अर्थात् हृदयसे जो नाड़ी मस्तक पर्यन्त उठी हुई है, उस पथ द्वारा जीव देह त्याग करनेपर मोक्ष प्राप्त करता है। अतएव इस प्रकारकी गति परब्रह्म-प्राप्ति की ही सूचक है। इस स्थलपर प्रकरणका भेद भी वर्त्तमान है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजाम्पतिः॥

यस्यावजवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्ज्जितम्॥

(श्रीमद्भा० १/३/२-३)

अर्थात् उन्होंने गर्भोदकमें शयन करते हुए योगनिद्राका विस्तार किया। तदनन्तर उनके नाभि-सरोवरसे उत्पन्न कमलसे प्रजापतिनाथ ब्रह्माने जन्म-ग्रहण किया। कारणोदकशायी श्रीहरिके जिस विराट्रूपके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें पाताल आदि समस्त लोकोंकी कल्पना की गयी है, उन भगवान् श्रीहरिका स्वरूप रज, तमोगुणसे रहित, सत्त्वमय, निरतिशय अप्राकृत एवं विशुद्ध है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—*'दृष्टत्वाच्च परब्रह्मणः।'*

अर्थात् ब्रह्मशब्द परब्रह्ममें मुख्य होनेपर भी उसके ग्रहणकी अनुपपत्तिमें अमुख्यार्थकी कल्पना हो सकती है, इस आशङ्कापर कहते हैं—ज्ञानीकी परब्रह्म-प्राप्ति असम्भव नहीं है, जिसमें अमुख्यार्थकी कल्पना हो सके। श्रवण, मननादि द्वारा ज्ञानीकी अपरोक्ष रूपमें परब्रह्म प्राप्ति दिखायी देती है। परब्रह्मकी प्राप्तिकी बात प्रसिद्ध भी है॥ १३ ॥

अवतरणिका भाष्य—किञ्च—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—और भी एक बात है।

अवतरणिकाभाष्य टीका—ननु *"प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये"* (छा० ८/१४/१) इति मृत्युकाले तदुपासकस्य कार्यब्रह्मप्राप्तीच्छादर्शनादत्रापि कार्यमेव ब्रह्म गन्तव्यमितिचेत् तत्राह न चेति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति यह है कि मृत्युकालमें ब्रह्मोपासककी 'मैं प्रजापतिके सत्यलोक एवं गृहको प्राप्त होऊँगा' इस प्रकार कार्यब्रह्मप्राप्ति विषयमें इच्छाकी बात क्योंकि श्रुतिमें देखी जाती है, इसलिए यहाँ भी कार्यब्रह्म उसके प्राप्य होंगे—यह यदि कहते हो तो इस विषयमें यह सूत्र देखिये—

सूत्र—न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः॥ १४॥

सूत्रार्थ—'च' और मृत्युके समय उपासककी 'कार्य'—मैं कार्यब्रह्मको प्राप्त करूँगा, इस प्रकारकी 'प्रतिपत्त्यभिसन्धिः' ज्ञानपूर्वक इच्छा भी नहीं रहती॥ १४॥

सूत्रानुवाद—विद्वान्की ज्ञानपूर्वक इच्छा कार्यब्रह्म विषयिणी नहीं होती, परब्रह्म विषयिणी ही होती है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—प्रतिपत्तिर्ज्ञानम्। अभिसन्धिरिच्छा। न हि विदुषो ज्ञानपूर्विका इच्छा कार्यब्रह्मविषयास्ति अपुमर्थत्वात् अपि तु परब्रह्मविषयैव। यद्विषया सा भवेत् तदेव प्राप्यं तत्क्रतुन्यायात्। तथा चामानवः पुरुषः पुरुषोत्तममेव तदुपासकान् नयतीति जैमिनेः सिद्धान्तः॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रतिपत्ति शब्दका अर्थ हैं ज्ञान, अभिसन्धि शब्दका अर्थ है इच्छा। और एक बात है ब्रह्मविद्की ज्ञानपूर्वक जो इच्छा है, वह कार्यब्रह्म विषयक नहीं होती, क्योंकि कार्यब्रह्मप्राप्ति परम पुरुषार्थ (चरम काम्य) नहीं है बल्कि परब्रह्म-विषयक इच्छा ही परम पुरुषार्थ है। और 'तत् क्रतु' यह सत्य भी है कि जिस विषयमें इच्छा रहेगी, वही प्राप्य भी होगा, जैसे कि स्वर्गादिकी कामनासे यज्ञ करनेपर स्वर्ग उसका प्राप्य होता है, कुछ और नहीं। अतः अमानव पुरुष पुरुषोत्तमके उपासकोंको श्रीपुरुषोत्तमको ही प्राप्त करा देते हैं, यही जैमिनिका सिद्धान्त है॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—न चाक्षिपुरुषोपासकस्य कार्ये ब्रह्मणि प्रतिपत्त्यभिसन्धिः शक्यो वक्तुम्। तदुपास्यस्यार्च्चिरादिभिः प्राप्यस्याक्षिपुरुषस्य परब्रह्मत्वात् तस्मात् परं ब्रह्मैव

गमयतीति सिद्धम्। न हीति। विदुषोऽक्षिपुरुषोपासकस्य। तथाच प्रजापतेरित्यत्र प्रजापालकस्य श्रीहरेरित्येवार्थः। ते यदन्तरा तद्ब्रह्मेति तस्यैव प्रकृतत्वात् दहरविद्यायां खलु श्रीहरिलोकस्य पुरः प्रसादरूपता वर्णिता। तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्मेति। अपराजिता श्रीहरेरभक्तैरगम्या। अवैष्णवानामप्राप्यमिति जितन्ते स्तोत्रे। वैकुण्ठविशेषणात् गुणवर्जितेऽपि वैकुण्ठे सभाप्रासादादिकं तस्मिन् स्तोत्रे वर्णितं सभाप्रासादसंयुक्तमित्यादिना॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—पुनः अक्षिस्थ पुरुषके उपासक ज्ञानपूर्वक कार्यब्रह्म विषयक इच्छा करते हैं, यह भी कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उसके उपास्य अर्चिरादि-योगसे प्राप्य जो अक्षिपुरुष हैं, वे उसके लिए परब्रह्म हैं। अतएव अमानव पुरुष उसे परब्रह्मकी प्राप्ति करा देते हैं, यह सिद्ध होता है। *'न हि विदुषो ज्ञानपूर्विकेति'* में 'विदुषः'—अक्षिपुरुषके उपासक पक्षमें। ऐसा होनेपर *'प्रजापतेः सभां वेश्म सद्म'* (प्रजापतिके सभारूप गृहको मैं प्राप्त करता हूँ) इत्यादि श्रुतिस्थ प्रजापति शब्दका अर्थ है—प्रजापालक श्रीहरिका, यही ग्राह्य है, क्योंकि *'ते यदन्तरा तद्ब्रह्म'* (छा॰ ८/१४/१) वे (नाम एवं रूप) जिनके अन्तर्गत हैं, वे ब्रह्म हैं, इस श्रुतिके द्वारा परम ब्रह्म ही प्रक्रान्त हैं। दहर विद्यामें वर्णित है कि श्रीहरिलोक-प्राप्ति प्रथम अनुग्रह है। *'तदपराजितापूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म'* (छा॰ ८/५/३) (यह ब्रह्माकी अपराजिता पुरी है और प्रभुका विशेष रूपसे निर्माण किया हुआ सुवर्णमण्डप है)—इस श्रुतिमें प्रजापतिके वेश्म—गृहको श्रीहरिके अभक्तों द्वारा अगम्य पुरी कहा गया है। यह भी *'अवैष्णवानामप्राप्यम्'* अर्थात् यह पुरी विष्णुके अभक्तोंके लिए अप्राप्य है, इस प्रकार अपराजित शब्दका अर्थ है। *'जितन्ते'* इत्यादि स्तोत्रमें यह वर्णित हुआ है; वहाँ वैकुण्ठ—इस विशेषणके प्रयोगका कारण है कि वह वैकुण्ठ त्रिगुणवर्जित है, तो भी वहाँ सभा-प्रासादादि उसी स्तोत्रमें *'सभा प्रासादसंयुक्तमित्यादि'* वाक्य द्वारा वर्णित हैं॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—जैमिनिने पुनः और एक बात कही है, जिसे सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें दिखलाते है कि ब्रह्मज्ञ व्यक्तिके ज्ञान एवं इच्छा कार्यब्रह्म विषयक नहीं हो सकते क्योंकि तत्त्वज्ञ व्यक्ति जानते हैं कि ब्रह्माके लोकमें जानेपर उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं होगा; इसलिए कार्यब्रह्ममें

उनकी ज्ञानपूर्वक इच्छा नहीं हो सकती, बल्कि परब्रह्म-प्राप्ति-विषयक इच्छा ही रहती है; अतः प्राप्ति भी उन्हें परब्रह्मधामकी ही होती है अथवा अमानव पुरुष भगवदुपासकगणोंको परब्रह्मधाममें ही ले जाते हैं—जैमिनिके सिद्धान्तानुसार ही यह उपपन्न (प्रमाणित) होता है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता हैं—

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्त्तते तत् पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२८/३३)

हे प्रिय उद्धव! अनेक प्रकारके गुण और कर्मोंसे युक्त देह, इन्द्रिय आदि पदार्थ पहले अज्ञानके कारण आत्मासे अभिन्न मान लिये गये थे, उनका विवेक नहीं था। अब आत्मदृष्टि होनेपर अज्ञान और उसके कार्योंकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए अज्ञानकी निवृत्ति ही अभीष्ट है। वृत्तियोंके द्वारा न तो आत्माका ग्रहण हो सकता है और न त्याग।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—*न हि कार्ये प्रतिपत्तिः प्राप्तवान् इत्यभिसन्धिश्च। यदुपास्ते पुमान् जीवन् यत् प्राप्तुमभिवाञ्छति। यच्च पश्यति तृप्तः सन् तत्प्राप्नोति मृतेरन्विति हि पाद्मे।*

अर्थात् अब हेत्वन्तर दिखाते हुए ब्रह्म-शब्दके अमुख्यार्थका बाध प्रतिपादन करते हैं। ज्ञानियोंकी कार्यब्रह्म अर्थात् चतुर्मुख ब्रह्म-प्राप्ति नहीं होती उन्हें परब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है, कार्यब्रह्म-प्राप्तिमें ज्ञानियोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। परब्रह्ममें उनकी प्रतिपत्ति होती है—इसलिए ब्रह्म शब्दका अमुख्यार्थ हो नहीं सकता। पद्मपुराणमें कहा गया है कि जो व्यक्ति जीवित अवस्थामें जिनकी प्राप्तिकी अभिलाषासे उपासना करता है, जिसे पानेकी इच्छा भी करता है, जिसे देखकर तृप्त होता है, वह उपासक मरणके बाद उसी अपने उपासित देवके दर्शन कर सकता है और अपनी अभिलषित वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। अतएव जाना जा सकता है कि ज्ञानी परब्रह्म-प्राप्तिकी कामनासे ही उनकी उपासना करते हैं।

[सू॰ ४/३/११ से ४/३/१३] तक जैमिनिके सिद्धान्तसे बादरिके मतका खण्डन किया गया॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—अथ स्वमतमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसपर बादरायण अपना मत कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सनिष्ठा श्रीहर्यधिष्ठितं सत्यलोकपतिमुपासते तानर्च्चिरादयोऽमानवास्तांस्तत्पतिं प्रापयन्ति। स तु स्वाधिकारान्ते तैः सहितो हरिं प्राप्नोति। ये तु हरिमेवोपासते तेषामिहैव हरिप्राप्तिस्तस्य विभोरत्रापि सत्त्वादिति। न तेषामर्च्चिरादिभिर्गतिरिति बादरिसिद्धान्तः। श्रीहरिमेवोपासीनान् परिनिष्ठितादीनेवार्च्चिरादयस्ते हरिं नयन्ति। सनिष्ठास्त्वविश्लिष्टोत्तरानुष्ठितकर्माणः कर्मभिरेव स्वर्गादिलोकान् क्रमेणानुभवन्तः सत्यलोके तत्पतिं प्राप्नुवन्ति। स तु समाप्ताधिकारस्तान् गृहीत्वा हरिं यातीति नैतेषामर्च्चिरादिभिर्गतिरिति जैमिनिसिद्धान्तः। अत्र जैमिनिसिद्धान्ते यथा कर्मभिवेव स्वर्गादिसत्यान्ता गतिस्तथा प्रतीकध्यानैरपि तद्गतिः प्रतीकोपासकानामपि स्यादिति दृष्टान्तसङ्गत्यारभ्यते। अथेत्यादि। अमानवः पुरुषः सर्वानुपासकान् नयत्युत प्रतीकधायिभिन्नानिति वीक्षायां नियामकाभावात् सर्वानिति प्राप्तेऽप्रतीकालम्बनानिति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—श्रीहरिके सनिष्ठ उपासकगण जो श्रीहरिके अधिष्ठित सत्यलोकपतिकी (कार्यब्रह्मकी) उपासना करते हैं, उन्हें प्रापकगण अर्चिसे आरम्भ करके अमानव पुरुष पर्यन्त सत्यलोकपतिके समीप ले जाते हैं। सत्यलोकपति ब्रह्मा अपना अधिकार क्षय होनेके बाद उनके (सनिष्ठ उपासकोंके) सहित श्रीहरिको प्राप्त होते हैं किन्तु जो श्रीहरिकी साक्षात् रूपसे उपासना करते हैं, उन्हें इस लोकमें ही श्रीहरिकी प्राप्ति होती है क्योंकि श्रीहरि यहाँ भी विराजमान हैं, अतएव उनकी गति अर्चिरादि मार्गसे नहीं है, यह बादरिका सिद्धान्त है। केवल श्रीहरिके ही उपासक परिनिष्ठित इत्यादिको वे अर्चिरादि देवता श्रीहरिके पास ले जाते हैं और सनिष्ठ उपासकगण क्योंकि अविश्लिष्ट रूपसे अव्यवहित होनेके बाद भी कर्मानुष्ठान करते हैं, इसलिए वे कर्मफलानुसार एक-एक करके स्वर्गादि लोकोंका भोग करके सत्यलोकमें उसके अधिष्ठाता कार्यब्रह्मको प्राप्त होते हैं। उन सत्यलोकपतिका अधिकार समाप्त होनेपर वे (कार्यब्रह्म) सत्यलोकगत उन उपासकगणोंको श्रीहरिके पास जे जाते

हैं, इनकी फिर अर्चिरादि योगसे गति नहीं होती, यह जैमिनिका सिद्धान्त है। इस जैमिनि सिद्धान्तमें जिस प्रकार कर्म द्वारा ही स्वर्गसे सत्यलोक पर्यन्त गति कही गयी है, उसी प्रकार प्रतीक-ध्यान द्वारा भी प्रतीकोपासकादियोंकी उसी प्रकारसे गति होगी—इस दृष्टान्तसङ्गतिके अनुसार *'अथ स्वमत माह'* कहकर आरम्भ करते हैं। इस मतमें संशय यह होता है कि अमानव पुरुष समस्त उपासकोंको विष्णुलोक ले जाते हैं? अथवा प्रतीक-ध्यायीसे भिन्न उपासकोंको? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं—किसी विशेष नियमके न रहनेके कारण समस्तको ही ले जाते हैं, यही कहा जायेगा, इसके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार *'अप्रतीकालम्बनान्नयतीत्यादि'* सूत्र कहते हैं—

अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्

सूत्र—अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात् तत्क्रतुश्च॥ १५॥

सूत्रार्थ—'अप्रतीकालम्बनान्' जो नाम-मूर्त्ति इत्यादिके उपासक हैं, उन्हें प्रतीकालम्बन कहा जाता हैं, इनसे भिन्न सनिष्ठ इत्यादि ब्रह्मोपासकगण अप्रतीकालम्बन कहे जाते हैं, 'नयति'—उन सभीको अमानव पुरुष विष्णुधाम ले जाते हैं, 'इति बादरायणः' यह भगवान् बादरायण मानते हैं, 'उभयथाच' कार्यब्रह्मोपासक अथवा परब्रह्मोपासकमेंसे किसी एकको प्राप्त कराते हैं—ऐसा कोई नियम वे (बादरायण) स्वीकार नहीं करते 'दोषात्' क्योंकि इन दोनों मतोंमें ही विरोध घटित होता है। 'तत्क्रतुश्च' इस विषयमें क्रतु-न्याय भी हैं॥ १५॥

सूत्रानुवाद—नाम-उपासक, प्रतीक (मूर्त्ति) उपासक, इनसे भिन्न सनिष्ठ इत्यादि अप्रतीकोपासकगणोंको अमानव पुरुष विष्णुधाम ले जाते हैं—यह भगवान् बादरायण मानते हैं। वे कार्योपासकको ले जाते हैं अथवा परब्रह्मोपासकको ले जाते हैं—ऐसा कोई नियम नहीं है—दोनों मतोंमें ही विरोध है। क्रतु-न्याय भी इसका पोषक है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—नामाद्युपासकाः प्रतीकालम्बनास्तद्भिन्नाः सनिष्ठादयो ब्रह्मोपासका अप्रतीकालम्बनास्तान् सर्वान् नयतीति भगवान् बादरायणो मन्यते। कार्योपासकान्

परोपासकान् वा नयतीत्यन्यतरनियमं न स्वीकरोतीत्यर्थः। कुतः? उभयथेति। मतद्वयेऽपि विरोधादित्यर्थः। आद्ये परं ज्योतिरित्यादिविरोधः द्वितीये तु पञ्चाग्निविद्यावतामर्च्चिरादिगतिविरोधः। तत्क्रतुन्यायोऽप्येतमर्थं दर्शयति यथाक्रतुरित्यादिना। नामादिप्रतीकोपासकानान्तु नार्च्चिरादिना परप्राप्तिः तत्क्रतुविरहात्। किन्तु शब्द–शास्त्रादिलक्षणनामादिषु स्वातन्त्र्यादिप्राप्तिर्भवति। *"स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारः"* इत्यादि छान्दोग्यवाक्यात्। पञ्चाग्निविद्यावतां तेन वर्त्मना सत्यलोकप्राप्तिस्तु स्वात्मानुसन्धिप्रभावात्। तदुपर्यपीतिन्यायेन तल्लोके तेषां ब्रह्मविद्यासिद्धेः। तद्वर्त्मना गतानामनावृत्तिश्रुतिः सङ्गता॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जो नामादिके उपासक हैं, वे प्रतीकालम्बन (प्रतीकाश्रय) पुरुष हैं, उनसे भिन्न सनिष्ठादि ब्रह्मोपासक अप्रतीकालम्बन (अप्रतीकाश्रय) पुरुष हैं—उन सभीको अमानव पुरुष ब्रह्मलोक ले जाते हैं—यह बादरायणका मत है। वे कार्यब्रह्मोपासक अथवा परब्रह्मोपासकगणोंको ले जाते हैं—इस विषयमें कोई नियम स्वीकार नहीं करते, यह अर्थ है। दोनों पक्षोंमें ही अर्थात् दोनों मतोंमें ही विरोध है—यथा प्रथम मतमें अर्थात् 'कार्योपासकगणोंको विष्णुधाममें ले जाते हैं' बादरिके इस मतमें *'परं ज्योतिः'* इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध घटता है; क्योंकि कार्यब्रह्म परं ज्योतिः स्वरूप नहीं है और द्वितीय मतमें अर्थात् 'परब्रह्मोपासकोंको ही ले जाते हैं'—इस जैमिनिके मतमें पञ्चाग्निविद्योपासकोंकी अर्चिरादि–पथसे गति होती है—इस उक्तिका विरोध होता है। 'तत्क्रतु'–न्याय भी यही कहता है जैसे कि *'यथा क्रतुरस्मिन् लोके'* (छा० ३/१४/१) (जैसा सङ्कल्प अथवा निश्चय इस लोकमें होता है) नाम विग्रह इत्यादि प्रतीकोपासकोंकी अर्चिरादिकी सहायतासे परब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उसमें *'यथाक्रतुः'* यह न्याय नहीं रहता अर्थात् यथा सङ्कल्पका अभाव रहता है किन्तु शब्दशास्त्रादि (वेदादि) रूप नामादिमें उनकी स्वातन्त्र्य–प्राप्ति घटती है। छान्दोग्य–श्रुति यथा *'स जो नामब्रह्म इत्युपासते ... कामचारः'* (छा० ७/१/५) अर्थात् जो व्यक्ति 'नाम ही ब्रह्म है'—इस प्रकारकी उपासना करता है, तो नामकी जहाँ तक गति होती है, वहाँ तक उस नामोपासकका कामचार अर्थात् स्वाधीनता अपर–निरपेक्षता है। तब जो कहा गया है कि पञ्चाग्निविद्योपासकोंको अर्चिरादिपथसे सत्यलोककी प्राप्ति होती है, इसे निज आत्मानुसन्धानका प्रभाव जानना चाहिये।

ये ही उपासक अर्चिरादिमार्गके द्वारा सत्यलोकमें गमन करते हैं, अन्य नहीं। *'तदुपर्यपि'* (उसके ऊपर ब्रह्मलोक है) इत्यादि न्यायसे उस लोकमें उनकी ब्रह्मविद्याकी सिद्धि होती है। अतएव अर्चिरादि पथसे गये हुए व्यक्तियोंकी अपुनर्भव (अनावृत्ति) श्रुति सङ्गत होती है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—आद्ये कार्योपासकान् नयतीति बादरिमते। द्वितीये परोपासकानेव नयतीति जैमिनिमते। तत्क्रतुन्यायोऽपीति। सनिष्ठादयस्त्रयोऽपि ब्रह्मक्रतव इत्याशयः। नामादिप्रतीकोपासकानास्त्विवति। नामब्रह्मेत्यत्र नामप्रतीकं प्रति ब्रह्मणो विशेषणत्वेन तस्य प्रतीकस्यैव प्राधान्यात् न तेषां ब्रह्मोपासकत्वमतो न ब्रह्मगतिरिति॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार— *'अप्रतीकालम्बनान्नयतीत्यादि'* सूत्रमें *'आद्ये परं ज्योतिः'* इत्यादि भाष्यमें—'आद्ये' का अर्थ है—कार्योपासकगणोंको ब्रह्मलोकमें ले जाते हैं, यह बादरिका मतमें है। *'द्वितीये तु'* अर्थात् परब्रह्मके उपासकगणोंको ही ले जाते हैं—यह जैमिनिके मतमें है। *'तत्क्रतुन्यायोऽप्येतमर्थं दर्शयति'* इति—सनिष्ठ, परिनिष्ठित एवं निरपेक्ष—ये तीन प्रकारके उपासक ही ब्रह्मक्रतु-पदवाच्य हैं, यही अभिप्राय है। *'नामादि प्रतीकोपासकानान्तु'* इत्यादि—*'नाम ब्रह्मेत्युपास्ते'*—इस वाक्यमें नाम-प्रतीक इस विशेष्य पदके ब्रह्मको विशेषण रूपसे कहनेमें इस प्रतीकका ही प्राधान्य है, इसलिए नाम-प्रतीकोपासकगण ब्रह्मोपासक नहीं हैं, इस कारणसे उनकी ब्रह्मगति होती नहीं है॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार भगवदवतार श्रीबादरायण निज मतको प्रकट करते हुए कहते हैं कि नामादिके उपासक प्रतीकाश्रय पुरुष और उनसे भिन्न सनिष्ठादि अप्रतीकाश्रित ब्रह्मोपासक सभीको भगवत्-धाम ले जाते हैं। दोनों मतोंमें ही अर्थात् बादरि ऋषि एवं जैमिनि ऋषिके मतमें विरोध दिखायी देता है। यथाक्रतु-न्यायके अनुसार भी विरोध होता है।

श्रीमद्भागवतमें प्राप्त है—

श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः।
येन मामभयं जाया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः॥
(श्रीमद्भा॰ ३/३३/११)

अर्थात् ब्रह्मवेत्ता महापुरुषगण इसी मतका सेवन करते रहते हैं; अतः आप इस मतमें श्रद्धा रखिये। इसके द्वारा आप अभयस्वरूप मुझे प्राप्त कर सकेंगी। जो मेरे इस भक्तियोग-विषयसे अनभिज्ञ हैं, वे ही मृत्युके कवलमें पतित होते हैं।

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वा विकृतात्।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८७/१५)

अर्थात् हे प्रभो! घट आदि सभी विकृत पदार्थोंकी उत्पत्ति मिट्टीसे होती है, और अन्तमें वे मिट्टीमें ही मिल जाते हैं, परन्तु मिट्टी अविकृत तथा अपरिवर्तनशील रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मवस्तु भी अविकृत है—यद्यपि उसमें सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति एवं प्रलयादि होते हैं, तो भी सभी कालों और स्थितियोंमें वह ब्रह्मवस्तु (आप) एकमात्र अविशष्ट रहती है। आप निर्विकार हैं, इसलिए यह जगत् आपमें उत्पन्न नहीं, प्रतीत होता है। यही कारण है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने समस्त मन्त्रोंका तात्पर्य आपमें ही निहित किया है और इन्द्र-वरुणादि आदि नामोंको आपके ही नामोंके रूपमें निर्णीत किया है। मनुष्य मिट्टी, पत्थर आदि जहाँ भी अपना पैर रखे—वह पृथ्वीपर ही होगा। क्योंकि मूल रूपमें वे सब पृथ्वीस्वरूप ही हैं। उसी प्रकार वेदोंके किसी-किसी स्थलपर विकारी देवताओंका माहात्म्य वर्णित तो हुआ है, पर वस्तुतः वह माहात्म्य सर्वकारण कारणस्वरूप आपका ही है।

श्रीमद्निम्बादित्याचार्यके भाष्यका सार है—

'ये नाम ब्रह्मेत्युपासीत्' इत्यादि श्रुति द्वारा प्रतिपादित नाम आदि प्रतीकोंकी ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करते हैं, उन्हें प्रतीकाश्रय या प्रतीकालम्बन कहते हैं। इन्हें छोड़कर जो परब्रह्मकी उपासना करते हैं तथा जो पञ्चाग्नि विद्यावान् प्रकृति वियुक्त (प्रकृत्यातीत) जीवात्माकी ब्रह्मात्मभावसे उपासना करते हैं—इन दोनों तरहके उपासकोंको अमानव पुरुष ब्रह्मके पास ले जाते हैं। यदि यही कहा जाय कि कार्योपासकोंको ले जाते हैं, तो *'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय*

परं ज्योतिरूप सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा० ८/१२/३) अर्थात् उसी प्रकार यह सम्प्रसाद (प्रजापतिने सांसारिक अवस्थाग्रस्त इन्द्रको समझाया था कि तू देह एवं इन्द्रियोंके धर्मवाला नहीं है, बल्कि सत् है—इस प्रकारसे समझे हुए को सम्प्रसाद कहा जाता है) इस शरीरसे समुत्थान कर परम ज्योतिःको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है—(कार्यब्रह्म परंज्योतिः स्वरूप नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंका विरोध होता है और यदि यह मानें कि परब्रह्म उपासकोंको ही ले जाते हैं, तो *'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति'* (छा० ५/१०/१) अर्थात् वे (सृष्टिविज्ञानको जाननेवाले) जो कि इस प्रकार जानते हैं तथा वे जो कि वनमें श्रद्धा और तपसे इनकी उपासना करते हैं, वे अर्चिःके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं—इस श्रुतिसे पञ्चाग्निविदोंकी भी अर्चिरादि गतिकी प्राप्तिकी विधायिकी इत्यादि श्रुतियोंका विरोध होगा—इस प्रकार उभय पक्षोंमें ही दोष है। अतः वे अमानव पुरुष उभयविध पुरुषोंको ही ले जाते हैं। *'तत्क्रतुश्च'* अर्थात् जैसी उपासना होती है, वैसी ही प्राप्ति होती है। परमात्माकी उपासना करनेवाला परमात्माको प्राप्त करता है और जो प्रकृति वियुक्त अपने आत्माकी ब्रह्मात्मभावसे उपासना करता है, वह भी उक्त स्वरूपकी प्राप्ति करते हुए परमात्माको प्राप्त करता है। जो पञ्चाग्नि विद्यावान् हैं, उनकी भी अर्चिरादि गतिका विधान होनेसे परब्रह्मकी प्राप्ति एवं अपुनरावृत्तिका विधान है। यदि कहें कि प्रतीकका आलम्बन करके की जानेवाली उपासनाओंमें भी ब्रह्मोपासना रहती है, तो उस उपासककी अर्चिरादि गति क्यों नहीं होगी? इसपर कहते हैं *'तत्क्रतु विरहात्'* उसका वैसा सङ्कल्प नहीं है। छान्दोग्योक्त नामसे लेकर प्राणपर्यन्तकी प्रतीक उपासनामें प्रतीककी ही प्रधानता होती है। इस उपासनामें ब्रह्म विशेषण हो जाता है। उनमें ब्रह्मोपासकत्व नहीं है, इसलिए प्रतीक उपासकोंकी न तो अर्चिरादि गति होती है और न ही ब्रह्मकी प्राप्ति। अर्चिरादि गतिमें प्रतीकोपासकोंकी गतिका उल्लेख नहीं है।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार है—*'तत्क्रतुश्च'* श्रुतिके दृष्टान्तमें देखा जाता है कि पुरुष यहाँ जिस प्रकारका सङ्कल्पपरायण होता है, यहाँसे

प्रस्थान होनेके बाद वैसी ही गति होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकारके उपासकोंका जैसा क्रतु (सङ्कल्प) होता है, वैसी ही गति होती है।

श्रीमध्वभाष्यके सारमें भी यही देखा जाता है—

'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।' (बृ॰आ॰ ६/४/५)

अर्थात् जिस व्यक्तिकी जैसी कामना होती है, उस व्यक्तिका वैसा ही क्रतु होता है और जैसा क्रतु होता है, वैसा ही कर्म होता है और जैसा कर्म करते हैं, वैसा ही फल प्राप्त होता है, इच्छानुसार नहीं होता॥ १५॥

अवतरणिका भाष्य—अथ निरपेक्षाणां केषाञ्चित् स्वयं भगवतैव स्वपदप्राप्तिरभिधीयते। *'एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्ताः संयजन्ते न कामान्। तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात् प्रकाशयेदात्मपदं तदैव।'* (गो॰ता॰पू॰ २३) *'ॐङ्कारेणान्तरितं यो जपति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुम्। तं तस्यैवासौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मुमुक्षु-रभ्यसेन्नित्यशान्त्यै'* (गो॰ता॰पू॰ २५) इति। इह संशयः—निरपेक्षा अप्यातिवाहिकैरेव परं पदं विशन्ति स्वयं भगवता वेति। द्वावेव मार्गावित्यादौ ब्रह्मविदामर्च्चिरादिगतिविनिर्णयात् तेऽपि तैरेव तद्विशन्ति। श्रुतिश्च—भगवतो हेतुकर्त्तृत्वं विवक्षत्यविरुद्धमेवं प्राप्ते ब्रवीति—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब कतिपय निरपेक्ष उपासकोंको स्वयं भगवान् द्वारा ही उनके स्वपद (निजधाम) की प्राप्ति होती है—यही कहते हैं। श्रुति कहती है—*'एतद्विष्णोः परमं पदं ... तस्मान्मुमुक्षु-रभ्यसेन्नित्यशान्त्यै'* इति अर्थात् यह विष्णुका परम पद है, जो एकनिष्ठ होकर विष्णुके उस परम पदकी नित्य उपासना करते हैं, अन्य कोई भी कामना नहीं करते, उनके वे आराध्य गोपालरूपी श्रीभगवान् उन आग्रहके साथ स्वधाम दिखा देते हैं। उपासना-कालमें ही जो ऊँकारसे सम्पुटित (आदि और अन्तमें ऊँकारका योग करके) गोविन्दके पञ्चपदयुक्त मन्त्रका जप करते हैं, उन्हें ही वे गोपालवेशधारी श्रीभगवान् निज भक्तों आत्मस्वरूप (गोपाल-मूर्त्ति) दिखा देते हैं।

इसलिए मुक्तिकामी व्यक्ति मुक्तिके लिए इस मन्त्रका नित्य अभ्यास करते हैं। इस श्रुति-वाक्यार्थमें संशय यह है कि निरपेक्ष उपासकोंको भी क्या अर्चिरादि आतिवाहिक देवताओंकी सहायतासे विष्णुका परम पद प्राप्त होता है अथवा स्वयं-भगवान् उन्हें स्वधाम ले जाते हैं? इस संशयपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब 'द्वावेव मार्गौ' परमपद-प्राप्तिके दो पथ देवयान और पितृयान श्रुतिमें घोषित हुए हैं, तब ब्रह्मविद्गणकी अर्चिः इत्यादि पथमें गतिका निर्णय रहनेके कारण वे भी (निरपेक्ष उपासकगण भी) उसी अर्चिरादिकी सहायतासे परमपदको प्राप्त होंगे। तब श्रुति जो यह कहती है कि *'तस्यैवासो दर्शयेदात्मरूपम्'*—इसकी सङ्गति क्या होगी? इसका उत्तर है—इस स्वधाम-दर्शनमें भगवान्का प्रयोजक कर्त्तृत्व है और अर्चिः इत्यादिका प्रयोज्य कर्त्तृत्व है अर्थात् भगवान् अर्चिरादि आतिवाहिक देवताओंके द्वारा उक्त निरपेक्ष उपासकोंको स्वधाम पहुँचा देते हैं। इसमें अर्चिरादिका स्वातन्त्र्य नहीं है—यही तात्पर्य जानना चाहिये। अर्थात् इसके द्वारा भगवान्का प्रयोजक कर्त्तृत्व सिद्ध होगा और भगवान्के द्वारा कर्त्तृत्व विरुद्ध है। पूर्वपक्षीके इस प्रकारके मतके विषयमें सूत्रकार कहते हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके तृतीय पादके
श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेत्यादि। पूर्वत्र सर्वान् ब्रह्मक्रतुनमान-वोनयतीत्युक्तम्। तद्वत् परमातुरानपि स एव नयेत् तेषामपि ब्रह्मक्रतुत्वाविशेषादिति प्राग्वत् सङ्गतिः। स्वयं भगवतैवेत्येवकारोऽर्च्चिरादीन्निवर्त्तयति। एतदिति। गोपरूपो गोपवेशो विष्णुः। आत्मपदं स्वधाम श्रीगोकुलम्। ॐइति। ॐङ्कारेणान्तरितं संपुटितं कृत्वा। आत्मरूपमात्मभूतं गोपालविग्रहम्। हेतुकर्त्तृत्वमिति। तेषामसावात्मपदं प्रकाशयेत् तस्यैवासौ दर्शयेदित्यर्च्चिरादिभिरिति बोध्यम्। तेन प्रयोजककर्त्तृत्वं श्रीहरेः सिध्येदित्यर्थः।

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे
श्रीबलदेवकृत-अवतरणिका-भाष्यस्य सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'अथेत्यादि'* पूर्वाधिकरणमें कहा गया था कि त्रिविध ब्रह्मक्रतु (ब्रह्मोपासक) को ही अमानव पुरुष विष्णुधाममें ले जाते हैं इसी प्रकार परमातुर (विष्णुदर्शनके लिए

अत्यधिक आकुल) निरपेक्षोंको भी अमानव पुरुष विष्णुधाम ले जाते हैं क्योंकि ब्रह्मक्रतुत्व सबका समान है। यह दृष्टान्त-सङ्गति पूर्वके समान इस अधिकरणमें भी ज्ञातव्य है। *'स्वयं भगवतैव स्वपदप्राप्तिरिति'*—इस वाक्यमें स्थित 'एव' शब्द अर्चिरादिकी व्यावृत्ति करता है। *'एतद्विष्णोः परम्'* इत्यादि *'तेषामसौ गोपरूप'* इति 'गोपरूपः' अर्थात् गोपालवेशधारी विष्णु। *'प्रकाशयेदात्मपदमिति'*—*'आत्मपदम्'*—निजधाम श्रीगोकुल, *'ॐकारेणान्तरितमिति'*—ॐकारसे सम्पुटित करके अर्थात् पञ्चपदयुक्त गोपालमन्त्रके आदि एवं अन्तमें ॐकारका योग करके। *'दर्शयेदात्म-रूपमिति'*—आत्मरूपम्—आत्मस्वरूप गोपालमूर्त्ति। *'भगवतो हेतुकर्त्तृत्वमिति'*—*'तेषामसौ प्रकाशयेदात्मपदम्'*—इस श्रुत्यंशका अर्थ इस प्रकार है—अर्चिरादि प्रयोज्य कर्त्तृद्वारा भगवान् उन परमातुर निरपेक्ष उपासकोंको स्वयं ही दर्शन कराते हैं। उसीके द्वारा ही श्रीभगवान्‌का प्रयोजक-कर्त्तृत्व सिद्ध होगा, यह अर्थ है।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके तृतीय पादके
श्रीबलदेवकृत अवतरणिका-भाष्यका टीकानुवाद समाप्त॥

विशेषाधिकरणम्

सूत्र—विशेषञ्च दर्शयति॥ १६॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे
सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'च' और 'विशेषम्' निरपेक्ष उपासकोंके सम्बन्धमें विशेष व्यवस्था भी 'दर्शयति' श्रुति ही दिखाती है॥ १६॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके तृतीय पादके
सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—किसी-किसी निरपेक्ष भक्तोंके सम्बन्धमें स्वयं-भगवान् ही स्वपद-प्राप्तिकी विशेष व्यवस्था करते हैं॥ १६॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके तृतीय पादके
सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—ब्रह्मविदामातिवाहिकैस्तत्प्राप्तिरित्येतत् सामान्यम्। ये खलु निरपेक्षाः परमार्त्तास्तेषां तु स्वयं भगवतैव तत्प्राप्तिविलम्बमसहिष्णुना सेति विशेषोऽस्ति। तं श्रुतिर्दर्शयति एतद्विष्णोरित्यादिना। *"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते। तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्"* इति स्मृतेश्च। (श्रीगी॰ १२/६-७) तदैव तेषां तनुभङ्गस्तनुयोगश्चेति च शब्दात्। न चार्च्चिरादिनिरपेक्षा गतिर्नास्तीति शक्यं वदितुम्। *"नयामि परमं स्थानमर्च्चिरादिगतिं विना। गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः"* इति वाराहवचनात्। तस्माद् यथोक्तमेव सुष्ठु॥ १६॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्मविद् मात्रको ही आतिवाहिक देवताओंके द्वारा ब्रह्मपदकी (परमपदकी) प्राप्ति होती है—यह साधारण (सामान्य) नियम है किन्तु इसमें पार्थक्य यह है कि जो निरपेक्ष-परमार्त्त ब्रह्मविद् हैं उन भक्तोंके निज-पद-प्राप्तिके विषयमें श्रीभगवान् विलम्ब नहीं सहन कर पाते और स्वयं ही उन्हें स्वपदकी प्राप्ति करा देते हैं—इस विषयमें यह विशेष व्यवस्था है। श्रुति इसी विशेषताको—*'एतद्विष्णोः परमं पदं ये'* इत्यादि द्वारा दिखाती है। इस विषयमें स्मृत्ति-वाक्य भी है—*'ये तु सर्वाणि कर्माणि ... मय्यावेशितचेतसाम्'* इति—'जो समस्त कर्मोंको मुझमें समर्पण करके मत्परायण होकर एकनिष्ठ समाधि द्वारा मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे पार्थ! उन मदेकनिष्ठचित्त निरपेक्षोंका मैं शीघ्र ही मृत्यु सङ्कुल-संसाररूप-दुस्तरणीय-सागरसे उद्धार कर देता हूँ।' सूत्रोक्त 'च' शब्दसे यह अर्थ जानना चाहिये कि उस समय ही उनका शरीर-पात और नवीन शरीर-योग होता है अर्थात् अप्राकृत दिव्य सेवोपयोगी पार्षद शरीर प्राप्त होता है। यदि कहो, अर्चिः इत्यादिकी अपेक्षा न करनेपर तो ऊर्ध्व गति होती नहीं तो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वराहपुराणोक्त श्लोकसे यह अवगत हो जाता है यथा—*'नमामि परमं स्थानम् ... अनिवारितः इत्यन्ते।'* इत्यादि अर्थात् अर्चिः इत्यादि गतिकी सहायताके बिना ही मैं यथेच्छाक्रमसे निर्बाधपूर्वक उन्हें (निरपेक्ष परमार्त्त उपासकोंको) गरुड़के स्कन्धपर चढ़ाकर परमपदपर (निज परमधाममें) ले आता हूँ। अतएव जो कहा गया है, वही उपयुक्त और सुसङ्गत है॥ १६॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके तृतीय पादके श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—विशेषञ्चेति। च-शब्दात् यथाश्रुतिसिद्धान्तो ग्राह्य इत्युच्यते। भाष्यकारस्तु चार्थं वक्ष्यति तदैवेत्यादिना। असहिष्णुनेति। प्रकाशयेदात्मपदं तदैवेत्येवकारेण त्वराव्यञ्जनादितिभावः। ये त्वित्यादौ हरिरेव स्वयं नयतीति मन्तव्यम् न चिरादिति त्वराभिधानात्। नैरपेक्ष्यं त्वत्र ध्यायिनां सुव्यक्तम्। नन्वेतद्व्याख्यानं कल्पितमिति चेत् तत्राह न चेति। वाराहान्ते—*"स्थिते मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः। धातुसाम्ये स्थिते स्मर्ता विश्वरूपञ्च मामजम्। ततस्तं म्रियमाणञ्च काष्ठपाषाणसन्निभम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नमामि परमां गतिम्"* इत्युपक्रम्य स्वभक्तवात्सल्यं बहु प्रकाशस्याह भगवान् वराहदेवः—नमामि परमं स्थानमित्यादि। तेनार्च्चिरादिनिरपेक्षा स्वयं श्रीहरिणैव केषाञ्चित् तत्पदप्राप्तिः सिद्धा। एतद्वाक्यबलेनैवैतद्विष्णोरित्यादिश्रुत्यर्थस्तथैव व्याकृतस्तत्रापि तद्बोधलाभाच्च॥ १६॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादे मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याख्याने श्रीबलदेवकृता-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रोक्त 'च' शब्दसे सिद्धान्तानुसार श्रुति ग्रहणीय है, यह कहा जाता है, किन्तु भाष्यकार 'च' शब्दका अर्थ 'तदैव' इत्यादि वाक्य द्वारा अन्य रूपसे कहेंगे। *'असहिष्णुना सा इति'* विलम्ब सह्य (सहन) न करके इस (त्वराके प्रकाशक) *'प्रकाशयेदात्मपदं तदेव'*—इस वाक्यमें उक्त 'एव' शब्द—यह अभिप्राय है। *'ये तु सर्वाणि कर्माणि'* इत्यादि गीता-वाक्यका मर्मार्थ है कि श्रीहरि ही स्वयं उन्हें स्वधाम ले जाते हैं (क्योंकि *'न चिरात् पार्थ!'* इसमें त्वरा प्रकाश प्राप्त कर रही है), अर्चिरादि योगसे गतिमें विलम्ब होता है, इस कारण श्रीहरि द्वारा स्वधाम-नयनमें जो अर्चिरादि निरपेक्षता है, वह तदाविष्टचित्त-व्यक्तियोंकी है, यह स्पष्ट व्यक्त हो रहा है। यदि इस व्याख्याको स्वकपोल-कल्पित मानते हैं, तो भाष्यकार कहते हैं—*'न चार्चिरादिनिरपेक्षेति।'* वराहपुराणके अन्तिम भागमें कहा गया है—

स्थिते मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः।
धातुसाम्ये स्थिते स्मर्त्ता विश्वरूपञ्च नामजम्॥
ततस्तं म्रियमाणञ्च काष्ठपाषाण सन्निभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नमामि परमां गतिम्॥

अर्थात् मन स्थिर रहनेपर और शरीरके सुस्वस्थ रहनेपर वायु इत्यादि त्रिधातु (वायु, पित्त एवं कफकी) साम्यावस्थामें अर्थात् चित्तविक्षेपका कारण न रहनेपर जो लोग मेरे इस विश्वरूपका स्मरण करते हैं, वे व्यक्ति मृत्युदशामें उपनीत होनेपर (पहुँचनेपर) ऐसे हो जाते हैं मानो काष्ठ अथवा प्रस्तर हों, तब मैं अपने उन भक्तोंका स्मरण करता हूँ, बादमें उन्हें परमगति प्राप्त करा देता हूँ। इस प्रकार उपक्रम करनेके बाद निज भक्त वत्सलताको बहुत प्रकाशित करते हुए भगवान् श्रीवराहदेवने कहा था—

नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना।
गरुड स्कन्धारोप्य यथेच्छमनिवारित॥

'नयामि परमं स्थानमित्यादि' का अर्थ श्लोकके भाष्यमें कहा गया है। इसके द्वारा सिद्ध होता है कि किसी-किसी निरपेक्ष उपासकको अर्चिरादि गतिकी अपेक्षा नहीं रहती, उसे स्वयं ही श्रीहरि कर्त्तृक (द्वारा) विष्णुपदकी प्राप्ति होती है। वराहपुराणके इस वाक्यके आधारपर *'एतद्विष्णोः परमं पदं ये'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ इसी रूपमें ही व्याख्यात हुआ है और उसमें भी यह अर्थबोधक वाक्य भी लब्ध होता है, इस कारण॥ १६॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके तृतीय पादके
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत
सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पुनः और एक विचार उत्थित हुआ है कि किसी-किसी निरपेक्ष भक्तके सम्बन्धमें स्वयं-भगवान् ही स्वपद-प्राप्तिकी विशेष व्यवस्था करते हैं। इस विषयमें गोपालतापनी-श्रुतिका प्रमाण है, जिसे अवतरणिका भाष्यमें देखना चाहिये। इस स्थलपर एक संशय यह है कि निरपेक्ष भक्तगण क्या आतिवाहिक देवताओंकी सहायतासे परमपद प्राप्त करते हैं? अथवा स्वयं-भगवान् ही उन्हें निजधाममें ले जाते हैं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब परमपद प्राप्तिके दो पथ श्रुतिमें निर्णीत हैं एवं ब्रह्मक्रतुत्व समान है, तब वे भी अर्थात् निरपेक्ष भक्तगण भी अर्चिरादि देवताओंकी सहायतासे उस

परमपदको प्राप्त होंगे—यही कहा जायेगा। तब जो गोपालतापनी-श्रुति कहती है कि श्रीभगवान् स्वयं ही निरपेक्ष भक्तोंको स्वधामकी प्राप्ति कराते हैं—इसके उत्तरमें पूर्वपक्षीकी मीमांसा यह है कि इसमें श्रीभगवान्का प्रयोजक-कर्त्तृत्व ही सिद्ध है—इसलिए दोनों अविरुद्ध हैं। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि निरपेक्ष भक्तोंके सम्बन्धमें विशेष व्यवस्था श्रुति ही दिखाती है।

ब्रह्मज्ञ व्यक्तिका आतिवाहिक देवताओंके साथ जो परमपद-प्राप्तिका उल्लेख है—वह साधारण नियम है किन्तु विशेष व्यवस्था यह है कि जो सब निरपेक्ष भक्त भगवत्-विरहमें परम आर्त्त अर्थात् विष्णु-दर्शनके लिए अत्यधिक कातर तथा आकुल हैं उनका स्वपद-प्राप्तिके विषयमें विलम्ब सहन न कर सकनेके कारण स्वयं-भगवान् ही उन्हें स्वधाममें अर्थात् अपने निकट ले आते हैं। पूर्वोक्त गोपालतापनी-श्रुति ही इसका प्रमाण है।

इस सन्दर्भमें श्रीगीतामें कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(श्रीगी॰ १२/६-७)

अर्थात् जो लोग मेरी प्राप्तिके लिए समस्त कर्मोंको मुझमें समर्पण करते हुए मेरे परायण होकर अनन्य भक्तियोगके साथ मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ। मुझमें आविष्टचित्त उन सभी भक्तोंका मैं अचिरात् ही अर्थात् त्वरापूर्वक मृत्युरूप-संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ।

इस श्लोककी टीकामें वेदान्तभाष्यकार श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभु कहते हैं—

तथात्मयाथात्म्यं श्रुत्वैवात्मांशिनो मम केवलां भक्तिं ये कुर्वन्ति, न त्वात्मसाक्षात्कृतये प्रयतन्ते, तेषां तु केवलया मद्भक्त्यैव मत्प्राप्तिरचिरेणैव

स्यादित्याह—ये त्विति द्वाभ्याम्; ये मदेकान्तिनो मयि मत्प्राप्त्यर्थं सर्वाणि स्वविहितान्यपि कर्माणि संन्यस्य भक्तिविक्षेपकत्व बुद्धया परित्यज्य मत्परा मदेक पुरुषार्थाः सन्तोऽनन्येन केवलेन मत्श्रवणादिलक्षणेन योगेनोपायेन मां कृष्णम् उपासते तल्लक्षणां मदुपासनां कुर्वन्ति ध्यायन्तः—श्रवणादिकालेऽपि सन्निविष्टमनसः तेषां मय्यावेशितचेतसां मदेकानुरक्तमनसां भक्तानामहमेव मृत्युयुक्तात् संसारात् सागरवद् दुस्तरात् समुद्धर्ता भवामि, न चिरात् त्वरया तत्प्राप्ति-विलम्बास हमानस्तानहं गरुडस्कन्धमारोप्य स्वधाम प्रापयामीत्यर्चिरादि निरपेक्षा तेषां मद्धामप्राप्तिः—'नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना। गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छम-निवारितः।' इति वाराहवचनात्, कर्मादि-निरपेक्षापि भक्तिरभीष्टसाधिका;—'या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः।' इति नारायणीयात् 'सर्वेधर्मोज्झिता विष्णोर्नाममात्रैकजल्पकाः। सुखेनं यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः'—इति पाद्माच्च॥

अर्थात् इस प्रकार आत्माके यथायथ स्वरूपके विषयमें सुनकर ही समस्त आत्माओंके अंशी—मेरे प्रति जो केवलाभक्ति करते हैं, परन्तु आत्म-साक्षात्कारके लिए चेष्टा नहीं करते तो भी उन्हें मेरे प्रति केवलाभक्तिसे ही मेरी अतिशीघ्र प्राप्ति होगी—*'ये तु'* इत्यादि दो श्लोकों द्वारा भगवान् यही कह रहे हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं जो मेरे प्रति ऐकान्तिक भक्तिपरायण हैं, वे मुझे प्राप्त करनेके लिए स्वधर्मीय समस्त कर्मोंको मुझमें समर्पण करके अर्थात् नाना कारणोंसे भक्तिका विक्षेप अर्थात् बुद्धि-विपर्यय हो सकता है—इस कारण स्वधर्मीय समस्त कर्मोंका परित्याग करके मद्‌गतप्राण होते हैं अर्थात् मैं ही एकमात्र उनका परमपुरुषार्थस्वरूप हूँ—इस प्रकारसे बोध करके मद्भावापन्न होते हैं—अन्य किसी उपायका आश्रय न लेकर अनन्य भावसे अर्थात् केवल मेरे नामादि-श्रवण-लक्षण-योग-स्वरूप उपायके द्वारा साक्षात् भगवान् मुझ श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रवणादिके समयमें भी मुझमें मन निविष्ट कर लेते हैं अर्थात् मेरे प्रति अतिशय निविष्टचित्त हो जाते हैं। ऐसे मेरे प्रति आविष्टचित्त और मेरे प्रति अनुरक्तमनवाले उन भक्तोंका मैं ही मृत्युपूर्ण दुस्तर संसार-सागरसे विलम्ब किये बिना उद्धार कर देता हूँ। जो भक्त मेरी

प्राप्तिमें विलम्ब सहन नहीं कर पाते, मैं उन्हें गरुड़के स्कन्धपर आरोहण कराके अतिशीघ्र अपने धाममें ले आता हूँ। इस प्रकारसे अर्चिरादि पथकी अपेक्षा न रखनेपर भी उन्हें मेरे धामकी प्राप्ति हो, ऐसी व्यवस्था कर देता हूँ।

वराहपुराणमें श्रीभगवान्‌का यह कथन है—*'नयामि परमम्'* इत्यादि अर्थात् मैं अपने भक्तोंको अर्चिः इत्यादि पथके विना ही गरुड़के स्कन्धपर चढ़ाकर स्वेच्छापूर्वक अनिवारित गतिसे वैकुण्ठधाम ले आता हूँ। भगवत्-भक्ति नित्य-नैमेत्तिक क्रियाके बिना ही अभीष्ट-साधिका होती है—यह नारायणोपनिषदमें कहा गया हैं—यथा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंकी सिद्धिके विषयमें जो साधन-चतुष्टय अथवा उपाय (नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इहामुत्रार्थ—फल-भोग-विराग, शमादि-षट्-सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व) प्रदर्शित हुए हैं, उन साधनोंको सम्पन्न किये बिना ही श्रीनारायणके एकान्त आश्रयी मनुष्य उन चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त कर लेते हैं।

पद्मपुराणमें भी कहा गया है—

समस्त धर्मोंको छोड़कर केवल विष्णुका नाममात्र ही उच्चारण करनेवाले व्यक्ति अनायास ही जो गति प्राप्त करते हैं, उस गतिको धार्मिक लोग (सर्वधर्मपरायण) भी प्राप्त नहीं कर पाते।

इसी श्लोककी टीकापर सच्चिदानन्द श्रील भक्तिविनोदठाकुरने कहा है—

जो मेरे भगवत्-स्वरूपका अवलम्बन करनेवाले हैं जो अपने समस्त शारीरिक और सामाजिक कर्मोंको सम्पूर्णरूपेण मेरी भक्तिके अधीन करके स्वीकार करते हैं और मुझसे सम्बन्धित अनन्य भक्तियोग द्वारा मेरे नित्य श्रीविग्रहका ध्यान और उपासना करते हैं, मुझमें आविष्टचित्तवाले उन लोगोंका मैं अतिशीघ्र ही मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ अर्थात् बद्धावस्थामें मायिक संसारसे मुक्ति-दान करता हूँ एवं मायाबन्धनके नष्ट होनेपर अभेदबुद्धिरूप जीवात्माकी मृत्युसे रक्षा करता हूँ। अव्यक्त रूपमें आसक्तचित्त व्यक्तियोंकी अभेदबुद्धिजनित निःसहायता ही उनके अमङ्गलका कारण है। मेरी प्रतिज्ञा है कि *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'*—इसके द्वारा

यह ज्ञात होता है कि अव्यक्तका ध्यान करनेवाले पुरुष मेरे अव्यक्तस्वरूपमें लीन होते हैं। इसमें मेरी क्या क्षति है? अभेदवादी जीवोंके द्वारा इस प्रकारकी गति प्राप्त करनेसे उनका स्व-स्वरूपगत उपादेयत्व दूरीभूत (नष्ट) हो जाता है।

इस विषयमें श्रीगीताका (९/२२) श्लोक भी आलोच्य है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

अनास्थितं ते पितृभिरन्यैरप्यङ्ग कर्हिचित्।
आतिष्ट जगतां वन्द्यं तद्विष्णोः परमं पदम्॥

एतद्विमानप्रवरमुत्तमःश्लोकमोलिना ।
उपस्हापितमायुष्मन्नधिरोढुं त्वमर्हसि॥

(श्रीमद्भा॰ ४/१२/२६-२७)

अर्थात् हे प्रियवर ध्रुव! आपके पिता, पितामह अथवा कोई और तपस्वी कभी भी उस पदपर आसीन नहीं हुए हैं। यह विष्णुधाम सम्पूर्ण जगत्का वन्दनीय है। आइये, आप इस विमानपर आरोहण कीजिये और वहाँ चलकर उस परमपदपर विराजमान होइये। हे आयुष्मन्! उत्तमश्लोक-शिखामणि श्रीहरिने आपके लिए विमान भेजा है, आप कृपा करके इसपर बैठिये।

श्रीगोपालनिषदके मन्त्रोंकी सम्यक् व्याख्या इस प्रकारसे है—

एतद्विविष्णोंः परमं पदं ये,
नित्ययुक्ताः संयजन्ते न कामान्।
तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्
प्रकाशयेदात्मपदं तदैव॥

अर्थात् जो समस्त साधक इस यन्त्रमय अथवा पीठस्थित श्रीगोविन्दके परमपदकी सतत यत्नवान होकर सर्वतोभावसे यथाविधि आराधना करते हैं, निज भोगार्थ आराधना नहीं करते अर्थात् भक्तिसे इतर सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करते हैं, उन नित्य युक्त, उत्तम साधकोंके एकनिष्ठ भजनके फलस्वरूप गोपालरूपी अथवा गोपालवेशधारी परमेश्वर, परब्रह्म श्रीकृष्ण अव्यवहितकालमें ही यत्नपूर्वक वैकुण्ठधाम अथवा स्व-स्वरूप प्रत्यक्ष करा देते हैं।

ॐकारेणान्तरितं ये जपन्ति,
गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुम्।
तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं,
तस्मात् मुमुक्षुरभ्यसन्नित्यशान्त्यै॥

(गो॰ता॰पू॰ २५)

अब इसके बाद पञ्चपद-समन्वित अष्टादशाक्षर मन्त्रसे ही अन्य मन्त्रोंका उद्भव है (यही मन्त्र सकल मन्त्रोंका मूल है), इसे बतानेके अभिप्रायसे एवं प्रणव-पुटित अर्थात् पञ्चपद मन्त्रके आदि और अन्तमें (*ॐक्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा ॐ*) इस प्रकार प्रणवकी योजना करके जपका फल बतानेके अभिप्रायसे कहते हैं। जो साधक पञ्चपदात्मक मन्त्रको प्रणव द्वारा संपुटित करके गोविन्दका जप करते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें निजस्वरूप गोपालमूर्त्ति दिखा देते हैं। अतएव मुक्तिकामी व्यक्ति संसार-मुक्तिकी कामनासे, सांसारिक सर्वविध अनर्थ-निवृत्तिकी कामनासे, सर्वोपद्रवरहित नित्य शान्ति हेतु तथा नित्यानन्द-प्राप्त्यर्थ गोविन्द-मन्त्रका पुनः-पुनः निरन्तर जप करें। श्रीचैतन्यचरितामृतमें उल्लेख है—

कृष्णमन्त्र हैते हबे संसार-मोचन।
कृष्णनाम हैते पाबे कृष्णेर-चरण॥

(चै॰च॰आ॰ सप्तम परिच्छेद)॥ १६॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थ अध्यायके तृतीय पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



चतुर्थः पादः

मङ्गलाचरणम्

अकैतवे भक्तिसवेऽनुरज्यन्।
स्वमेव यः सेवकसात् करोति॥
ततोऽतिमोदं मुदितः स देवः।
सदा चिदानन्दतनुर्धिनोतु॥

अनुवाद—'*अकैतव भक्तिसवे*' इत्यादि 'अकैतवे'—श्रीकृष्ण-प्रीतिसे अतिरिक्त अन्य किसी भी फलकी कामनासे रहित, 'भक्तिसवे' ऐसी अपनी उपासनारूप भक्तियज्ञसे 'अनुरज्यन्'—सन्तुष्ट होकर 'यः'—जो श्रीभगवान् 'स्वमेव' अपनेको ही 'सेवकसात्' सेवकाधीन करते हैं अर्थात् सेवकके अधीन होते हैं तथा उन्हीं सेवकों द्वारा 'मुदितः' आनन्दित होकर 'तेषाम् अतिमोदम्' उन सेवकोंके आनन्दातिशयका 'तनोति' विस्तार करते हैं, 'चिदानन्दतनुः'—ऐसे विज्ञान सुखमूर्त्ति 'स देव'—वे सर्वाराध्य, द्योतमान, लीलापरायण श्रीहरि हमें सदा-सर्वदा 'धिनोतु' आनन्दित करें।

मङ्गलाचरण टीका—अथ पुरुषोत्तमसाक्षात्कारादिपुमर्थनिरूपकं चतुर्थं पादं व्याख्यातुं पुरुषोत्तमकर्त्तृक प्रीणनाशंस्यं मङ्गलमाचरत्यकैतव इति। योऽकैतवे फलान्तरेच्छाशून्ये भक्तिसवे स्वोपासनायज्ञेऽनुरज्यन् स्वमात्मानमेव सेवकसात् करोति भृत्याधीन एव भवतीत्यर्थः। तस्मै स्वात्मानं ददामीति श्रुतेः। *"यैः प्रसन्नः स्वभक्ताय ददात्यात्मानमप्यजः"* इत्यादि स्मृतेश्च। स्वमेवेति स्थानादिदानस्य का कथेत्याशयः। तैः सेवकैर्मुदितः सहर्षः सन् मोदं तेषां तनोति सोऽस्मान् सदा विनोतु प्रीणयतात्। देवः सर्वाराध्यः द्योतमानः क्रीडापरश्च। चिदानन्दतनुविज्ञानसुखमूर्त्तिः ईदृशः खलु शक्तिभूतह्लादिनीसम्वित्सारभक्तिरसगृध्नुतायुक्ते पद्येऽस्मिन्नुपास्यसाक्षात्कारो मिथो हर्षातिशयश्च वर्ण्यते।

मङ्गलाचरण टीकानुवाद—अब इसके बाद पुरुषोत्तम श्रीहरिके साक्षात्कारादि-रूप पुरुषार्थ-निरूपक चतुर्थ अध्यायके चतुर्थपादकी

व्याख्या करनेके लिए भाष्यकार भगवान् श्रीपुरुषोत्तम द्वारा प्रीति-जनन-रूप मङ्गल-आचरण *'अकैतव'* इत्यादि वाक्य द्वारा करते हैं। जो 'अकैतवमें' अर्थात् श्रीहरिप्रीतिसे अतिरिक्त अन्य किसी फलकी इच्छासे रहित 'भक्तिसवे' अर्थात् अपनी उपासनारूप भक्तियज्ञसे 'अनुरज्यन्'—अनुरक्त अर्थात् प्रसन्न होकर स्वमेव-स्वयंको ही *'सेवकसात् करोति'* अर्थात् अपने आपको ही दे डालते हैं। श्रुतिमें है—*'तस्मै आत्मानं ददाति'*—भगवान् उस भक्तके लिए अपने आपको ही दे डालते हैं। स्मृति-वाक्य भी है यथा *'यैः प्रसन्नः स्वभक्ताय ददात्यात्मानमप्यजः'* अर्थात् जिन भक्तोंसे प्रसन्न होकर नित्यपुरुष परमात्मा अपने भक्तोंको स्वकीय आत्मा अर्थात् अपने आपको भी प्रदान कर देते हैं। *'स्वमेव'* में 'एव' शब्द कैमुतिक-न्यायमें प्रयुक्त होनेके कारण यह विदीत होता है कि तब उत्तम स्थानादि (विष्णु-धामादि)—दानकी तो बात क्या कही जाय। वे समस्त सेवकों द्वारा 'मुदितः' अर्थात् हर्षित होकर *'मोदं तनोति'* उनके आनन्दका विधान करते हैं, ऐसे वे मुझपर भी सदा प्रसन्न रहें। और कैसे हैं वे? वे सबके आराध्य, द्योतनशील (प्रकाशकस्वभाव), लीलामय एवं चिदानन्दतनु (विज्ञान एवं आनन्दस्वरूप) हैं। इस प्रकारके श्रीहरिका इस श्लोकमें वर्णन हुआ है। साथ ही इसमें उनकी अपनी शक्तिस्वरूपा आह्लादिनीका और सम्वित्सार भक्तिरसके लोभित्वका परिचय है तथा उन उपास्य श्रीहरिके साक्षात्कार और सेव्य-सेवक दोनोंके परस्पर आनन्दातिशयका प्रकाश है।

अवतरणिका भाष्य—अस्मिन् पादे मुक्तानां स्वरूपनिरूपणपूर्वकमैश्वर्यभोगादि निरूप्यते। प्रजापतिवाक्ये श्रूयते—*"एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः"* (छा॰ ८/१२/३) इति। अत्र संशयः—किं देवादिरूपवत् साध्येन रूपेण सम्बन्धः स्वरूपाभिनिष्पत्तिरुत स्वाभाविकस्याविर्भाव इति। किं प्राप्तम्। साध्येन रूपेण सम्बन्ध इति। अभिनिष्पत्तिवचनात्। अन्यथा तद्वचनं व्यर्थं स्यान्मोक्षशास्त्रञ्च पुमर्थावबोधि न भवेत्। यदि स्वाभाविकरूप-सम्बन्धस्तन्निष्पत्तिरुच्यते स्वाभाविकस्य स्वरूपस्य प्रागपि सतः पुमर्थाप्रतीतिः। तस्मात् साध्येन रूपेण सम्बन्धः सेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इस चतुर्थपादमें मुक्त पुरुषोंके स्वरूपका निरूपण करते हुए ऐश्वर्य एवं भोग इत्यादिका भी निरूपण करते हैं।

प्रजापतिके एक वाक्यमें सुना जाता है कि *'एवमेवैष संप्रसादो'* इत्यादि अर्थात् यह भगवत्-प्रसाद ऐसा है कि संप्रसाद जीव मृत्युके बाद इस शरीरसे उत्क्रमण करके 'परज्योतिः' से सम्पन्न होकर अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति करते हुए अपने निज स्वरूपमें अभिनिष्पन्न होता है, वही उत्तम पुरुष है, इत्यादि। इस श्रौत विषयपर संशय होता है कि 'स्वरूपाभिनिष्पत्ति' शब्दका अर्थ है क्या? देवादिरूपकी भाँति साधन-लभ्य रूपमें सम्बन्ध? जीवकी स्व-स्वरूपमें अवस्थिति? अथवा उसके स्वाभाविक रूपका आविर्भाव? सिद्धान्ती जिज्ञासा करते हैं कि आप (पूर्वपक्षीय) क्या निर्धारित करते हैं? इसके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं—साधन-लभ्य (साध्य) रूपके साथ सम्बन्ध होना चाहिये क्योंकि अभिनिष्पत्तिकी बात कही गयी है। 'अभिनिष्पत्ति' का अर्थ है—सम्पन्न होकर। यदि यह अर्थ नहीं लेते हैं तो उसका उल्लेख व्यर्थ अथवा मिथ्या होता है। और यदि ऐसा होता है तो मोक्ष-शास्त्र भी पुरुषार्थ-बोधक नहीं होंगे अर्थात् मोक्ष-शास्त्रके पुरुषार्थ-बोधक ज्ञानका व्याघात होता है। यदि स्वाभाविक रूपकी प्राप्तिको अभिनिष्पत्ति कहा जाता है तो जीवका जो स्वाभाविक स्वरूप अब प्राप्त हुआ है, वह पहले भी विद्यमान था, तब उसकी अभिनिष्पत्ति पुरुषार्थ-साधनसे सम्पन्न हुई है—ऐसा प्रतीत नहीं हो सकता। अतएव हमने जो यह कहा है कि साध्यरूपके साथ सम्बन्ध—अभिनिष्पत्ति शब्दका यही अर्थ है और यही सङ्गत है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर इसके उत्तरमें कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—द्वाविंशतिसूत्रकमेकादशाधिकरणकं चतुर्थं पादं व्याख्यातुमारभते। अस्मिन्नित्यादि। इह फलनिरूपणादध्यायपादसङ्गतिर्विस्फुटा। पूर्वत्र मुक्तस्य साध्येन पार्षदविग्रहेण सम्बन्धो दर्शितस्तद्वत् साध्येन गुणाष्टकवता स्वरूपेण सोऽस्तु स्वाभाविकत्वात् पूर्वतो विशेषासिद्धेरुपायवैयर्थ्यादितश्चेति पूर्ववत् सङ्गतिः। एवमेवैष इति। अत्र मुखं प्रकाश्य हसतीतिवत्तदुपसंपत्तितदभिनिष्पत्त्योरेककालत्वमित्येके। चटादिति कृत्वा दण्डो न्यपतदितिवत्तदभिनिष्पत्तिपूर्वा तदुपसम्पत्तिरित्यपरे।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—बाईस सूत्र एवं ग्यारह अधिकरण युक्त इस चतुर्थपादके व्याख्यानके लिए *'अस्मिन् पादे'* इत्यादि आरम्भ करते हैं। इस पादमें फल-निरूपण हेतु अध्याय एवं पादकी सङ्गति

सुस्पष्ट है। पूर्व अधिकरणमें मुक्त पुरुषका साध्य-पार्षद-विग्रहके सहित सम्बन्ध है, यह दिग्दर्शित किया गया था। इसी प्रकार साधनीय अष्टविध-गुण-विशिष्टस्वरूपके सहित उस मुक्त पुरुषका सम्बन्ध होना चाहिये क्योंकि वह उसका स्वाभाविक स्वरूप है और क्योंकि पूर्व उपायसे गुणाष्टक-वैशिष्ट्य रूप विशेषकी असिद्धिके कारण उपायकी व्यर्थता इत्यादि दोष आ पड़ते हैं, इसलिए। इस प्रकार इस अधिकरणमें पूर्वके समान दृष्टान्त सङ्गति जाननी चाहिये। *'एवमेवैष'* इत्यादि श्रुतिमें जो *'ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'* इसका अर्थ है—*'उपसम्पत्ति एवं अभिनिष्पत्ति'*—इन दोनों क्रियाओंका 'मुख खोलकर हँसता है' कहनेसे जिस प्रकार मुख खोलना एवं हँसना—दोनों क्रियाओंका समकालीनत्व ज्ञात होता है, उसी प्रकार यहाँ भी समकालीनत्व जानना चाहिये—ऐसा कोई-कोई कहते हैं। कुछ दूसरे कहते हैं कि जिस प्रकार 'चटात्' शब्द करके 'लाठी गिर पड़ी' कहनेपर पहले गिरना और बादमें शब्द-क्रियाका होना जाना जाता है, उसी प्रकार तद्रूपमें अभिनिष्पत्तिके पहले तद्रूपमें उपसम्पत्ति है।

सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्

सूत्र—सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्॥ १॥

सूत्रार्थ—'सम्पद्याविर्भावः' अभिनिष्पत्ति शब्दका अर्थ है—सम्प्रसाद, जीवके स्वरूपका आविर्भाव, क्योंकि 'शब्दात्' इस श्रुतिमें 'स्वेन' यह शब्द स्वकीय अर्थमें 'रूप' के विशेषण रूपमें प्रदत्त हुआ है॥ १॥

सूत्रानुवाद—सम्प्रसाद जीव शरीरसे निर्गत होकर परज्योतिःसे सम्पन्न होकर निज-स्वरूपमें अवस्थान करता है—अभिनिष्पत्ति वाक्यसे यही ज्ञात होता है॥ १॥

गोविन्दभाष्य—ज्ञानवैराग्यनिषेवितया भक्त्या परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य जीवस्येह कर्मबन्धविनिर्मुक्तगुणाष्टकविशिष्टस्वरूपोदयलक्षणोऽवस्थानविशेषः स्वरूपाविर्भावः कथ्यते। कुतः? स्वेनशब्दात्। स्वेनेति। स्वरूपविशेषणादित्यर्थः। आगन्तुकरूपपरिग्रहेऽनर्थकं तत् स्यात्। असत्यपि तस्मिन् तस्य स्वकीयरूपत्वसिद्धेः। न चाभिनिष्पत्तिवचनं व्यर्थम्। इदमेकं सुनिष्पन्नमित्यादिष्वाविर्भावेऽपि तच्छब्दवीक्षणात्। न च तस्य पूर्वं सतः पुमर्थत्वं न प्रतीतं तादृगवस्थायाः पूर्वमनुदयात्। न चात्रोपायवैयर्थ्यं तदुदयार्थत्वेन

सार्थक्यात्। यत्तु स्वप्रकाशचिन्मात्रस्यात्मनः परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य निवृत्तनिखिलप्रकृत्यध्यासदुःखतयावस्थितिस्तनिष्पत्तिरित्याहुस्तन्न *'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'* (तै॰ २/६) इति मुक्तावानन्दातिशयश्रवणात्॥ १॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ज्ञान और वैराग्यके साथ अनुष्ठित भक्ति द्वारा जीव मृत्युके बाद परज्योतिःको (परब्रह्मको) प्राप्त करता है, तब उसका इस लोकमें कर्म-बन्धनसे मुक्तित्व और गुणाष्टक विशिष्टस्वरूपका उदयरूप जो अवस्थान है, वही स्वरूपाभिर्वाव कहा जाता है। किस प्रमाणसे? उत्तर है—*'स्वेनस्वरूपेणाभिनिष्पद्यते'* (छा॰ ८/१२/३) इस श्रुतिमें *'स्वेन'* पद रहनेके कारण अर्थात् स्वरूपांशमें *'स्वेन'* पद विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होनेके कारण। यदि *'स्वेन'* पद स्वाभाविक रूपमें स्वीकार न होकर आगन्तुक रूपमें ग्रहण होता तो यह निरर्थक होता। यह *'स्वेन'* पद आगन्तुक रूपमें नहीं आया है, इसलिए उसकी स्वकीय-रूपवत्ता अथवा स्वकीयपरता सिद्ध ही है। यदि कहो, तब *'अभिनिष्पद्यते'* पद द्वारा अभिनिष्पत्ति अर्थात् सम्पन्नता—यह उक्ति व्यर्थ होती है, तो ऐसा भी नहीं है। जिस प्रकार लौकिक प्रयोगमें *'इदमेकं सुनिष्पन्नम्'* अर्थात् 'यह एक वस्तु सुनिष्पन्न हुई है' कहनेसे 'निष्पत्ति' शब्दको 'आविर्भाव' अर्थमें प्रयुक्त देखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी निष्पत्ति (उत्पत्ति) शब्दका प्रयोग आविर्भाव अर्थमें है। इसपर भी यदि कहते हो कि ऐसा है तो पहलेसे ही विद्यमान उस स्वरूपका पुरुषार्थत्व (जीव-काम्यफलत्व) प्रतीत नहीं होता तो इसका उत्तर यह है कि चाहे वह स्वरूप पहले भी रहा हो किन्तु उस समय वह स्वरूपावस्था अनुदित थी (उदित नहीं थी), आविर्भूत नहीं थी। तात्पर्य यह है कि स्वरूप पहले प्राप्त था, इसलिए स्वरूप-प्राप्ति पुरुषार्थ नहीं है, यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उस प्रकारकी अवस्थाके पहले स्वरूपका उदय नहीं था। और फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसके लिए उपायका (साधनका) अनुष्ठान क्यों, साधन तो व्यर्थ ही रहा न। तो उत्तर यह है कि आवरणांशका मोचन करके उस अनुदित स्वरूपावस्थाके आविर्भावके लिए उपायकी सार्थकता है। अच्छा! फिर जो पातञ्जल दर्शनमें महर्षि कहते हैं कि जिस समय स्वप्रकाश चिन्मात्रस्वरूप आत्मा परज्योतिःमें उपसम्पन्न

होती है (स्वभाव-प्राप्त होती है), उस समय निखिल प्राकृतिक-धर्म जनित अध्यासरूप दुःखकी निवृत्ति होनेसे उस रूपमें जो अवस्थिति है, वही स्वरूपमें निष्पत्ति कही जाती है, तो महर्षि पतञ्जलिका यह कहना सङ्गत नहीं है, क्योंकि मात्र अध्यस्त प्राकृतिक दुःखोंकी निवृत्ति ही स्वरूप-निष्पत्ति नहीं है, अपितु उसके साथ आनन्दातिशयकी प्राप्ति स्वरूप-निष्पत्ति है। श्रुति है—*'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'* अर्थात् 'मुक्त पुरुष आनन्दमयको प्राप्त करके आनन्दातिशयको प्राप्त करते हैं', इस प्रकार श्रुतिमें मुक्तिकालमें आनन्दातिशय अवगत होता है॥ १ ॥

सूक्ष्मा-टीका—सम्पद्येति। आगन्तुकेति। तद्विशेषणम्। तस्मिन् विशेषणे। न चेति भाष्ये। तस्य स्वाभाविकस्य स्वरूपस्य। पातञ्जलमतं निरस्यति यत्त्विति॥ १ ॥

सूक्ष्मा-सार—*'सम्पद्याविर्भावः'* इत्यादि सूत्रमें *'आगन्तुकरूपपरिग्रहेत्यादि'* भाष्यमें *'अनर्थकं तत् स्यादिति'* में 'तत्' अर्थात् 'स्वेन' यह विशेषण है। *'असत्यापि तस्मिन्'* इति' में 'तस्मिन्' का अर्थ है—उसी विशेषणमें। *'न च तस्य पूर्वं सत'* इतिमें 'तस्य' का अर्थ है—स्वाभाविक स्वरूपका। *'यत्तु स्वप्रकाशेत्यादि'* ग्रन्थ द्वारा पातञ्जल मतका खण्डन करते हैं॥ १ ॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रत्येक पादके समान प्रस्तुत पादमें भी श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुवरने अपने भाष्यारम्भमें सर्वप्रथम मङ्गलाचरण किया है। इसमें उन्होंने प्रार्थना की है कि अन्यकी कामनारहित (फलाभिसन्धिरहित), अकैतव, ऐसी अपने प्रति भक्तिसे प्रसन्न होकर जो श्रीकृष्ण स्वयंको भक्तोंके अधीन कर देते हैं, इतना ही नहीं, अपने आपको भी दान करके भक्तोंका आनन्द विधान करते हैं ऐसे आराध्यदेव, द्योतमान और लीलापरायण चिदानन्दमय विग्रह श्रीहरि हमारा भी प्रीति-विधान करें अर्थात् हमपर भी प्रसन्न हों।

इस पादमें बाईस सूत्र एवं ग्यारह अधिकरणोंमें मुक्त पुरुषोंके स्वरूपका निर्णय करते हुए उनके ऐश्वर्यादि भोगके विषयका निरूपण किया गया है।

प्रजापति वाक्यमें देखा जाता है कि जीव देह-त्यागके बाद उत्क्रान्त होनेपर भगवत्-प्रसादसे परज्योतिःको प्राप्त होकर निज

स्वरूपमें अभिनिष्पन्न होता है। इसमें संशय यह है कि यह स्वरूपाभिनिष्पत्ति क्या देवादिरूपके समान साध्य-रूपान्तरके साथ सम्बन्ध है? अथवा यह जीवकी स्वरूप-प्राप्ति है? अथवा यह स्वाभाविक स्वरूपका आविर्भाव है? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि निष्पत्ति शब्दका अर्थ है—सम्पन्न होकर। अतएव जब अभिनिष्पत्ति शब्द पाया जाता है, तब साध्यरूपके साथ सम्बन्ध होना ही कहा जायेगा अन्यथा यह वचन व्यर्थ होता है और मोक्ष-शास्त्र भी पुरुषार्थ-बोधक नहीं रहता है। यदि स्वाभाविक रूपके आविर्भावको अभिनिष्पत्ति कहा जाता है, तो वह तो पहले भी था—इसलिए उसकी प्राप्तिमें कोई पुरुषार्थ प्रतीत होता नहीं है। पूर्वपक्षवादीके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार-प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि अभिनिष्पत्ति शब्दका अर्थ 'जीवके अपने स्वरूपका आविर्भाव' ही कहा जायेगा, क्योंकि इस श्रुतिमें 'स्वेन' शब्द रहनेके कारण इसका अर्थ स्वकीय रूप ही बोध होता है।

इस विषयमें विस्तारपूर्वक आलोचना भाष्य और टीकामें देखनी चाहिये।

छान्दोग्य (८/१२/३) में है—*'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्यस्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः इति।'*

अर्थात् इस प्रकारसे इस जीवपर ईश्वरानुग्रह यह है वह जीव इस शरीरसे उठकर परब्रह्मको प्राप्त होनेके कारण अपने स्वरूपमें अभिनिष्पन्न होता है।

इस स्थलपर श्रौत-वाक्यमें स्पष्ट ही देखा जाता है कि परब्रह्मको प्राप्त होकर जीवका जो रूप प्रकाशित होता है, वह कोई आगन्तुक रूप नहीं है। 'स्वेन' शब्दके द्वारा यहाँ स्वीय (अपना) अर्थात् जीवके स्वकीय स्वरूपके आविर्भावको ही लक्ष्य किया गया है।

श्रीमद्भागवत (२/१०/६) में द्रष्टव्य है—

निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥

अर्थात् जब श्रीहरि योगनिद्रा स्वीकार करके शयन करते हैं, तब जीवोंका उपाधियोंके साथ जो शयन (महाप्रलयके समय परमेश्वरमें

लय) है, उसीका नाम निरोध है। मायिक स्थूल एवं सूक्ष्म रूप दोनों पदोंका परित्याग करके निज-स्वरूपमें अर्थात् शुद्ध जीव-रूपमें और किसी-किसीका भगवत्-पार्षद रूपमें विशुद्ध भावसे अवस्थानका नाम 'मुक्ति' है।

श्रीधरस्वामी द्वारा उद्धृत सर्वज्ञ भाष्यकार-वाक्यमें भी पाया जाता है—*'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते।'* (श्रीमद्भा॰ १०/८७/२१) अर्थात् मुक्तपुरुष भी स्वेच्छापूर्वक अपने अप्राकृत शरीरसे भगवान्‌की निरन्तर सेवा करते हैं।

तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/७/३६)

अर्थात् उस समय वे सारे भव-बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं। उनके मन और शरीर भगवान्‌की लीलाओंका ध्यान करते-करते अप्राकृत सुच्चदानन्दमयताको प्राप्त हो जाते हैं। भक्तिकी अतिशयताके कारण उनके अविद्या आदि अज्ञान और जागतिक वासनाएँ सम्पूर्ण रूपसे दग्ध हो जाती हैं। और वे मुक्त जीव भली-भाँति भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं।

श्रीरामानुज-भाष्यका सार है—

यह जीवात्मा अर्चिरादि पथसे परज्योतिःको प्राप्त करके जिस अवस्था-विशेषमें उपनीत होता है, वह स्व-स्वरूपाविर्भावरूप ही है, किसी अपूर्व अभिनव आकार विशेषकी उत्पत्ति नहीं है—'स्वेन' शब्दसे यही प्राप्त होता है। 'स्वेन रूपेण' कहनेसे 'रूप' शब्दके विशेषण रूपमें 'स्व' शब्दका प्रयोग हुआ है, अतएव वह इसी हमारे मतके अर्थका ही ग्राहक है। आगन्तुक रूप-विशेषका परिग्रह मान लेनेपर 'स्वेन' विशेषण अनर्थक हो जायेगा। यदि इस प्रकार इसे विशेषणका प्रयोग न कहें तो भी उसकी स्वकीयरूपताकी सिद्धि है ही।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

जीवोऽर्चिरादिकेन मार्गेण परं सम्पद्य स्वाभाविकेन रूपेणाविर्भवतीति 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति वाक्येन प्रतिपाद्यते, स्वेनेति शब्दात्।

अर्थात् जीव अर्चिरादि मार्गके द्वारा जब 'परम्' से सम्पन्न होता है, तब उसके स्वाभाविक स्वरूपका आविर्भाव होता है (परमात्माके धाममें अपने स्वाभाविक रूपमें प्रकट होता है) जैसा कि कहा गया है 'परं ज्योतिको प्राप्त जीवके निज स्वभाविक रूपकी अभिनिष्पत्ति होती है।' यहाँ 'स्वेन' शब्दसे अर्थात् 'स्वाभाविक रूपसे' ऐसा विशेषण किया गया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

भक्ति-बले प्राप्तस्वरूप दिव्यदेह पाय।
कृष्णगुणाकृष्ट हञा भजे कृष्ण पाय॥
(चै॰च॰म॰ २४/१२९)

भक्तिके बलपर अपने स्वाभाविक स्वरूपको प्राप्त जीव दिव्य देहको प्राप्त करता है और भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंसे आकृष्ट होकर उन श्रीकृष्णके चरणारविन्दका भजन करता है।

इस प्रसङ्गमें श्रीचैतन्यचरितामृतके मध्यलीलाके चौबीसवें परिच्छेदमें वर्णित श्रीसनातन गोस्वामी प्रभुकी प्रार्थनापर *'आत्मारामश्च मुनयः'* (श्रीमद्भा॰ १/७/१०) श्लोककी ६१ (इकसठ) प्रकारकी व्याख्या श्रीमन्महाप्रभुने अपने मुखारविन्दसे की थी, जिसे देखना चाहिये॥ १॥

अवतरणिका भाष्य—ननु परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य मुक्तिः कस्मादवगम्यते तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—प्रश्न है कि परज्योतिः प्राप्त जीवकी जो मुक्ति होती है, उसे प्रजापतिके वाक्यसे किस प्रकार जाना जा सकता है? इसपर कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। मुक्तिर्मुक्तता। कस्मादिति प्रजापति-वाक्यादित्यर्थः। तद्विद्यायामाख्यायिकास्ति। इन्द्रविरोचनौ सुरासुरमुख्यावपहतपाप्मात्वादि-गुणकमात्मानं प्रजापतिनोक्तं विविदिषु तमुपजग्मतुः। तत्र द्वात्रिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः। स तावुवाचः किंकामाविह स्थो युवामिति। तावूचतुः? य आत्मापहतपाप्मा तमावां

विविदिषु इति। तौ प्रथमं स उवाच। *"य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते स एष आत्मेत्यादि"* (छा॰ ८/७/४) जागरे योऽक्षिस्थः सन् वीक्ष्यते सोऽमृतत्वा-भयत्वरूपब्रह्मधर्मक आत्मेति तदर्थः। एतन्निशम्य तावक्षिस्थं छायापुरुषमात्मत्वेन विदित्वा पुनस्तं पप्रच्छतुः। अथ योऽयं भगवन्नप् स्वादर्शे खड्गादौ दृश्यते कतम एष्वसावथवैक एव सर्वेषु तेष्विति। अनेन प्रश्नेन तयोर्भ्रान्तिं ज्ञात्वा यद्यहं भ्रान्तौ युवामिति ब्रूयां तर्ह्येतौ दौर्मनस्येन तत्त्वं न गृह्णीयातामिति तदाशयानुरोधेन तौ प्रत्युवाच। उदशरावे आत्मानमीक्षेथां तत्र यद्दृश्यते तन्मां प्रति ब्रूतमिति। तौ दृष्ट्वा सन्तुष्टहृदयौ नाब्रूताम्। एतौ विपरीतग्राहिणौ माभूतामितिभावेन स तौ पप्रच्छ किमत्रापश्यतमिति। तावूचतुर्नखलोमादिमन्तं प्रतिबिम्बपुरुषमुदशरावे पश्याव इति। जनिविनाशवत्त्वात् यथा शरीरं नात्मैवं छायापुरुषोऽपीति तौ जानीयातामिति भावेन स उवाच। साधवलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वा पुनरुदशरावे पश्यतमात्मानमिति। तौ तादृशौ भूत्वा तथैव चक्रतुः। तच्छ्रुत्वा बताहो नानयोरद्यापि भ्रान्तिर्विनष्टेति मत्वाथैनयोस्तत्त्वं कथयामि तेनैतौ प्रनष्टकल्मषौ मद्वाक्यसन्दर्भतात्पर्यमवग्राह्यात्मयाथात्म्यं स्वयमेव प्रतिपत्स्येते तदुवाच। एष आत्मेति होवाचेत्यादिना। तयोर्विरोचन आसुरप्रकृतित्वाच्छायात्मानं विज्ञाय स्वगृहमागत्य तथैवासुरानुपदिश्य स्थितः, मघवा तु गृहमागच्छन् दैवप्रकृतित्वात् पथ्येव छायात्मनोऽनित्यतादिदोषान् विभाव्य पुनः समित्पाणिः प्रजापतिमुपगम्य तेन पृष्टः पथि विभावितमुवाच। स तु कल्मषक्षयाय पुनस्त्वं द्वात्रिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चर तेन संक्षीणकल्मषाय तुभ्यं तमात्मानं भूयोऽनुव्याख्यास्यामीत्युवाच। अथ चरितब्रह्मचर्यायोपसन्नाय तस्मै व्याचष्ट *"य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति एष आत्मेत्यादि"* (छा॰ ८/१०/१) प्रथमे पर्याये योऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते स एष स्वप्ने वासनामयैर्वनितादिभिर्महीयमानःसेव्यमानो विविधान् भोगान् भुञ्जानः क्रीडति अमृतत्वादिधर्मा स आत्मेति तदर्थः। तच्छ्रुत्वा शोकभयादिविविधक्लेशानुभवात् स्वप्ने किञ्चिन्नास्तीति स उवाच। एवमुक्तवति तस्मिन्नाद्यापि क्षीणकल्मषोऽसि पुनर्द्वात्रिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरेत्युवाच सः। अथ तच्चरित्वोपसन्नाय तस्मै स व्याचष्ट। *"तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेत्यादि"* (छा॰ ८/१०/१) योऽयं प्रथमद्वितीययोः पर्याययोरक्षिणि स्वप्ने चात्मा दर्शितः स एष सुषुप्तःप्रकाशते। यत्र यस्यामेतत् स्वप्नं यथा स्यात् तथा सुप्तः समस्तस्तस्यामुपसंहतेन्द्रियग्रामस्तद्व्यापारजनितकालुष्यहीनस्तस्याः साक्षी सन्नमृतत्वादिधर्मा स आत्मेति तदर्थः। एतन्निशम्य न किञ्चित्तस्यां विज्ञायत इति स उवाच। *"नाह खल्वयमेवं प्रत्यगात्मानं जानात्यमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवतीति।"* (छा॰ ८/११/२) अहेति निपातः खेदवाची। खिद्यमानो मघवोवाचेत्यर्थः। अयं सुप्तपुरुषोऽयमऽमस्मीत्यात्मानं तस्यां न जानाति इमानि भूतानि च नो एव नैव जानाति। विनाशमिवापीतः प्राप्तो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति तदर्थः। एवं दोषान् वीक्ष्य पुनरुपसन्नं तं प्रति स उवाच। वताद्यापि

कल्मषक्षयो नाभूत्तदर्थं पुनः पञ्चवर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरेति। तदेवमेकोत्तरशतवर्ष-ब्रह्मचर्यानुष्टानेन विनष्टकल्मषाय तस्मै स व्याचष्ट। योऽयं त्रिषु पर्यायेषक्षिणि स्वप्ने सुषुप्तौ चानुगतोऽपहतपाप्मात्वादिगुणवानात्मा दर्शितस्तमेव भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। नैतस्मादन्यमित्युपक्रम्य तुरीये पर्याये मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमित्यादिना देहं विनिन्द्य तस्मादुत्थितं जीवमुपसम्पन्नपरज्योतिषमभिव्यक्तगुणाष्टकं दर्शयामास एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थायेत्यादिना। परं ज्योतिस्तु पुरुषोत्तम एवेति तत्रैव विस्फुटम्। तस्मात् कर्मतत्सम्बन्धजनितदेहादिविनिर्मुक्तस्योपसंपन्नपरज्योतिषो जीवस्य गुणाष्टकवैशिष्ट्येनावस्थितिरिह स्वरूपाभिनिष्पत्तिः सैव विमुक्तिरिति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'ननु'* इत्यादि भाष्यमें—मुक्ति—मुक्तता अर्थात् पुनर्देहपरिग्रहसे अव्याहति। कस्मादिति—अर्थात् प्रजापति वाक्यसे। ब्रह्मविद्या-विषयमें छान्दोग्योपनिषदमें एक आख्यायिका है—यथा देवराज इन्द्र और असुरराज विरोचन (प्रह्लादके पुत्र) ये दोनों प्रजापति द्वारा वर्णित अपहतपाप्मत्व इत्यादि अष्टगुणोंसे समन्वित आत्माके स्वरूपको जाननेकी इच्छासे ब्रह्माजीके समीप उपस्थित हुए। उनके पास ही उन दोनोंने बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए निवास किया। तब प्रजापतिने उनसे पूछा कि क्या कामना लेकर तुम दोनों जन यहाँ आये हो। उन्होंने उत्तर दिया, 'आपने जो अपहतपाप्मत्व आत्माके विषयमें बतलाया है, हम उसी आत्माको जानना चाहते हैं।' प्रजापतिने सर्वप्रथम उन्हें उपदेश दिया कि *'य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते स एव आत्मा'* (छा॰ ८/७/४) अर्थात् जाग्रत दशामें जो चक्षुके मध्य स्थित होकर दृष्ट होता है, वह अमृतत्व, अभयत्वादिरूप ब्रह्मधर्म विशिष्ट (युक्त) आत्मा है। यह सुनकर उन्होंने अक्षि-स्थित छाया-पुरुषको आत्मरूपमें ज्ञात करके पुनः उन प्रजापतिसे (ब्रह्मासे) जिज्ञासा की कि भगवन्! यह जो जलमें, दर्पणमें और खड्गादिमें प्रतिबिम्ब दिखायी देता है—इन सबमें यह आत्मा कौन-सा है? अथवा उक्त इन सबमें एक ही आत्मा है? यह प्रश्न सुननेपर प्रजापतिने सोचा, इन्हें भ्रान्ति हो रही है। इस समय यदि मैं इनसे कहता हूँ कि तुम दोनों भ्रान्त हो रहे हो, तब तो ये दोनों दुर्मनस्वके कारण फिर तत्त्वको अर्थात् आत्मस्वरूपको नहीं जानेंगे, इस अभिप्रायसे प्रत्युत्तरमें उनसे कहा, जलसे पूर्ण एक शकोरेमें आत्माके प्रतिबिम्बको देखो, इसमें जो देखोगे, वह मुझे बताना। यह देखकर

उनका चित्त सन्तुष्ट हो गया, तब उन्होंने और कुछ जिज्ञासा नहीं की। अब प्रजापतिने विचार किया ये विपरीत (उल्टा) ही समझ रहे हैं, कहीं ये विपरीतग्राही न हो जाएँ, इस अभिप्रायसे उन्होंने इन्द्र एवं विरोचनसे पूछा, इस जलके शकोरेमें तुम दोनोंने क्या देखा? तो उन्होंने उत्तर दिया—हम इसमें नख-लोम-कर-चरणादि विशिष्ट अपने प्रतिबिम्ब पुरुषको (पुरुषके प्रतिरूपको) देख रहे हैं। प्रजापतिने विचार किया, उत्पत्ति एवं विनाश होनेके कारण जिस प्रकार देह आत्मा नहीं है, इस प्रकारसे यह छाया पुरुष भी उत्पत्ति एवं विनाशके कारण आत्मा नहीं है—ये लोग यही समझेंगे। इस विचारके बाद उन्होंने कहा—तुम लोग उत्तम अलङ्कारोंसे विभूषित होकर सुन्दर वस्त्र पहनकर परिष्कृत विग्रहसे पुनः जलके शकोरेमें आत्माका दर्शन करो। उन्होंने तदनुसार सुसज्जित होकर ऐसा ही किया अर्थात् जलपूर्ण शकोरेमें आत्मदर्शन किया। उन दोनोंने ऐसा करनेसे यही समझा कि जिस प्रकार हम उत्तम परिधान एवं अलङ्कारादिसे विशिष्ट एवं परिष्कृत हैं, उसी प्रकार यह छायात्मा भी है। जब प्रजापतिने यह सुना, तब वह विचार करने लगे कि हाय! आश्चर्य है! अब भी इनका भ्रम दूर नहीं हुआ है। इस प्रकार अब उन्हें यथाभिमत आत्मतत्त्वका उपदेश करूँगा—इससे ये (*'य आत्मापहतपाप्मा'* इत्यादि श्रुतिमें आत्माका लक्षण सुननेसे, अक्षिपुरुष सम्बन्धिनी श्रुतिसे और जलपूर्ण शकोरेकी युक्तिसे) पापहीन होकर मेरे वचन-प्रपञ्चके तात्पर्यसे अवगत हो जायेंगे तथा स्वयं ही उसमें प्रविष्ट होकर अपनी आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझेंगे। यह सब विचार करके आत्मतत्त्वका वही पूर्ववत् उपदेश *'एष आत्मेति होवाच'* इत्यादि वचनों द्वारा दिया। इसके बाद उन दोनोंमेंसे विरोचनने आसुर-प्रकृति-युक्त होनेके कारण छाया-पुरुषको ही आत्मा मान लिया और अपने घर जानेके बाद असुरोंको उसी प्रकारका उपदेश देते हुए अपने घरपर ही रहा। (उसका उपदेश था कि आत्मा [देह] ही पूजनीय एवं सेवनीय है। रमणी पूजा एवं परिचर्या करनेवाला पुरुष इहलोक एवं परलोक दोनोंको प्राप्त कर लेता है—इसीसे इस लोकमें जो दान न देनेवाला, श्रद्धा न करनेवाला, और यजन न करनेवाला पुरुष होता है, उसे

शिष्टजन आसुरी [असुरके स्वभाववाला] कहते हैं और मानते हैं कि यह उपनिषद असुरोंका ही है। ये ही लोग मृतकको गन्ध, पुष्प, अन्नादि, भिक्षा, वस्त्र एवं अलङ्कारसे सुसज्जित करते हैं और मानते हैं कि इस सबके संस्कारसे हम मरकर प्राप्तव्य परलोकको प्राप्त कर लेंगे।)

और उधर देवराज इन्द्रने घर लौटते समय पथमें दैवप्रकृतिवशतः (दैवात्) छायात्माके (प्रतिबिम्ब पुरुषके) अनित्यता, उत्पत्ति, विनाश इत्यादि दोष देखे और पुनः समिध् हाथमें लेकर प्रजापतिके समीप गये (ज्ञातव्य है कि अक्षिपुरुषका समान रूपसे श्रवण करनेपर भी इन्द्रने देहकी छायाको आत्म रूपमें ग्रहण किया और विरोचनने स्वयं देहको ही)। प्रजापतिने उनसे पुनरागमनका कारण पूछा तब देवराज इन्द्रने पथमें विभावित (अन्तःस्फूर्त) वृत्तान्तका उनके निकट निवेदन कर दिया। इसपर प्रजापतिने इन्द्रसे कहा, 'तुम पाप-क्षयके लिए पुनः बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मचर्यका पालन करो, इससे जब तुम्हारे पाप क्षीण हो जायेंगे, तब मैं तुम्हारे निकट इस आत्मतत्त्वको और भी स्पष्ट रूपसे कहूँगा।' तत्पश्चात् इन्द्रने पुनः बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मचर्यका पालन किया और बड़ी श्रद्धाके साथ प्रजापतिके समीप उपस्थित हुए। तब उन्होंने इन्द्रको उपदेश दिया—*'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति एष आत्मेति'* अर्थात् जो यह स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरता है, यह आत्मा है, अर्थात् प्रथम पर्यायमें चक्षुमें जो प्रतिबिम्ब पुरुष दिखायी देता है, वही यह आत्मा निद्रावस्थामें, स्वप्नमें, संस्कार रूपमें उदित वनिता (स्त्री) इत्यादि द्वारा सेवित होकर नाना प्रकारसे भोग्य वस्तुओंका भोग करते हुए विहार करता है, वही अमृतत्व, अभयत्वादि धर्मसे युक्त है, वही यह आत्मा है। यह सुनकर देवराज इन्द्रने कहा, स्वप्नमें शोक, भय इत्यादि क्लेशोंके अनुभवके कारण अमृतादि सुखमय कोई भी तत्त्व वहाँ नहीं है। अतः स्वप्न-शरीरको आत्मा माननेसे उसे इच्छित फल प्राप्त नहीं होता। देवराजके इस प्रकारसे कहनेके बाद प्रजापतिने कहा 'देवराज! अभी भी तुम्हारे पापोंका क्षय नहीं हुआ है, अतः फिरसे बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करो।' इन्द्रने पुनः उसी प्रकारसे ब्रह्मचर्यव्रतका आचरण

किया और पुनः प्रजापतिके निकट उपस्थित हुए। प्रजापतिने उनसे कहा, *'तद् यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेत्यादि'* अर्थात् यह जो प्रथम एवं द्वितीय पर्यायमें यथाक्रमसे जाग्रत दशामें अक्षिपुरुष एवं स्वप्न-दशामें स्वाप्निक आत्मा दिखाये गये हैं अर्थात् उपदिष्ट हुए हैं, वह आत्मा ही सुषुप्तिकालमें सुषुप्त होकर प्रकाश प्राप्त करता है। यत्र—जिस सुषुप्तिमें, एतत्—इस स्वप्नके समान तत्त्व प्रकाशित होता है, उसी प्रकारसे सुषुप्त अर्थात् उस सुषुप्तिमें इन्द्रियाँ निष्क्रिय होती हैं और इन्द्रिय-व्यापारके कारण सुख-दुःखादि विकार नहीं रहते, ऐसी सुषुप्ति दशामें साक्षी, द्रष्टा, अमृतत्वादि धर्मोंसे जो युक्त है, वही आत्मा है। यह सुनकर देवराजने कहा, *'नाह खल्वयमेवंसम्प्रत्यात्मनं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति'* अर्थात् अह! हाय! हाय! (यह एक खेदसूचक निपात है) अर्थात् खेद करते हुए इन्द्रने कहा, अयं—यह सुषुप्तिकालीन पुरुष, यह मैं ही वह हूँ इस प्रकारसे उस समय आत्माको नहीं देखता और इस अवस्थामें उन समस्त पदार्थोंको कुछ भी नहीं जानता, क्योंकि यह विनाशको ही प्राप्त होता है—विनष्ट-सा हो जाता है। मैं इस सुषुप्तिमें कुछ भी भोग्य नहीं देख पाता हूँ अर्थात् मुझे कोई अभीष्ट फल दिखायी नहीं देता। देवराज इस प्रकारसे सुषुप्तिमें दोषोंको देखकर पुनः ब्रह्माजीके निकट उपस्थित हुए। प्रजापतिने इन्द्रसे कहा, हाय! अब भी तुम्हारे पापोंका क्षय नहीं हुआ। अतएव पापक्षयके लिए पुनः पाँच वर्ष ब्रह्मचर्य-वास करो। इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यानुष्ठानके बाद पापक्षय होनेपर उन देवराजसे प्रजापतिने कहा, वर्णित तीन पर्यायोंमें (जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति दशाओंमें) अक्षिपुरुषमें, स्वाप्नपुरुषमें और सुषुप्तपुरुषमें यह जो अनुगमनकारी अपहतपाप्मत्वादि गुणोंसे विशिष्ट आत्माको जो तुम्हें दिखलाया था (उपदेश दिया था) उसीकी ही फिरसे व्याख्या करूँगा। इससे अन्य आत्मा नहीं है—इस प्रकार उपक्रम करके चतुर्थ पर्यायमें (दशामें) 'अहे देवराज! यह शरीर मरणधर्मा है' इत्यादि वाक्योंके द्वारा देहकी निन्दा करके उससे निर्गत अर्थात् तत्सम्बन्धरहित परज्योतिः-स्वरूपसे सम्पन्न अष्टविध गुणोंकी अभिव्यक्तिसे युक्त जो

जीव है, यह उन देवराजको *'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरादुत्थाय'* इत्यादि वाक्य द्वारा दिग्दर्शन किया। परज्योतिः शब्द श्रीपुरुषोत्तमके लिए ही है, वह उनसे ही परिस्फुट होता है। अतएव सिद्धान्त यह है कि कर्म तथा उसके सम्पर्कसे उत्पन्न देहादि सम्बन्धरहित, परज्योतिःसे उपसम्पन्न जीवका गुणाष्टक वैशिष्ट्य रूपमें अवस्थान ही यहाँ स्वरूपाभिनिष्पत्ति पद वाच्य है और वही जीवकी विमुक्तता (मुक्ति) है—यह प्रतिपन्न हुआ।

सूत्र—मुक्तः प्रतिज्ञानात्॥ २॥

सूत्रार्थ—'मुक्तः' स्वरूपनिष्पन्न जीव मुक्त ही है, क्योंकि इसी प्रकार 'प्रतिज्ञानात्' प्रतिज्ञात हुआ है॥ २॥

सूत्रानुवाद—स्वरूपाभिनिष्पन्न अर्थात् अपने स्वाभाविक रूपसे सम्पन्न जीवोंको ही मुक्त कहा जाता है, क्योंकि श्रुतिमें प्रजापति वचनमें इसी प्रकारसे प्रतिज्ञा की गयी है॥ २॥

गोविन्दभाष्य—स्वरूपाभिनिष्पन्नोऽयं मुक्त एव। कुतः? प्रतिज्ञानात्। पूर्वत्र *"य आत्मा"* इति प्रकृतस्य जीवस्य *"एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि"* (छा॰ ८/९/१) इत्यादिभिर्जागराद्यवस्थात्रयविनिर्मुक्ततया प्रियाप्रियहेतुभूतकर्मनिर्मितशरीर-विनिर्मुक्ततया च व्याख्यातुं प्रजापतिना प्रतिज्ञातत्वात्। तस्मात् कर्मसम्बधतन्निर्मितशरीरादि विनिर्मुक्तस्वाभाविकस्वरूपावस्थितिरिह स्वरूपाभिनिष्पत्तिः सैव मुक्तिरिति॥ २॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—स्वरूपमें अभिनिष्पन्न जीव मुक्त ही होता है। किस हेतुसे? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्माजीके इसी प्रकारके प्रतिज्ञा-वाक्य हैं—यथा प्रजापतिने उपक्रममें *'य आत्मा'* (जो आत्मा) कहकर प्रकान्त (प्रकरणगत) जीवका आश्रय करके *'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'* अर्थात् 'इस जीवकी समस्त अवस्थाओंकी ही पुनः तुम्हारे समीप विशेष रूपसे व्याख्या करूँगा'—इत्यादि कथनके द्वारा इस स्थलपर जीवके जागरण, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओंसे विनिर्मुक्त रूपमें और सुख-दुःखके (प्रिय-अप्रियके) हेतुभूत कर्म द्वारा निर्मित शरीरसे सम्बन्धरहित (शरीरादिसे विनिर्मुक्त) रूपमें जीवकी मुक्तावस्थाकी व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा प्रजापति द्वारा की गयी है। अतः जाना जा सकता है कि कर्म-सम्बन्ध एवं

तज्जनित (उससे उत्पन्न) शरीरमें इन्द्रियादिसे विनिर्मुक्त जीवकी जो स्वाभाविक स्वरूपमें अवस्थिति है, वही यहाँ स्वरूपाभिनिष्पत्ति द्वारा वाच्य है और यही विमुक्तता अर्थात् मुक्ति है॥ २॥

सूक्ष्मा-टीका—मुक्त इत्यादि स्पष्टार्थम्॥ २॥

सूक्ष्मा-सार—मुक्त इत्यादि सूत्रार्थ एवं भाष्यार्थ सुस्पष्ट है॥ २॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पुनः यदि प्रश्न होता है कि परम ज्योतिः प्राप्त जीवकी मुक्ति प्रजापति-वचनसे किस प्रकार जानी जा सकती है? इसके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि स्वरूपाभिनिष्पन्न अर्थात् अपने स्वाभाविक रूपसे सम्पन्न जीवको ही मुक्त कहा जायेगा, क्योंकि श्रुतिमें प्रजापति-वचनमें इसी प्रकारकी प्रतिज्ञा रही है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती
जींवस्य मायारचितस्य नित्याः।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः॥

(श्रीमद्भा० ५/११/१२)

अर्थात् ऐसा होनेपर भी मनसे क्षेत्रज्ञका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो मायाके द्वारा रचित अशुद्ध मन जीवकी उपाधिस्वरूप है, इसलिए यह भगवत्-विमुख कर्म कराता हुआ संसार-बन्धनमें डाल देता है। इस मनकी अनन्त विभूतियाँ हैं, जो अनादिकालसे विद्यमान हैं। ये जाग्रत एवं स्वप्नावस्थामें आविर्भूत होती हैं और सुषुप्ति एवं समाधि अवस्थामें तिरोहित हो जाती हैं। संसारसे मुक्त क्षेत्रज्ञ जीवात्मा मनकी इन वृत्तियोंको साक्षी रूपसे देखता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

बन्धात् विमुक्त एवात्र स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इत्युच्यते। कुतः? 'य आत्मा अपहतपाप्मा' (छा० ८/७/१) *इत्युपक्रम्य 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'* (छा० ८/११/३) *इति प्रतिज्ञानात्।*

अर्थात् समस्त बन्धनोंसे विनिर्मुक्त होकर ही जीव अपने स्वरूपसे सम्पन्न होता है—यही कहा जाता है। कहाँसे कहते हो? *'य आत्मा'*

इस मन्त्रसे उपक्रम करके अर्थात् आत्माके गुणोंको कहते हुए *'एतं त्वेव'* 'इसे मैं तुमसे पुनः कहूँगा'—इस प्रकार उस आत्माका वर्णन करके उसकी स्वरूप-प्राप्ति अर्थात् बन्धनमुक्त आत्माका वर्णन किया गया है। *'एतं त्वेव ... निष्पद्यन्ते'* तक प्रजापतिका कथन है।

श्रीमध्वभाष्यमें प्राप्त है—

मुक्त एव चात्रोच्यते। अहरहरेनमनुप्रविशत्युपसंक्रमते च न तत्र मोदते न प्रमोदते न कामाननुभवति बद्धो ह्येष तदा भवत्यथ यदैनं मुक्तोऽनुप्रविशति मोदते च प्रमोदते च कामांश्चैवानुभवतीति बृहच्छ्रुतौ च प्रतिज्ञानात्।

अर्थात् जो ब्रह्मको प्राप्त करके उन्हें बिना त्यागे हुए भोग करते हैं, वे ही मुक्त हैं अन्यथा मुक्तके भोगकी अनुपपत्ति होती है। बृहत्-श्रुतिकी प्रतिज्ञासे जाना जाता है कि जिस प्रकार मुक्त व्यक्ति परमात्मामें प्रवेश करके आमोद-प्रमोद करते हैं, कामानुभव करते हैं, अमुक्त (बद्ध) भी अहरह (नित्य-प्रति) अनुप्रवेश (प्रवेश-निर्गम) कर सकते हों, किन्तु उस प्रकारसे आमोद-प्रमोद उन्हें प्राप्त नहीं होता और कामभोग (इच्छानुसार भोग) भी वे अनुभव कर नहीं सकते। अतएव प्रतिपन्न होता है कि जो ब्रह्मके साथ आनन्द भोग जिनका है वे ही मुक्त हैं। उन्हें मोद, प्रमोद एवं कामानुभव सब ही प्राप्त होते है।

आत्मतत्त्व अतिशय दुर्ज्ञेय है। इन्द्र एवं विरोचनकी आख्यायिकासे यह जाना जा सकता है। इस विषयमें प्रपूज्यचरण श्रीमन् बलदेवभूषणने अपने अवतरणिका भाष्यकी टीकामें इस आख्यायिकाको उल्लिखित किया है—यह वहीं देखना चाहिये॥ २॥

अवतरणिका भाष्य—परंज्योतिरुपसम्पत्त्यत्त्युत्तरा तन्निष्पत्तिरुक्ता। तत्रैव विमर्शान्तरम्। किमत्रादित्यमण्डलमेव तज्योतिरुत परं ब्रह्मेति सन्देहे तन्मण्डलमिति प्राप्तम्। तद्विभिद्य ब्रह्मप्राप्तेः श्रवणात्। अर्च्चिरादिके पथि यदादित्यलोकशब्देनोक्तं तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—परज्योतिःकी उपसम्पत्तिके (स्वभाव-प्राप्तिके) बाद जीवके स्वरूपकी प्राप्ति (निष्पत्ति) कही गयी है—उस विषयपर ही अन्य विचारका प्रवर्त्तन हो रहा है। यह परज्योतिः क्या

आदित्यमण्डल है? अथवा परब्रह्म है? इस सन्देहकी मीमांसापर पूर्वपक्षी कहते हैं—सूर्यमण्डल ही जब श्रुतिमें पाया जाता है, तब वही कहा जायेगा। सूर्यमण्डलको भेद करके ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—यह श्रुतिमें कथित है। अर्चिः इत्यादि पथमें जो आदित्यलोक शब्दके द्वारा स्पष्ट रूपसे उक्त है, वही परज्योतिः है—इसपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—परमिति। परंज्योतिरुपसंपत्तिरुत्तरा यस्याः सा तदुपसंपत्तेः पूर्वं तन्निष्पत्तिरित्यर्थः। तदेव व्याख्यातं प्राक्। पूर्वत्र मुक्तप्राप्यं ज्योतिर्ब्रह्मेत्युक्तं तन्न युज्यते ज्योतिःशब्दस्य सूर्ये प्रसिद्धेः। तस्य मुक्तप्राप्यत्वाच्च। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति (मु॰ १/२/११) इत्यादौ तस्य तत् प्राप्याविश्रुत-मित्याक्षेपसङ्गत्यारभ्यते किमत्रेत्यादिना। अत्र एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरादित्यादिवाक्ये इत्यर्थः। तदिति तदादित्यमण्डलं भित्त्वेत्यर्थः। तत्राहेति। अस्मिन् पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाहेत्यर्थः—

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'उपसम्प्युत्तरा'*—इसका अर्थ है—उपसम्पत्तिके पूर्व, इसीके कारण—उपसम्पत्ति है उत्तरा (परवर्त्तिनी) जिसके (जिस निष्पत्तिके)—इस प्रकार विग्रह-वाक्य द्वारा वही अर्थ ही बोधित होता है अर्थात् ज्योतिकी उपसम्पत्तिके पूर्व स्वरूप-निष्पत्ति है। इसी रूपमें पहले भी व्याख्यात हुआ है। अब आपत्ति यह होती है कि—पहले जो कहा गया था—मुक्तका प्राप्य है—ज्योतिः ब्रह्मस्वरूप अर्थात् मुक्तपुरुष ब्रह्मको प्राप्त करते हैं, यह तो युक्तियुक्त है नहीं, क्योंकि ज्योतिः शब्द सूर्यार्थमें प्रसिद्ध है एवं वही मुक्तपुरुषका प्राप्य है। इसी हेतु कहा गया है—*'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'* अर्थात् मुक्तपुरुषगण सूर्यद्वारके द्वारा रजोगुणसे अतीत होकर ब्रह्मके समीप जाते हैं, इत्यादि श्रुतिमें *'तस्य तत् प्राप्याविश्रुतम्'* मुक्तपुरुषका परज्योतिः प्राप्तिके बाद अनिर्वचनीय अलौकिक आनन्द कहा गया है, इस आक्षेप (आपत्ति) सङ्गति द्वारा इस अधिकरणका आरम्भ 'किमत्र' इत्यादि ग्रन्थसे (वाक्यसे) हो रहा है। *'किमत्रेति'* में 'अत्र' का अर्थ है—*'एवमैवष सम्प्रसादोऽस्माछरीरादुत्थाय'* इत्यादि वाक्यमें। *'तद्विभिद्येति'* में 'तत्' अर्थात् उस आदित्यमण्डलको भेद करके, यह अर्थ है। 'तत्राहेति' इस पूर्वपक्षके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

सूत्र—आत्मा प्रकरणात्॥ ३॥

सूत्रार्थ—'आत्मा' आत्मा ही वह परज्योतिः है, आदित्यमण्डल नहीं, क्योंकि 'प्रकरणात्' आत्माके प्रकरणमें यही कहा गया है॥ ३॥

सूत्रानुवाद—आत्मा ही ज्योति है, आदित्यमण्डल नहीं, क्योंकि प्रकरणसे आत्माका ही बोध होता है॥ ३॥

गोविन्दभाष्य—आत्मैव तज्ज्योतिर्नत्वादित्यमण्डलम्। कुतः? प्रकरणादिति। यद्यपि ज्योतिःशब्दः साधारणस्तथाप्येषः प्रस्तावादात्मनोऽभिधायी। *"देवो जानाति मे मनः"* इत्यत्र युष्मदर्थस्येव देवशब्दः। इहात्मशब्दो ज्ञानानन्दरूपं विभुवस्तु प्रतिपादयति। अतति प्रकाशते इति, अत्यते गम्यते विमुक्तैरित्यतति व्याप्नोतीति च व्युत्पत्त्या तस्य सिद्धेः। उपनिषच्छब्दवदस्यानेकार्थबोधकत्वं तच्च वस्तु पुरुषाकारमिति स्वीकार्यम्। स उत्तमः पुरुषः (छा० ८/१२/३) इति विवरणात्। यदुपसम्पन्नं परंज्योतिः स तूत्तमः पुरुषो हरिरिति तदर्थः॥ ३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—आत्मा ही वह परज्योतिः है, आदित्यमण्डल नहीं क्योंकि यह उपसम्पत्ति आत्मा-प्रकरणमें ही अभिहित है। यद्यपि 'ज्योतिः' शब्दसे साधारण ज्योतिःका बोध होता है, तथापि इस प्रकरणके (प्रस्तावके) अनुसार यह आत्मा-वाचक है। *'देवो जानाति मे मनः'* अर्थात् 'देव मेरा मन जानते हैं' यह कहनेपर 'देव' शब्दसे जिस प्रकार सम्बोधित युष्मद्-वाच्य 'आप' मेरा मन जानते हैं—राजाको ही समझा जाता है, सामान्य देवको नहीं, इसी प्रकार यह 'ज्योतिः' शब्द भी यहाँ आत्मा-वाचक है। इस स्थलपर 'आत्मन्' शब्द ज्ञानानन्दस्वरूप विभुरूप पदार्थका प्रतिपादक है! व्युत्पत्तिके अनुसार भी यही सिद्ध होता है—यथा कर्त्तृवाच्यमें *'अतति प्रकाशते'* अर्थात् जो प्रकाशित होते हैं, वे चेतनस्वरूप हैं—इस वाक्यमें ज्ञानरूपता है और कर्मवाच्यमें *'अत्यते गम्यते विमुक्तैः'* अर्थात् जो मुक्तपुरुषों द्वारा लब्ध-प्राप्त होते हैं—इस वाक्यमें आनन्दरूपता है और अत-सातत्य गमन—इस अर्थमें अतति अर्थात् व्याप्नोति जो समस्तको व्याप्त करते हैं—इसमें विभुत्व प्रतिपादित हुआ है, जैसे कि उपनिषद शब्द व्युत्पत्तिके अनुसार अनेकार्थक बोधक है अर्थात् विशेषण, गति एवं स्थापन—इन तीन अर्थोंका बोधक है। यह आत्मवस्तु अर्थात्

विभु-वस्तु (विष्णु) पुरुषाकृतिसम्पन्न है वह स्वीकरणीय है क्योंकि विवृत्ति (विवरण) करनेपर *'सः उत्तमः पुरुषः'* अर्थात् वे विभु उत्तम पुरुष हैं—यह बोध होता है। *'सः उत्तमः पुरुषः'* इस श्रुतिका अर्थ है—मुक्तपुरुष द्वारा उपसन्न जो परज्योतिः रूप पदार्थ है,वह उत्तम पुरुष श्रीहरि हैं॥ ३॥

सूक्ष्मा-टीका—आत्मेति। यद्यपीति। साधारणः सूर्यब्रह्मोभयबोधकः। तस्य तादृशवस्तुनः। अस्यात्मशब्दस्य। अत्र दृष्टान्तः। उपनिषत्शब्दवदिति। स यथोपनिषीदत्यनयेति व्युत्पत्त्यार्थत्रयबोधकस्तद्वदित्यर्थः। उपाधिकेन नैरवशेष्येण सादयति शीर्णं करोत्यविद्यामिति विशरणमर्थः। उप समीपं श्रीहरेर्न्नितरां नयतीति गतिरर्थः। उपसमीपे श्रीहरेर्न्नितरां स्थापयतीति स्थापनं इति व्याख्यातारः। नन्वेवं सति सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयतीति न्यायविरोधः, सत्यं तथा वृत्त्येकतराश्रयणेन तदविरोधो भावीति। आत्मशब्दस्य व्युपत्तित्रयं तु बहुलमिति योगविभागादवगन्तव्यम्। अन्यद्विशदार्थम्॥ ३॥

सूक्ष्मा-सार—*'आत्मा प्रकरणात्'*—इस सूत्रमें। *'यद्यपि ज्योतिः शब्दः साधारणः'* इत्यादि भाष्यमें 'साधारणः' सूर्य-ब्रह्म उभयार्थका वाचक है। *'व्युत्पत्त्या तस्य सिद्धेरिति'* में 'तस्य' का अर्थ है—उस प्रकारकी वस्तुका (ज्ञानानन्द विभुस्वरूप वस्तुका)। *'उपनिषच्छब्दवदस्यानेकार्थ-बोधकत्वम्'* इति में 'अस्य' का अर्थ है 'आत्मन्' शब्दका। इस विषयमें दृष्टान्त है—उपनिषच्छब्दवत् अर्थात् वह उपनिषद शब्द जिस प्रकार *'उपनिषीदति अनया'* जिसके कारण गुरुके समीपमें निषण्ण होता है अर्थात् बैठता है—यह व्युत्पत्ति तीन अर्थोंकी बोधक है। यथा 'उप' अर्थमें 'अधिक रूपसे', 'नि' अर्थात् 'निःशेष (सम्पूर्ण) रूपसे' 'सादयति'—अविद्याको शीर्ण (नाश) करता है—इस व्युत्पत्तिमें विशरण अर्थ है। पुनः 'उप' का अर्थ है 'समीपमें' अर्थात् श्रीहरिके समीपमें, 'नि' अर्थात् नितान्त रूपसे 'सादयति'—ले जाता है, इसमें 'गति' अर्थ है। और भी, 'उप' श्रीहरिके समीपमें 'नि' अर्थात् अत्यधिक रूपसे 'सादयति' जो स्थापन करता है, यहाँ 'स्थापन' अर्थ प्रकाशित हो रहा है। व्याख्यातागण ऐसी व्याख्या करते हैं। यदि कहो, *'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति'* अर्थात् एक बार उच्चारित शब्द एक अर्थको ही बोधित करता है—इस न्यायका विरोध होगा, तो इसका उत्तर

है—यह बात तो सत्य है किन्तु उस-उस वृत्तिमेंसे एक-एकका आश्रय करनेपर फिर विरोध रहेगा नहीं। आत्मन्-शब्दकी जो व्युत्पत्तित्रय की गयी है, वह *'उणादयो बहुलम्'* (पा॰ ३/३/१) इस सूत्रमें योग-विभागसे केवल 'बहुलम्' यह बाहुल्यके द्वारा जान सकते हैं। (सूत्रका अर्थ है—वर्त्तमान अर्थमें उणादि प्रत्यय बहुलतासे संज्ञा विषयमें होते हैं।) भाष्यका अन्य अंश सहज बोध्य है॥ ३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः विचारान्तर (और एक विचार) उठता है कि परज्योतिःको प्राप्त होनेके बाद जीवको स्वरूपकी प्राप्ति होती है—इस स्थलपर विचारणीय यह है कि ज्योतिः शब्दसे क्या आदित्यमण्डल सूचित होता है? अथवा परब्रह्म? पूर्वपक्षीका कथन है कि यह आदित्यमण्डल ही होना चाहिये क्योंकि आदित्यमण्डलको भेद करके ही ब्रह्म-प्राप्तिकी बात कही जाती है। विशेष रूपसे अर्चिरादि पथके विषयमें विशेष उल्लेख रहनेके कारण यह स्पष्ट जान सकते हैं कि यहाँ आदित्यलोक ही कहा गया है। पूर्वपक्षीके इस कथनके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि इस स्थलपर परज्योतिः कहनेसे आत्माको ही जानना चाहिये, आदित्यमण्डल नहीं, क्योंकि इसका प्रस्ताव आत्माके प्रकरणमें ही हुआ है।

आत्मा शब्दसे जीवात्मा और परमात्मा दोनोंको ही जाना जाता है। जिस परमज्योतिःको प्राप्त होकर जीव अपने स्वाभाविक स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है, वह परमज्योतिः कहनेसे परमात्मा श्रीहरिको ही जानना चाहिये। इसका कारण यह है कि भगवत्-विमुख जीव श्रीहरिका आश्रय प्राप्त करके ही स्वीय-स्वरूप-सम्पन्न हो सकता है।

एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि,
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा,
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्॥

(श्रीमद्भा॰ १०/१४/२४)

अर्थात् जो महाजन गुरुरूपी सूर्यसे तत्त्वज्ञानरूप दिव्यज्ञानको प्राप्त करके समस्त जीवोंके आत्मस्वरूप आपके परमात्मरूपका साक्षात्कार

कर लेते हैं, वे इस 'मैं' और 'मेरा' मिथ्याभिमानरूप भवसागरसे पार हो जाते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

परज्योतिः शब्देन परमात्मैवोच्यते तत्प्रकरणत्वात्। परंज्योतिः परंब्रह्म परमात्मादिका गिरः। सर्वत्र हरिमेवैकं ब्रूयुर्नान्यं कथनञ्चनेतिच ब्रह्माण्डे।

(अर्थात् ब्रह्म-प्राप्य ज्योतिः ही ब्रह्म है—यही समर्थन करते हैं—अन्यथा ब्रह्मप्राप्तिकी अनुपपत्ति होती है। इस समय सन्देह यह है कि उक्त ज्योतिः विष्णु हैं या कोई और? यदि कहो कि उक्त ज्योतिः विष्णु नहीं है क्योंकि ज्योतिः शब्दका प्रयोग आदित्यमें ही दिखाया गया है। इस सन्देहके निराकरणके लिए कहते हैं कि) प्रकरणके आधारपर परमज्योतिः शब्दसे परमात्मा ही (विष्णु) कहे गये हैं। ब्रह्माण्डपुराणमें कहा गया है कि परंज्योतिः परब्रह्म और परमात्मादि शब्द परब्रह्म श्रीहरिके वाचक हैं। ये समस्त शब्द अन्य किसी पदार्थके वाचक नहीं हो सकते। अतएव ब्रह्म ही परंज्योतिः हैं। मुक्त इस परंज्योतिःको प्राप्त करके उनका परित्याग किये बिना नाना प्रकारसे भोग करते हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी—'*आत्मैवाविर्भूतरूपस्तत् प्रकरणात्।*'

अर्थात् परमात्म-ज्योतिको प्राप्तकर आविर्भूतस्वरूप होता है। (जीवात्माके अपहतपाप्मत्व इत्यादि स्वाभाविक गुण परमात्म-ज्योतिको प्राप्तकर आविर्भूत होते हैं, उत्पन्न नहीं होते) पहले भी कहा गया है। यह प्रकरण जीवात्म-विषयक है।

श्रीरामानुजके भाष्यका सार भी यही है—

अतएव जीवके आत्मनिष्ठ ज्ञान एवं आनन्दादि गुण जो कर्मके द्वारा आत्मामें सङ्कुचित थे, परज्योतिः अर्थात् परब्रह्मको प्राप्त होनेके बाद कर्म-बन्धनका क्षय होनेपर उन सभी सङ्कुचित गुणोंका आविर्भाव होता है—यह असङ्गत नहीं है। अतएव '*सम्पद्याविर्भावः*' कथन सुसङ्गत है।

विष्णुधर्मोत्तरमें भी देखा जा सकता है—

यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः।
दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मानः क्रियते तथा॥

यथोदपानकरणात् क्रियते न जलान्तरम्।
सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः॥
तथा हेयगुणध्वसांदवबोधादयो गुणाः।
प्रकाश्यन्ते, न जन्यन्ते; नित्या एवात्मनो हि ते॥

अर्थात् भगवान् शौनकने कहा है, मणिमें मल-प्रक्षालनसे ज्योत्स्ना उत्पन्न नहीं की जाती, बल्कि अपने प्रकाशसे यह मणिको प्रकाशित करती है, वैसे ही दोषके प्रक्षालनसे आत्मामें ज्ञानका जन्म नहीं किया जाता, आत्म-ज्ञान प्रकाशित होता है। और जैसे कि कुआँ खोदकर जल उत्पन्न नहीं किया जाता, किन्तु पहलेसे ही सत् जलका प्रकाश किया जाता है (असत्का सद्भाव हो नहीं सकता), उसी प्रकार हेयगुणोंके नष्ट होनेसे ज्ञानादि गुणोंका प्रकाश हो जाता है, वे उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि ये ज्ञानादि गुण आत्मामें स्वाभाविक रूपसे विराजमान रहते हैं॥ ३॥

अवतरणिका भाष्य—अथ तत्रैवेदं विमृश्यते। संव्योमपुरस्थं परंज्योतिरुपसम्पन्नो मुक्तस्तत्सालोक्येन तिष्ठेदुत तत्सायुज्येनेति सन्देहे नृपपुरं प्रविष्टस्य लोके तथास्थितिदृष्टेस्तत् सालोक्येनेति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इस उत्पत्ति विषयमें ही यह विचार किया जाता है—संव्योमपुर अर्थात् परव्योमस्थित परज्योतिः उपसम्पन्न मुक्तपुरुष क्या ब्रह्म-सालोक्यको प्राप्त होता है? अथवा ब्रह्मके साथ सायुज्य प्राप्त करके रहता है? इस सन्देहपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि जिस प्रकार राजपुरीमें प्रवेश करनेवाले व्यक्तिकी (उस राजाके) लोकमें सालोक्य अर्थात् समान लोकमें स्थिति देखी जाती है, उसी प्रकार वह जीव ब्रह्म-सालोक्य प्राप्त करके रहता है—यही कहा जायेगा। इस पूर्वपक्षीके मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—मुक्तस्य परज्योतिःप्राप्तिः प्रागुक्ता तामाश्रित्य तस्यास्तत्संश्लेषकस्थितिरूपता वर्ण्येत्याश्रयाश्रयिभावसङ्गत्याह संव्योमेत्यादि। तथेति तत्सालोक्येन।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले मुक्त पुरुषकी परज्योतिःकी प्राप्ति कही गयी थी, उस प्राप्तिका आश्रय करके वह प्राप्ति जो

भगवत्-संश्लेषमें स्थितिस्वरूप है, यह वर्णनीय है। इस रूपमें आश्रयाश्रयिभाव रूप सङ्गतिके अनुसार कहते हैं—*'संव्योमपुरस्थमित्यादि लोके तथा स्थिति दृष्टेरिति'* में 'तथा' का अर्थ है—उनके सालोक्यको लेकर।

अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम्

सूत्र—अविभागेन दृष्टत्वात्॥ ४॥

सूत्रार्थ—'अविभागेन' परज्योतिः सम्पन्न मुक्तपुरुष ब्रह्मके साथ अविभक्त रूपसे अर्थात् सहयोगसे रहते हैं, क्योंकि 'दृष्टत्वात्' श्रुतिमें इसी प्रकारसे देखा जाता है॥ ४॥

सूत्रानुवाद—मुक्तपुरुष अविभागमें अर्थात् सायुज्यमें ही अवस्थान करते हैं, क्योंकि श्रुतिमें यही देखा जाता है॥ ४॥

गोविन्दभाष्य—तदुपसम्पन्नः सोऽविभागेन तत्सायुज्येनैव तिष्ठतीति मन्तव्यम्। कुतः? दृष्टत्वात्। *"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"* इति मुण्डके (३/२/८) तथैव स्थितिश्रवणात्। सायुज्यं किल सहयोग एव। *"य एवं विद्वानुदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वादित्यस्य सायुज्यं गच्छति"* इत्यादि तैत्तिरीयकात्। सालोक्यादिकन्तु तस्यैव प्रकारः। न चैवं विरहेऽव्याप्तिः। तत्राप्यन्तःस्फूर्त्त्या महिमसंयोगेन च तत्सत्त्वात्। न च दृष्टान्तेन स्वरूपाभेदः शक्यः। नीरे नीरान्तरस्यैकीभाव-व्यवहारेऽप्यन्तर्भेदस्य सत्त्वात्। इतरथा वृद्ध्याद्यनापत्तिः॥ ४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—परज्योतिःको प्राप्त (ब्रह्म-उपसम्पन्न) मुक्तपुरुष अविभागसे अर्थात् परमेश्वरके सायुज्यके साथ ही अवस्थान करता है, यह जानना चाहिये। श्रुतिमें इसी प्रकार देखा जाता है, यथा *'नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे पुरुषमुपैति दिव्यम्'* अर्थात् जिस प्रकार नदियाँ प्रवाहित होते हुए समुद्रमें पहुँचकर तिरोधानको प्राप्त होती हैं; वे अपने नाम, रूपका भी परित्याग कर देती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मविद् पुरुष नामरूपसे विमुक्त होकर परात्पर (परसे परतर) अर्थात् कारणके भी कारण दिव्य पुरुष परमात्माको प्राप्त होते हैं। मुण्डकोपनिषदके इस वाक्यसे मुक्तपुरुषकी सायुज्यके साथ स्थिति सुनी जाती है। सायुज्यका अर्थ है सहयोग अथवा सहस्थिति। तैत्तिरीयकगण भी यही

पाठ करते हैं—*'य एवं विद्वानुदगयने … सायुज्यं गच्छति'* इत्यादि अर्थात् इस प्रकारसे जो ब्रह्मविद् उत्तरायणमें मरता है, वह देवताओंकी महिमाको प्राप्त होकर आदित्यके सायुज्यको प्राप्त करता है। यदि कहो, सालोक्य (श्रीहरिके समान लोकमें वास), सार्ष्टि (समान ऐश्वर्य), सामीप्य (समीपमें स्थिति), सारूप्य (समानरूपता) एवं एकत्व (सायुज्य) दिये जानेपर भी विष्णुभक्त विष्णुकी सेवाके अतिरिक्त उन्हें स्वीकार नहीं करते—इस वाक्यमें मुक्तिके जो सालोक्यादि अवान्तर भेद सुने जाते हैं, इनमें परज्योतिः सम्पन्नके सायुज्य-प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य (दूसरे) सालोक्यादि भेद किसलिए नहीं होते, तो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सालोक्य इत्यादि भी सायुज्यकी ही विशेष अवस्था (अवान्तरफल) है। आपत्ति हो सकती है कि श्रीभगवान्के शरीरमें संयोग ही मुक्ति पदार्थ है तो ऐसा होनेसे श्रीभगवान्की लीलामें (भगवत्-विग्रहके साथ) उसका भगवत्-वियोग होनेपर सालोक्य न रहनेके कारण विप्रलम्भमें सायुज्यकी अव्याप्ति (व्याप्तिका अभाव) हुई, तो ऐसा भी नहीं है। लीलामय अवतारमें बाह्य रूपसे सालोक्य प्रकाशित न होनेपर भी गूढ़ रूपसे आन्तरमें सालोक्य स्फूर्त्त (प्रकाशित) होता है और महिमाके संयोगसे अर्थात् उसके प्रभावसे (भगवत्-लोकके सम्बन्धके कारण) भी उसकी सत्ता सर्वथा बनी रहती है। यदि कहो, *'यथा स्यन्दमाना नद्यः'* इत्यादि दृष्टान्तके द्वारा स्वरूपैक्य है अर्थात् ब्रह्मके साथ जीवके स्वरूपका अभेद है तो यह भी आशङ्का नहीं की जा सकती अर्थात् अद्वैत भावापत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उस जलमें जलान्तर अर्थात् अन्य जलके समान बाह्य व्यवहारसे एकीभाव प्रतीत होनेपर भी अभ्यन्तरमें जीव-ब्रह्मका भेद अवश्य रहेगा ही। यदि जलकी जलान्तरमें सत्ता नहीं रहेगी अर्थात् अद्वैत भाव होगा तो जलकी सादृश्य उक्ति सङ्गत नहीं होगी। नीरमें नीरके मिलनमें भी आन्तरिक सदृश-भेद सुस्पष्ट ही रहता है अन्यथा जलकी वृद्धि, ह्रास इत्यादि कैसे कहे जायेंगे। अतएव द्वैतभाव वहाँ विद्यमान है। एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्यकी स्वरूपता प्राप्त नहीं करता, सादृश्य प्राप्त करता है॥ ४॥

सूक्ष्मा-टीका—अविभागेनेति। तथैवेति तत्सायुज्येनैव। य एवमिति। उदगयने उत्तरायणे। प्रमीयते म्रियते। सायुज्यं सहयोगम्। आदिशब्दादथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव हि महिमानं चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोतीति वाक्यखण्डो ग्राह्यः। केवलाद्वैतिभिरपि तच्छब्देनात्र स्वरूपैक्यं न शक्यं वक्तुम्। तन्मते सर्वोपाधिविनिर्मुक्त-चिन्मात्रावस्थायामेव तत्स्वीकारात्। आदित्यतदगतयोरुभयोरपि सोपाधिकत्वमसन्देहम्। एवं सति—*"सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा एव ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः।"* इति परमसंहिता। *"यादृग्रूपस्तु भगवान् यत्र यत्रावतिष्ठते। मुक्तश्च पञ्चकालज्ञस्तादृशः सह मोदते।"* इति शाण्डिल्यस्मृतिश्च सङ्गच्छते। तत्रास्मत्क्षीर-नीरवदन्यत्र शरीराविष्टग्रहादिवच्च संश्लेषसायुज्यं न तु स्वरूपैक्यमिति सिद्धम्। ननु—*"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमुप्यत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। स एष भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।"* (श्रीमद्भा॰ ३/२९/१३-१४) इत्यादौ सालोक्यादयोऽपि मुक्तिभेदाः स्मर्यन्ते तेषु न कथं स्युरितिचेत्तत्राह सालोक्यादिकमिति। तस्यैव सायुज्यस्यैव प्रकारो विशेषः। ननु भगवत्तनुसंयोगः खलु मोक्षः स च लीलायां विप्रयोगे सति कथमिति चेत् तत्राह न च विरह इति। महिमा भगवल्लोकः। तत्सत्त्वात् सायुज्यसिद्धेः। ननु यथा नद्य इति दृष्टान्तेन स्वरूपैक्यं प्रतीमः। यच्चैकत्वमुप्यतेत्यनेनापि स्मृतमिति चेत् तत्राह न च दृष्टान्तेनेति। इतरथेति। स्वरूपैक्याभ्युपगमे सतीत्यर्थः। वृद्ध्यादीति। जले जलान्तरसेक ऐक्ये सति जलसादृश्योक्तिर्जलवृद्धिः कालिन्द्या सागरभेदोक्तिश्च न सिध्येदित्यर्थः। कठाः (२/१/१५) पठन्ति—*"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विज्ञानतः आत्मा भवति गौतम"* इति। स्कान्दे च—*"उदके तूदकं सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत्। न चैतदेव भवति यतो वृद्धिः प्रदृश्यते। एवमेव हि जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना। प्राप्नोति नासौ भवति स्वातन्त्र्यादिविशेषणात्"* इति। पाद्मे श्रीयमुनास्तोत्रे—सप्तसागरसङ्गतेति तन्नाम स्मर्यते। एवं सति सालोक्यादिरूपं यदेकत्वमपृथक्त्वं सायुज्यमिति यावत् तच्चेत् कैङ्कर्यविरोधि तर्हि नेच्छस्तीति व्याख्येयम्। उडुलोम्यनुयायिनस्त्वेकत्वमप्युत इत्येतदेवं व्याचक्षते—तादृगुपासनस्याणु-चैतन्यालब्धपार्षदतनोर्हरितनुमज्जनरूपमेकत्वामिति। तत्रापि स्वरूपैक्यं न मन्तव्यम्। *"परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीर्यते। मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि नैत्यन्यद्रव्यतां यत"* इति श्रीवैष्णवे तस्य मिथ्यात्वोक्तेः। योग ऐक्यम्॥ ४॥

सूक्ष्मा-सार—*'अविभागेन दृष्टत्वात्'*—इस सूत्रमें *'तथैवस्थितिश्रवणादिति'* भाष्यमें 'तथैव' का अर्थ है भगवत्-सायुज्यको प्राप्त करके ही। *'य एवं विद्वान् ... सायुज्यं गच्छति'* में 'उदगयने' का अर्थ है—उत्तरायण कालमें, 'प्रमीयते' का अर्थ है मृत होता है, 'सायुज्यम्'—सहयोग। *'इत्यादि तैत्तिरीकायात्'* में इत्यादि इस आदि पद द्वारा *'अथ यो दक्षिणे*

प्रमीयते पितृणामेव हि महिमानं चन्द्रमसः सायुज्यं सलोकतामाप्नोतीति' यह वाक्यांश ग्राह्य है। इसका अर्थ है और जो दक्षिणायनमें मृत होता है, वह पितृपुरुषोंकी महिमा, चन्द्रका सायुज्य (सहयोग) एवं समान लोकको प्राप्त होता है। जो केवलाद्वैतवादी शाङ्कर सम्प्रदायी हैं, वे भी *'तदुपसम्पन्नः'* इस पदके अन्तर्गत तत्-शब्दके द्वारा यहाँ स्वरूपैक्य कह नहीं सकते, क्योंकि उनके मतमें भी जब जीवका सर्वविध उपाधि विमुक्तिपूर्वक केवल चिन्मात्र स्वरूपमें अवस्थान होता है, उसी अवस्थामें ही ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है—यह स्वीकृत है तथा आदित्य एवं तद्गत पुरुष दोनों ही जो सोपाधिक हैं, यह निःसन्देह है। इस प्रकारसे होनेपर अर्थात् परमात्म-सायुज्य सहयोगसे-अर्थ लेनेपर परम-संहिता-वाक्य एवं शाण्डिल्य-स्मृति-वाक्य दोनों सङ्गत होते हैं। परमसंहिता-वाक्य है यथा—*'सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः किङ्करा एव ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः'*—इति। जो तपःपरायण तीव्रभक्त सायुज्यको प्राप्त हुए हैं, वे भगवान्के किङ्कर-सेवक ही हैं और वे सर्वदा निरुपद्रव-च्युति-शून्य हैं। शाण्डिल्य-स्मृति है यथा—*'यादृगरूपस्तु भगवान् यत्र यत्रावतिष्ठते मुक्तश्च पञ्चकालज्ञस्तादृशः सह मोदते।'* अर्थात् जिस रूपके साथ भगवान् जहाँ-जहाँ अवस्थान करते हैं, पञ्चकालज्ञ (अभिगमन, उपादान, इज्या, अध्ययन एवं समाधिको जाननेवाले) मुक्तपुरुष भी उसी प्रकारके आकारमें वहाँ-वहाँ भगवान्के साथ आनन्दसे रहते हैं—यह उक्ति द्वैतवाद-पक्षमें एवं सायुज्य शब्दके सहयोग अर्थमें ही सङ्गत होती है, सारूप्य-अर्थमें नहीं। इस स्थलपर हमारे मतमें दुग्ध एवं जलकी मिश्रणावस्थाके समान एवं अन्य शरीरमें आविष्ट पिशाचादि ग्रहके समान संश्लेष-सायुज्य होता है, स्वरूपैक्य नहीं होता, यह सिद्ध हुआ। प्रश्न यह है कि *'सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः॥'* मेरे भक्तगण सालोक्य—श्रीहरिके समान लोकमें वास, सार्ष्टि—समान ऐश्वर्य, सामीप्य—समीपमें स्थिति, सारूप्य—समानरूपता, इतना ही नहीं, एकत्व-स्वरूपैक्य पर्यन्त दिये जानेपर भी मेरी (श्रीभगवान्की) सेवाके अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं करते, उनके इसी भावको आत्यन्तिक

भक्तियोग कहा जाता है—इत्यादि स्थलपर सालोक्यादि मुक्तिका जो भेद स्मृत होता है, उनमें सायुज्यके अतिरिक्त सालोक्यादि मुक्ति परज्योतिः—उपसन्न किसलिए नहीं होगी? यह यदि कहते हो, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—सालोक्यादि भी उस सायुज्यका प्रकार-विशेष अर्थात् विशेष अवस्था है। आपत्ति यह है कि आपके मतमें श्रीभगवान्‌के शरीरके साथ संयोग ही यदि मुक्ति है, तो लीलावश भगवत्-विच्छेद होनेपर सालोक्यादि रहेंगे किस प्रकारसे? ऐसा कहते हो तो उसके समाधानके लिए कहते हैं—*'न चैवं विरहे अव्याप्तिः'* यदि कहो, तब भगवल्लीलामें उनके साथ मुक्तकी विच्छेद-अवस्थामें सालोक्यादिके सायुज्यमें अन्तर्भाव नहीं रहा तो, ऐसा भी नहीं है, उस अवस्थामें भी यह सायुज्य अन्तरमें गूढ़ रूपसे स्फुरणके कारण (अन्तःकरणके संयोगके कारण विरहमें अन्तःस्फूर्ति रहती है) और भगवल्लोक सम्बन्धके कारण सिद्ध है अर्थात् इस परिभाषामें अव्याप्ति दोष नहीं है। *'महिमसंयोगेनेति'* में महिमाका अर्थ है—भगवल्लोक-सम्बन्धके कारण। तत् सत्वात्—सायुज्य सिद्ध होता है—इसलिए। यदि कहो, *'यथा नद्यः स्यन्दमानाः'* इस दृष्टान्तसे हम तो स्वरूपैक्य ही समझते हैं तथा *'स्वरूप्यैकत्वमप्युत'* इत्यादि भागवतीय-वाक्यसे भी वही स्मृत होता है। इस विषयमें कहते हैं—*'न च दृष्टान्तेन स्वरूपाभेदः शक्यः'* इति। नदी-दृष्टान्तके द्वारा स्वरूपैक्य अर्थात् स्वरूपके साथ अभेद नहीं कहा जा सकता क्योंकि जलमें अन्य जलके एकीभावका व्यवहारमें एवं अभ्यन्तरमें—दोनोंका ही भेद है। *'इतरथा वृद्धयाद्यनापत्तिः'* इतिमें 'इतरथा' अर्थात् स्वरूपैक्य स्वीकृत होनेपर। *'वृद्ध्यादि इति'*—जलमें अन्य जलके प्रवेशमें ऐक्य होनेपर सादृश्योक्ति सङ्गत नहीं होगी, क्योंकि सादृश्य तो भेद-घटित है। इसी प्रकार जल-वृद्धि एवं यमुनाका सागरके सहित प्रकारविशेषोक्ति (भेदोक्ति) भी सिद्ध नहीं होगी। कठोपनिषद-पाठकगण पाठ करते हैं और इस समुदायमें एक-एक प्रमाण दिखाते हैं—प्रथमतः इसमें जल सादृश्योक्तिकी असङ्गति *'कठाः पठन्ति'* इत्यादि वाक्य द्वारा दिखाते हैं। *'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति'* अर्थात् जिस प्रकार निर्मल जलमें निर्मल जल आसिक्त-प्रक्षिप्त (डाला हुआ) होनेपर वह जल

सेचनाधार जलके समान हो जाता है, यह सादृश्य एकीभावमें नहीं होता। स्कन्दपुराणमें भी है—*'उदके तूदकं सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत्। न चैतदेव भवति यतो वृद्धिः प्रदृश्यते। एवमेव ही जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना। प्राप्नोति नासौ भवति स्वातन्त्रादि विशेषणात्'* इति। उदकमें उदक निक्षिप्त होनेपर जिस प्रकार मिश्रित ही होता है, किन्तु वही जल नहीं होता; क्योंकि जलकी वृद्धि देखी जाती है। इसी प्रकार मुक्त जीव भी परमात्माके साथ मात्र सायुज्य प्राप्त करता है, किन्तु वह परमात्मस्वरूप नहीं होता, क्योंकि उनमें (परमात्मामें) स्वातन्त्र्यादि विशेषण हैं, जो जीवमें नहीं हैं। पद्मपुराणमें यमुनास्तोत्रमें है—*'यमुना सप्तसागरसङ्गता नामे स्मृता'* अर्थात् यमुना 'सप्तसागरसङ्गता' नामसे स्मृत होती है। ऐसी अवस्थामें सालोक्यादिरूप जो एकत्व अर्थात् अपृथक्त्व-सायुज्यस्वरूप है, वह यदि दासत्वका (कैङ्कर्यका) प्रतिबन्धक है, तो ऐकान्तिक भक्तगण वह भी नहीं चाहते। इसी प्रकार भागवतोक्त वाक्यकी व्याख्या करनी होगी। औडुलोमिके मतानुसारी *'एकत्वमप्युत'*—इस वाक्यमें उक्त एकत्वकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं, यथा—इस प्रकार उपासनाका फल है कि अणुपरिमाण जीवात्मभावको छोड़कर भगवत्-पार्षद-प्राप्त शरीरधारी मुक्तका श्रीहरि-शरीरमें मज्जनरूप एकत्व। इससे भी स्वरूपैक्य माना नहीं जा सकता। विष्णुपुराणमें कहा है—*'परमात्मात्मनोयोगः परमार्थ इतीर्यते। मिथ्यैतदन्यदद्रव्यं हि नैतान्यद्रव्यतां यत'* इति परमात्मा और जीवात्माके योगको अर्थात् एकी भावको परमार्थ कहा जाता है, यह मिथ्या है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी स्वरूपताको प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार स्वरूपोक्तिको मिथ्या ही कहा गया है। इस वाक्यके अन्तर्गत योग शब्दका अर्थ ऐक्य है॥ ४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वोक्त वाक्यमें और एक विचार उपस्थापित होता है कि परव्योमस्थ परज्योतिःस्वरूप प्राप्त मुक्त जीव क्या वहाँ सालोक्य प्राप्त करके रहते हैं? अथवा परब्रह्मके साथ सायुज्य प्राप्त करते हैं? इस स्थलपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि राजपुरीमें प्रवेश करनेवाला व्यक्ति जिस प्रकार केवल तत्सालोक्य ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार मुक्त जीवको ब्रह्म-सालोक्य ही प्राप्त होता है। पूर्वपक्षीके इस मतके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि परब्रह्म-उपसम्पन्न

जीव अविभाग अर्थात् अविभक्त रूपसे सायुज्यको ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि श्रुति यही दर्शाती है।

मुण्डकमें कहा गया है कि *'यथा नद्यः स्यन्दमानाः ... पुरुषमुपैति दिव्यम्'* (मु॰ ३/२/८), इस स्थलपर परात्पर पुरुषके साथ सायुज्य-प्राप्तिकी जो बात कही जा रही है, वह सायुज्य 'सहयोग' अर्थमें है। अतः सायुज्य ही मूल मुक्ति है और सालोक्यादि उसके प्रकार भेद मात्र हैं। सायुज्य-प्राप्त व्यक्तिको अवान्तर-फलरूपमें अन्यान्य मुक्ति, यथा—सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य एवं सार्ष्टि स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं। यह सायुज्य पुनः दो प्रकारका है—सम्भोग सायुज्य और विप्रलम्भ सायुज्य। सम्भोग सायुज्य जिस प्रकार सहजमें ही सुस्पष्ट रूपसे अनुभूत होता है, उस प्रकारसे विप्रलम्भ-सायुज्य शीघ्र अनुभूत नहीं होता। रति अत्यन्त सान्द्र (गाढ़) न हो तो विप्रलम्भ सायुज्यका उदय नहीं होता। विप्रलम्भ सायुज्यमें बाह्य रूपसे सालोक्य स्फूर्ति प्रकाशित न होनेपर भी आन्तर सालोक्य-स्फूर्ति अवश्य ही प्रकाशित होती है और महिमा-प्रभावसे भी उसकी स्थिति रहती है। नदीके समुद्रके साथ मिलनके दृष्टान्त द्वारा जीवके ब्रह्मके साथ सायुज्य अर्थात् सहयोगसे जीव और ब्रह्मस्वरूपका अभेद नहीं कहा जाता। इतना ही नहीं, जलके जलान्तरके साथ मिलित होनेपर और एकीभाव दिखायी देनेपर भी उनका अन्तर्गत भेद रहता है। जलके जलान्तरके साथ मिलित होनेपर यदि उनका अभेदत्व साधित होता, तो ऐसा होनेपर उस प्रकारके प्रवेश अथवा मिलनसे जलकी वृद्धि आदि नहीं होते। अतः जीवका परब्रह्मके साथ सायुज्य लाभ होनेपर अर्थात् सहयोगमें अवस्थिति होनेपर केवलाभेद सिद्ध नहीं होता।

हमारे परात्पर श्रीलगुरुदेव श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने अपने 'कल्याणतरु' ग्रन्थमें कहा है—

ओहे भाइ, मन केन ब्रह्म ह'ते चाय।
कि आश्चर्य कब का'के, सदोपास्य बल' याँके।
ताँते केन आपने मिशाय॥

बिन्दु नाहि हय सिन्धु, वामन ना स्पर्शे इन्दु,
रेणु कि भूधर-रूप पाय?

लाभ मात्र अपराध, परमार्थ हय बाध,
सायुज्य-वादीर हाय हाय॥
एहेन दुरन्त बुद्धि, त्यजि' कर सत्त्व शुद्धि,
अन्वेषह प्रीतिर उपाय।
'सायुज्य'-निर्वाण आदि, शास्त्रे शब्द देख यदि,
से सब भक्तिर अङ्गे जाय॥
कृष्ण-प्रीति फलमय, 'तत्त्वमसि', आदि हय,
साधक चरमे कृष्ण पाय।
अखण्ड आनन्दमय, वृन्दावन कृष्णालय,
परब्रह्म-स्वरूप जानाय।

अर्थात् अरे भाई मेरे मन! तुम किसलिए ब्रह्म बनना चाहते हो? यह कैसे आश्चर्यकी बात है कि जिन्हें तुम सदैव ही अपना उपास्य कहते आये हो, आज उनमें मिल जाना चाहते हो। अरे! जलकी एक बूँद कभी सागर नहीं बन सकती, एक बौना व्यक्ति कभी चन्द्रमाका स्पर्श नहीं कर सकता। क्या धूलका एक कण भी पर्वतका रूप धारण कर सकता है? एक छोटा अपराध भी परमार्थके मार्गमें बड़ी बाधा बन जाता है तो फिर हाय! हाय! इस सायुज्यवादीके विषयमें क्या कहा जाय!

इसीसे हे मन! ऐसी बुद्धिका त्याग कर दो जो परिणाममें अत्यन्त दुःखदायी है और इसके स्थानपर शुद्ध-सत्व भाव अपनाओ। भगवान् श्रीकृष्णसे किस प्रकार प्रेम हो, ऐसे ही उपायोंका नित्य-निरन्तर अन्वेषण करो। शास्त्रमें यदि तुमने सायुज्य निर्वाण इत्यादि शब्दोंको देख भी लिया है तो ध्यान रखो, ये सब भगवान्‌की भक्तिके ही अङ्ग हैं।

वैदिक शास्त्रोंमें जो तत्त्वमसि (*'तस्य त्वम् असि'*) इत्यादिका उल्लेख है, वह कृष्ण-प्रीतिके साधन (आत्यन्तिक भक्तियोग) का ही फल है। जो साधक हृदयमें कृष्ण-प्रीतिकी चरमावस्थाको प्राप्त कर लेता है, वह निश्चित रूपसे श्रीकृष्णको प्राप्त कर लेता है। वे अखण्ड आनन्दस्वरूप हैं, वृन्दावन श्रीकृष्णालय है और परब्रह्मस्वरूपमें

वे ही जाने जाते हैं। श्रीकृष्णके विग्रहसे जो शोभन किरणें निकलती हैं वे ही ब्रह्म रूपमें शोभा प्राप्त करती हैं।

श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरने स्वरचित ग्रन्थ तत्त्वसूत्रमें कहा हैं—

सार्ष्टि, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये सभी भगवत्-सन्निकर्ष अर्थात् श्रीभगवान्‌के समीपमें ही प्रकाश करते हैं वास्तविक सायुज्य शब्दका अर्थ है—ब्रह्मके साथ संयोग। जो वैष्णव गोपीभावसे साधनमें प्रवृत्त होते हैं उनका साधन ही ब्रह्म-सायुज्य (ब्रह्मके साथ संयुक्त होकर उनकी नित्य सेवा)—साधन कहा जायेगा। (तत्त्वसूत्र १९वाँ सूत्र)

श्रीरामानुजाचार्यने वेदान्ततत्त्वसारमें कहा है—*'पृथग् ग्रहण-रहितत्वेन वृत्तिरेकीभावः, स एव लयशब्दार्थः' यथा 'वृक्षे लीना पतङ्गाः', 'वने लीना सारङ्गाः।'*

अर्थात् पृथक्-ग्रहणसे रहित (ब्रह्मसे पृथक् अनुभवसे रहित अर्थात् अपने स्वरूपको त्यागे बिना अभिन्न अनुभवसे युक्त) ऐक्यवृत्तिका (स्वरूपसंस्थितिका) भाव ही लय शब्दका अर्थ है यथा 'पक्षी वृक्षमें लीन हो गये' अथवा 'हिरन वनमें लीन हो गये' इत्यादि कथन। (वृक्षकी सघनताके कारण पक्षी दिखायी न देनेसे और वनकी गहनताके कारण हिरन दिखायी न देनेसे यह नहीं समझा जा सकता कि उनका अस्तित्व मिट गया।)

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके तत्त्वमुक्तावलीके छठे श्लोकमें देखा जाता है—

साक्षात् तत्त्वमसीति वेदविषये वाक्यस्तु यद्वर्त्तते, त्वन्यार्थं कुरुते स्वकीयमतविद्भेदेऽर्पयित्वा मतिम्। तच्छब्दोऽव्ययमेव भेदक इह त्वं त्वत्र भेद्यो यतः षष्ठीलोपमितौ त्वमेव न हि तद् वाक्यार्थ एतादृशः।
तत् त्वम् असि—यह साक्षात् वेदवचन है। इस वेद-विषयमें अभेदपरक प्रातीतिक अर्थ है। स्वकीय मतको जाननेवाला (द्वैतमतविद् यह लेखक) अपनी भेद-बुद्धि अर्पण करके भेद सिद्धान्तमें अपनी मतिको स्थिर करके अन्यार्थ करता है। 'तत्' शब्द अव्यय ही है। यह 'तत्' शब्द इस स्थलपर 'भेद्य' अर्थात् भेद किये जाने योग्य है। *'तस्य त्वम्*

असि' (अव्ययपदके उत्तरमें) सम्बन्ध सूचक षष्ठीका लोप होनेसे *'त्वम् एव'*—'तुम ही हो'—यह वाक्य बन नहीं सकता। *'तस्य त्वम् असि'* में सम्बन्ध विभक्ति होनेसे भेद सुस्पष्ट है। अतः तुम जो अर्थ कहते हो कि 'तुम ही हो'—इसका निरूपण हो नहीं सकता, यह वाच्यार्थ नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

परमभक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामात्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यविशेषेण समीयुः। (श्रीमद्भा॰ ५/१/२७)

अर्थात् अविच्छिन्न परम भक्तिके योगके प्रभावसे उनका अन्तःकरण निर्मल हो गया। भक्तियोगसे परिभावित विशुद्ध हृदयमें समग्र चित् और अचित्के आश्रयस्वरूप अर्थात् चिदचिच्छक्तिविशिष्ट भगवान्का आविर्भाव होनेके कारण उन्होंने औपाधिक (देह एवं मनके) धर्मका परित्याग करके भगवत्-साधर्म्य प्राप्त किया था।

गोविन्दभाष्यके प्रणेता श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने 'प्रमेयरत्नावली' ग्रन्थमें मुण्डक-श्रुतिको उद्धृत किया है *'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* (मु॰ ३/१/३) अर्थात् द्रष्टा-परमेश्वर-आराधनपरायण साधक जिस समय परमज्योतिर्मय (स्वयंप्रकाशस्वरूप) दिव्य-हेमवर्णात्मक, जगत्-सृष्टि-कर्त्ता, सर्वनियन्ता, ब्रह्मयोनि अर्थात् अव्याकृत (कारणरूप) पुरुष ब्रह्माके भी कारण (उत्पतिस्थान) इन वासुदेवका साक्षात्कार करता है, उसी समय वह ब्रह्मदर्शी सञ्चित पाप-पुण्यका क्षय करके प्राकृतिक लेपसे (सम्पर्कसे) रहित निरञ्जन (निर्लेप) हो जाता है और उसके फलस्वरूप ब्रह्मके अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकके आविर्भाव होनेके कारण सारूप्य प्राप्त कर लेता है। कठोपनिषदमें पठित *'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्त तादृगेव भवति'* (कठ॰ २/१/१५) अर्थात् जिस प्रकार शुद्ध जल निर्मल जलमें प्रक्षिप्त कर दिये जानेसे वह एकरस हो जाता है, उसी प्रकार 'हे गौतम! आत्मवित् मुनिका आत्मा भी वैसा ही हो जाता है' एवं श्रीमद्भगवद्गीता (१४/२) में वर्णित *'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः'* इत्यादि

अर्थात् इस ज्ञानका आश्रयकर मुनिगण मेरे साधर्म्य अर्थात् सारूप्य-लक्षणा मुक्तिको प्राप्त करके सृष्टिकालमें जन्म-ग्रहण नहीं करते हैं तथा प्रलयकालमें मृत्यु-यन्त्रणाको प्राप्त नहीं करते हैं इत्यादि वचनोंका अवलम्बन करके वे आगे कहते हैं—

एषु मोक्षेऽपि भेदोक्तेः स्याद्भेदः पारमार्थिकः।
(प्र०र० ४/३)

अर्थात् इन मोक्षावस्थाओंमें भी जीव-ईश्वर भेदकी उक्ति रहनेके कारण यह भेद पारमार्थिक है। परम अर्थ यही है कि जीव एवं ईश्वरमें नित्य भेद कभी मिट नहीं सकता। (आत्यन्तिक भक्तियोगसे) जीव ईश्वरको प्राप्त करता है। इनकी कान्तिमाला टीकामें भी द्रष्टव्य है—

ननु नैतानि लिङ्गानि भेदं साधयितुमेकान्तानि तेषामभेदसाधनेऽपि दर्शितत्वात्। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, (मु० ३/२/९) *ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति* (बृ०आ० ४/४/६) *इति मोक्ष दशायामभेदावधारणात् व्यावहारिको भेदः स्यादिति चेत् तत्राह किञ्चेति। यदेति-पश्यः ध्याता जीवः। यथोदकमिति-विजानतस्तदनुभविनः। इदमिति-उपाश्रित्य-प्राप्य। एष्वेति एषु वाक्येषु साम्यमिति तादृगेवेति, साधर्म्यमिति मोक्षेऽपि भेदोक्तेस्तात्त्विको भेदः। एवञ्च ब्रह्मैवत्यत्र ब्रह्मतुल्य इत्येवार्थः। 'एवौपम्येऽवधारणे' इति विश्वः।*

पूर्वपक्ष है कि उपरोक्त प्रमाणसमूह ऐकान्तिक भेदका साधन करनेमें अक्षम हैं, समर्थ नहीं हैं, भेद-साधनके ये ऐकान्तिक लिङ्ग (प्रभाव) नहीं हैं। अभेद-सिद्धिमें इन लिङ्गोंका व्यवहार (उपयोग) देखा जाता है। यथा *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है), *'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'* (वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है) इस प्रकार मोक्ष-दशामें अभेदकी अवधारणा देखी जाती है—इस कारणसे भेद व्यावहारिक ही होगा, पारमार्थिक नहीं। इसके उत्तरमें कहते हैं कि ये सभी लिङ्ग जीव एवं ईश्वरके भेदका प्रतिपादन करनेके लिए हैं। तात्पर्य यह है कि शास्त्रका तात्पर्य जीव एवं ईश्वरके भेदके प्रतिपादनमें ही है। *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* (जो परब्रह्मका साक्षात्कार करता है, वह ब्रह्म सदृश हो जाता है), *'ब्रह्मैव*

सन् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है—जन्म-मरणसे रहित होकर ब्रह्मके धर्मको प्राप्त करता है) इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट है कि मोक्ष-अवस्थामें भी जीव एवं ईश्वरका भेद निःसन्दिग्ध रूपसे पारमार्थिक है। इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—'पश्यः' अर्थात् ध्याता जीव। *'यथोदकमिति'* श्लोकमें *'विजानतस्तदनुभविनः'* में 'विजानतः' का अर्थ है तत्त्वविद्-भगवदनुभवी मननशील। यथोदकम्—अर्थात् जिस प्रकार निर्मल जलमें निर्मल जलके चले जानेपर वह जल आधार-जलके ही समान होता है—इस सादृश्यका तात्पर्य एकीभाव नहीं होता। गीतोक्त इदमितिमें उपाश्रित्यका तात्पर्य है—प्राप्त करके। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषदमें वर्णित 'साम्य' कठोपनिषदमें कथित 'तादृगेव भवति' और भगवद्गीतामें उक्त 'साधर्म्य' शब्दोंका तात्पर्य मोक्ष-अवस्थामें भी तात्त्विक भेद अर्थात् जीव और ईश्वरका भेद है—ऐसा समझना चाहिये। उन्होंने 'ब्रह्मैव' में 'एव' कारका अर्थ 'तुलना' बतलाया है—ब्रह्मके समान-भगवान्‌के समान धर्म अर्थात् जन्म-मरणसे राहित्यकी प्राप्ति' (सृष्टि करनेका गुण कदापि नहीं)। *'एवौपम्येऽवधारणे इति विश्वः'* विश्वकोशमें कहा है—'एव' का प्रयोग उपमाके लिए किया जाता है—'एव' यह उपमावाचक शब्द है। उपमावचक शब्दोंसे उपमानार्थोंकी उपस्थिति होती है। यहाँ उपमान अपहतपाप्मत्व साधारण धर्म है। जीवकी उपमेय ब्रह्मसे तुलनाकी गयी है। 'एव' भेद सूचक अव्यय है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें प्राप्त होता है—

मुक्तः परस्मादात्मानं भागाविरोधिना अविभागेनानुभवति। तत्त्वस्य तदानीमपरोक्षतो दृष्टत्वात्, शास्त्रस्याप्येवं दृष्टत्वात्।

स्वस्वरूपसे अभिनिष्पन्न अर्थात् स्वरूप-प्राप्ति हो जानेपर जीव परमात्मासे अविभाग रूपमें स्वयंको अपृथक् रूपमें ही अनुभव करता है, वह अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न मानता है। सिद्धान्तमें *'ऐतदात्म्यमिदंसर्वम्', 'अयमात्मा ब्रह्म'* इत्यादि श्रुतियोंमें मुक्त जीव अपने आपको ब्रह्म रूपमें ही अनुभव करता है और इसी प्रकार अपरोक्ष रूपसे दिखायी भी देता है। *'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्'* इत्यादि श्रुति द्वारा भी जीवका ब्रह्मात्मक तदपृथक्सिद्धत्व आदि धर्मोंका स्वरूप बतलाया

गया है। परब्रह्मके प्रकाशसे उसे जो प्रकाश प्राप्त होता है, उससे उसे सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है। शास्त्र भिन्नाभिन्नत्व रूपमें ही मुक्त जीवात्माकी सिद्धि करते हैं।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यके सारमें भी पाया जाता है—मुक्त जीव स्वयंको परब्रह्मसे अभिन्न रूपमें अनुभव करते हैं और इसी प्रकार ही दृष्ट होता है। परब्रह्मकी उपसम्पत्तिके फलरूपमें अर्थात् सन्निकर्ष (सामीप्य) प्राप्त होनेपर जिनकी अविद्याका आवरण निवृत्त हो जाता है, वे ही अपनी आत्माका यथायथ रूपसे दर्शन करते हैं। जीवात्माका यथार्थस्वरूप जो परमात्मासे भिन्न नहीं है और जीवात्मा परमात्माका शरीर-स्थानीय रूपमें विशिष्टांशस्वरूप है, वही विभिन्न श्रुति-वाक्योंमें प्रतिपादित हुआ है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी—

ये भोगाः परमात्मा भुज्यन्ते त एव मुक्तैर्भुज्यन्ते। यानेवाहं शृणोमि यान् पश्यामि यान् जिघ्रामि तानेवैते इदं शरीरं विमुच्यानुभवन्ति इति दृष्टत्वाच्चतुर्वेद-शिखायाम्। भविष्यपुराणे च। 'मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्भोगाल्लेशतः क्वचित्। बहिष्ठान् भुञ्जते नित्यं नानन्दादीन् कथञ्चन इति।

अर्थात् जिन्होंने भगवत्-सायुज्य प्राप्त किया है, ऐसे भगवत्-भक्त आनन्द भोग करते हैं। यह स्वीकार न करनेपर ईश्वरका सर्वभोक्तृत्व असिद्ध होता है। अब सन्देह यह है कि ब्रह्मके सायुज्य भोगी व्यक्ति जो हैं, क्या वे ब्रह्म-भोग्य आनन्दका भोग करते हैं अथवा अन्य आनन्दका भोग करते हैं। इस सन्देहके निराकरणके लिए कहते हैं—जो समस्त भोग्य परमात्मा भोग करते हैं—उन सबका मुक्तपुरुष भी भोग करते हैं। चतुर्वेदशिखामें कहा गया है कि भगवान्ने कहा है—मैं जो कुछ सुनता हूँ, जो कुछ भी देखता हूँ और जो कुछ भी सूँघता हूँ—उस सबका मुक्तपुरुष अर्थात् मेरे भक्त विमुक्त होकर भोग करते हैं। भविष्यत्-पर्वमें कहा गया है कि मुक्तपुरुष विष्णुपदको प्राप्त करके उनके भोगोंमेंसे किञ्चित् भोग करते हैं, किन्तु विष्णुके सम्पूर्ण आनन्दादिका भोग नहीं कर सकते। अतएव मुक्तपुरुषका भगवत्-भुक्त भोग है, यह सिद्ध हुआ॥ ४॥

अवतरणिका भाष्य—अथ मुक्तस्य भोगान् निरूपयिष्यता तद्धेतुभूतः सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणगणो दिव्यविग्रहश्च निरूपणीयः। तत्रादौ गुणा निरूप्यन्ते—तथाहि परंज्योतिरुपसम्पन्नः केनचिद्गुणगणेन विशिष्ट आविर्भवति उत चिन्मात्र एव सन् किं वोभयाविरोधात् उभयविधस्वरूपः सन्निति विषये जैमिनेर्मतं तावदाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद सूत्रकार मुक्तपुरुषके भोगका निरूपण करना चाहते हैं, इसलिए उसके पूर्व उन भोगोंके हेतुभूत मुक्तके सत्यसङ्कल्पादि गुणसमूह एवं दिव्य शरीर निरूपणीय (उल्लेखनीय) है। इनमें गुणाष्टकका पहले निरूपण करते हैं। इसमें संशय यह है कि परज्योतिःसम्पन्न पुरुष क्या कुछ-कुछ गुणोंसे सम्पन्न होकर आविर्भूत होते है अथवा केवल चित्स्वरूप होकर? अथवा दोनोंकी सत्ताके अविरोधके कारण उभयविध स्वरूप होकर? इस विषयपर महर्षि जैमिनिका मत पहले बता रहे हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—ब्रह्मसायुज्यवान् मुक्तस्तिष्ठतीत्युक्तम्। तमाश्रित्य तस्य गुणाष्टकवत्त्वं निरूपणीयमिति पूर्ववत् सङ्गतिः। अथ मुक्तस्येत्यादि। तद्धेतुभूतो भोगप्रकाशकारणभूतः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—मुक्तपुरुष ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त करके अवस्थान करते हैं, यह बात पहले वर्णित हुई है, उसका आश्रय करके उस मुक्त पुरुषकी अष्टविध-गुणवत्ताका आविर्भाव निरूपणका विषय है। इस कारण इस अधिकरणमें भी पूर्वके समान आश्रयाश्रयिभाव-सङ्गति जाननी चाहिये। *'अथ मुक्तस्येति भाष्ये तद्हेतुभूत इति'*—भोगोदयका कारणीभूत, यह अर्थ है।

ब्राह्माधिकरणम्

सूत्र—ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः॥५॥

सूत्रार्थ—जैमिनिः—महर्षि जैमिनि कहते हैं, ब्रह्मेण—परमात्मा द्वारा निष्पादित जीव अपहतपाप्मत्वसे आरम्भ करके सत्यसङ्कल्प पर्यन्त गुणाष्टक-विशिष्ट होकर अविर्भूत होता है, क्योंकि उपन्यासादिभ्यः—श्रुति, स्मृति आदिमें इस प्रकार उपन्यस्त हुआ है (कहा गया है)। इन सब गुण-योगके कारण मुक्तपुरुषके आहार अथवा हास्य-क्रीड़ादि होते हैं॥५॥

सूत्रानुवाद—परमज्योतिको प्राप्त जीवात्मा अपहतपाप्मत्वादिसे सत्यसङ्कल्प पर्यन्त गुणविशिष्ट होकर आविर्भूत होता है। ईश्वरके गुण मुक्तमें उपन्यस्त हैं—ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं॥ ५॥

गोविन्दभाष्य—ब्राह्मेण ब्रह्मणा निर्वृत्तेन अपहतपाप्मात्वादिना सत्यसङ्कल्पत्वान्तेन गुणगणेन विशिष्टः सन्नाविर्भवति। कुतः? उपेति। प्रजापतिवाक्ये तस्य गुणगणस्य जीवेऽप्युपन्यासात्। आदिशब्दात् तद्गुणप्रयुक्ता मुक्तव्यवहारा जक्षणक्रीडनादयः। तेभ्यस्तेन विशिष्टं मुक्तस्वरूपमेवाविर्भवतीति जैमिनिर्मन्यते। स्मृतिश्चैवमाह—*"यथा न ह्रियते ज्योत्स्ना"* इत्यादिना॥ ५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्राह्मेण अर्थात् ब्रह्मणा—परमेश्वरके द्वारा निष्पादित अपहतपाप्मत्वसे आरम्भ करके सत्यसङ्कल्प पर्यन्त गुणाष्टकविशिष्ट होकर मुक्तपुरुष आविर्भूत होता है—इसका प्रमाण है प्रजापतिके वचनका उल्लेख। उनके वाक्यमें गुणाष्टकका मुक्तजीवमें भी कथन है। सूत्रोक्त आदि शब्दसे तात्पर्य है गुणाष्टकविशिष्ट मुक्तपुरुषका आहार-विहारादि व्यवहार इस सबसे भी जाना जा सकता है कि वह गुणाष्टकविशिष्ट मुक्तस्वरूप ही आविर्भूत होता है—यह जैमिनि मुनि मानते हैं। स्मृति-वाक्यमें भी इसी प्रकार कहा गया है—*'यथा न ह्रियते ज्योत्स्ना'* इत्यादि अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमासे उसकी ज्योत्स्ना (चाँदनी) दूर नहीं होती, उसी प्रकार मुक्त होनेपर उससे गुणाष्टक विच्युत नहीं होता॥ ५॥

सूक्ष्मा-टीका—ब्राह्मेणेति। ब्रह्मणा श्रीहरिणा निर्वृत्तो ब्राह्मः। तेन निर्वृत्तमित्यण तृतीयान्तात् सिद्धमित्यर्थेऽण् स्यादिति सूत्रार्थः। भगवदुपासनाविर्भूतेन स्वकीयेन गुणगणेनेत्यर्थः। तद्गुणेति। गुणाष्टकहेतुका इत्यर्थः॥ ५॥

सूक्ष्मा-सार—*'ब्राह्मण'* इत्यादि सूत्रमें। 'ब्राह्मण'—ब्राह्म शब्दका अर्थ है—श्रीहरि द्वारा निष्पादित। इसकी व्युत्पत्ति है—*'तेन निर्वृत्तम्'* (पा॰ ४/२/६८)—तृतीयान्त-पदमें उत्तरमें निष्पन्न इस अर्थमें 'अण्' प्रत्यय होता है, यह सूत्रार्थ है—अतः ब्रह्मन् शब्दके उत्तरमें अण् 'भ' संज्ञा हेतु *'नस्तद्धिते'* (पा॰ ६/४/१४४) सूत्रके अनुसार नकारान्त शब्दके 'हि' का लोप होकर यह 'ब्रह्मण' शब्द व्युत्पन्न है। इसका अर्थ है—श्रीभगवान्‌की उपासनामें अभिव्यक्त स्वकीय गुणाष्टकविशिष्ट होकर। आदिशब्दात् तद्गुण प्रयुक्ता इति—गुणाष्टकयुक्त, यह अर्थ है॥ ५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—परज्योतिःसम्पन्न अर्थात् ब्रह्मसायुज्यवान् मुक्तपुरुषके भोगके विषयमें निरुपण करते हुए सबसे पहले उनके सत्यसङ्कल्पादि गुण और दिव्यविग्रहके बारेमें वर्णन करना उचित है। इस विवेचनामें सर्वप्रथम गुणोंका निरूपण किया जाता है। इस स्थलपर संशय यह है कि परज्योतिःसम्पन्न मुक्तपुरुष किन-किन गुणोंके साथ विशिष्टता प्राप्त होकर आविर्भूत होते हैं? अथवा केवल चिन्मात्रस्वरूप होकर आविर्भूत होते हैं। अथवा दोनों ही अवस्थाओंके अविरोधके कारण दोनों स्वरूपोंमें ही आविर्भूत होते हैं? इस संशय-स्थलपर महर्षि जैमिनिके मतका उल्लेख करते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि भगवत्-उपासनाके फलस्वरूप परब्रह्म श्रीहरि द्वारा निष्पन्न अपहतपाप्मत्वादि सहित सत्यसङ्कल्प पर्यन्त गुणोंसे विशिष्ट होकर ही मुक्तपुरुष आविर्भूत होते हैं—यह प्रजापतिके वचन द्वारा भी समर्थित है। सूत्रोक्त आदि शब्दसे यह भी जानना चाहिये कि ब्रह्मसम्पन्न जीवके आहार-विहारादि व्यवहार भी होते हैं। स्मृति-वाक्यसे इसी प्रकार बोधित होता है।

छान्दोग्य (८/७/१) में पाया जाता है—

'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।'

अर्थात् जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मुत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, उसे खोजना चाहिये और उसे विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें भी द्रष्टव्य है—

प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
आरब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः॥

(श्रीमद्भा० १/६/२९)

अर्थात् जैसा श्रीहरिने मुझसे कहा था—शुद्ध, सत्त्वमय, अप्राकृत, चिन्मय, भगवत्-पार्षदोचित भागवती तनुको भगवत्-कृपासे प्राप्त करने योग्य होनेपर मेरे प्रारब्धकर्मोंका ध्वंस हो गया और मेरा पाञ्चभौतिक शरीर नष्ट हो गया।

तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥

(श्रीमद्भा॰ ७/७/३६)

अर्थात् उस समय वे सारे भव-बन्धनोंसे मुक्त हो जाते हैं। उनके मन और शरीर भगवान्की लीलाओंका ध्यान करते-करते अप्राकृत सच्चिदानन्दमयताको प्राप्त हो जाते हैं। भक्तिकी अतिशयताके कारण उनके अविद्या आदि अज्ञान और जागतिक वासनाएँ सम्पूर्ण रूपसे दग्ध हो जाते हैं। और वे मुक्तजीव भली-भाँति भगवान्को प्राप्त कर लेते हैं।

श्रीमन्महाप्रभुने (चै॰च॰अ॰ ४/१९१-१९३) भी कहा है—

प्रभु कहे—वैष्णव-देह प्राकृत कभु नय।
'अप्राकृत' देह भक्तेर 'चिदानन्दमय'॥

दीक्षाकाले भक्त करे आत्मसमर्पण।
सेइ काले कृष्ण तारे करे आत्मसम॥

सेइ देह करे तार चिदानन्दमय।
अप्राकृत देहे ताँर चरण भजय॥

अर्थात् महाप्रभु श्रीगौरसुन्दरने पदाश्रितोंको (शरणागतोंको) यही समझाया कि कर्मी, ज्ञानी अथवा अन्याभिलाषियोंकी भोगमय जड़ानन्द-विशिष्ट प्राकृत-देहके समान वैष्णवकी देह कभी भी भोगपरायण वस्तु नहीं है। भक्त-देह चिदानन्दमय है अर्थात् कृष्णसेवा-उपयोगी और प्रकृतिसे अतीत भावमय है। इसमें सच्चिदानन्दत्व विराजमान है। दीक्षाकालमें भक्त निज प्राकृत अनुभूतियोंको समर्पित करके अप्राकृत सम्बन्धज्ञानसे युक्त होते हैं। अप्राकृत दिव्य ज्ञान प्राप्त करके वे अप्राकृत स्वरूपमें कृष्णसेवाका अधिकार प्राप्त करते हैं। कृष्णेतर मायाके आश्रयसे विच्युत होनेपर ही शरणागत भक्तोंको कृष्ण आत्मसात् करते हैं। उस समय उनका जड़-भोग-राज्यका 'भोक्ता' के रूपमें जड़ीय अभिमान दूर हो जाता है और निज-अस्मितामें नित्य

कृष्णदासकी स्फूर्ति होती है। उस समय भक्त अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूपमें नित्य-सेवक-विग्रहत्वकी उपलब्धि करके अप्राकृत देहमें कृष्णचन्द्रकी सेवाका अधिकारी होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

सर्वदेह परित्यागेन मुक्ताः सन्तो ब्राह्मणैव देहेन भोगान् भुञ्जत इति जैमिनिर्मन्यते। स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्त्यमतिसृज्य ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवतीति माध्यन्दिनायन श्रुतावुपन्यसात्। आदत्ते हरिहस्तेन हरिदृष्ट्यैव पश्यति। गच्छेच्च हरिपादेन (पादाभ्यां) मुक्तस्यैषा भवेत् स्थितिरिति स्मृतेः। 'गच्छामि विष्णुपादाभ्याम् विष्णुदृष्ट्या तु दर्शनम् इत्यादि पूर्वस्मरणान्मुक्तस्यैद्भविष्यतीति' बृहत्तन्त्रोक्त युक्तेश्च।

अर्थात् मुक्तपुरुष ब्रह्मको प्राप्त होकर ही भोग करते हैं—यही समर्थन करते हैं। अब सन्देह यह होता है कि मुक्तोंका शरीर है? कि नहीं है? यदि उनका शरीर रहता है तो उनकी मुक्तिकी असिद्धि होती है। विशेष रूपसे मुक्त संसारातीत हैं। उनका शरीर रहना असम्भव है और शरीर न रहनेपर भोग नहीं हो सकता। इस अनुपपत्तिके पूरणार्थ कहते हैं—मुक्त लिङ्गादि समस्त देहका परित्याग करके ब्रह्मदेह द्वारा भोगवस्तुका उपभोग करते हैं—यह आचार्यवर जैमिनिका मत है। माध्यन्दिन श्रुतिमें उपन्यस्त है कि ब्रह्मनिष्ठ मुक्तपुरुष उपासक होकर भौतिक देहका विसर्जन करते हुए ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। वे ब्रह्मदेह द्वारा दर्शन करते हैं, श्रवण करते हैं और उनकी ही देहसे समस्तका अनुभव करते हैं। स्मृतिमें कहा गया है कि मुक्त व्यक्ति श्रीहरिके हस्त द्वारा ग्रहण करता है, हरिके चक्षुसे देखता है और हरिके चरणों द्वारा गमन करता है इस प्रकारसे मुक्तकी स्थिति होती है। बृहत्-तन्त्रमें कहा है—मैं विष्णु-पाद द्वारा चलता हूँ और मैं विष्णु-चक्षु द्वारा दर्शन करता हूँ—इत्यादि पूर्वस्मरणके कारण मुक्तके देहभावमें भी भोगसिद्धि हैं॥ ५॥

सूत्र—चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः॥ ६॥

सूत्रार्थ—'औडुलोमि'—औडुलोमि मानते हैं कि—जीव ब्रह्मकी (परमेश्वरकी) उपासनाके फलस्वरूप अविद्याके दग्ध हो जानेपर

'चिति' चित्-स्वरूप ब्रह्ममें उपसम्पन्न होकर 'तन्मात्रेण' मात्र चित्-स्वरूपमें ही अभित्यक्त होता है, क्योंकि 'तदात्मकत्वाद्' बृहदारण्यकमें उसे चैतन्यमात्र रूपमें ही निश्चय किया गया है॥ ६॥

सूत्रानुवाद—चित्-स्वरूप ब्रह्मज्ञान द्वारा अविद्याके दग्ध होनेपर मुक्त जीव चित्-स्वरूपमें ही अभिव्यक्त होता है॥ ६॥

गोविन्दभाष्य—ब्रह्मध्यानाद्विप्लुष्टाविद्यो मुक्तश्चिद्रूपे ब्रह्मण्युपसम्पन्नश्चिन्मात्रेणाविर्भवति। कुतः? तदिति। बृहदारण्यके द्वितीयस्मिन्मैत्रेय्युपाख्याने—*"स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव"* इति (बृ॰आ॰ ४/५/१३) चैतन्यमात्रत्वेनावधारणात्। अतएव निर्गुणचैतन्यं जीवस्वरूपमित्यवबुध्यते। अपहतपाप्मादयः शब्दास्त्वविद्यात्मकेभ्यो विकारसुखादिभ्यो धर्मेभ्यस्तस्य व्यावृत्तिं बोधयन्तः कथञ्चित् तत्रैव नेया इत्यौडुलोमिर्मन्यते॥ ६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—ब्रह्मोपासना द्वारा अविद्याके दग्ध होनेपर मुक्तपुरुष चैतन्यस्वरूप ब्रह्ममें उपसम्पन्न होते हैं। उस समय वे चिन्मात्र स्वरूपमें अभिव्यक्त होते हैं। यह किस प्रमाणके आधारपर जान लिया? तो इसका उत्तर है—बृहदारण्यकोपनिषदमें द्वितीय मैत्रेयी-याज्ञवल्क्योपाख्यानमें यही श्रुत होता है—*'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः ... प्रज्ञानघन एवेति'* अर्थात् वह जीवात्मा कैसा है? देखो, जिस प्रकार एक निविड़ सैन्धव-लवण-खण्डके अभ्यन्तरमें लवण-रसके अतिरिक्त अन्य कोई रस नहीं है और न ही बहिर्भागमें अन्य कोई रस है वह समग्र ही लवण-रसमें निविड़ है, उसी प्रकार हे मैत्रेयि! इस आत्माको समझो, यह अन्तरमें और बाहरमें ज्ञानके (चैतन्यमात्र स्वरूपके) अतिरिक्त किसी भी विजातीय धर्मसे रहित है, यह केवल ज्ञानमय और स्वप्रकाश होकर ही विराजमान है। इस वाक्यके द्वारा आत्माके शुद्ध चैतन्यमयत्वका निश्चय किया गया है। अतएव इससे जाना जाता है कि जीवका स्वरूप प्रकृतिके गुणोंके सम्पर्कसे रहित, निर्गुण और चैतन्यात्मक है। तब जो उसके अपहतपाप्मत्व इत्यादि गुणोंका उल्लेख किया गया है, उसकी सङ्गति किस प्रकार होगी। इसके उत्तरमें कहते हैं कि अपहतपाप्मत्व इत्यादि शब्द अविद्यारूपी देहादि विकार और सुखादि धर्मोंसे मुक्तपुरुषकी व्यावृत्ति अर्थात् निवृत्ति

बतानेके लिए हैं। ये किसी प्रकारसे मुक्त जीवमें ही सङ्गमनीय हैं—यह आचार्य औडुलोमि मानते हैं॥ ६॥

सूक्ष्मा-टीका—चितीति। स यथेति। लोके यथा सैन्धवघनो लवणमूर्त्तिविशेषो बहिरन्तरश्च विजातीयरसशून्यः सर्वो लवणैकरसस्तथायमात्मा जीवोऽन्तर्बर्हिश्च ज्ञानैकरसः स्वप्रकाशश्चकास्तीत्यर्थः। अपहतेति। तस्य मुक्तजीवस्य। व्यावृत्तिं निवृत्तिम्। अपहतपाप्मा अपहतः पाप्मानो व्यावृत्तो मुक्तजीव इत्येवमादिर्वाक्यार्थः। अगोव्यावृत्तो गौरितीत्यादिवत्॥ ६॥

सूक्ष्मा-सार—*'चिति तन्मात्रेणेत्यादि'* सूत्रके भाष्यमें *'स यथेत्यादि'* (बृ॰आ॰ ४/५/१३) श्रुति-वाक्यका अर्थ है—लौकिक व्यवहारमें देखा जाता है—जिस प्रकार एक सैन्धवलवणखण्ड बाह्य एवं अभ्यन्तरमें—लवण-रससे भिन्न विजातीय रस-रहित है, समस्त अंशमें ही एक लवण-रसमय है, उसी प्रकार यह जीवात्मा अन्तरमें और बाहरमें विजातीय धर्मसे रहित केवल ज्ञानमय स्वप्रकाश होकर विराजमान रहता है। *'अपहतपाप्मादयः'* इत्यादिमें *'धर्मेभ्यस्तस्येति'*—'तस्य' का अर्थ है—मुक्त जीवकी विकारादि धर्मसे व्यावृत्ति अर्थात् निवृत्ति जानी जाती है। 'अपहतपाप्मा'—पापसे (अविद्या-विकारसे) से व्यावृत्त मुक्तजीव—इस प्रकारसे ही वाक्यार्थ करना चाहिये। जिस प्रकार 'गौरिति'—'गरु' कहनेसे 'गो' से अतिरिक्त अन्य प्राणीसे व्यावृत्त (पृथक्) इत्यादिके समान, यहाँ भी जानना चाहिये॥ ६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें औडुलोमि मुनिके मतको व्यक्त करते हुए कहते हैं कि औडुलोमिके मतमें ब्रह्म-ध्यानके द्वारा जीव अविद्यासे निर्मुक्त होकर चिद्रूप ब्रह्मको प्राप्त होकर चिन्मात्र स्वरूपमें ही आविर्भूत होते हैं। बृहदारण्यक-श्रुतिमें भी *'प्रज्ञान घन'* (बृ॰आ॰ ४/५/१३) शब्दके द्वारा जीवका चैतन्यमात्रस्वरूपत्व ही अवधारित हुआ है। अतएव जीवके स्वरूपको निर्गुण चिन्मात्र ही जाना जाता है। अपहतपाप्मत्वादि गुणों द्वारा जीवकी प्रकृतिके विकारभूत सुखादि धर्मोंकी व्यावृत्ति (निवृत्ति) बतलायी गयी है। बृहदारण्यक (४/५/१३) में कहा गया है—*'स यथा सैन्धवधनो ... प्रज्ञानघन एव।'*

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद्गुणचेतसाम्॥
(श्रीमद्भा॰ ११/१३/२८)

अर्थात् क्योंकि बुद्धिकी वृत्तियोंके द्वारा होनेवाला यह बन्धन ही आत्मामें त्रिगुणमयी वृत्तियोंका दान करता है। इसलिए तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्वमें स्थित होकर इस बुद्धिके बन्धनको परित्याग कर दे। तभी विषय और चित्त दोनोंका युगपत् त्याग हो जाता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

ब्रह्मणि चिद्रूपे उपसन्नः प्रत्यगात्मा चिन्मात्रेण रूपेणाविर्भवति। 'प्रज्ञान धन एव' इति तस्य तदात्मकत्व श्रवणादित्यौडुलामिर्मन्यते।

अर्थात् परमात्माके चिद्रूपमें उपसन्न (प्राप्त) प्रत्यागात्मा (मुक्त जीव) चैतन्यमात्र स्वरूपसे आविर्भूत होता है। *'प्रज्ञान घन एव'* (अन्तर-बाहर भेद रहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप) इस साधारण निश्चयात्मिका श्रुति द्वारा ज्ञात होता है कि जीवका स्वरूप चैतन्य मात्र ही है और वह इसी रूपसे आविर्भूत होता है—इसी प्रकारके श्रुति-वाक्यके आधारपर आचार्य औडुलोमिका यह मत है।

श्रीमध्वभाष्यके सारमें पाया जाता है—

चितिमात्रो देहो मुक्तानां पृथग्विद्यते तेन भुञ्जते। सर्वं वा एतदचित् परित्यज्य चिन्मात्र एवैष भवति चिन्मात्र एवावतिष्ठते तामेतां मुक्तिरित्याचक्षते इत्युद्दालकश्रुतेश्चिदात्मकत्वादित्यौडुलोमिर्मन्यते॥

पूर्वसूत्रमें मुक्तगणोंका देहाभाव स्वीकार करके भोगका समर्थन किया था। अब देह स्वीकार करके भोगका समर्थन किया जा रहा है—औडुलोमि आचार्य कहते हैं कि मुक्तोंकी देह चिन्मय होती है। वे उसी देह द्वारा भोग करते हैं। 'मुक्त अचिन्मय देहका एवं समस्त जागतिक पदार्थोंका परित्याग करके एकमात्र चिन्मय देहमें अवस्थान करते हैं—इसीको मुक्ति कहा जाता है'—इस उद्दालक-श्रुतिके आधारपर मुक्तकी चिन्मय देह जानी जाती है। इससे यदि कहते हैं कि मुक्तकी देह स्वीकार करनेपर उनके संसारित्वकी आपत्ति होती है तो ऐसा

नहीं है। अचिन्मय कृत्रिम शरीरका ही संसारित्व है, चिन्मय देहका संसारित्व नहीं है॥ ६॥

अवतरणिका भाष्य—अथ स्वमतमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद श्रीबादरायण उक्त विषयपर अपना मत बतलाते हैं—

उपन्यासाधिकरणम्

सूत्र—एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः॥ ७॥

सूत्रार्थ—'एवमपि' मुक्तजीवकी चिन्मात्रस्वरूपता निरूपित होनेपर भी 'उपन्यासात्' प्रजापतिके वाक्यमें गुणाष्टकका उल्लेख रहनेके कारण और 'पूर्वभावात्'—जैमिनि कथित चिन्मात्र स्वरूपत्व भी उस मुक्त जीवमें रहनेके कारण 'बादरायणः' श्रीकृष्णद्वैपायन 'अविरोधं मन्यते'—विरोध नहीं है—ऐसा मानते हैं॥ ७॥

गोविन्दभाष्य—एवमपि चिन्मात्रस्वरूपत्वनिरूपणे सत्यपि तस्मिंस्तस्य गुणाष्टकस्याविरोधं भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः? उपन्यासेत्यादेः। प्रजापतिवाक्ये तदुपन्यासात् प्रमात्तस्य पूर्वस्य जैमिन्युक्तस्यापि तत्र सत्त्वात्। श्रुतित्वाविशेषेणोभयोर्वाक्ययोः समप्रामाण्यादुभयविधस्वरूपत्वं मुक्तस्येतिसिद्धान्तः। अत्र प्रज्ञानघन एवेति श्रुतेर्निर्गुणचिन्मात्रं जीवस्वरूपमित्यर्थो बादरायणस्याभिमतः। एवमप्यविरोधमित्युक्तेः। न चैवमवधारणबाधः। सर्वांशेन जडव्यावृत्तस्वप्रकाशोऽयमात्मेति तस्माद्वाक्यादेव सुव्यक्तेः। न चेदृशेऽपि जीवे वाक्यान्तरावगतस्य तस्य गुणाष्टकस्य सम्बन्धो विरुध्यते। यथा कार्त्स्न्येन रसघनेऽपि सैन्धवघने दृगादिग्राह्या रूपकाठिन्यादयो न विरुध्येरन्निति। तस्मादपहतपाप्मात्वादिना गुणाष्टकेन विशिष्टो ज्ञानस्वरूपो जीव आविर्भवतीति॥ ७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मुक्तजीवकी चिन्मात्रस्वरूपताका निरूपण होनेपर भी उसमें अपहतपाप्मत्व इत्यादि आठ गुण (पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा एवं पिपासासे रहित, सत्यकामत्व और सत्यसङ्कल्पत्व) रह सकते हैं—यह सर्वज्ञ बादरायण मानते हैं। हेतु क्या है? *'उपन्यासात् पूर्वभावात्'*—प्रजापति-वाक्यमें गुणाष्टककी सत्ता उल्लिखित है—इस उल्लेखके प्रमाणके कारण तथा महर्षि जैमिनि द्वारा पूर्वोक्त 'चिन्मात्र स्वरूपत्व उस जीवमें विद्यमान रहता है'—इस प्रमाणके कारण।

प्रजापति-वाक्य एवं बृहदारण्यक-उक्ति—इन दोनोंके अविशेषमें श्रुतित्ववशतः प्रामाण्य समान ही है, कोई विशेष नहीं है—दोनों ही स्थानोंमें श्रुतिका दर्शन है—मुक्तपुरुषका उभयविधस्वरूपत्व अर्थात् चिन्मात्रस्वरूपत्व एवं गुणाष्टकवत्व दोनों ही सिद्ध हैं, स्वीकृत हैं। मुनि बादरायणका भी यही सिद्धान्त है। बृहदारण्यक-वाक्यमें *'प्रज्ञानघन एव'* इस श्रुतिके कारण तदवस्थामें (मुक्तावस्थामें) निर्गुणत्व-चिन्मात्रत्व जीवका स्वरूप है—बादरायणके इस वाक्यका यही अर्थ अभिमत है। उन्होंने स्वयं ही कहा है *'एवमप्यविरोधम्'*। आपत्ति उठती है कि ऐसा होनेपर *'प्रज्ञानघन एव'* जीवका केवल चिन्मात्रस्वरूप है, अन्य कुछ नहीं तो इस स्थलपर अवधारणार्थक अर्थात् इतर-व्यावर्त्तक 'एव' शब्दकी असङ्गति (बाधा) होगी तो यह कहा नहीं जा सकता अर्थात् अवधारणार्थक 'एव' शब्द यहाँ बाधित नहीं है क्योंकि 'एव' कारका अर्थ है—सर्वांशमें प्राकृतिक (जड़ीय) विकारसे व्यावृत्त (विच्छिन्न) स्वप्रकाशस्वरूप यह आत्मा—यही *'यथा सैन्धवघन'* इत्यादि वाक्यसे यह सुस्पष्ट है। सर्वांश विज्ञानमय अर्थात् बाह्य एवं अभ्यन्तरमें चैतन्यसे अतिरिक्त जड़स्वरूपसे रहित। ऐसे सर्वांश चैतन्यमय जीवमें वाक्यान्तरसे अवगत इस गुणाष्टकवत्व-सम्बन्धका कोई विरोध नहीं है। दृष्टान्त है कि जिस प्रकार सर्वांशमें लवण-रससे घनीभूत (पूर्ण) सैन्धव-खण्डमें चक्षुः, त्वगादि इन्द्रियोंसे ग्राह्यरूप एवं काठिन्यादि धर्म सैन्धवसे विरुद्ध नहीं होते, उसी प्रकार मुक्त जीवात्मामें भी गुणाष्टकको सत्ता विरुद्ध नहीं होती। अतएव सिद्धान्त यह है कि अपहतपाप्मत्वादि अष्टगुणके द्वारा विशिष्ट ज्ञानस्वरूप होकर जीव स्वरूपतः प्रकाश प्राप्त करता है॥ ७॥

सूक्ष्मा-टीका—अथेति। तस्मिन् मुक्तजीवे। तस्य जैमिन्युक्तस्य। न चैवमिति। प्रज्ञानघन एवेत्यवधारणबाधो न भवतीत्यर्थः। तस्मादिति। यथा सैन्धवघनेत्यादिकादित्यर्थः। न चेति। ईदृशेऽपि सर्वांशेन विज्ञानघनेऽपीत्यर्थः॥ ७॥

सूक्ष्मा-सार—*'अथेत्यादि'। 'तस्मिंस्तस्येति'* में 'तस्मिन्'—मुक्तजीवमें, तस्य—जैमिनि द्वारा उक्त आठ गुणका। *'न चैवमवधारणबाधः'* इति—*'प्रज्ञान घन एव'* उक्तिमें जो 'एव' कार द्वारा अवधारण किया गया है, उसका भी बाध नहीं होता है—यही तात्पर्य है। *'तस्माद् वाक्यादेवेति'* में 'तस्मात्' से तात्पर्य है—*'यथा सैन्धवधनः'* इत्यादि वाक्यमें, यह अर्थ

है। *'न चेदृशेऽपि जीवे'* इतिमें 'ईदृशेऽपि' अर्थात् बाह्यतः एवं अभ्यन्तरमें सर्वांशमें चैतन्यमय जीवमें भी।॥७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब जैमिनि एवं औडुलोमि इन दोनोंसे विशेष ब्रह्मसूत्रकार भगवान् श्रीबादरायण ऋषि अपने अविरुद्ध मतको व्यक्त करते हुए प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकारसे मुक्त जीवका चिन्मात्रस्वरूपत्व निरूपित होनेपर भी प्रजापतिके वाक्यके अनुसार मुक्तजीवमें सत्य-सङ्कल्पादि गुणाष्टकविशिष्टत्वका कोई विरोध नहीं है। चिन्मात्रस्वरूपत्व और गुणाष्टकविशिष्टत्व दोनों ही मुक्तजीवमें सम्भव हैं—यही बादरायण श्रीकृष्णद्वैपायनका सिद्धान्त है।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा
कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः।
यद्बुद्ध्यवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या
द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से॥

(श्रीमद्भा॰ ४/९/१५)

अर्थात् हे देव! आप अपनी अखण्डित चिन्मय दृष्टि द्वारा बुद्धिकी सहस्र अवस्थाओंका दर्शन करते हैं। आप विश्वके पालनके लिए यज्ञाधिष्ठाता श्रीविष्णुरूपमें विराजमान हैं। अतः आप जीवसे सर्वथा पृथक् एवं विलक्षण हैं। आप परम शुद्धसत्त्वमय हैं, जीव मलिन है। आप सर्वज्ञ हैं, जीव अल्पज्ञ है। आप मायाधीश हैं, जीव मायाके वश होने योग्य है। आप निर्विकार हैं, जीव मायाके संस्पर्शसे अपने स्वरूपको भूल जानेवाला है। आप जन्म-रहित आदि पुरुष हैं, जीव जन्मयुक्त है। आप पूर्ण ऐश्वर्यशाली हैं, जीवका ऐश्वर्य अल्प है। आप त्रिगुणके अधीश्वर स्वतन्त्र पुरुष हैं, जब कि जीव गुणोंके द्वारा अभिभूत होनेवाला है। आप नित्यमुक्त हैं, जीव आपके अनुग्रहसे ही बन्धन-मुक्त हो सकता है।

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मन् ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/४५)

इस प्रकार चित्त समाहित हो जानेपर जैसे एक ज्योति दूसरी ज्योतिसे मिलकर एक हो जाती है, वैसे ही स्वयंमें मुझे और मुझ सर्वात्मामें स्वयंको दर्शन करे।

इस प्रसङ्गमें श्रीगीताके अठारहवें अध्यायका चौदहवाँ एवं पंद्रहवाँ श्लोक भी आलोच्य है।

श्रीनिम्बादित्य भाष्यमें भी—

विज्ञानमात्र स्वरूपत्वप्रतिपादने सत्यपि अपहतपाप्मत्वादिमद्विज्ञान स्वरूपाविर्भावादविरोधं भगवान् बादरायणो मन्यते। कुतः? मुक्तजीव सम्बन्धितया अपहतपाप्मत्वाद्युपन्यासात्।

अर्थात् विज्ञानमात्र स्वरूपत्वका प्रतिपादन सत्य होनेपर भी अपहतपाप्मत्वादि गुणोंसे सम्पन्न विज्ञानस्वरूपके आविर्भावसे अर्थात् चैतन्यस्वरूपकी प्राप्तिसे मोक्षस्वरूप अविरोध है—यह भगवान् बादरायण मानते हैं। कैसे? प्रजापति-वाक्यमें अपहतपाप्मत्व आदिको भी विज्ञानरूप मुक्तजीवमें प्रतिपादित किया गया है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी देखा जा सकता है—

स वा एष एतस्मान्मर्त्त्याद् विमुक्तश्चिन्मात्री भवति अथ तेनैव रूपेणाभिपश्यत्यभिशृणोत्याभिमनुतेऽभिजानाति तामाहुर्मुक्तिरिति सौपर्ण-श्रुतौ चिन्मात्रेणाप्युपन्यासाज्जैमिन्युक्तस्य च भावादुभयदर्शनाविरोधं बादरायणो मन्यते। नारायणाध्यात्मे च मर्त्त्यदेहं परित्यज्य चितिमात्रात्मदेहिनः। चिति मात्रेन्द्रियाश्चैव प्रविष्टा विष्णुमव्ययम्। तदङ्गानुगृहीतैश्च स्वाङ्गैरेव प्रवर्त्तनम्। कुर्वन्ति भुञ्जते भोगांस्तदन्तर्बहिरेव वा। यथेष्टं परिवर्त्तन्ते तस्यैवानुग्रहेरिताः इति॥

अर्थात् पूर्वोक्त दोनों परिहार प्रमाणित नहीं होते, क्योंकि देहाभाव एवं देहका सद्भाव अर्थात् देहका रहना और देहका न होना—ये दोनों विरोधी बातें हैं—समाधान यह है कि 'मुक्तपुरुष मर्त्त्यदेहसे मुक्त होकर चिन्मयरूप धारण करते हैं और उसी रूपमें श्रवण करते हैं, दर्शन करते हैं तथा सब कुछ जान सकते हैं।' इसीको मुक्ति कहते हैं। सौपर्ण-श्रुतिमें इसी प्रकारसे उपन्यास है तथा नारायणाध्यात्ममें कहा है कि 'देहवान मर्त्त्य देहका परित्याग करके चिन्मय देहको प्राप्त होते हैं और वे चिन्मय देहसे अव्यय विष्णुमें प्रवेश करते हैं। इसके बाद

उन विष्णुके अङ्गानुग्रहीत अङ्गको पाकर वे उन्हीं विष्णवीय अङ्गों द्वारा प्रवृत्त होते हैं, भोग्य वस्तुका भोग करते हैं और उन्हीं विष्णुके अनुग्रहसे मुक्त यथेष्ट परिवर्तित हो जाते हैं', इत्यादि प्रमाणोंसे जाना जाता है कि औडुलोमिके अभिमतसे चिन्मय देह द्वारा भोग और जैमिनिके अभिमतसे ब्रह्मदेह द्वारा भोग—ये दोनों ही प्रमाणसिद्ध हैं—इसलिए प्रामाणिक विषयमें विरोध स्वीकार्य नहीं है॥७॥

अवतरणिका भाष्य—अथ मुक्तस्य सत्यसङ्कल्पत्वं निरूपयति। छान्दोग्ये—*"स तत्र पर्यैति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा"* (छा॰ ८/१२/३) इति श्रूयते। तत्र संशयः। मुक्तस्य ज्ञात्यादिप्राप्तिः प्रयत्नान्तरादुत सङ्कल्पमात्रादिति। लोके राजादीनां सत्यसङ्कल्पतयोक्तानामपि कार्यसङ्कल्पे प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनात् तत्सहितादेव सङ्कल्पात् तत्प्राप्तिरिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अनन्तर मुक्तपुरुषके सत्यसङ्कल्पत्व गुणका निरूपण करते हैं। छान्दोग्योपनिषदमें कहा है—*'स तत्र पर्यैति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा इति श्रूयते'* अर्थात् वह मुक्तपुरुष ब्रह्मपुरमें उत्तम आहार करता है, क्रीड़ा करता है, स्त्रियोंके साथ रतिक्रीड़ा करता है अथवा उत्तम यानपर आरोहण करता है अथवा ज्ञातिवर्गसे अर्थात् सगे-सम्बन्धियोंसे परिवेष्टित रहता है। इस स्थलपर संशय यह है कि मुक्तपुरुषकी जो ज्ञाति इत्यादिकी प्राप्ति है, वह क्या अन्य चेष्टासे (प्रयत्नसे) है? अथवा सङ्कल्पमात्रसे ही है? पूर्वपक्षी कहते हैं—जिस प्रकार राजा इत्यादिके सत्यसङ्कल्प होते ही अर्थात् इच्छामात्र होते ही उनकी अभीष्ट-सिद्धि होती है, तो भी किसी कार्यका सङ्कल्प होनेपर उनके प्रयत्नान्तरकी अपेक्षा देखी जाती है, इसी प्रकारसे मुक्तपुरुषके अन्य प्रयत्नके साथ सङ्कल्प होते ही स्त्री इत्यादिकी प्राप्ति होती है—इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथेत्यादि। सत्यसङ्कल्पधर्मा मुक्तः प्रोक्तस्तमुपजीव्य पित्रादिपार्षदशालित्वं तस्य वर्ण्यमिति प्राग्वत् सङ्गतिः। कार्यसङ्कल्प इति। प्रासादादि-निर्मित्सायां पाषाणकाष्ठादिसंग्रहापेक्षादर्शनादित्यर्थः। तत्सहितात् प्रयत्नान्तरयुक्तात्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि मुक्तपुरुषका सत्यसङ्गल्प गुण होता है, अब उसीका अवलम्बन करके

पितृ इत्यादि पार्षदगणमें उसका परिवृतत्व वर्णनीय है। इस प्रकारसे पूर्वके समान आश्रयाश्रयिभाव रूप सङ्गति इस अधिकरणमें बोद्धव्य है। *'कार्य-सङ्कल्प प्रयत्नान्तर सापेक्षत्व दर्शनादिति'*—जिस प्रकार देखा जाता है कि प्रासाद (अट्टालिका) इत्यादि निर्माणकी इच्छा होनेपर प्रस्तर, काष्ठ इत्यादि उपकरणोंका संग्रह अपेक्षित होता है। *'तत्सहितादेव सङ्कल्पात्'* इति—'तत्सहितात्' का अर्थ है—अन्य प्रयत्नके सहित सङ्कल्पसे प्रासादादिका निर्माण होता है।

सङ्कल्पाधिकरणम्

सूत्र—सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः॥ ८॥

सूत्रार्थ—सङ्कल्पादेव—केवल सङ्कल्पसे ही मुक्तपुरुषोंको स्त्री इत्यादिकी प्राप्ति हो जाती है, इसका प्रमाण क्या है? 'तच्छ्रुतेः' श्रुति इसी प्रकारसे कहती है॥ ८॥

सूत्रानुवाद—ज्ञाति-वर्गादिकी प्राप्ति सङ्कल्पसे ही होती है—श्रुति इसका प्रमाण है॥ ८॥

गोविन्दभाष्य—सङ्कल्पमात्रादेवास्य तत्प्राप्तिः। कुतः? तच्छ्रुतेः। *"स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति। तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते"* (छा॰ ८/२/१.१०)। इति पूर्वत्र तन्मात्रादेव तत्प्राप्तिश्रवणात्। इतरथावधारणस्य बाधः। *"प्रज्ञानघन एव"* इत्यत्र धर्मावेदकाद्वाक्यान्तरात् तस्य व्यवस्थापनम्। न च तद्वत् सापेक्षत्वावेदकं वाक्यान्तरं पश्यामः। एषा स्वसुखैश्वर्यप्रधाना मुक्तिः सेवारसास्वादलुब्धैर्नापेक्ष्येति तद्धेयत्ववचनान्युपपद्येरन्निति॥ ८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सङ्कल्पमात्रसे ही मुक्तपुरुषको ज्ञाति-स्त्री आदिकी प्राप्ति हो जाती है, अतः प्रयत्नान्तरकी आवश्यकता नहीं रहती। किस हेतुसे? 'तच्छ्रुतेः' क्योंकि श्रुतिका प्रमाण देखा जाता है। श्रुति है, यथा—*'स यदि पितृलोककामो भवति ... सम्पन्नो महीयते'* अर्थात् मुक्तपुरुष यदि पितृलोककी कामना करता है, तो उसके सङ्कल्पमात्रसे ही पितृगण उपस्थित हो जाते हैं, वह पितृगणोंसे परिवृत होकर आनन्दका उपभोग करता है—इस प्रकार छान्दोग्यके *'स तत्र पर्येति'* इत्यादि वाक्यके पूर्वमें सङ्कल्पमात्रसे ही पितृ आदिकी उपस्थिति श्रुत है, इसलिए यदि केवल सङ्कल्पसे ही उपस्थिति न रहकर प्रयत्नान्तरकी

अपेक्षा रहती तो *'सङ्कल्पदेवास्य'* (छा॰ ८/२/१) (सङ्कल्पमात्रसे ही उसे सर्वस्वकी प्राप्ति होती है) इस श्रुतिमें 'एव' शब्द जो अवधारणका निर्धारक है, वह बाधित (असङ्गत) होता। तब *'प्रज्ञानघन एव'* श्रुति द्वारा जो केवल चित्स्वरूपत्व कहा गया है, उसकी अर्थात् अवधारणार्थक 'एव' शब्दकी उपपत्तिकी व्यवस्था धर्मान्तरवत्ताके (प्रयत्न सापेक्षादि धर्म) ज्ञापक वाक्यसे व्यावृत्ति-बोधनके लिए (अयोग व्यवच्छेदक अर्थात् प्रयत्नान्तरकी वियुक्ति अर्थात् निवृत्तिके लिए) है। *'स यदि पितृलोक कामो भवति'* इत्यादि श्रुतिमें *'प्रज्ञानघन एव'* इत्यादिके समान प्रयत्नान्तर-सापेक्षता-ज्ञापक अन्य कोई वाक्य वेदमें दिखायी नहीं देता। यह जो मुक्त व्यक्तिकी स्वकीय प्रधान रूपसे सुखैश्वर्यात्मक मुक्ति कही गयी है, उसका उद्देश्य यह है कि भगवत्-सेवानन्द लुब्ध जो मुक्तपुरुष हैं, वे ऐसी मुक्तिकी अपेक्षा अर्थात् कामना नहीं करते। इस मुक्ति विषयक व्याख्यामें सालोक्य, सार्ष्टि इत्यादिके हेयत्वबोधक शास्त्रीय वाक्य यथा—*'सालोक्यसार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः'* (श्रीमद्भा॰ ३/२९/१३) का सामञ्जस्य करना होगा॥ ८॥

सूक्ष्मा-टीका—सङ्कल्पादिति। तन्मात्रादेव केवलसङ्कल्पादेव। इतरथेति तन्मात्रादेव इत्यस्वीकारे सङ्कल्पादेवास्येत्यत्रावधारणबाधः स्यादित्यर्थः। तस्येत्यवधारणस्य। तदिति प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वबोधकमित्यर्थः। कैङ्कर्यरसेत्यन्युक्त्वा सेवारसेत्युक्तिः सर्वभक्तग्रहणाय। तद्धेयत्वेति। मुक्तित्याज्यत्ववाक्यानीत्यर्थः। तानि च सालोक्यसार्ष्टीत्यादीनि बोध्यानि॥ ८॥

सूक्ष्मा-सार—*'सङ्कल्पदेवेत्यादि'* सूत्रमें *'पूर्वत्र तन्मात्रादेवेति'* भाष्यमें तन्मात्रादेवका अर्थ है प्रयत्नान्तरकी अपेक्षासे रहित—केवल सङ्कल्पसे ही। *'इतरथावधारणस्य बाधः'* इति में 'इतरथा' अर्थात् केवल सङ्कल्पसे यह स्वीकार न करनेपर *'सङ्कल्पदेवास्य'* यह अवधारणार्थक (इतर-व्यवच्छेदार्थक) 'एव' कारका बाध (असङ्गति) होगा। *'तस्य व्यवस्थापनमिति'* में 'तस्य' का अर्थ है—अवधारणाकी व्यवस्था। *'तत्सापेक्षत्वावेदकमिति'*—प्रयत्नान्तरके सापेक्षताबोधक-वाक्य। *'सेवारसास्वादलुब्धैरिति'*—यहाँ *'कैङ्कर्यरसास्वादलुब्धैः'* न कहकर 'सेवारस' कहनेका अभिप्राय सर्वविध भक्तोंका संग्रह है। *'तद्धेयत्वेति'* का अर्थ है—मुक्तिके त्याज्यत्वबोधक वाक्य, वे हैं—*'सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वादि'* बोधक॥ ८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब मुक्तपुरुषके सत्यसङ्कल्पत्व गुणका निरूपण करते हैं। छान्दोग्यमें देखा जाता है—*'स तत्र पर्यैति'* (छा॰ ८/१२/३) अर्थात् मुक्तपुरुष ब्रह्मपुरमें इच्छानुसार विहारादि करते हैं। इस स्थलपर संशय यह है कि मुक्तपुरुषको इन सबकी प्राप्ति क्या इच्छामात्रसे ही होती है? अथवा इसके लिए प्रयत्न करना होता है? पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जगत्में सत्यसङ्कल्प रूपमें प्रसिद्ध राजाओंके भी कार्य-सङ्कल्पमें प्रयत्नान्तर-सापेक्षत्व दिखायी देता है। अतएव मुक्तपुरुषके भी इसी प्रकार अन्य प्रयत्नके साथ सङ्कल्प होते ही उन्हें स्त्री इत्यादिकी प्राप्ति होती है—इस प्रकारके मतवादके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि मुक्तपुरुषके केवल सङ्कल्पमात्रसे ही उसे समस्तकी प्राप्ति हो जाती है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषदमें (८/२/१-१०) कहा गया है—

'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् वह यदि पितृलोककी कामना करता है, तो उसके सङ्कल्पसे ही पितृगण वहाँ उपस्थित होते हैं। (अर्थात् उसके आत्मसम्बन्धी हो जाते हैं,) उस पितृलोकसे सम्पन्न होकर वह महिमान्वित होता है।

'अथ यदि मातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् और यदि वह मातृलोककी कामनावाला होता है, तो उसके सङ्कल्पसे ही माताएँ वहाँ उपस्थित हो जाती हैं। उस मातृलोकसे सम्पन्न होकर वह महिमाको प्राप्त होता है।

'अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठिन्ति तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् और यदि वह भ्रातृलोककी कामनावाला होता है, तो उसके सङ्कल्पसे ही भ्रातृगण वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस भातृलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है।

'अथ यदि स्वसृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् यदि वह भगिनीलोककी कामनावाला होता है, तो उसके सङ्कल्पसे ही बहनें वहाँ उपस्थित हो जाती हैं। उस भगिनीलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है।

'अथ यदि सखिलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् यदि वह सखाओंके लोककी कामना वाला होता है, तो उसके सङ्कल्पसे ही सखालोग वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस सखाओंके लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है।

'अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् और यदि वह गन्धमाल्यलोककी कामनावाला होता है, तो उसके सङ्कल्पसे ही गन्धमाल्यादि वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस गन्धमाल्यलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है।

'अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेना-न्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् और यदि वह अन्नपान सम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है, तो उसके सङ्कल्पसे ही अन्नपान उसके पास उपस्थित हो जाते हैं। उस अन्नपान-लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है।

'अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् और यदि वह गीत-वाद्य सम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है, तो उसके सङ्कल्पसे गीत-वाद्य वहाँ प्राप्त हो जाते हैं। उस गीतवाद्यसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है।

'अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् और यदि वह स्त्रीलोककी कामनावाला होता है, तो उसके सङ्कल्पमात्रसे ही स्त्रियाँ उसके पास उपस्थित हो जाती हैं। उस स्त्रीलोकसे सम्पन्न हो वह महिमान्वित हो जाता है।

'यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुतिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते।'

अर्थात् वह जिस-जिस प्रदेशकी कामना करनेवाला होता है और जिस-जिस भोगकी इच्छा करता है, वह सब उसके सङ्कल्पसे ही उसे प्राप्त हो जाते हैं। उससे सम्पन्न होकर वह महिमाको प्राप्त होता है।

इस स्थलपर लक्षणीय (ध्यान देने योग्य बात) यह है कि श्रीभगवान्के सेवा-रस-आस्वाद-लुब्ध मुक्तपुरुष इस समस्त स्व-सुखैश्वर्य प्रधान मुक्तिकी अपेक्षा नहीं करते। इतना ही नहीं, श्रीभगवान् स्वेच्छासे इसे देना भी चाहें तो वे ग्रहण नहीं करते। स्व-सुख मुक्तिसे सम्बन्धित हेयत्व-वाचक वचन शास्त्रमें ही प्राप्त होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें कर्दम ऋषिके सम्बन्धमें देखा जा सकता है—

प्रियायाः प्रियमन्विच्छन् कर्दमो योगमास्थितः।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२३/१२)

अर्थात् महर्षि कर्दम अपनी प्रियाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिए निःशब्द रहकर उसी समय योगासनपर बैठ गये। योगबलसे एक मुहूर्त्तमें ही इच्छानुसार चलनेवाला एक विमान उनके सम्मुख उपस्थित हो गया।

और भी,

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम्।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२३/४२)

अर्थात् हे विदुरजी! महायोगी कर्दमका इस प्रकारका प्रभाव कुछ भी विस्मयकारी नहीं है, क्योंकि जो धीरचित्त पुरुष भवभयनाशक तीर्थपद श्रीहरिके पादपद्मोंमें शरणागत होते हैं, उनके लिए कोई भी वस्तु या शक्ति दुष्प्राप्य नहीं है।

श्रीकपिल-देवहूतिके संवादमें हेयत्वके सम्बन्धमें देखा जा सकता है—

सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२९/१३)

अर्थात् श्रीकपिलदेवने कहा कि जिन्हें मेरा सेवा-सुख प्राप्त हुआ है, उन्हें मैं सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य मुक्ति सेवाके द्वार रूपमें देना चाहता हूँ तो भी वे इन्हें व्याघात स्वरूपमें मानते हैं और उसे ग्रहण करना नहीं चाहते। एकत्व अथवा सायुज्यको तो वे घृणापूर्वक त्याग देते हैं। इसीका नाम आत्यन्तिक भक्तियोग है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

न तेषां भोगदिषु प्रयत्नापेक्षा स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति इत्यादि श्रुतेः।

अर्थात् मुक्तपुरुषके भोग सङ्कल्पमात्रसे ही साध्य हैं। मुक्तोंके भोगमें यत्नकी अपेक्षा नहीं है। सङ्कल्पमात्रसे ही उनके भोगकी सिद्धि है। 'मुक्तपुरुष यदि पितृलोककामी होता है, तो उसी समय उस कामनावश पितृगण उसके निकट उपस्थित होते हैं' इत्यादि श्रुतिमें कामनामात्रसे मुक्तकी भोगसिद्धि प्रमाणीकृत हुई है।

अगस्त्य जैसे महर्षिने पूरे समुद्रको एक चुल्लूमें भरकर पी लिया था और दण्डकारण्यको जनावासके उपयोगी बना दिया था॥ ८॥

अवतरणिका भाष्य—अथ सत्यसङ्कल्पस्यापि मुक्तस्य पुरुषोत्तमैकाश्रयत्वं दर्शयति। मुक्तः पुरुषोत्तमादन्येन नियम्यो न वेति सन्देहे तदन्येन नियम्यः स्यात् परसद्मगतत्वात् राजसद्मगतवदिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—कैङ्कर्य और सेवा एक पदार्थ नहीं हैं—यही दिखानेके लिए अथेत्यादि वाक्यसे इस अधिकरणका आरम्भ है। अतःपर मुक्तपुरुष सत्यसङ्कल्प होनेपर भी मात्र पुरुषोत्तम श्रीहरिको ही अपना आश्रय मानते हैं—यही यहाँ दिखाते हैं। इस विषयमें संशय यह है कि मुक्तपुरुष पुरुषोत्तमसे अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा नियम्य अर्थात् नियन्त्रणीय हैं? कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि हाँ, पुरुषोत्तमसे अतिरिक्त अन्यके द्वारा भी वे मुक्तपुरुष नियम्य होंगे क्योंकि राजप्रासादमें जानेवाला वह राजगृहगत व्यक्ति जिस प्रकार राजपुरुषोंकी आज्ञाधीन होता है उसी प्रकार मुक्तपुरुष भी परमधामगत होनेके कारण धामरक्षकगणों द्वारा नियम्य होगें। इस मतके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—मुक्तमुपजीव्य तस्य भगवत्किङ्करता वर्ण्येति प्राग्वत् सङ्गतिः। अथेत्यादि। तदन्येन पुरुषोत्तमादितरेण।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—मुक्तपुरुषको उपजीव्य करके अर्थात् आश्रय करके उनकी भगवत्-किङ्करता वर्णनीय है, इस कारण पूर्वके समान आश्रयाश्रयिभाव-सङ्गति है। अथेत्यादि भाष्य है। *'तदन्येन नियमाः स्यात्'* इति—तदन्येन अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमसे अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा।

अतएव चानन्याधिकरणम्

सूत्र—अतएव चानन्याधिपतिः॥ ९॥

सूत्रार्थ—'च' और अतएव—इसलिए 'अनन्याधिपतिः' पुरुषोत्तमके अनुग्रहोदय यदाधीन सत्यसङ्कल्पवश वह मुक्तपुरुष अन्य किसीके द्वारा नियम्य नहीं है॥ ९॥

सूत्रानुवाद—श्रीपुरुषोत्तमके अनुग्रहका अदय होनेके कारण वे सब मुक्तपुरुष अनन्याधिपति होते हैं—पुरुषोत्तमसे अतिरिक्त उनका कोई अधिपति नहीं है॥ ९॥

गोविन्दभाष्य—अतः पुरुषोत्तमानुग्रहाविर्भावात् सत्यसङ्कल्पत्वादेव हेतोर्मुक्तोऽनन्याधि-पतिश्च भवति। नास्त्यन्यः पुरुषोत्तमादधिपतिर्यस्य सः। तदेकाश्रयः सन् दीव्यतीति। इतरथा संसारविशेषापत्तिः स्यात्। अस्य सत्यसङ्कल्पत्वं स्वात्मभूतमपि पुरुषोत्तमोपासनादाविर्भूतमतोऽसौ तमेवानन्तानन्दं स्वाश्रितवत्सलमनुकम्पयन् प्रमोदते। स च मुक्तमानन्दयतीति विवक्ष्यति दर्शयतश्चैवमित्यादिना। तदंशो जीवस्तस्य कर्त्तृत्वभोक्तृत्वे तस्मादेवेति प्राक् प्रदर्शितम्। अतः सत्यसङ्कल्पादेव मुक्तोऽनन्याधिपति-र्नास्त्यन्योऽधिपतिरस्येति विधिनिषेधायोग्यो भवति। तद्योग्यत्वे तु सत्यसङ्कल्पत्वं विहन्येतेत्येके॥ ९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—अतः—पुरुषोत्तमके अनुग्रहके उदयसे उद्भूत सत्यसङ्कल्पताके कारण मुक्तपुरुष अनन्याधिपति होते हैं अर्थात् पुरुषोत्तमके अतिरिक्त किसी भी पुरुष द्वारा नियमित नहीं होते। *'अनन्याधिपति'* पदके विग्रह-वाक्यसे यही स्पष्ट होता है। *'न अन्य'*—पुरुषोत्तमसे अतिरिक्त कोई अन्य अधिपति नहीं है, जिनका

अर्थात् जो एकमात्र पुरुषोत्तमका ही आश्रय करके विहार करते हैं। ऐसा न होनेपर अर्थात् पुरुषोत्तमसे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा नियम्य होनेपर मुक्तपुरुषोंके लिए एक प्रकारसे संसार-विशेष आपत्ति आ जायेगी। (वे संसारी हो पड़ेंगे।) मुक्तपुरुषकी यह सत्यसङ्कल्पता स्वात्मगत (निज आत्मभूत) होनेपर भी पुरुषोत्तमकी उपासनासे आविर्भूत होती है। अपनी इसी उपासनाके फलस्वरूप ये किङ्कर मुक्तपुरुष उन अखण्ड (अनन्त), आनन्दस्वरूप एवं निजाश्रित स्वभक्तवत्सल श्रीहरिको अनुकम्पा-प्रवण (भक्तोंपर अनुग्रह अर्थात् दया) कराते हुए प्रमुदित रहते हैं—विहार करते हैं। प्रमाणस्वरूप कहा गया है—*'स च मुक्तमानन्दयति'*—वे श्रीहरि मुक्तपुरुषको आनन्दित करते हैं—इस विषयको सूत्रकार *'दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने'* (ब्र॰सू॰ ४/४/२०) इत्यादि सूत्र द्वारा विशेष रूपसे कहेंगे। जीव उन पुरुषोत्तमका अंश है—इसलिए उसका कर्त्तृत्व एवं भोक्तृत्व उन पुरुषोत्तमसे ही होता है—यह बात पहले भी कही गयी है। कोई-कोई इस सूत्रकी अन्य प्रकारसे व्याख्या करते हैं—यथा—अतएव सत्यसङ्कल्पके कारण मुक्तपुरुष श्रीहरिसे अतिरिक्त अन्य किसी नियामकसे रहित हैं कारण है कि वे शास्त्रीय विधि-निषेधके अयोग्य अर्थात् अतीत हैं। यदि वे विधि-निषेधके योग्य होते हैं तो उनकी सत्यसङ्कल्पता व्याहत (बाधित) हो पड़ेगी, सिद्ध नहीं होगी॥ ९॥

सूक्ष्मा-टीका—अत इति व्याचष्टे। पुरुषोत्तमेत्यादि। इतरथेति। पुरुषोत्तमादन्येनापि नियम्यत्वे सति निखिलकिङ्करो मुक्तः संसारितुल्यः स्यादेव किङ्करवदित्यर्थः। यत्तु परसद्मगतत्वादन्यनियम्यत्वमुक्तं तत् खलु स्थूलं सत्सद्मनि तज्जनानां तदानुकूल्येन धर्मेण मिथ्योऽतिस्नेहोदयात्। श्रीहरेस्तु स्वरूपप्रयुक्तमेवेशनं तच्च तज्जनानां भूषणरूपमेव। विश्वक्सेनादिनित्यमुक्तजीवानां यत् स्वेतरान् प्रति नियामकत्वं स्वीकुर्वन्ति तत्तीशदत्ताधिपत्यादीश्वरीयमेव बोध्यम्। न चैवं गुरुलघुभावविलोपापत्तिः तद्भक्तिमहिम्ना तद्भावस्य तत्त्वात्। व्याख्यान्तरमाह अत इत्यादि॥ ९॥

सूक्ष्मा-सार—सूत्रोक्त *'अतएव'* इति। *'अतः'* पदकी व्याख्या करते हैं, *'पुरुषोत्तमानुग्रहार्विभावादित्यादि'*। *'इतरथा संसारिविशेषापत्तिः स्यादिति'* इतरथा अर्थात् पुरुषोत्तमसे अतिरिक्त अन्य पुरुष द्वारा नियम्य होनेपर मुक्ति प्राप्त करके भी निखिल (सारे ही) किङ्कर संसारी पुरुषके

समान हो पड़ेंगे। तब जिस दृष्टान्त द्वारा परगृहगत होनेके कारण अपरकर्त्तृक नियम्यता कही गयी है, वह स्थूल बात हैय क्योंकि सद्व्यक्तिके गृहगत अथवा परमात्मधाममें उपनीत होनेपर उस गृहमें अधिकृत लोगोंका उसके प्रति आनुकूल्य ही होता है, इस आनुकूल्य धर्ममें आश्रित एवं आश्रयाधिकृत पुरुषोंका परस्पर अतिस्नेह उत्पन्न होता है, किन्तु श्रीहरिका स्वरूपाधीन नियामकत्व है, वह उनके धामाधिकृत लोगोंका भूषणरूप ही है। तब विष्वक्सेन इत्यादि नित्य-मुक्त जीवोंका स्व-भिन्न व्यक्तियोंके प्रति नियामकत्व जो प्राचीन लोग स्वीकार करते हैं, उसे ईश्वर-प्रदत्त आधिपत्यके कारण ईश्वरीय ही जानें अर्थात् उसे ईश्वरका ही आधिपत्य अथवा नियामकत्व समझें। यदि कहो, ऐसा होनेपर नित्यमुक्त जीवके एवं ईश्वरके मध्य जो लघु-गुरु भाव है, उसका विलोप हो जाता है तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि उन नित्यमुक्त विष्वक्सेनादि जीवका उनके प्रति असाधारण भक्तिके माहात्म्यसे इस प्रकारका ईश्वरीय नियामकत्व वर्त्तमान है। इस विषयमें अन्य व्याख्या—अतः सङ्कल्पादेवेत्यादि वाक्य द्वारा दिखायी गयी है॥ ९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब मुक्तपुरुष सत्यसङ्कल्प होनेपर भी एकमात्र श्रीपुरुषोत्तमके आश्रयके बिना अन्य किसीका भी आश्रय स्वीकार नहीं करते—यही बताते हैं। इस स्थलपर यदि इस प्रकारका संशय उपस्थित हो कि मुक्तपुरुष पुरुषोत्तमके अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा नियम्य होते हैं? कि नहीं? तो इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि कोई व्यक्ति राजाके महलमें जाता है, तो वह जैसे राजगृहस्थित-राजकर्मचारियों द्वारा नियमित होता है, उसी प्रकार ब्रह्मपुरमें जानेके कारण मुक्तपुरुष भी उस धामके रक्षक पुरुषों द्वारा नियमित होंगे। इस प्रकारकी आपत्ति उठाते हुए उसके समाधानके लिए प्रस्तुत सूत्रकी अवतारणा करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि भगवान् श्रीपुरुषोत्तमके अनुग्रहसे आविर्भूत सत्यसङ्कल्पादि गुणविशिष्ट मुक्तपुरुषगणमात्र श्रीपुरुषोत्तम द्वारा ही नियमित होते हैं, अन्य किसीके द्वारा नहीं। यदि अन्य किसीसे नियमित होते हैं, तो मुक्तपुरुषका भी एक प्रकारसे संसार-विशेष हो पड़ेगा।

मुक्तपुरुष भक्तगण जिस प्रकार श्रीभगवान्‌की सेवा करके ही आनन्द प्राप्त करते हैं, भक्तवत्सल आनन्दमय श्रीभगवान् भी इसी प्रकार भक्तको आनन्द प्रदान करते हुए स्वयं आनन्दित होते हैं। जीव श्रीभगवान्‌का विभिन्नांश है—इसलिए जीवका कर्त्तृव्यत्व एवं भोक्तृत्व परमेश्वरसे ही सिद्ध होता है। अतएव मुक्तपुरुष सत्यसङ्कल्प होकर भी अनन्याधिपति हैं। वे विधि-निषेधके अतीत हैं। यदि वे विधि-निषेधके अधीन होते हैं तो उनकी सत्यङ्कल्पता सिद्ध नहीं होती है। ईश्वरकी इच्छा और मुक्तपुरुषकी इच्छा परस्पर अभिन्न रहनेके कारण किसी सामञ्जस्यका अभाव रहता नहीं है।

श्रीमद्भागवत (५/२४/२५) में द्रष्टव्य है—

यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वव्रे न तु स्वं पित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु स्वपितरि।

अर्थात् एकमात्र मेरे पितामह प्रह्लाद ही पुरुषार्थको यथार्थ जाननेवाले थे। जब उनके पिता हिरण्यकशिपुकी मृत्यु हुई, तब श्रीनृसिंहदेवने प्रह्लाद महाराजको उनके पिताका राज्य देना चाहा, यहाँ तक कि वे उन्हें अपना अभय मोक्षपद भी देना चाहते थे, किन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने विचार किया कि ये धन-सम्पत्ति, मोक्ष आदि श्रीभगवान्‌का साक्षात् अनुग्रह नहीं है, बल्कि ये तो भगवत्-भावको विनष्ट करते हैं। अतः उन्होंने भगवान्‌से केवल उनका दास्य ही माँगा।

और भी (श्रीमद्भा॰ ९/४/६५-६८),

ये दारागारपुत्राप्त-प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादि चतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्॥

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

अर्थात् जो भक्त घर, पत्नी, पुत्र, भाई-बन्धु, धन, प्राण, इहलोक और परलोक आदि सबका परित्याग करके एकमात्र मेरी शरणमें आ गये हैं, मैं उन्हें किस प्रकार छोड़ सकता हूँ? पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार अपने पातिव्रत्य धर्मसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, उसी प्रकार सदा मुझमें अनुरक्त रहनेवाले समदर्शी साधुजन अपनी प्रेममयी भक्तिसे मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। मेरे अनन्यभक्त मेरी सेवासे ही परम सन्तुष्ट रहते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप सालोक्य आदि मुक्तियाँ उनके सामने स्वयं ही उपस्थित हो जाती हैं, तथापि वे उन्हें स्वीकार नहीं करते, फिर कालकी प्रेरणासे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंके विषयमें तो कहना ही क्या है? मेरे प्रेमीभक्त मेरा हृदय हैं और मैं उन प्रेमीभक्तोंका हृदय हूँ। वे मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते और मैं उन्हें छोड़कर कुछ भी नहीं जानता।

और भी,

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११/५/४१)

अर्थात् हे राजन्! जो लोग इस शरीरमें 'मैं' और 'मेरे' के अभिमानको त्यागकर सब प्रकारसे परम आश्रय श्रीहरिके शरणागत होते हैं, वे साधारण मनुष्यकी भाँति देवता, ऋषि, भूतगण, स्वजन और पितृलोकके किङ्कर अथवा ऋणी नहीं होते।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यका सार है—

क्योंकि मुक्तपुरुष सत्यसङ्कल्प हैं, इसलिए वे अनन्याधिपति भी हैं। अनन्याधिपतिका अर्थ है—विधि-निषेधके अयोग्य। विधि-निषेधकी योग्यता रहनेपर सत्यसङ्कल्पता प्रतिहत (समाप्त) हो जाती है। अतएव सत्य-सङ्कल्पत्व-बोधक श्रुति द्वारा ही मुक्तात्माका अनन्याधिपतित्व सिद्ध होता है। इसी कारणसे श्रुति उन्हें 'स्वराड्' अथवा 'स्वतन्त्र' कहती है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

परब्रह्मात्मको मुक्तः आविर्भूतसत्यसङ्कल्पत्वादेवानन्याधिपतिर्भवति, 'स स्वराड् भवति' इति श्रुतेः। (छा० ७/२५/२)

अर्थात् परमात्माके अनुग्रहसे सत्यसङ्कल्पत्व प्राप्त होनेके कारण ही मुक्त अनन्याधिपति हो जाता है। (उसका भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य कोई अधिपति अर्थात् स्वामी नहीं होता) जैसा कि श्रुति-वचन है—*'स स्वराड् भवति'* अर्थात् वह अपनी अन्तरात्मा-परमात्माके साथ सदा विराजमान रहता है, इसलिए वह स्वराड् (स्वच्छन्द) कहलाता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

सत्यसङ्कल्पत्वादेव परमोऽधिपतिस्तेषां विष्णुरेव न संशयः। ब्रह्मादि मानुषान्तानां सर्वेषामविशेषतः। ततः प्राणादिनामान्ताः सर्वेऽपि पतयः क्रमात्। आचार्याश्चैव सर्वेऽपि यैर्ज्ञानं सुप्रतिष्ठितम्। एतेभ्योऽन्यः पतिर्नैव मुक्तानां नात्र संशयः। इति च वाराहे।

अर्थात् ब्रह्म-प्राप्त मुक्तोंका भोग किसी अधम अधिपतिके अधीन नहीं है—उसीका प्रतिपादन कर रहे हैं। यदि कहो, जिस प्रकार राजगृहगत व्यक्ति अधम दौवारिकगणोंके (द्वारपालोंके) अधीन होता है, अन्यथा लोकविरोध होता है। इसी प्रकार मुक्तव्यक्तियोंके भोगमें भी यदि कोई अधम नियामक होता है तो मुक्तोंका संसार-समान धर्म होगा। इस दोषके परिहारके लिए कहते हैं—मुक्त सत्यसङ्कल्प हैं अतएव विष्णु ही उनके अधिपति हैं, अन्य कोई अधम उनका नियामक नहीं है। वराहपुराणमें कहा गया है कि ब्रह्मादिसे लेकर स्थावर तक एवं प्राणसे लेकर नाम तक सभी पदार्थोंके अधिपति विष्णु हैं। यति एवं आचार्य—ये भी विष्णुके अधीन हैं। अतएव विष्णुसे अतिरिक्त ज्ञानियोंका (मुक्तोंका) दूसरा कोई अधिपति नहीं है, इसलिए ज्ञानी (मुक्तगण) संसारसे अतिरिक्त (पृथक्) हैं॥ ९॥

अवतरणिका भाष्य—अथ मुक्तस्य दिव्यविग्रहयोगं दर्शयति। तत्रैव संशयः। परंज्योतिरुपसम्पन्नस्य मुक्तस्य विग्रहादिकमस्त्युत नास्त्याहो स्वित् यथेच्छमस्ति च नास्ति चेति। तत्र तावद् बादरिमतमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद मुक्तपुरुषके दिव्य-शरीरकी प्राप्ति दिखाते हैं। इस विषयमें संशय यह है कि परज्योतिःसे उपसम्पन्न

मुक्तके विग्रहादि हैं? अथवा नहीं है? अथवा उनकी इच्छानुसार ये विग्रहादि कभी रहते हैं और कभी नहीं रहते। इस संशयपर सर्वप्रथम बादरिका मत दिखाते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—अथ मुक्तस्येतादि। इहापि पूर्ववत् सङ्गतिः। अत्र केचिद् व्याचक्षते। सङ्कल्पादित्यत्र मुक्तस्य मनोऽस्तीति प्रतीतम्। अथ देहादिकं तस्यास्ति न वेति संशये बादरिस्तदभावमाह। हि यतो मनसैतान् कामान् पश्यन् रमत (छा॰ ८/१२/५) इति श्रुतिस्तस्य रमणे मनोमात्रसाधनमाह। यथा सङ्कल्पादेवेत्यवधारणेन साधनान्तराभावस्तथान्ययोगव्यवच्छेदिना मनसेति विशेषणेन तदभावः। विशेषणमन्यथा पीड्येत।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'अथ मुक्तेस्यादि'* इस अधिकरणमें भी पूर्वाधिकरणके समान आश्रयाश्रयिभाव सङ्गति है। इसमें कोई-कोई व्याख्या करते हैं—*'सङ्कल्पात्'* इत्यादि श्रुतिसे जाना जाता है कि मुक्त पुरुषोंका मन तो रहता है किन्तु उनके देह, इन्द्रिय, प्राणवायु इत्यादि रहते हैं या नहीं रहते? इस संशयपर बादरि मुनि देहादि सम्बन्धका अभाव बतलाते हैं। हि—क्योंकि *'मन सैतान् कामान् पश्यन् रमते'* वह मुक्तपुरुष मन द्वारा समस्त प्रार्थित भोग्यवस्तुओंको देखते हुए आनन्दका भोग करता है—यह श्रुति मुक्तपुरुषके रमणमें केवल मनका ही करणत्व कहती है। जिस प्रकार *'सङ्कल्पादेव'* इस वाक्यके अन्तर्गत अवधारणार्थक 'एव' शब्द द्वारा अन्य साधनकी व्यावृत्ति (पृथक्ता) जानी जाती है, उसी प्रकार 'मनसा' यह विशेषण पद अन्य-योग-व्यवच्छेद बताकर करणान्तरका अर्थात् देहादिका अभाव सूचित करता है, ऐसा न माननेपर 'मनसा' यह विशेषण निरर्थक हो जायेगा।

अभावाधिकरणम्

सूत्र—अभावं बादरिराह ह्येवम्॥ १०॥

सूत्रार्थ—'बादरिः'—बादरि 'आह'—कहते हैं कि 'अभावम्' मुक्तपुरुषका विग्रहादिसे सम्बन्ध नहीं है 'हि'—क्योंकि 'एवम्' छान्दोग्य-श्रुति ऐसा कहती है॥ १०॥

सूत्रानुवाद—परम-ज्योतिःसम्पन्न मुक्तपुरुषके विग्रहादि नहीं हैं। बादरि मुनिका यह विचार है॥ १०॥

गोविन्दभाष्य—मुक्तस्य विग्रहाद्यभावं बादरिर्मन्यते। विग्रहादिकं खलु अदृष्टसृष्टम्। तदानीमदृष्टाभावात् तन्न सम्भवेत्। कुतः? आह ह्येवम्। हि यस्मात् छान्दोग्यश्रुतिरेवमाह। *"न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"* (छा॰ ८/१२/१-२) इति विग्रहादियोगे दुःखस्यापरिहार्यत्वमुक्त्वा *"अस्मात् शरीरात् समुत्थाय"* इत्यादिना तस्य तत्राविग्रहत्वमुच्यते। *"देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्"* (श्रीमद्भा॰ ७/१/३४) इति स्मृतेश्च॥ १०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—बादरि मुनि मुक्तपुरुषके विग्रहादिका अभाव मानते हैं क्योंकि विग्रह प्रभृति समस्त ही अदृष्ट-सृष्ट पदार्थ हैं अर्थात् जीवके अदृष्टाधीन होकर सृष्ट (उत्पन्न) होते हैं। इसलिए मुक्तिके बाद अदृष्ट नहीं रहनेके कारण विग्रहादि नहीं हो सकते। कैसे? अर्थात् बादरिके मतका प्रमाण क्या? उत्तर है—*'ह्येवमाह'* इति। 'हि'—क्योंकि छान्दोग्य-श्रुतिमें इसी प्रकार कहा गया है, यथा *'न ह वै सशरीरस्य सतः ... न स्पृशतः'* इति (छा॰ ८/१२/१-२) अर्थात् शरीरसे समन्वित होनेपर (सशरीर होनेपर) उसके प्रिय और अप्रियका अर्थात् सुख-दुःखका विनाश नहीं होता, किन्तु अशरीरी होनेपर प्रिय-अप्रिय उसे स्पर्श नहीं कर सकते अर्थात् सुख-दुःखका सम्बन्ध उसमें नहीं रहता। इसके द्वारा श्रुति विग्रहादिसे सम्बन्ध होनेपर दुःखकी अपरिहार्यता (अवश्यम्भाविता) कहकर *'अस्मात् शरीरात् समुत्थाय'* इत्यादि वाक्य द्वारा मुक्तपुरुषकी मुक्तदशामें विग्रहका अभाव कहती है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतीय स्मृति-वाक्य भी प्रमाण हैं यथा—*'देहेन्द्रियसुहीनानां वैकुण्ठे पुरवासिनाम्'* (श्रीमद्भा॰ ७/१/३४) अर्थात् वैकुण्ठधामवासी देह, इन्द्रिय और प्राणके सम्पर्कसे रहित होते हैं॥ १०॥

सूक्ष्मा-टीका—अभाव इति। मुक्तस्येति। विग्रहाद्यभावं देहेन्द्रियविरहम्। प्रियाप्रिययोः सुखदुःखयोः। अपहतिर्विनाशः। तस्य तत्रेति। तस्य मुक्तस्य। तत्र मुक्तौ। देहेन्द्रियेति श्रीभागवते॥ १०॥

सूक्ष्मा-सार—*'अभावं बादरिः'* इत्यादि सूत्रमें। *'मुक्तस्य विग्रहाद्यभावमिति'* में 'विग्रहाद्यभावम्'—देह, इन्द्रियका अभाव। *'प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति'* इति—'प्रियाप्रिययोः'—सुख-दुःखका, अपहतिः—विनाश, *'तस्य तत्राविग्रहत्व-मुच्यते'* इतिमें 'तस्य' का अर्थ है—मुक्त पुरुषका, 'तत्र' का अर्थ

है—मुक्ति दशामें। *'देहेन्द्रियासुहीनानामित्यादि'* श्लोक श्रीमद्भागवतमें उक्त है॥ १०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब मुक्तपुरुषके दिव्य विग्रह-योगका प्रदर्शन करते हैं। इसमें संशय यह है कि परमज्योतिःको प्राप्त मुक्तपुरुषका किसी प्रकारका कोई विग्रह है या नहीं? अथवा यह विग्रह यथेच्छ भावसे रहता है या नहीं? इस प्रकारके संशयको उठाते हुए उसके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें पहले बादरि ऋषिका मत बतलाते हैं कि मुक्तपुरुषका विग्रहादि (इन्द्रिय-प्राणवायु) इत्यादि नहीं है, क्योंकि विग्रहादि अदृष्ट-सृष्ट हैं। मुक्तावस्थामें मुक्तजीवका अदृष्ट रहता ही नहीं, उसका मन रहता है। *'सङ्कल्पात्'* इत्यादि श्रुतिसे यही बोध होता है। *'मन सैतान् कामान् पश्यन् रमते'* (छा॰ ८/१२/५) अर्थात् वह पुरुष मन द्वारा समस्त प्रार्थित भोग्य वस्तुओंको देखते हुए आनन्द भोग करता है, अतः मनका ही करणत्व ज्ञात हो रहा है।

छान्दोग्य (८/१२/१-२) में भी देखा जा सकता है—*'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्य-मुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते।'*

अर्थात् सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय और अप्रियसे ग्रस्त है, सशरीर रहते हुए इसके प्रियाप्रियका नाश नहीं हो सकता है और अशरीर होनेपर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते। वायु अशरीर है, अभ्र, विद्युत् और मेघध्वनि ये सब अशरीर हैं। जिस प्रकार ये सब उस आकाशसे समुत्थान कर सूर्यकी परम ज्योतिःको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार यह सम्प्रसाद इस शरीरसे समुत्थान कर परमज्योतिःको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें द्रष्टव्य है—

'मुक्तस्य शरीराद्यभावं बादरिर्मन्यते। यतः अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः इति श्रुतिस्तथैवाह। (छा॰ ८/१२/१)

अर्थात् मुक्त आत्मामें शरीर आदिका अभाव होता है—यह बादरि ऋषि मानते हैं, क्योंकि अशरीरम् इत्यादि अर्थात् शरीररहित होनेपर ही प्रिय-अप्रिय (सुख-दुःख) का स्पर्श नहीं होता।

श्रीमध्वभाष्यमें भी देख सकते हैं—

चिन्मात्रं विनाऽन्यो देहस्तेषाम् न विद्यते इति बादरिः। अशरीरो वाव तदा भवत्यशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये स्पृशतो याभ्यां ह्येष उन्मथ्यते इत्येवं कौण्ठरव्यश्रुतावाह हि।

अर्थात् अब ईश्वरको प्राप्त मुक्तोंकी भोगानुपपत्तिका निवारण कर रहे हैं—मुक्तोंका भोग न रहनेपर उनकी पुरुषार्थता नहीं रहती—इस आशङ्कासे कहते हैं—मुक्तोंकी देह न रहनेपर भी उनका भोग सम्भव है, जब मुक्तपुरुषोंकी भी चिन्मय देह है, तब उनका भोग असम्भव नहीं हो सकता। बादरि आचार्य कहते हैं—मुक्तोंकी चिन्मय देहसे अतिरिक्त अन्य कोई देह नहीं है। शरीररहित होनेसे जीवको उन्मथित करनेवाले पाप-पुण्य उन्हें स्पर्श नहीं कर पाते, यह कौण्ठरव्य-श्रुति बादरिको पुष्ट करती है॥ १०॥

सूत्र—भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ ११॥

सूत्रार्थ—'जैमिनिः' जैमिनि कहते हैं 'भावम्'—मुक्तपुरुषके शरीर, इन्द्रिय इत्यादि हैं। प्रमाण क्या है? 'विकल्पामननात्' उस मुक्तपुरुषके सम्बन्धमें विविध कल्प (उक्ति) श्रुतिमें कथित हैं॥ ११॥

सूत्रानुवाद—जैमिनि ऋषि मुक्तका विग्रह मानते हैं, कारण इस सम्बन्धमें विविध कल्प हैं॥ ११॥

गोविन्दभाष्य—मुक्तस्य विग्रहादिभावं जैमिनिर्मन्यते। कुतः? विकल्पेति। *"स एकधा भवति द्विधा त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः। शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः"* (छा॰ ७/२६/२) इति भूमविद्यायां तस्य विविधकल्पश्रवणात्। न हि विविधविग्रहतामन्तरा बहुत्वमणुपरिमाणस्य तस्याञ्जसमवकल्प्येत। न चैतदवास्तवमिति शक्यं शङ्कितुं मोक्षप्रकरणस्थत्वात्। एवं सत्यशरीरमिति त्वदृष्टविग्रहाद्यभावपरम्। वक्ष्यमाणस्मृतेश्च॥ ११॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जैमिनि मुक्तपुरुषका विग्रहादि भाव अर्थात् शरीर, इन्द्रिय इत्यादिका सद्भाव (विद्यमानत्व) मानते हैं। किस

कारणसे? क्योंकि श्रुतिमें विकल्पकी अर्थात् विविध प्रकारकी उक्तियाँ हैं। यथा *'स एकधा भवति ... विंशतिः'* अर्थात् वह मुक्तपुरुष एक प्रकारका होता है, पुनः दो प्रकारका, तीन प्रकारका, पाँच प्रकारका, सात प्रकारका, नौ प्रकारका होता है और ग्यारह प्रकारसे सम्पन्न भी स्मृत होता है। वह शत, दस, बीस और एक सहस्र विग्रह भी धारण करके रहता है। इस सन्दर्भमें भूम-विद्या-प्रकरणमें मुक्तपुरुषकी विविध आकृति (विकल्प) श्रुत होती हैं। विविध विग्रह-धारित्वके व्यतिरेकमें अणु-परिणाम उस मुक्तजीवका बहुरूपत्व असामञ्जस्ययुक्त हो पड़ेगा। यदि कहो, यह बहुत्व अवास्तव है, अविद्याकल्पित-मिथ्याभूत है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मोक्ष-प्रकरणमें ही यह बहुत्व देखा जाता है। मुक्तका अविद्या-कल्पित देहधारण असम्भव है। तब जो *'अशरीरं वाव सन्तम्'* (छा० ८/१२/२) इत्यादि श्रुतिमें मुक्तके शरीरका अभाव कहा गया है, वह अदृष्टाधीन—अदृष्ट-सृष्ट-जड़-प्राकृत शरीरके अभावके तात्पर्यमें कहा गया है—इस विषयमें वक्ष्यमाण स्मृति-वाक्य प्रमाण है॥ ११॥

सूक्ष्मा-टीका—भावं इति। जैमिनिर्मनसैव देहेन्द्रियाणां भावं मन्यते। न हि देहभेदेन विना कदाचिदेकधाभावः कदाचिद्त्रिधाभाव इत्यादिविकल्पाः संभवेयुः। तत्र वसन्ति, यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः इत्यादि स्मृतिश्च। आञ्जसमिति मुख्यतयेत्यर्थः। न चेति। एतद्बहुत्वम्। शङ्कितुमिति। अशरीरमित्येतत् सङ्कल्पसिद्धं देहादिकं प्रतिषेद्धुं नालमित्यर्थः। वक्ष्यमाणा स्मृतिर्वसन्तीत्यादिका। इहैकस्मिन् विग्रहे स्थितस्याणोः प्रसृतया प्रज्ञया विग्रहान्तरेऽप्यात्माभिमान इत्येके। अचिन्त्ययेशशक्त्यैव ह्येकावयववर्जितः। आत्मानं बहुधा कृत्वा क्रीडते योगसम्पदेति पाप्मादणुरात्मा बहुतां भजतीति न काप्यनुपपत्तिरित्यपरे॥ ११॥

सूक्ष्मा-सार—*'भावं जैमिनिः'* इत्यादि सूत्रमें। जैमिनि मन द्वारा ही मुक्तजीवके देहन्द्रियादि-सम्बन्धमें विचार करते हैं क्योंकि विभिन्न देहधारण न होनेपर कभी उनकी एकरूपता (एक मूर्त्ति), कभी त्रिप्रकारता इत्यादि प्रकार भेद सम्भव नहीं है। इस विषयमें स्मृति-वाक्य भी है—*वसन्तीत्यादि* (श्रीमद्भा० ३/१५/१४) वैकुण्ठधाममें समस्त मुक्तपुरुष वैकुण्ठमूर्त्ति धारण करके वास करते हैं, इत्यादि। *'आञ्जसमवकल्प्येत'*—अर्थात् मुख्यरूपमें कल्पना नहीं की जाती। *'न*

चैतदवास्तवमिति' में 'एतत्' का अर्थ है—मुक्तजीवका बहुत्व, *'शङ्कितुं शक्यम्'* इति—सङ्कल्पसिद्ध देहादिका निषेध करनेमें 'अशरीरम्' यह बात हो नहीं सकती, यह अर्थ है। *'वक्ष्यमाणा स्मृतिरिति',* बादमें वक्तव्य *'वसन्ति यत्र पुरुषा'* इत्यादि स्मृति-वाक्य रहनेके कारण भी। भाष्यकारका मन्तव्य है—इस एक शरीरमें स्थित अणुपरिमाण जीवात्माकी प्रज्ञा प्रथित (विस्तृत) हो जाती है (अर्थात् विकीर्ण हो जाती है)। उसके द्वारा सम्पादित अन्य शरीरमें भी आत्माभिमान होता है, कोई-कोई इस प्रकारकी सङ्गति दिखाते हैं, किन्तु अचिन्तनीय परमेश्वर शक्ति द्वारा ही अवयववर्जित एक मुक्तजीव योगशक्ति द्वारा स्वयंको बहुरूपोंमें करके क्रीड़ा करते हैं। पापसे मुक्त अणुपरिमाण आत्मा बहुत्वको प्राप्त होती है। अतएव कोई भी असङ्गति नहीं है। यह बात दूसरे भी कहते हैं॥ ११॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार जैमिनि ऋषिके मतका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि मुक्तपुरुषके विग्रहादि अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ इत्यादि हैं। श्रुतिमें इस सम्बन्धमें विभिन्न उक्तियाँ देखी जा सकती हैं। छान्दोग्य (७/२६/२) में कहा गया है—*'स एकधा भवति, त्रिधा भवति'* इत्यादि। इन समस्त वाक्योंमें मुक्तपुरुषका विग्रहवत्त्व स्वीकृत हुआ है। विविध मूर्त्तिधारित्वके व्यतिरेकमें अणुपरिमाण मुक्त जीवके बहुरूपत्वका असामञ्जस्य हो पड़ता है। इस बहुत्वको फिर अवास्तव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसका वर्णन मोक्षप्रकरणमें निरूपित है। तब श्रुतिमें किसी स्थलपर मुक्तको जो अशरीरी कहा है, वह केवल अदृष्ट-सृष्ट विग्रहादि-अभावपरक जानना होगा। सत्यसङ्कल्प मुक्तपुरुषका अप्राकृत वास्तव नित्य विग्रह स्वीकार करना होगा।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/१५/१४)

अर्थात् इस धाममें जो भी पुरुष वास करते हैं, वे सभी देखनेमें श्रीहरिके समान ही हैं। उन्होंने पहले भगवत्-चरणकी प्राप्तिके लिए

परमधर्मके द्वारा श्रीहरिकी आराधना की थी। अब वे श्रीहरिकी सेवा करते हुए वहाँ विराजमान रहते हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें देखा जाता है—

तच्छरीरादिभावं जैमिनिर्मन्यते। कुतः? 'स एकधा भवति त्रिधा भवति इत्यादि वैविध्यामननात्॥'

अर्थात् आचार्य जैमिनि उसका (मुक्तात्माका) शरीर, इन्द्रिय आदिका सद्भाव (अस्तित्व) मानते हैं। कैसे? वह मुक्तपुरुष एक प्रकारका होता है, तीन प्रकारका होता है—इस प्रकार भूमविद्यामें मुक्तजीवके शरीर-धारणके विषयमें विविध प्रकारके विकल्प बताये गये हैं। जैमिनिके मतानुसार शरीरवाला ही एकसे अनेक हो सकता है। मुक्त एक ही कालमें अनेक रूपमें दिख सकता है।

श्रीरामानुजके श्रीभाष्यके सारमें भी है—

आचार्य जैमिनि मुक्तजीवके शरीर-इन्द्रिय आदिका सद्भाव मानते हैं क्योंकि विकल्पका उल्लेख श्रुतिमें है। *'विविधः कल्पो विकल्पः वैविध्यम्'* अर्थात् एक आत्माका बिना शरीर धारण किये स्वरूपतः अनेक प्रकारका होना सम्भवपर नहीं है। अतएव छान्दोग्योक्त त्रिधाभावादि इत्यादि अवस्थाएँ शरीर-इन्द्रियमें घटित होती हैं। तब जो श्रुतिमें मुक्तजीवका अशरीर होना कहा गया है, वह कर्मनिमित्त (कर्मजन्य) शरीरके अभावका बोधन करनेके लिए है। ऐसा शरीर प्रिय-अप्रियका (पाप-पुण्यका) कारण होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

स वा एष एवंवित् परमभिपश्यत्यभिश्रृणोति ज्योतिषैव रूपेण चिता वाऽचिता वा नित्येन वाऽनित्येन वाऽथानन्दी ह्येवैष भवति नानानन्दं किञ्चिदुपस्पृशति इत्यौद्दालकश्रुतौ विकल्पामननादन्यदेहस्यापि भावं जैमिनिर्मन्यते।

अर्थात् अब मुक्तोंके देहके सद्भाव (होने) को प्रमाणित करते हैं—आचार्य प्रवर-जैमिनि कहते हैं—*'स वा एष एवं वित्'* इत्यादि उद्दालक-श्रुति प्रमाणसे जाना जाता है कि जो परमात्माको जानता है, वह परमात्माको ही देखता-सुनता है, ज्योतिःरूपसे, चित् या अचित् रूपसे, नित्य या अनित्य रूपसे परमात्मासे ही आनन्द प्राप्त करता

है, उसे दुःख स्पर्श नहीं करता—इस औद्दालक-श्रुतिमें मुक्तजीवके शरीर विकल्पोंका उल्लेख किया है, इसलिए चिन्मय देहसे अतिरिक्त मुक्तोंकी दूसरी ज्योतिर्मय देह है, यह जैमिनिकी मान्यता है।

महर्षि सौभरि अनेक शरीर धारणकर महाराज मान्धाताकी पचासों कन्याओंके साथ एक ही समय रमण करते थे। समय पाकर उनके डेढ़ सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे—*'कालेन गच्छता तस्य तासु राजकन्यासु पुत्रशतं सार्द्धमभवत्'* (वि॰पु॰ ४/२/११२)। अतः ब्रह्मलोकस्थ मुक्तजीव मन, शरीर एवं इन्द्रियोंसे युक्त रहता है—यह जैमिनि ऋषि मानते हैं॥ ११॥

अवतरणिका भाष्य—अथ स्वमतमाह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—इसके बाद सूत्रकार अपना मत कहते हैं—

सूत्र—द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥ १२॥

सूत्रार्थ—'अतः' सत्य सङ्कल्पत्वके कारण ही, उभयविधम्—दोनों प्रकारके अर्थात् सविग्रह और अविग्रह मुक्तपुरुषको 'बादरायणः' वेदव्यास स्वीकार करते हैं, 'द्वादशाहवत्'—द्वादशाह यज्ञकी भाँति॥ १२॥

सूत्रानुवाद—सत्यसङ्कल्प होनेके कारण मुक्त दोनों प्रकारके होते हैं—सविग्रह और अविग्रह भी। द्वादश यज्ञके समान इसमें भी विधान है॥ १२॥

गोविन्दभाष्य—अतः सत्यसङ्कल्पत्वादेव हेतोरुभयविधं मुक्तं भगवान् बादरायणो मन्यते उभयविधवाक्यदर्शनात्। तमविग्रहंसविग्रहञ्च स्वीकरोतीत्यर्थः। द्वादशाहवत्। यथा द्वादशाहस्य यजमानेच्छयानेकयजमानकत्वे सत्रत्वमेकयजमानकत्वेऽहीनत्वञ्च न विरुध्यते। तथा स्वेच्छयाविग्रहत्वं सविग्रहत्वञ्च मुक्तस्येत्यर्थः। इदमत्र तत्त्वम्। मुक्ताः खलु ब्रह्मविद्यया संच्छिन्नपिधानाः सत्यसङ्कल्पाश्च भवन्ति। तेषु ये विग्रहादिलिप्सवस्ते सङ्कल्पादेव तद्वन्तः स्युः। स एकधेत्यादिश्रुतेः। ये तु न तादृशास्ते किल न तद्वन्तः। अशरीरं वावेत्यादिश्रुतेः। ये ब्राह्मणवपुषा नित्यं ब्रह्मानुवृत्तिमिच्छन्ति तेषान्तु तच्चिच्छक्तिमयं तदाविर्भवतीति किल नित्यं तद्वन्तस्तदनुवर्त्तन्त इति मन्तव्यम्। बृहदारण्यके—*"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्"* (बृ॰आ॰ २/४/१४) इत्यादिश्रवणात्। *"स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्त्यमतिसृज्य*

ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा श्रुणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति" इति माध्यन्दिनायनश्रुतेश्च। *"वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः"* (श्रीमद्भा॰ ३/१५/१४) इति स्मृतेश्च। आसाधनसमयादेव सङ्कल्पो बोध्यः। यथाक्रतुश्रुतेः—*"गच्छामि विष्णुपादाभ्यां विष्णुदृष्ट्यानुदर्शनम्"* (छा॰ ३/१४/१) इत्यादि पूर्वस्मरणात् *"मुक्तस्यैतद् भविष्यति"* इत्येवं स्मृतेश्च॥ १२॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—इस सत्यसङ्कल्पत्वके कारण ही भगवान् बादरायण वेदव्यास मुक्तजीवको उभयविध मानते हैं अर्थात् सविग्रहत्व और अविग्रहत्व—दोनों प्रकारके बोधक-वाक्योंको देखकर वे मुक्तपुरुषको शरीरसे रहित और शरीरधारी दोनों ही रूपोंमें स्वीकार करते हैं। दृष्टान्त है—द्वादशाह सत्रके समान अर्थात् जिस प्रकार द्वादशदिन-साध्य अर्थात् बारह दिनोंमें होनेवाला यज्ञ यजमानकी इच्छानुसार अनेक यजमानों द्वारा क्रियमाण होनेपर सत्र कहलाता है और एक यजमान द्वारा क्रियमाण होनेपर वह अहीन संज्ञासे (नामसे) संज्ञित किया जाता है। इसमें कोई भी विरोध नहीं है। इसी प्रकार स्वेच्छासे मुक्तपुरुषका अविग्रहत्व और सविग्रहत्व विरुद्ध नहीं है। इस विषयमें तत्त्व यही है कि मुक्तपुरुष ब्रह्मविद्याके बलपर स्वरूपाच्छादक अविद्याका छेदन करते हैं और सत्यसङ्कल्प होते हैं। इनमें जो विग्रह-देह इन्द्रिय इत्यादि स्वीकार करना चाहते हैं—वे साधनकालमें सेवा-सङ्कल्पसे ही विग्रहादिमान अर्थात् विग्रहादि-विशिष्ट होते हैं—इसके अनुकूल श्रुतिका प्रमाण है—*'स एकधा'* इत्यादि। और जो ऐसे नहीं हैं अर्थात् विग्रहादि ग्रहण करना नहीं चाहते, वे विग्रहवान अर्थात् विग्रह-विशिष्ट नहीं होते। इस विषयमें भी श्रुति है—*'अशरीरं वाव'* (छा॰ ८/१२/१) इत्यादि। जो ब्राह्मण—शरीरके द्वारा सदा-सर्वदा परमेश्वरकी अनुवृत्ति अर्थात् सेवा करनेकी इच्छा करते हैं, मुक्तावस्थामें उनके ब्रह्मशक्तिमय अर्थात् चिच्छक्तिमय विग्रहादि आविर्भूत होते हैं। यह प्रसिद्धि है कि वे ब्रह्मशरीरधारी होकर ब्रह्मकी सेवामें (अनुवृत्तिमें) नित्य रत रहते हैं—यह ज्ञातव्य है। बृहदारण्यकोपनिषदमें सुना जाता है कि *'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन कं पश्येत्'* अर्थात् जिस अवस्थामें जिस साधकका समस्त ही आत्मस्वरूप हो गया है, उस समय उसका कोई विशेष भेद नहीं रहता, तब वह किसे किसके द्वारा देखे? पुनः

माध्यन्दिनायन श्रुति कहती है—*'स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं इत्यादि ... ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति'* अर्थात् वह ब्रह्मनिष्ठ साधक इस मर्त्य शरीरको छोड़नेके बाद ब्रह्मसे सम्पन्न होता है, उस समय वह ब्रह्मके द्वारा दर्शन करता है, ब्रह्मके द्वारा श्रवण करता है और ब्रह्मके द्वारा ही इस विश्व-प्रपञ्चका भोग करता है। स्मृति-वाक्य भी है—*'वसन्ति चात्र पुरुषाः सर्ववैकुण्ठ-मूर्त्तयः'* अर्थात् सभी मुक्तपुरुष उस वैकुण्ठधाममें वैकुण्ठमूर्त्ति होकर वास करते हैं। साधन-समयसे ही उनका ऐसा सङ्कल्प जानना चाहिये। इसका प्रमाण 'यथाक्रतु' इत्यादि श्रुति है (अर्थात् इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है, मुक्तावस्थामें वैसा ही कार्यकारी हो जाता है, अर्थात् यहाँसे मरकर जानेपर वैसा ही होता है)। *'गच्छामि विष्णुपादाभ्यां विष्णुदृष्ट्यानुदर्शनम्'* (बृहत्तन्त्र) अर्थात् मैं विष्णुके चरणयुगल द्वारा गमन करता हूँ, विष्णुके चक्षुः द्वारा दर्शन करता हूँ इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति-वाक्यसे *'मुक्तस्यैतद् भविष्यति'* अर्थात् मुक्तपुरुषका ऐसा ही होगा—इस प्रकारके स्मृति-वाक्यसे भी यही प्रमाणित होता है॥ १२॥

सूक्ष्मा-टीका—अथेति। तच्चिच्छक्तिमयमिति। ब्रह्मशक्तिमयं तद्विग्रहादीत्यर्थः। तदिति। तद्ब्रह्म। नित्यमनुवर्त्तन्ते सेवन्त इत्यर्थः। यत्र त्विति उत्तरं मैत्रेयी-ब्राह्मणवाक्यमेतत्। यत्र मोक्षदशायामस्य मुक्तस्य जीवस्यात्मा व्यापिचित्सुखविग्रहो हरिरेव स्वसङ्कल्पशक्या सर्वं देहेन्द्रियादिकमभूत्तदा स मुक्तः केन कं पश्येदपि तु हरिशक्त्यात्मकेन देहेन्द्रियेण तमेव श्रीहरिं पश्येदित्यर्थः। ये त्वेतद्व्याख्यानं नेच्छन्ति तेषां सर्वमिति निरर्थकं स्यात्। किन्तु यत्र त्वयमात्मैवाभूदिति युज्येत वक्तुम्। किञ्च जीवस्य तदा लवणाकरनिपातन्यायेन पूर्वस्वभावविनाशपूर्वकब्रह्मभावो-त्पत्तिर्विवक्षिता किंवा राजपुत्रधीवरन्यायेन भ्रान्तिनिवृत्तिरिति। नाद्यः उभयोरनित्यतापत्तेः। नेतरः सार्वज्ञश्रुतिव्याकोपात्। तस्मादुक्तमेव सुष्ठु। गच्छामीति बृहत्तन्त्रे॥ १२॥

सूक्ष्मा-सार— *'अथ स्वमतामाहेति'*। *'द्वादशाहवदित्यादि'* सूत्रमें, *'तच्चिच्छक्तिमयं तदाविर्भवति'* इति भाष्यमें तच्चिच्छक्तिमयम्—अर्थात् चिच्छक्तिमय वही विग्रहादि। *'तद्वन्तस्तदनुवर्त्तन्त'* इति में 'तद्' का अर्थ है 'ब्रह्मकी'। *'नित्यमनुवर्त्तन्ते'*—सर्वदा सेवा करते हैं—यह अर्थ है। *'यत्र त्वस्येत्यादि'*—यह बृहदारण्यकका उत्तरस्वरूप मैत्रेयी-ब्राह्मण-वाक्य है। यत्र—'जो मुक्ति दशामें' अस्य—इस मुक्तजीवकी, आत्मा—विभु, चिदानन्दमय

विग्रह श्रीहरि ही निज सङ्कल्पशक्ति द्वारा मुक्तके समस्त देह-इन्द्रिय इत्यादि स्वरूप होते हैं, तब वह मुक्तपुरुष किसके द्वारा किसे देखेगा? क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है अतएव हरिशक्त्यात्मक देह, इन्द्रियादि द्वारा उन श्रीहरिको ही देखेंगे—यही श्रुतिका अर्थ है। जो हमारी इस व्याख्याको पसन्द नहीं करते, उनके लिए श्रुतिस्थ *'सर्वमात्मैवाभूत्'*—यह सर्व-पद निरर्थक होता है क्योंकि *'यत्र त्वयमात्मैवाभूत्'* इतना मात्र कहनेसे चल जाता है। और एक दोष यह है कि जीवकी मुक्तावस्थामें आप लोग क्या कहना चाहते हो। लवणके समुद्रमें निक्षेपके समान पूर्वस्वरूपका विनाश करते हुए ब्रह्मभावकी उत्पत्ति है? अथवा राजपुत्र-धीवर न्यायसे अर्थात् पहले जो राजपुत्र था, अब वह धीवर हो गया है; उसकी भ्रान्ति-निवृत्ति है? इसमें प्रथम तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि उसमें दोनों ही (जीव एवं ब्रह्म) अनित्य हो पड़ते हैं, और अन्य अर्थात् दूसरा पक्ष भी अयौक्तिक है, क्योंकि उसमें परमेश्वरकी सर्वज्ञता-बोधक श्रुतिका व्याघात होता है। अतएव हमने जो व्याख्याकी है, वही समीचीन है। *'गच्छामि विष्णुपादाभ्याम्'* इत्यादि वचन बृहत्-तन्त्रमें उक्त हैं॥ १२॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब इस सूत्रमें सूत्रकार निज मतको व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सत्यसङ्कल्पत्वके कारण मुक्तपुरुषके सविग्रहत्व और अविग्रहत्वरूप दोनों ही प्रकारके स्वरूप होते हैं—यह भगवान् बादारयण ऋषि स्वीकार करते हैं क्योंकि श्रुति और स्मृत्तिमें दोनों ही प्रकारका उल्लेख है। इस विषयमें विस्तृत आलोचना श्रीमद्बलदेवप्रभुके भाष्य और टीकामें देखनी चाहिये।

मूल बात यह है कि जीव भगवत्-उपासनाके द्वारा अविद्याका आवरण छेदन करते हुए मुक्त होते हैं और भगवत्-कृपासे उनकी सत्य-सङ्कल्पता सिद्ध होती है। इनमें जिनका साधन-कालसे ही सेवा-सङ्कल्प रहता है अर्थात् जो श्रीभगवान्की कृपासे सिद्धावस्थामें पार्षद तनु प्राप्त करके नित्यधाममें नित्यकाल नित्य सहचर रूपमें श्रीभगवान्की सेवा करनेका सङ्कल्प करते हैं, वे ही मुक्तावस्थामें विग्रह-विशिष्ट होकर अर्थात् नित्य पार्षद देह प्राप्त करते हैं और इस प्रकारसे ये विभिन्न भक्त विभिन्न रसोंसे नित्य सेवा करते हैं। उस

समय उनका सेवोपयोगी चिन्मय देह, इन्द्रियादिका आविर्भाव होता है। और जो निराकार ब्रह्मस्वरूप निर्विशिष्टरूपको प्राप्त करनेकी वासनासे भगवत्-उपासना करते हैं, वे सत्यसङ्कल्पता गुणके कारण निर्विशिष्ट गतिकी प्राप्ति होनेपर शरीरादिसे रहित हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों ही प्रकारके मुक्तपुरुषके सम्बन्धमें श्रुति कहीं सविग्रहत्व और कहीं अविग्रहत्वकी घोषणा करती है। अतएव साधनकालीन सङ्कल्पको ही मुक्तावस्थामें सविग्रहत्व अथवा अविग्रहत्वका कारण जानना चाहिये।

श्रील नरोत्तम ठाकुरने भी कहा है—

'साधने भाविबे याहा, सिद्धिते पाइबे ताहा' अर्थात् साधनामें जैसी भावना रहेगी, सिद्धिमें उसीकी प्राप्ति होगी।

अतएव साधक प्रारम्भसे ही शुद्धभक्तके आश्रयमें रहकर सम्यक् एवं तीव्र लालसासे युक्त होकर भजन करे, तो सिद्धिमें अपनी साधनाके अनुसार पार्षद तनु प्राप्त करता है। निर्विशेष ब्रह्मोपासकके सङ्गमें उपासनामें निरत होनेपर वैसा ही फल फलीभूत होता है।

श्रीमद्भागवतमें देखा जा सकता है—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/२५/३८)

अर्थात् हे शान्तरूपे! स्वर्गादि लोकोंमें भोक्ता एवं भोग्य विषयोंका किसी-न-किसी समय विनाश हो जाता है, किन्तु मेरे वैकुण्ठलोकमें मेरे परायण भक्तोंकी कभी भी उस प्रकारसे भोग्यवस्तु नष्ट होनेकी कोई भी आशङ्का नहीं है—मेरा अनिमिष कालचक्र भी उन्हें ग्रस नहीं सकता। मैं ही उनका प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद और इष्टदेव हूँ।

और भी,

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतो मलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।

तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथाऽमलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥
(श्रीमद्भा॰ ११/३/४०)

अर्थात् जिस समय जीव श्रीहरिके पादपद्मकी सेवाकी अभिलाषासे उत्पन्न परम प्रेमभक्तिके बलसे गुण और कर्मसे उत्पन्न काम आदि अन्तःकरणकी मलराशिको विनाश करनेमें समर्थ होता है, तभी अपने निर्मल नेत्रोंके द्वारा सूर्यदेवके प्रकाशकी भाँति विशुद्ध अन्तःकरणमें आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करता है।

इस प्रसङ्गमें निम्न श्लोक भी स्मरणीय है।

देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्।
देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ॥
(श्रीमद्भा॰ ७/१/३४)

अर्थात् हे नारदजी! वैकुण्ठवासी पार्षदोंका प्राकृत देह एवं प्राणोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं होता, फिर उनका प्राकृत मनुष्यके समान प्राकृत देहसे बन्धन किस प्रकार हो गया? आप यह सब मुझे अवश्य बतलाइये।

'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते' (श्रीमद्भा॰ १०/२७/२१ श्लोक श्रीधरधृत-सर्वज्ञ-भाष्यकार व्याख्या)।

मुक्त पुरुषगण भी अपनी इच्छासे (अर्थात् कर्मजनित नहीं) शरीर ग्रहण करके भगवान्का भजन करते हैं।

'पार्षदतनूनामकर्मारब्धत्वं नित्यत्वं शुद्धत्वञ्च'
(भावार्थ-दीपिका १/६/२९)

अर्थात् भगवत्-पार्षदोंके जन्म और मृत्युका मूल कारण प्रारब्धकर्म नहीं है। वे नित्य और शुद्ध अर्थात् निर्गुण हैं॥ १२॥

अवतरणिका भाष्य—भोगहेतवो धर्मा दिव्यदेहयोगाश्च निरूपिताः। भोगश्च *"सोऽश्नुते सर्वान् कामान्"* इत्यादिश्रुतिसिद्धः। स चोभयथापि स्यादिति वक्तुं प्रारम्भः। तत्रैवं संशयः। मुक्तस्य भोगः सम्भवेन्न वेति। देहेन्द्रियादिविरहात् न सम्भवेत् यद्ययं योगी मन्तव्यस्तदाप्यानन्दपूर्णस्य तस्य तत्तृष्णानुदयात् न स युक्त इति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—पहले मुक्तपुरुषके भोगके हेतुभूत सत्यसङ्कल्पादि समस्त धर्मोंका और दिव्य देह सम्बन्धका युक्ति-प्रमाण द्वारा निश्चय किया गया था और मुक्तजीवका भी जो भोग होता है, वह *'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्'* अर्थात् वह समस्त काम्यवस्तुओंका भोग करता है—इत्यादि श्रुति द्वारा प्रमाणित (सिद्ध) हुआ था। यह भोग मुक्तजीवके विग्रह रहनेपर अथवा न रहनेपर—दोनों ही प्रकारसे सिद्ध हो सकता है—यह कहनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है। इस विषयमें संशय यह है कि मुक्तपुरुषका भोग सम्भव है अथवा नहीं है? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—नहीं, देह, इन्द्रियके अभावमें मुक्तका भोग सम्भव नहीं है। यदि इस मुक्तपुरुषको योगी मानते हो अर्थात् योगबलसे उसके देह, इन्द्रिय रहनेसे उसका भोग होना मानते हो, तो ऐसा होनेपर भी ब्रह्म-भावको प्राप्त मुक्तजीवकी आनन्दपूर्ण अवस्थामें जब भोग-तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होती, तब यह समाधान युक्तियुक्त नहीं हो सकता—इस मतके उत्तरमें सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—भोगेति। सोऽश्नुते इति। नन्वेषा श्रुतिरपार्था विजिघत्सोऽपिपास इति श्रुत्या भक्तभगवतोर्विशेषत्वात्। मैवम्। तृप्तस्यापि हरेर्भक्तेच्छया बुभुक्षोदयात् भुक्तस्य च तृप्तस्यापि भोग्यहरिप्रसादत्वेन तदुदयात् श्रीहरेर्भक्तेच्छानुगामीच्छत्वं स्वेच्छामयस्येति स्मरणात्। अन्यथा भोक्तृत्वावेदकानि बहुवाक्यानि व्याकुप्येयुः। तथाच न सा श्रुतिरपार्था। क्षुत्पिपासाप्रतिषेधस्तु वायुविकारप्राणाभावात् भौतिकभोग्याभावपरः। न तु रसात्मकानि भोग्यानि वारयितुं तत्प्रतिषेधः प्रभवति तेषां वचनेभ्यः सिद्धेः। तत्तृष्णेति। आनन्दहेतुभूतरसादिभोग्यस्पृहाभावादित्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'भोगहेतव'* इत्यादि। *'सोऽश्नुते सर्वान्'* इति। आपत्ति यह है कि यह श्रुति असङ्गतार्थ है क्योंकि श्रुतिमें है—श्रीभगवान् भोजनकी इच्छासे रहित, तृष्णासे विरहित हैं, किन्तु भक्त ऐसे नहीं हैं, इसी रूपमें श्रीभगवान् और भक्तमें पार्थक्य है। इसके उत्तरमें कहते हैं—मैवम्—यह कहना भी मत क्योंकि श्रीहरिके स्वयंतृप्त अर्थात् पूर्णकाम होनेपर भी भक्तकी इच्छासे उनकी भोगाङ्क्षा होती है। मुक्तजीवके भोग करनेपर भी अथवा तृप्त होनेपर भी श्रीहरिप्रसादरूपमें उनकी भोग-वाञ्छा उत्पन्न होती है, इस कारण।

पुनः श्रीभगवान्‌की भी इच्छा भक्तकी इच्छाके अधीन है, क्योंकि स्मृति-वाक्य भी है, *'स्वेच्छामयस्य न तु भूतभयस्य कापि'* इत्यादि। यह स्वीकार न करनेपर श्रीभगवान्‌के भोक्तृत्वज्ञापक बहुत-से वाक्य विरुद्ध हो पड़ेगे। अतएव सिद्धान्त यह है कि यह भोगश्रुति अर्थहीन नहीं है। तब जो श्रीभगवान्‌की विजिघत्सा (भोजनेच्छा) एवं पिपासा-रहितता कही गयी है, उसकी सङ्गति इस प्रकार है—वायुका विकार-प्राणवायु न रहनेके कारण उनकी पञ्चभूतके विकारीभूत भोग्यवस्तुकी भोगेच्छाका अभाव है किन्तु उसके अतिरिक्त रसात्मक (केवल आनन्दघन) भोग्यवस्तुकी व्यावृत्तिके (निवृत्तिके) लिए बुभुक्षा एवं पिपासाका निषेध नहीं है, कारण ये समस्त भोग श्रुति-वचनसे सिद्ध हैं। *'तस्य तत्तृष्णानुदयात्'* इति; 'तत्तृष्णानुदयात्' अर्थात् आनन्दके हेतुरूपमें स्थित रसादि भोग्य वस्तुओंकी तृष्णाके अभावके कारण।

तन्वभावाधिकरणम्

सूत्र—तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः॥ १३॥

सूत्रार्थ—तनु अभावे-शरीरके अभावमें भोगकी अनुपपत्ति है—यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'सन्ध्यवत्' स्वप्नकालीन भोगके समान 'उपपत्तेः' उसका भोग सम्भव है॥ १३॥

सूत्रानुवाद—विग्रहके अभावमें भोगका असम्भव कहना ठीक नहीं है। स्वप्नमें शरीरका सम्बन्ध न रहनेपर भी भोग होता है॥ १३॥

गोविन्दभाष्य—न च विग्रहाभावे भोगासम्भवः। तत्र सन्ध्यवत् तस्योपपत्तेः। सन्ध्यं स्वप्नः। तत्र यथा तनुं विनापि भोगः एवमिहापि स उच्यते॥ १३॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—विग्रहके अभावमें मुक्तजीवका भोग असम्भव है—यह कहा नहीं जा सकता, क्योंकि सन्ध्य अर्थात् स्वप्नके समान भोगकी उपपत्ति है। सन्ध्य शब्दका अर्थ है 'स्वप्न'। स्वप्न देखते समय जिस प्रकार स्थूलदेहके बिना ही भोग सम्भव होता है, उसी प्रकार मुक्तदशामें भी मानसिक भोग होता है—यह कहा गया है॥ १३॥

सूक्ष्मा-टीका—तन्वभाव इति। देहाभावे स्वप्नवन्मानसिको भोगो जाग्रद्विलक्षणः, भोगे साधनान्तरं निवारयति मनसेति श्रुत्या तत्सिद्धेः॥ १३॥

सूक्ष्मा-सार— *'तन्वभाव'* इत्यादि सूत्रमें। देह न रहनेपर स्वप्नकालीन भोगके समान जाग्रत-दशाकालीन भोगसे भिन्न भोग मानसिक भोग जीवका होता है। इस भोगमें अन्य कोई साधन नहीं है—यह निषेध करते हैं, क्योंकि 'मनसा' इत्यादि द्वारा वह सिद्ध हुआ है॥ १३॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—मुक्तजीवके भोगके हेतुभूत धर्म और दिव्य देहका निरूपण करके अब यह प्रदर्शन करते हैं कि सविग्रह एवं अविग्रह—दोनों ही प्रकारसे भोग हो सकता है। इस स्थलपर संशय यह है कि मुक्तपुरुषका भोग सम्भव है या नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं कि देह, इन्द्रिय रहित मुक्तपुरुषका भोग तो सम्भव ही नहीं है, सविग्रह मुक्तपुरुषका भी उसके पूर्णानन्दत्व होनेके कारण भोग-तृष्णाका अभाव है—इसलिए उसका भी भोग सम्भव नहीं हैय इस प्रकार पूर्वपक्षके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि शरीर न रहनेपर भी भोगकी असम्भावना नहीं है, क्योंकि उस अवस्थामें भोगकी उपपत्ति स्वप्नवत् होती है। जिस प्रकार स्वप्नकालीन स्थूलदेहके साथ सम्बन्ध नहीं रहनेपर भी मानसिक सुख होता है, उसी प्रकार अविग्रह मुक्तपुरुषका भी मानसिक सुख (भोग) अपरिहार्य है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१३/३५)

अर्थात् इसलिए दृश्य प्रपञ्चसे दृष्टि हटाकर तृष्णारहित इन्द्रियोंके व्यापारसे हीन और निरीह होकर आत्मानन्दके अनुभवमें मग्न हो जाए। कभी-कभी आहार आदि कार्योंके समय यह देह आदि प्रपञ्च देखा जाता है, तथापि यह पहले ही आत्मा वस्तुसे पृथक् और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है। इसलिए वह पुनः भ्रान्तिमूलक मोह उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए देहपातपर्यन्त केवल संस्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी देखा जा सकता है—

स्वसृष्टशरीराद्यभावे स्वप्नवद्भगवत्सृष्टशरीरादिना।
मुक्तभोगोपपत्तेः शरीरादेर्मुक्तसृज्यत्वानियमः॥

अर्थात् मुक्त जीवात्माके अपने सङ्कल्प द्वारा सृष्ट (कल्पित) शरीर आदि उपकरणोंके अभावमें भगवान् द्वारा सृष्ट (रचित) शरीरादि (शरीर, इन्द्रियादि उपकरण) द्वारा ही स्वप्नवत् समस्त भोगोंकी उपपत्ति होती है। मुक्त सत्यसङ्कल्प होनेपर भी स्वयं शरीर द्वारा इन्द्रिय आदिकी सृष्टि न करनेपर भी भगवत्-सृष्ट शरीर इत्यादिके द्वारा भोग कर सकता है। (मुक्त होनेपर भी परमात्माके अधीन रहता है।)

श्रीमध्वभाष्यमें भी—

उपपत्तिश्च सन्ध्यं स्वप्नः सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानमिति श्रुतिः।
(बृ॰आ॰ ६/३/९)

अर्थात् देहाभावमें भी भोगकी अनुपपत्ति नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें बाह्य देहाभिमान न रहनेपर भी भोग होता है, उसी प्रकार मुक्ति-अवस्थामें भी देहाभावमें भोगोपपत्ति हो सकती है। *'सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्'* वाजसनेय-श्रुतिके अनुसार जाग्रत और सुषुप्तिसे भिन्न तीसरी अवस्थाको सन्धि अर्थात् स्वप्न कहते हैं, यह अवस्था उक्त दोनों अवस्थाओंके मध्यकी अवस्था है, इसलिए सन्धि-अवस्था कहलाती है॥ १३॥

अवतरणिका भाष्य—सविग्रहत्वे तु पुष्कलभोग इत्याह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—और यदि मुक्तपुरुष विग्रहधारी होता है, तब प्रचुर भोग होता है—यही कहते हैं—

सूत्र—भावे जाग्रद्वत्॥ १४॥

सूत्रार्थ—'भावे' विग्रह रहनेपर 'जाग्रद्वत्' जाग्रत दशाके समान भोग होता है॥ १४॥

सूत्रानुवाद—सविग्रह होनेके कारण जाग्रत अवस्थाके समान मुक्तपुरुषका पुष्कल भोग होता है॥ १४॥

गोविन्दभाष्य—भावे विग्रहसत्त्वे जाग्रद्वद् भोगः। पूर्वपक्षस्तु भोक्तव्यस्य रसादेर्भगवत्प्रसादत्वेन स्पृहणीयत्वादेव न युक्तः। तृप्तस्यापि हरेर्भक्तेच्छया भोगेच्छादयः। मुक्तस्य तु तत्प्रसादे भोग्ये भक्त्यैव स्पृहोदय इति बोध्यम्॥ १४॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—मुक्तपुरुषके शरीर ग्रहण करनेपर (सविग्रह होनेपर) जाग्रतकालके समान स्थूल रूपसे पुष्कल भोग होता है। पूर्वपक्षमें जो सिद्ध किया गया था कि देह, इन्द्रिय आदिके अभावमें भोग नहीं हो सकता, तो यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि श्रीभगवान्‌के प्रसादरूप भोक्तव्य रसादि भोग मुक्तपुरुषके स्पृहणीय हैं, इस कारण। पूर्णकाम होनेपर भी श्रीहरिमें भक्तकी इच्छासे भोगेच्छाका उदय होता है, और इसी प्रकार मुक्तजीवमें भगवत्-प्रसादस्वरूप भोग्यवस्तुमें भक्तिवशतः स्पृहाका उदय होता है॥ १४॥

सूक्ष्मा-टीका—भाव इति। देहादिभावे स्वाप्निकभोगविलक्षणो जाग्रद्वत् भोग इत्यर्थः॥ १४॥

सूक्ष्मा-सार—*'भावे जाग्रद्वत्'* इस सूत्रमें। इसका अर्थ है—देह, इन्द्रिय इत्यादि रहनेपर स्वाप्निक भोगमें जाग्रत अवस्थाके समान विभिन्न प्रकारका भोग होता है॥ १४॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि मुक्तपुरुष सविग्रह होता है, तो उसका सुख-भोग यथेष्ट अर्थात् पुष्कल होता है और वह जाग्रत् अवस्थाके समान होता है। पूर्वपक्षीका जो यह कहना है कि मुक्तपुरुषमें भोगकी स्पृहा नहीं रहती, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि भोक्तव्य रसादि श्रीभगवान्‌के प्रसाद-विचारसे भक्तके निकट स्पृहणीय होते हैं। पूर्णकाम श्रीभगवान्‌में जिस प्रकार भक्तकी इच्छासे भोगेच्छाका उदय होता है और वे भक्तकी इच्छानुसार भोग करते हैं, उसी प्रकार मुक्तपुरुषमें भी भगवत्-प्रसादस्वरूप भोग्य-वस्तुमें भक्तिवश स्पृहाका उदय होता है और भगवत्-इच्छानुसार ही सेवाबुद्धिसे भोग होता है। इसमें मुक्तपुरुष भक्तकी भगवत्-सेवा ही साधित होती है।

श्रीमद्भागवत (११/६/४६) में देखा जा सकता है—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥

अर्थात् हे देव! मैं आपको छोड़नेमें असमर्थ हूँ। इसलिए आपके साथ स्वधाममें ले चलनेकी प्रार्थना कर रहा हूँ। मैं ऐसा जो कह रहा हूँ, वह मायाके डरसे नहीं, क्योंकि हमलोग आपके सेवक हैं, हमने आपकी धारणकी हुई माला पहनी है, आपके उतारे हुए वस्त्र धारण किये हैं और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपने आपको सजाते रहे हैं। हम आपके जूठन पानेवाले सेवक हैं। इसलिए हम आपकी मायापर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। अतः प्रभो! हमें आपकी मायाका डर नहीं है, डर है तो केवल आपके वियोगका।

श्रीचैतन्यभागवतमें भी पाया जाता है—

मोर नाम अद्वैत तोमार शुद्ध दास।
जन्मे-जन्मे तोमार उच्छिष्ट मोर-आश॥

(चै॰भा॰म॰ ९/१६०)

अर्थात् मेरा नाम अद्वैत है। मैं आपका शुद्ध दास हूँ। मैं जन्म-जन्मान्तरसे आपका उच्छिष्ट (जूठा प्रसाद) पानेकी अभिलाषा करता रहा हूँ।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

आजि कृष्णप्राप्ति-योग्य हैल तोमार मन।
वेदधर्म लङ्घि कैले प्रसाद भक्षण॥

(चै॰च॰म॰ ६/२३४)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभुने कहा—हे सार्वभौम, आज तुम्हारा मन श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी योग्यताको प्राप्त हो गया है, क्योंकि तुमने वेद-धर्मका लंघन करके आज भगवान्‌का प्रसाद खाया है।

और भी,

सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।
भक्तगणे सुख दिते ह्लादिनी कारण॥

(चै॰च॰म॰ ८/१५७)

अर्थात् श्रीकृष्ण सुखस्वरूप होनेपर भी सुखका आस्वादन करते हैं और अपनी आनन्दशक्ति-ह्लादिनीके द्वारा भक्तोंको भी सुख प्रदान करते हैं।

श्रीमद्भागवतमें और भी प्राप्त होता है—

किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात्।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८१/३-४)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने कहा—हे ब्रह्मन्! आप घरसे मेरे लिए क्या उपहार लाये हैं? प्रेमी भक्तोंके द्वारा प्रेमसे लाये गये छोटे-से-छोटे उपहारको भी मैं बहुत मानता हूँ, परन्तु अभक्तोंके द्वारा दी गयी बहुत बड़ी भेंटसे भी मैं सन्तुष्ट नहीं होता। जो प्रेमभक्तिके साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल अथवा जलादि जो कुछ भी वस्तु प्रदान करते हैं, मैं उस भक्तकी भक्तिपूर्वक साथ लायी गयी उस-उस वस्तुको बड़े आदरसे ग्रहण करता हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(श्रीगी॰ ९/२६)

अर्थात् जो भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प फलादि प्रदान करते हैं, मैं उन शुद्धचित्त भक्तोंके द्वारा भक्तिपूर्वक दी गयी समस्त वस्तुओंको ग्रहण करता हूँ।

भक्तके परम सुख-प्राप्तिके विषयमें भी द्रष्टव्य है—

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति ते
यन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥

(श्रीमद्भा॰ ११/१४/१७)

अर्थात् जो सब प्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित हैं—यहाँ तक कि शरीर आदिमें भी मैं और मेरेपनका भाव नहीं रखते, जो संसारकी

वासनाओंसे शान्त—उपरत हो चुके हैं, जो निरभिमान हैं, समस्त प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमका भाव रखते हैं, किसी प्रकारकी कामनासे जिनकी बुद्धि कलुषित नहीं है और जो मुझमें परम अनुरागके साथ मेरी सेवा किया करते हैं, उन्हें और कोई नहीं जान सकता; क्योंकि वह परमानन्द तो केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होता है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी देखा जाता है—

स्वसृष्टशरीरादिभावेऽपि मुक्तस्य भगवल्लीला-रस भोगोपपत्तेः कदाचिद् भगवल्लीलानुसारिणा स्वसङ्कल्पेनापि सृजति॥

अर्थात् अपने द्वारा विरचित तनु आदिके होनेपर भी भगवदनुग्रहसे मुक्तपुरुषमें लीला-रसके भोगकी उपपत्ति होती है और कभी भगवत्-लीलाका अनुसरण करते हुए वे स्वसङ्कल्पसे पितृलोकादिका भी सृजन कर लेते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

ब्रह्मवैवर्त्ते च। स्वप्नस्थानां यथाभोगो विना देहेन युज्यते। एवं मुक्तावपि भवेद् विना देहेन भोजनम्। स्वेच्छया वा शरीराणि तेजोरूपाणि कानिचित्। स्वीकृत्य जागरितवत् भुक्त्वा त्यागः कदाचन इति॥

ब्रह्मवैवर्त्तमें कहा है कि जिस प्रकार स्वप्नकालमें पुरुषका देहके बिना ही भोग है, उसी प्रकार मुक्तिमें भी देहके बिना भोगानुभूति होती है और जिस प्रकार जाग्रदावस्थामें देहके विद्यमान होनेपर स्वेच्छापूर्वक भोग होता है, उसी प्रकार मुक्तपुरुष अपनी इच्छानुसार तेजोरूप किसी भी शरीरको धारण करके जाग्रदवस्थाकी तरह भोगानुभूति करके उस शरीरको छोड़ देते हैं॥ १४॥

अवतरणिका भाष्य—अथ मुक्तस्य सार्वज्ञ्यं प्रकाशयति। *"न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखितां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः"* (छा॰ ७/२६/२) इति छान्दोग्ये सर्ववस्तुविषयकं ज्ञानं मुक्तस्योक्तम्। तद् युज्यते न वेति संशये प्राज्ञेन आत्मना (बृ॰आ॰ ४/३/२१) इत्यादिश्रवणात् युक्तमिति प्राप्तौ—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद इस अधिकरणमें मुक्तजीवकी सर्वज्ञता प्रकट करते हैं। यथा छान्दोग्यमें कहा गया है *'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखितां सर्वं ह पश्यः पश्यति*

सर्वमाप्नोति सर्वशः' अर्थात् ब्रह्मका ध्यान करनेवाला व्यक्ति समस्तमें ही ब्रह्म-विभूतिका दर्शन करता है। वह मृत्यु अथवा पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता, रोगको नहीं देखता अथवा स्वयंके लिए दुःखप्रद वस्तुओंका भोग नहीं करता, ब्रह्मविद् समस्तको ही प्राप्त हो जाता है। वह समस्त वस्तुओंको ही सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त करता है। इसमें मुक्तपुरुषका सर्ववस्तु-विषयक ज्ञान होता है—यह कहा गया है। इस विषयमें संशय यह है कि—यह सङ्गत है? अथवा नहीं है? इसपर पूर्वपक्षका मानना है कि *'प्राज्ञेन आत्मना'* अर्थात् 'प्राज्ञ आत्मा द्वारा' इत्यादि सुने जानेके कारण मुक्तपुरुषकी सर्वज्ञता युक्तियुक्त नहीं है। इसके प्रतिपक्षमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वं मुक्तस्य भोगो निरूपितः स नोपपद्यते प्राज्ञेनेति श्रुत्या तस्य ज्ञानवैधुर्याभिधानात्। भोक्तुः खलु ज्ञानवैचित्र्यमपेक्ष्यमित्याक्षिप्य समाधेराक्षेपोऽत्र सङ्गतिः। अथेत्यादि। न पश्य इति। पश्यो ब्रह्माध्यायी विद्वान्। सर्वं प्राकृताप्राकृतं ब्रह्मविभूतिभूतम्। वस्तु पश्यति ब्रह्मविद्भवतीत्यर्थः। सर्वं तत् सर्वशः सामस्त्येनाप्नोति तदुपासनप्रभावेण सर्वं तस्योपतिष्ठते स तु स्वाभीष्टमेवादत्ते नत्वनभीष्टञ्चेति न चाधिकाधिकमिति पूर्ववद्बोध्यम्। प्राज्ञेनेति। यद्यप्येतद्वाक्यं सुप्तोत्क्रान्तान्यतरपरं तथापि मुक्तपरतया पूर्वपक्षिणा हठाद्योज्यत इति ज्ञेयम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति यह है कि पूर्ववर्त्ती अधिकरणमें मुक्तपुरुषका जो भोग निरूपित हुआ था, वह सङ्गत नहीं है, क्योंकि *'प्राज्ञेनात्मना'* इत्यादि श्रुति द्वारा उसका ज्ञानाभाव कहा गया है। फिर भी जो भोग करता है, उसका विविध विषयक ज्ञान अपेक्षित है, यह आक्षेप करके समाधान हेतु वक्ष्यमाण अधिकरणमें आक्षेप नामक सङ्गति ज्ञातव्य है। *'अथेत्यादि', 'न पश्यो मृत्युं पश्यति'* इत्यादि (छा॰ ७/२६/२) में 'पश्यः' अर्थात् ब्रह्म-ध्यानकारी विद्वान, *'सर्वं ह पश्यः पश्यति'*—समस्त पदार्थ अर्थात् प्राकृत एवं अप्राकृत ब्रह्म-विभूतिभूत वस्तुका दर्शन करता है अर्थात् इस प्रकार ब्रह्मवित् होता है। *'सर्वमाप्नोति सर्वशः'* वह समस्त वस्तुओंको सम्पूर्ण रूपसे प्राप्त करता है। ब्रह्मकी उपासनाके प्रभावसे समस्त वस्तुएँ उनके निकट उपस्थित हो जाती हैं, इनमेंसे ब्रह्मविद् अपने अभीष्ट मात्रको ही ग्रहण करता है, इसके अतिरिक्त अनभिप्रेत वस्तुओंको वह ग्रहण

नहीं करता, तथा और अधिक, और अधिक भी ग्रहण नहीं करता, यह पूर्वके समान जानना चाहिये। *'प्राज्ञेनेत्यादि।'* प्राज्ञ आत्मा द्वारा कुछ भी जाना नहीं जा सकता, यह वाक्य यद्यपि सुषुप्त एवं शरीरसे उत्क्रान्त—इन दोनोंमेंसे अन्यतरको (किसी एक विषयको) करके कहा गया है, तो भी पूर्वपक्षी जोर लगाकर उसकी मुक्तपुरुषमें भी योजना करते हैं, यह ज्ञातव्य है।

प्रदीपवदावेशाधिकरणम्

सूत्र—प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति॥ १५॥

सूत्रार्थ—'प्रदीपवत् आवेशः' जिस प्रकार प्रदीपका आलोक अनेक स्थानोंपर अधिकार करता है, उसी प्रकार उसकी विस्तृत, प्रज्ञा अनेक विषयोंपर अधिकार करती है, 'हि' क्योंकि श्रुति 'तथा' वही 'दर्शयति' दिखाती है॥ १५॥

सूत्रानुवाद—प्रदीपकी प्रभा जिस प्रकार अनेक स्थानोंमें प्रसारित है, उसी प्रकार मुक्तपुरुषका ईश्वर द्वारा प्रसृत प्रज्ञा द्वारा अनेक अर्थोंमें आवेश होता है॥ १५॥

गोविन्दभाष्य—प्रदीपस्य यथा प्रभयानेकदेशावेशस्तद्वत् प्रसृतया प्रज्ञयानेकार्थावेशो मुक्तस्य भवति। तथाहि श्वेताश्वतरोक्ता श्रुतिर्दर्शयति। *"प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी"* (श्वे॰ ४/१८) इति। तस्मादीशान्निमित्तात् जीवस्य पुराणी प्रज्ञा प्रसृता भवतीत्यर्थः॥ १५॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—जिस प्रकार प्रदीपकी प्रज्ञा अथवा ज्योतिः (आलोक) द्वारा अनेक स्थान आक्रान्त अर्थात् प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार मुक्तजीवकी प्रसृत (विस्तृत) प्रज्ञा द्वारा अनेक अर्थोंमें (विषयोंमें) आवेश होता है। श्वेताश्वतरोक्त श्रुति यही प्रदर्शित करती है। यथा *'प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी'* अर्थात् जीवकी पुरातनी स्वाभाविकी प्रज्ञा परमेश्वररूप निमित्तसे अर्थात् परमेश्वर द्वारा विस्तृत होती है॥ १५॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रदीपवदिति। ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् (श्रीगी॰ ५/१६) भारतेति स्मृतिश्चात्र

बोध्या। कायव्यूहप्राप्तौ सर्वे कायाश्चैतन्यवन्तो भवन्तीत्यत्रैतत् सूत्रं केचिद्योजयन्ति। तथाहि। स एकधा भवतीत्यादौ मुक्तस्य बहवो देहा भवन्ति। तैरसौ भुङ्क्ते। इत्येतद्युक्तं न वेति निरात्मकेषु भोगायोगान्न युक्तमिति प्राप्ते प्रदीपवदिति। एकदेशस्थोऽपि दीपो यथा प्रभया देशान्तराणि विशति तथैकदेशस्थोऽप्यणुरात्मा चेतनया देहान्तराणीति। स्वप्रदेशाद्हृदयादन्यत्र शिरःश्रवणादौ चेतनात्माभिमानो यथा तद्वद्देहान्तरेष्वपि स मन्तव्योऽन्यत्वाविशेषात्। तथाहि श्रुतिर्दर्शयति स एकधेत्यादि॥ १५॥

सूक्ष्मा-सार— *'प्रदीपवदित्यादि'* सूत्रमें। इसमें (इस सूत्रमें) *'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।'* अर्थात् हे भरतकुलप्रदीप अर्जुन! तत्त्वज्ञान द्वारा जिनका आत्मासे सम्बन्धित अज्ञान अर्थात् अविद्याकी आवरणी शक्ति विनष्ट हो गयी है, उनका वह ज्ञान सूर्यके समान प्रकाशित होकर (अन्धकार या अविद्याको नष्ट करते हुए) समस्त अप्राकृत परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है। इस स्मृति-वाक्यको भी अनुकूल जानें। कोई-कोई व्याख्याकार—इस सूत्रको—योगीके कायव्यूहकी प्राप्ति होनेपर समस्त शरीर-चैतन्यविशिष्ट होता है, इस वाक्यसे योजना करते हैं। यह वाक्य इस प्रकारसे है यथा—*'स एकधा भवति द्विधा त्रिधा भवति।'* (छा॰ ७/२६/२) इत्यादि श्रुतिमें मुक्त जीवकी बहुत-सी देह होती हैं, कहा गया है—इन समस्त देहों द्वारा यह मुक्तजीव भोग करता है। पूर्वपक्षी इसपर संशय करते हैं, यह युक्तियुक्त है या नहीं? इस संशयपर पूर्वपक्षी अपना मत प्रकाशित करते हैं—शरीरादिसे रहित होनेपर उसका भोग असम्भव है, इसलिए यह उक्ति युक्तियुक्त नहीं है। इसके उत्तरमें सूत्रकार *'प्रदीपवदित्यादि'* सूत्र कहते हैं। इसका मर्म है कि जिस प्रकार प्रदीप एक स्थानपर रहकर भी निज प्रभा द्वारा अन्य बहुत-से स्थान प्रकाशित करता है, उसी प्रकार अणु परिमाण आत्मा एकदेशमें (हृदयमें) रहकर भी चेतना शक्ति द्वारा अन्यान्य शरीरोंमें प्रवेश करती है। जिस प्रकार उसके स्वयंके आश्रय हृदय-देशसे मस्तक-कर्ण इत्यादिमें चेतन आत्माका अभिमान होता है, इसी प्रकार देहान्तरमें भी आत्माभिमान होता है, यह मानना होगा। स्व-स्थानसे भिन्न मस्तकादिके समान देहान्तरमें भी निर्विशेष रूपसे उसका अन्य आश्रय है, इसलिए। *'स एकधा'* इत्यादि श्रुति इसी प्रकार दिखाती है॥ १५॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब मुक्तपुरुषकी सर्वज्ञताके विषयमें कहते हैं। छान्दोग्य (७/२६/२) में कहा गया है *'न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोतः, दुखितां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः'* इस प्रकार इस वाक्यमें मुक्तपुरुषके सर्ववस्तुविषयक ज्ञानका विषय वर्णित हुआ है। समस्त वस्तु अर्थात् ब्रह्मवित् इस प्रकारका होता है कि वह प्राकृत और अप्राकृत सभीको ब्रह्म विभूतिके रूपमें देखता है। ब्रह्मकी उपासनाके प्रभावसे समस्त वस्तुएँ उसके निकट उपस्थित हो जाती हैं, तो यहाँपर संशय यह है कि मुक्तजीवकी सर्वज्ञता सम्भव है, अथवा असम्भव है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि यह असम्भव है, क्योंकि बृहदारण्यककी *'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद'* (बृ॰आ॰ ४/३/२१) श्रुति इसका वारण करती है। पूर्वपक्षके इस प्रकारके सिद्धान्तके प्रतिवादमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि प्रदीप जिस प्रकार एक स्थानपर रहकर भी निज प्रभासे अन्य बहुत-से स्थानोंको अधिकार करता है, उसी प्रकार परमेश्वर द्वारा प्रसृता प्रज्ञा द्वारा मुक्तजीवका अनेक विषयोंमें आवेश होता है। इस विषयमें श्वेताश्वतर श्रुतिमें पाया जाता है—*'प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी'* (श्वे॰ ४/१८) अर्थात् परमेश्वर द्वारा मुक्तपुरुषकी स्वाभाविकी पुरातनी प्रज्ञा विस्तृत होती है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥
(श्रीमद्भा॰ ४/९/६)

अर्थात् श्रीध्रुवने कहा—जो पुरुष चक्षु आदि सम्पूर्ण ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति आदि धारण करते हैं, जो मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर मेरी सोयी हुई वाणीको सञ्जीवित करते हैं तथा मेरे हाथ-पैर-नाक-कान-त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियोंको चेतनता प्रदान करते हैं, आप वही सर्वान्तर्यामी पुरुष हैं। आपको नमस्कार है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

प्रभया दीपस्येव ज्ञानेन धर्मभूतेन जीवस्यानेकशरीरेष्वावेशो भवति 'स चानन्त्याय कल्पते' इति श्रुतिस्तथाहि दर्शयति।

अर्थात् जैसे एक स्थानपर रखा हुआ दीपक अपनी धर्मभूत प्रभासे अनेक स्थानोंमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार मुक्त आत्माके धर्मस्वरूप चैतन्य ज्ञानसे अनेक शरीरोंमें आवेश होता है। श्वेताश्वतरीय-श्रुति (श्वे॰ ५/९) यही कहती है जीव स्वरूपतः आनन्त्य धर्मका अधिकारी होता है—'वह अनन्त रूप धारण करता है।'

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यके सारमें भी पाया जाता है—

प्रदीप जिस प्रकार एक स्थानमें वर्त्तमान रहकर अपनी प्रभा द्वारा देशान्तर-आवेश प्राप्त करता है (अन्य स्थानोंको प्रकाशित करता है) उसी प्रकार आत्माका एक देहमें अवस्थान करके अपने चैतन्य द्वारा समस्त शरीरमें प्रवेश अनुपपन्न नहीं है। हृददेशमें स्थित होकर भी आत्मा चैतन्य गुणका विस्तार करते हुए समस्त देहमें आत्माभिमान करता है। बद्धजीवका ज्ञान प्रारब्धकर्म द्वारा सङ्कुचित रहता है, किन्तु मुक्तपुरुषोंका ज्ञान असङ्कुचित रहनेके कारण उनकी इच्छानुसार अन्यत्र भी ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार कि श्वेताश्वतरमें कहा गया है—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

(श्वे॰ ५/९)

सौ भागोंमें विभक्त किया हुआ जो केशके अग्रभागका सौवाँ भाग है, उस जीवको उसके बराबर जानना चाहिये, किन्तु वही अनन्तरूप हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि अमुक्तका कर्म नियामक है और मुक्तका नियामक उसकी स्वाधीन इच्छा अर्थात् बद्धजीव कर्मसे आबद्ध है, जब कि मुक्त स्वेच्छाचारी होता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

शरीरमनुप्रविश्यापि तत् प्रकाशयन्तः पुण्यानेव भोगाननुभवन्ति न तु दुःखादीन्। यथा प्रदीपो दीपिकादिषु प्रविष्टस्तत्स्थं तैलाद्येव भुंक्ते न तु

तत् कार्ष्ण्यादि। 'तीर्णोहि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति' (बृ॰आ॰ ६/३/२२) *इति हि दर्शयति।*

अर्थात् ज्ञानियोंकी देह होनेसे भोगकी उपपत्ति होनेपर दुःखभोग हो सकता है—इस आशङ्कासे कहते हैं कि जब जड़शरीर-प्रवेशमें भी दुःख नहीं होता, तब चिन्मय उत्कृष्ट शरीरमें दुःखभोग हो ही नहीं सकता, सुखभोग ही होता है। मुक्तपुरुष शरीरमें प्रवेश करके उस शरीरको प्रकाशित करते हुए पुण्यफल सुखभोग करते हैं और कभी दुःखादि भोग नहीं करते। जिस प्रकार प्रदीप दीपाधारमें प्रविष्ट होकर उस आधारमें स्थित तैलादिका भोग करता है, कालिमाका (धूमादिका) भोग नहीं करता। इसी प्रकार संसारसे मुक्त व्यक्ति हृदयके सभी शोकोंसे उत्तीर्ण हो जाता है—इत्यादि श्रुति-प्रमाणोंसे जाना जाता है कि केवल देहके होनेपर ही दुःख होता है, ऐसा नहीं है, देह दुःखका कारण नहीं है॥ १५॥

अवतरणिका भाष्य—ननु मुक्तौ सार्वज्ञ्यं न युक्तम्। प्राज्ञेनात्मनेति श्रुत्या तत्र विशेषज्ञानप्रतिषेधादिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि मुक्तिमें जो सर्वज्ञता कही गयी है, वह तो युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि *'प्राज्ञेनात्मना'* इत्यादि श्रुति द्वारा विशेष ज्ञानका निषेध (खण्डन) हुआ है। यह यदि कहते हो, तो इसपर कहते हैं—

सूत्र—स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्ष्यमाविष्कृतं हि॥ १६॥

सूत्रार्थ—इस विशेष ज्ञानका प्रतिषेधक वाक्य 'स्वाप्यय' सुषुप्ति-दशा और 'सम्पत्ति'—देहसे उत्क्रमण—'अन्यतरापेक्ष्य'—इन दोनोंमेंसे अन्यतर अर्थात् किसी एकमें प्रयोज्य है, मुक्तके विशेष ज्ञानका प्रतिषेधक नहीं है। कारण 'आविष्कृतम् हि' इत्यादि इस छान्दोग्य-श्रुतिमें यही वर्णन है॥ १६॥

सूत्रानुवाद—प्राज्ञेनात्मनेति श्रुति-वाक्य मुक्तके विशेष ज्ञानका प्रतिषेधक नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें केवल सुषुप्ति एवं उत्क्रमणमेंसे किसी एकके ही विशेष ज्ञानका निषेध है॥ १६॥

गोविन्दभाष्य—नैतद्वाक्यं मुक्तस्य विशेषज्ञानं वारयितुमलम्। यत् स्वाप्यय-सम्पत्त्योरन्यतरापेक्ष्यं तत्। स्वाप्ययः सुषुप्तिः सम्पत्तिस्तूत्क्रान्तिः। छान्दोग्ये—*"स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते"* (छा॰ ६/८/१), *"वाङ्मनसि सम्पद्यते"* (छा॰ ६/८/६) इति च श्रवणात्। हि यतः श्रुत्यैव स्वापोत्क्रमयोर्जीवस्य निःसङ्गत्वमाविष्कृतं मुक्तौ सार्वज्ञ्यञ्च। तत्रैव नाह खल्वयमेवं स प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमिवापीतो भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामि (छा॰ ८/११/२) इति स्वापे निःसंज्ञत्वमुक्त्वा तत्रैव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य *"स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनस्येतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके"* (छा॰ ८/१२/५-६) इति तस्य सार्वज्ञ्यमुक्तम्। *"उत्क्रमे निःसंज्ञत्वन्त्येतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति"* (बृ॰आ॰ २/४/१२) इत्यभिहितम्। विनश्यति न पश्यतीत्यर्थः। तथाच मुक्तः सर्वज्ञो भवतीति॥ १६॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*'प्राज्ञेनात्मना'* (बृ॰आ॰ ४/३/२१) यह वाक्य मुक्तजीवके विशेष ज्ञानका प्रतिषेध (वारण) करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि यह श्रुति 'स्वाप्यय' और 'सम्पत्ति'—इन दोनोंमेंसे अन्यतरकी अपेक्षा करती है अर्थात् किसी एक विषयसे सम्बन्धित है। 'स्वाप्यय' शब्दका अर्थ है 'सुषुप्ति' और 'सम्पत्ति' का अर्थ है 'देहसे उत्क्रमण'। छान्दोग्योपनिषदमें है—*'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपीतीत्याचक्षते'* अर्थात् सुषुप्तिमें वह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, इसीसे उसे 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं, अर्थात् सुषुप्तिकालमें इन्द्रियाँ आत्मामें लीन होती है—इसलिए यह पुरुष 'स्वपिति' ऐसा कहा जाता है तथा *'वाङमनसि सम्पद्यते'* अर्थात् उत्क्रमणकालमें वाक् मनमें लीन हो जाता है (वाणीका मनमें उपसंहार हो जाता है)। इस प्रकार इन श्रुतियोंसे 'स्वाप्यय' शब्दसे 'सुषुप्ति' और 'सम्पद्यते' शब्दसे 'उत्क्रमण' का बोध होता है। सूत्रस्थ 'हि' शब्दका अर्थ है 'जिस हेतुसे'। श्रुति द्वारा 'स्वाप' एवं 'उत्क्रम' में जीवका निःसङ्गत्व प्रकटित हुआ है तथा मुक्तजीवकी सर्वज्ञता प्रदर्शित है। छान्दोग्योपनिषदमें धृत श्रुति इसका प्रमाण है—*'यथा नाह खल्वयमेव स प्रत्यात्मानं ... भोग्यं पश्यामि'* अर्थात् "अह—हाय! यह सुषुप्त पुरुष 'मैं वही आत्मा हूँ' (यह मैं हूँ)" इस प्रकारसे सुषुप्तिकालमें आत्माको नहीं जानता, वह इन समस्त पृथिवी आदि भूतोंको भी नहीं जानता। जिनसे वह 'अप्यय' अर्थात् लयको प्राप्त होता है। मैं (इन्द्र) सुषुप्तिमें किसी भोग्यका (सुख-दुःखका)

अनुभव नहीं करता, इस प्रकारसे श्रुति सुषुप्तिमें संज्ञाहीन-अवस्था (निःसङ्गत्व) कहकर बादमें उसी वाक्यमें ही मुक्तजीवको अधिकार करके उसकी सर्वज्ञताका निर्धारण करती है, यथा *'स वा एष एतेन ... एते ब्रह्मलोके'* अर्थात् वह मुक्तपुरुष इन दिव्य चक्षुओं द्वारा मनमें इन समस्त काम्य पदार्थोंको देखकर प्रसन्न होता है—'ब्रह्मलोकमें ये सब काम्य-पदार्थ हैं (उन्हें देखो)। इस श्रुति द्वारा मुक्तपुरुषकी सर्वज्ञता कही गयी है।' पुनः उत्क्रमणमें जीवका संज्ञाहीनत्व (निःसङ्गत्व) भी श्रुति द्वारा कहा गया है, यथा *'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति'* अर्थात् जीव मृत्युके बाद इन पृथिवी आदि भूतोंसे निर्गत होकर (प्रकट होकर) उन्हीं भूतोंके साथ विनष्ट हो जाता है। 'विनश्यति' अर्थात् फिर कुछ भी नहीं देखता। अतएव इस प्रकारसे यह सिद्ध हुआ कि मुक्तजीव सर्वज्ञ होता है॥ १६॥

सूक्ष्मा-टीका—स्वाप्यय इति। स्वामात्मानं प्रत्यपीतो लीनो भवतीति स्वपीतीत्युच्यते। शक्तिमद्ब्रह्म खलु जीवस्यात्मा भवतीति। तत्रैवेति छान्दोग्ये। नाहेति प्रजापतिं प्रतीन्द्रवाक्यमेतत्। व्याख्यातञ्चैतत् प्राक्। य इति। ये कामा ब्रह्मलोके सन्ति तानित्यर्थः॥ १६॥

सूक्ष्मा-सार—*'स्वाप्यय सम्पत्त्येरित्यादि'* सूत्रमें 'स्वमपीतः'—अर्थात् प्रत्यगात्मामें वह लीन होता है, इसी कारण उसे उस समय 'स्वपिति' कहा जाता है। क्योंकि ब्रह्म शक्तिमान है, इसलिए ब्रह्म जीवकी आत्मा है। *'तत्रैव नाह'* इत्यादिमें 'तत्र' का अर्थ है—'छान्दोग्यमें' (८/११/२) 'नाह' इत्यादि वाक्य प्रजापतिके प्रति इन्द्रका खेदसूचक वाक्य है। यह पहले ही (चतुर्थाध्यायके चतुर्थपादके द्वितीय सूत्रकी भाष्य टीकामें) व्याख्यात हुआ है। *'य एते ब्रह्मलोके'* अर्थात् ये समस्त काम्यवस्तुएँ ब्रह्मलोकमें रहती हैं (उन सबका दर्शन करें)॥ १६॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पुनः आपत्ति उठती है कि मुक्तपुरुषकी सर्वज्ञता युक्तियुक्त है या नहीं? क्योंकि *'प्राज्ञेनात्मना'* (बृ॰आ॰ ४/३/२१) श्रुतिमें उनके विशेष ज्ञानका प्रतिषेध हुआ है। पूर्वपक्षवादीके इस कथनके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि पूर्वोक्त श्रुतिमें केवल सुषुप्ति एवं उत्क्रान्ति-दशामें ही जीवका विशेष ज्ञान निषिद्ध हुआ है, किन्तु मुक्तके विशेष ज्ञानका वारण नहीं हुआ है। छान्दोग्यके *'स्वमपीतो*

भवति' (छा॰ ६/८/१) श्रुति-वाक्यमें सुषुप्तादि दोनों कालोंमें ही निःसङ्गत्व प्रकटित हुआ है, परन्तु इसी श्रुतिके वाक्यान्तरमे (दूसरे वाक्यमें) मुक्तपुरुषकी सर्वज्ञता ही प्रदर्शित हुई है। इस विषयमें विस्तार पूर्वक आलोचना भाष्यमें देखनी चाहिये।

छान्दोग्यके ६/८/६/, ८/२/१, ८/१२/५ इत्यादि श्रुति-वाक्य भी इस सम्बन्धमें आलोच्य हैं।

श्रीमद्भागवतमें द्रष्टव्य है—

प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यं समीयाच्छरणं त्वदीयम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२९/३८)

अर्थात् भगवन्! आपकी मोहिनी मायाने मेरा ज्ञानदीपक छीन लिया था, परन्तु आपने कृपा करके वह फिर अपने सेवकको लौटा दिया। इसलिए आपने मेरे ऊपर महान अनुग्रहकी वर्षा की है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो आपके इस कृपा-प्रसादका अनुभव करके भी आपके श्रीचरणकमलोंकी शरण छोड़ दे और किसी दूसरेका सहारा ले?

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

'प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृ॰आ॰ ४/३/२१) *इति वाक्यं तु न मुक्तविषयम् किन्तु सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरन्यतरापेक्ष्यम् 'नाहं खल्वयं सम्प्रत्यात्मानं जानात्यहमस्मि'* (छा॰ ८/११/२) इति *'नो एवेमानि भूतानि विनाशमेव'* इति भूतानीति *'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति'* (बृ॰आ॰ २/४/१२) *इति च 'स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन्'* (छा॰ ८/१२/५) *इति च जीवस्योभयत्र निर्बोधत्वं मुक्तावस्थायां च सर्वज्ञत्वं शास्त्रेणाविष्कृतम्।*

अर्थात् प्राज्ञात्मामें आलिङ्गित होनेपर न कुछ बाहरका ज्ञान रहता है और न भीतरका। यह वाक्य सुषुप्ति-दशा एवं मरणकालीन दशाका बोधक होनेसे मुक्ति विषयक नहीं है। यह सुषुप्ति अथवा उत्क्रान्ति (मरण) इन दोनोंमेंसे किसी एक की अपेक्षासे कहा गया

है। इन अवस्थाओंमें 'उसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि यह मैं हूँ', 'और न वह इन अन्य भूतोंको ही जानता है—वह मानो विनाशको प्राप्त हो जाता है', 'जीव मृत्युके बाद इन पृथिवी आदि भूतोंसे प्रकट होकर इन्हीं भूतोंके साथ विनष्ट हो जाता है' इत्यादि और 'वह आत्मा इस दिव्य चक्षुके द्वारा (मन उसका दिव्य चक्षु है) भोगोंको देखता हुआ रमण करता है, जो कि इस ब्रह्मलोकमें है' इत्यादि श्रुतियोंमें जीवका सुषुप्ति एवं मरण—दोनों अवस्थाओंमें निर्बोधत्व (अज्ञान) और मुक्तावस्थामें (दिव्य चक्षु द्वारा) सर्वज्ञत्व प्रकट हुआ है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

न च स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति (कठ० १/१/१२) *इत्यादिना स्वर्गादिस्थस्यैतदिति वाच्यम्। यतः सुप्तौ मोक्षे वा तदुच्यते अत्र पिताऽपिता भवति अनन्वागतं पुण्येनान्वागतं पापेन* (बृ०आ० ६/३/२२) *इत्याद्याविष्कृतत्वात् ब्रह्मवैवर्त्ते च-ज्योतिर्मयेषु देहेषु स्वेच्छया विश्वमोक्षिणः। भुञ्जते सुसुखान्येव न दुःखादीन् कदाचन। तीर्णाहि सर्वशोकांस्ते पुण्यपापादिवर्जिताः। सर्वदोषनिवृत्तास्ते गुणमात्रस्वरूपिणः इति।*

अर्थात् पूर्व सूत्रमें कहा गया था कि मुक्त उत्तीर्ण हो जाते हैं—इस उत्तीर्ण शब्दका अर्थ 'स्वर्गस्थ' किसलिए नहीं है? इस आशङ्काके निराकरणके लिए कहते हैं—स्वर्गमें दुःखाभाव नहीं है—यह कहा नहीं जा सकता क्योंकि स्वर्गलोक इत्यादि श्रुतियाँ स्वर्गमें दुःखभाव प्रमाणित करती हैं। मुक्तोंका दुःखाभाव प्रमाणित है। सुषुप्ति और मुक्तिमें दिव्य सुखानुभूति होती है, जैसा कि श्रुति एवं ब्रह्मवैवर्त्तके वचनसे ज्ञात होता है कि ज्योतिर्मय देहमें केवल सुखभोग हो रहता है—दुःखभोग कभी भी नहीं होता। इस स्थितिमें पिता, अपिता हो जाता है, पुण्य-पाप किसीसे भी अवगत नहीं होता। समस्त लोकोंको त्यागकर मुक्त जीव स्वेच्छापूर्वक सुख ही भोगता है, दुःख कभी भी नहीं। मुक्त पापपुण्यवर्जित, समस्त शोकोंसे उत्तीर्ण, समस्त दोषोंसे निवृत्त गुणमात्रस्वरूप हो जाते हैं। मुक्तोंका दुःखाभाव और सुखभोग युक्तियुक्त है॥ १६॥

अवतरणिका भाष्य— *"अथ य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।* (छा. ८/१/६) *स यदि पितृलोककामो*

भवति" (छा॰ ८/१/२) इत्यादि श्रुतं तत्रैव। इह भवति संशयः। मुक्तो जगत्कर्त्ता स्यान्नवेति परमसाम्याप्तेः सत्यसङ्कल्पतायाश्चोक्तेः स्यादिति प्राप्ते—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—जो इस लोकमें आत्मा अर्थात् श्रीहरिको जानकर उपासना करके चले जाते हैं और जो श्रीहरिनिष्ठ अविनश्वर सत्यभूत समस्त काम्यवस्तुओंको जानकर उपासना करते हुए इस लोकका अर्चिः इत्यादि पथके आश्रयसे त्याग करते हैं, उत्क्रमणके बाद उनकी समस्त लोकोंमें कामचार (स्वाधीन-गति) होती है। वे यदि पितृलोककी कामना करते हैं, तो पितृ-पुरुष उनके समीप उपस्थित होते हैं इत्यादि छान्दोग्योपनिषदमें श्रुत होता है। इस विषयमें संशय है कि मुक्तपुरुष जगत्का भी सृष्टिकर्त्ता हो सकता है? कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षी कहते हैं—जब परमपुरुषके साम्यको प्राप्त होते हैं और सत्यसङ्कल्पताकी उक्ति है, तब जगत्-सृष्टि-कर्त्तृत्व होगा ही—तो इसके समाधानके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पो मुक्तः सङ्कल्पादेव ज्ञात्वा विश्वादि सृजतीत्युक्तं प्राक्। तद्वत्तस्मादेवासौ विश्वं सृजत्विति दृष्टान्तसङ्गत्याह अथेत्यादि। ये जना इहलोके आत्मानं हरिं तन्निष्ठान् सत्यान् कामांश्चानुविद्य ज्ञात्वोपास्य चेतो लोकादर्च्चिरादिमार्गेण हरिं प्राप्नुवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु हरेरिव कामचारः स्वेच्छागतिर्भवतीत्यर्थः। सत्यसङ्कल्पं हरिं ध्यायतां तेषां मुक्तौ सत्यसङ्कल्पाख्यो गुणः प्रादुर्भवतीति भावः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि मुक्तपुरुष सर्वज्ञ एवं सत्यसङ्कल्प होते हैं। सङ्कल्पसे ही समस्त वस्तुएँ जानकर विश्वादिकी सृष्टि करते हैं, इसी प्रकार सङ्कल्पसे ही ये मुक्त पुरुष जगत्की सृष्टि करें, इस दृष्टान्तसङ्गतिके अनुसार 'अथेत्यादि' सन्दर्भ कहते हैं। *'य इह-आत्मानमनुविद्येत्यादि'* (छा॰ ८/१/६) श्रुतिका अर्थ है—जो समस्त व्यक्ति इस लोकमें आत्मा अर्थात् श्रीहरिको एवं श्रीहरिनिष्ठ सत्यभूत काम्य वस्तुओंको जानकर एवं उपासना करके इस लोकसे अर्चिः इत्यादि पथावलम्बनसे श्रीहरिको प्राप्त होते है। उनकी समस्त लोकोंमें ही श्रीहरिके समान इच्छाधीन गति होती है, यह अर्थ है। भावार्थ यह है कि सत्यसङ्कल्प श्रीहरिके ध्यानकारियोंका (उपासकोंका) मुक्तिमें सत्यसङ्कल्प नामक गुण आविर्भूत होता है।

जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम्

सूत्र—जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वात्॥ १७॥

सूत्रार्थ—'जगद्व्यापारवर्जम्' समग्र चित्–अचित् वस्तुकी सृष्टि, स्थिति, लयरूप जगत् व्यापार केवल ब्रह्मनिष्ठ है, इन्हें छोड़कर अन्य समस्त विषयोंमें मुक्तका कर्त्तृत्व है, क्योंकि 'प्रकरणात्' 'यतो वा इमनि भूतानि' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको ही प्रक्रम करके पठित है। पूर्वकी अनुवृत्ति (सत्ता) और वक्ष्यमाणके आकर्षण द्वारा मुक्तपुरुषको जगत्–कर्त्तृत्व प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि 'असन्निहितत्वात्' 'यतो वा इमानि' इत्यादि श्रुति मुक्तपुरुषकी सन्निधिमें पठित नहीं है॥ १७॥

सूत्रानुवाद—जगत्‌की सृष्टि, स्थिति तथा लयरूप व्यापारको छोड़कर समस्त ऐश्वर्य मुक्तपुरुषको प्राप्त हैं, क्योंकि 'प्रकरणात्' अर्थात् सृष्टि आदिके निर्णयोंमें सर्वत्र परमात्माकी ही चर्चा है। उन्हींको प्रकृत करके सृष्टि आदिका वर्णन किया गया हैं॥ १७॥

गोविन्दभाष्य—स यदीत्याद्यवगतो मुक्तसर्गो यतो वा इमानीत्याद्यवगतं निखिल–चिदचित्सृष्टिस्थितिनियमनरूपं ब्रह्मैकान्तं जगद्व्यापारं विहाय बोध्यम्। कुतः? प्रेति। *"यतो वा"* (तै॰ ३/१/१) इत्यादेर्ब्रह्मैव प्रकृत्य पाठात्। न चानुकर्षणाकर्षणाभ्यां मुक्तस्य तत्प्राप्तिरित्याह असन्निति। मुक्तस्य तत्सान्निध्याभावान्न ताभ्यां सेत्यर्थः। इतरथा *"जन्माद्यस्य यतः"* इति ब्रह्मलक्षणं न ब्रूयात्। अनेकेश्वरता चानिष्टापद्येत तस्मान्न मुक्तो जगद्व्यापारीति॥ १७॥

गोविन्दभाष्यानुवाद— *'स यदि पितृलोक–कामो भवति'* (छा॰ ८/२/१) इत्यादिसे मुक्तसर्ग अर्थात् मुक्तपुरुषके द्वारा जो सृष्टि अवगत हो रही है, उसे, *'यतो वा इमानि भूतानि जातानि'* (तै॰ ३/१/१) इत्यादि श्रुतिसे अवगत चिदात्मक एवं जड़ात्मक सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि, स्थिति, नियन्तास्वरूप जगत्–व्यापार जो एकमात्र ब्रह्मनिष्ठ है—इस व्यापारके बिना जानना होगा। इसका कारण है कि *'यतो वा'* (जिससे ये सब) इत्यादि श्रुति ब्रह्मको ही प्रक्रम करके इस प्रकरणमें पठित है। यदि कहो, इस श्रुतिसे मुक्तप्रकरणके अनुकर्षण और परवर्त्ती सूत्रधृत श्रुति *'मुक्तस्तदनुभवंस्तिष्ठति न किञ्चिदूनम्'*—के आकर्षण द्वारा मुक्तको भी जगत्–कर्त्तृत्वकी प्राप्ति होगी तो इस आशङ्का पर

कहते हैं—*'असन्निहितत्वात्'* यह श्रुति मुक्तके प्रकरणमें सन्निहित नहीं है। अतएव इसे ब्रह्मके सम्बन्धमें ही जानना चाहिये। इतरथा अर्थात् मुक्तजीवका जगत्-कर्त्तृत्व मान लेनेपर *'जन्माद्यस्य यतः'* इस सूत्रके द्वारा ब्रह्मका लक्षण नहीं कहा जा सकेगा। यदि कहो, ब्रह्म कर्त्ता हैं, मुक्तपुरुष भी कर्त्ता है तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इससे अनभिप्रेत अनेकेश्वरता आपत्तिका विषय होती है, जो महान् अनिष्टकारी हो सकती है। अतएव सिद्धान्त यह है कि मुक्तपुरुष जगत्-सृष्टिकारी नहीं है। जगत्-व्यापारमें उसका सामर्थ्य नहीं है॥ १७॥

सूक्ष्मा-टीका—जगदिति। प्रेति। यतो वा इत्यादिकं हि ब्रह्मणएव प्रकरणं न तु मुक्तजीवस्येत्यर्थः। सेति जगत्कर्त्तृत्वप्राप्तिः। इतरथा मुक्तजीवस्य जगत्कर्त्तृत्वे सति। जन्माद्यस्येति। असाधारणधर्मवचनमितरभेदानुमापकं वा लक्षणम्। अनेकेति। अनेकेष्वीश्वरेषु सत्सु विप्रतिपत्त्या जगत्सर्गादिकं न सिद्ध्येदनिष्टञ्चैतद्वादि-नामित्यर्थः॥ १७॥

सूक्ष्मा-सार—*'जगद्व्यापारवर्जमित्यादि'* सूत्रमें। *'प्रकरणादिति'* *'यतो वा इमानि'* इत्यादि ब्रह्मका ही प्रकरण है, मुक्तजीवका नहीं, यह अर्थ है। *'ताभ्यां सा'* इति—वह जगत्-कर्त्तृत्व-प्राप्ति। *'इतरथा जन्माद्यस्येति'* में 'इतरथा' का अर्थ है—मुक्त जीवका जगत्-कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर। *'जन्माद्यस्य'* इत्यादि ब्रह्मके लक्षण नहीं कहे जा सकेंगे, क्योंकि असाधारण धर्मवाचक अथवा इतरभेदानुमापक लक्षण हैं। *'अनेकेश्वरता च'* इत्यादि अनेक ईश्वर होनेपर विरुद्धोक्तिवशतः जगत्-सृष्टि इत्यादि कार्य-सिद्ध नहीं होंगे। यह वादियोंका अनभिप्रेत है, यह तात्पर्य है॥ १७॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब और एक आपत्ति उठती है कि छान्दोग्यके *'य इह आत्मानमनुविद्य'* (छा॰ ८/१/६) जो इस लोकमें आत्माको (श्रीहरिको) तथा सत्य कामनाओंको जानकर (परलोकमें) जाते हैं, उनकी समस्त लोकोंमें यथेच्छ गति होती है) और *'स यदि पितृलोक कामो भवति'* (छा॰ ८/२/१-१०) इत्यादि श्रुति-वाक्यके द्वारा मुक्तपुरुषके परम साम्य एवं सत्यसङ्कल्पता इत्यादि गुण जब आविर्भूत होते हैं, तब संशय यह है कि वह मुक्तपुरुष जगत्के सृष्टि आदि

कर्त्तृत्वको भी प्राप्त करेगा? कि नहीं? इसपर पूर्वपक्षवादी कहते हैं कि जब श्रुतिमें परमसाम्यताप्राप्ति और सत्य-सङ्कल्पता नामक गुणोंकी प्राप्तिकी बात कही गयी है, तब जगत्-सृष्टिकर्त्तृत्व भी मुक्तपुरुषमें रह सकता है। पूर्वपक्षीके इस मतके समाधानके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि श्रुतियोंके प्रकरण एवं अर्थका विचार करनेपर देखा जाता है कि निखिल चित्-अचित् सृष्टि-स्थिति-नियमनरूप जगत्-व्यापार केवल ब्रह्मका ही कार्य है। इसके अतिरिक्त समस्त कार्योंमें मुक्तकी योग्यता है। *'यतो वा इमानि भूतानि'* (तै॰ ३/१/१) श्रुति-वाक्यके प्रकरणका विचार करनेपर उसे ब्रह्म-पक्षमें ही लेना होगा, जीव-पक्षमें लेना सङ्गत नहीं है क्योंकि जीवसे सम्बन्धित कोई भी बात उसके सन्निधानमें प्राप्त नहीं होती। दूसरी बात यह है कि ऐसा मान लेनेपर *'जन्माद्यस्य यतः'* (ब्र॰सू॰ १/१/२) इस ब्रह्म लक्षण इत्यादि वाक्यमें भी स्पष्ट रूपसे कथित नहीं है। और भी, मुक्तजीवका सृष्टि-कर्त्तृत्व स्वीकार करनेपर अनेक ईश्वरवादकी आपत्ति आ पड़ती है। इससे महान अनिष्ट हो जायेगा। इसलिए मुक्तजीवमें जगत्-व्यापार स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह जगत्-व्यापारी नहीं है।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
(श्रीमद्भा॰ १/१/१)

अर्थात् जिन परमेश्वरसे इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति (पालन) तथा विनाश कार्य अन्वय (कारणकी कार्यमें स्थिति यथा मिट्टीकी घटमें स्थिति) और उसके विपरीत व्यतिरेक (कारणका कार्यसे पृथक् भाव अर्थात् मिट्टीकी घटसे पृथक् रूपमें स्थिति) रूपमें साधित होते हैं, जो जगत्के कर्त्ताके धर्मसे सम्पूर्ण रूपसे अवगत हैं, जिनमें स्वतःज्ञान स्वयं विराजमान है, इत्यादि। अन्य स्मृतिमें भी पाया जाता है—

यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये॥

अर्थात् युगागममें जिनसे समस्त प्राणी प्रकट होते हैं और युगक्षयमें उनमें ही सभी लयको प्राप्त हो जाते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ॰ ५/८१) में भी पाया जाता है—

सेई पुरुष सृष्टि-स्थिति-प्रलयेर कर्त्ता।
नाना अवतार करे, जगतेर भर्त्ता॥

अर्थात् वे ही महाविष्णु (श्रीकृष्णकी कला-मत्स्यादि समस्त अवतारोंके अंशी-कारणार्णवशायी) सृष्टि-स्थिति एवं प्रलय करनेवाले हैं। वे ही अनेक अवतार ग्रहणकर जगत्‌की रक्षा करते हैं।

सात्वततन्त्रमें पाया जाता है—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकन्तु महतःस्रष्टु द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥

अर्थात् विष्णुके तीन रूप हैं। प्रथम महत्तत्वके स्रष्टा-कारणाब्धिशायी महाविष्णु, द्वितीय गर्भोदकशायी समष्टि ब्रह्माण्डान्तर्गत पुरुष, तृतीय क्षीरोदकशायी वयष्टि ब्रह्माण्डान्तर्गत पुरुष—ये प्रत्येक जीवके अन्तर्यामी ईश्वर और परमात्मा हैं। इन तीनों तत्त्वोंको जान लेनेपर जीव जड़बुद्धिसे मुक्त हो जाता है अर्थात् इन तीनों पुरुषावतारोंको प्रकृतिका स्वामी जान लेनेपर जीवोंका पुरुषाभिमान नष्ट हो जाता है। तब उन्हें इस मूर्त्तिमती-प्रकृति रूपी स्त्रीके प्रति भोक्ताभिमान नहीं रहता है। तत्काल ही वे भोगमय जड़बुद्धिसे मुक्त हो जाते हैं एवं साधुसङ्गके साथ हरिसेवा करनेका सुयोग प्राप्त करते हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

जगत्-सृष्ट्यादिव्यापारेतरत् मुक्तैश्वर्यम्। कुतः? 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै॰ ३/१/१) *इत्यादौ परब्रह्मप्रकरणान्मुक्तस्य तत्रासन्निहितत्वाच्च।'*

अर्थात् जगत्‌की सृष्टि, स्थिति तथा नियन्त्रणरूप व्यापारके अतिरिक्त समस्त ऐश्वर्य मुक्तको प्राप्त होता है। कैसे जान लिया? क्योंकि श्रुति-वचन है—*'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'* (जिनसे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं) इस प्रकार सृष्टि आदिके निर्णयमें सर्वत्र परमात्माका ही उद्‌घोष है—मुक्तपुरुषके सन्निधानमें इस प्रकारके श्रुति-वचन पठित नहीं हैं।

श्रीरामानुजभाष्यके सारमें भी पाया जाता है—

मुक्तपुरुष जगत्-सृष्टि आदिकी सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर सकता। जगत्-व्यापारसे रहित यथायथ रूपसे ब्रह्मानुभव करना ही मुक्तपुरुषका ऐश्वर्य है। इस सिद्धान्तका कारण है—प्रकरण—जहाँ श्रुतिमें जगत्-सृष्टिका विषय है, वहाँ परब्रह्मका ही प्रसङ्ग देखा जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण असन्निहितत्व भी है, क्योंकि जगत्-सृष्टि आदि व्यापारका जहाँ उल्लेख है, वहाँ मुक्तपुरुषका उल्लेख देखा नहीं जाता।

श्रीमध्वभाष्यमें देखा जाता है—*'सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् इत्युच्यते तत्र सृष्ट्यादिभ्योऽन्यान् व्यापारानाप्नोति॥'* (ऐ॰ २/६)

अर्थात् जो ब्रह्मको प्राप्त है उसके जगत्-व्यापार-अभावका समर्थन करते हैं—इस समय सन्देह यह है कि मुक्तका सृष्टि आदिमें जगत्-व्यापार है या नहीं? यदि कहते हो कि मुक्तका जगत्-व्यापार है—*'सर्वान् कामानाप्नोति'* इत्यादि श्रुतिमें मुक्तका कामवान् जाना जाता है एवं सृष्टि इत्यादि जगत्-व्यापार भी उसका कार्य है—इसलिए मुक्तका जगत्-व्यापार अनुमित होता है—इस आशङ्कापर कहते हैं कि मुक्तोंका कोई जगत्-व्यापार नहीं है। उनकी कामना जगत्-सृष्टिके अतिरिक्त होनेके कारण *'सर्वान् कामानाप्नोति'* इस श्रुतिके अनुसार 'मुक्तपुरुष समस्त कामनाओंको प्राप्तकर अमृत हो जाता है' इत्यादिमें जिन कामनाओंकी प्राप्तिकी बात बतलायी गयी है, वह सृष्टि आदिके भोगोंसे भिन्न दिव्य भोगोंकी है।

आचार्य शङ्करने इस स्थलपर जो व्याख्या दी है, वह सूत्रकर्त्ताका अभिप्रेत अर्थ नहीं है॥ १७॥

अवतरणिका भाष्य—ननु *"सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति"* (तै॰ १/५/३) इत्यादितैत्तिरीयके *"स स्वराड् भवति तस्य लोकेषु कामचारो भवति"* इति छान्दोग्ये (७/२५/२) च सर्वदेवाराध्यत्वाद्यैश्वर्यस्योपदेशात् मुक्तस्तादृशः स्यादिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि तैत्तिरीयकोपनिषदमें है—*'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति'* इत्यादि अर्थात् समस्त देवता उस हरिभक्त मुक्तपुरुषकी पूजा करते हैं अर्थात् उन्हें पूजा द्रव्य (बलि)

देते हैं। इस श्रुतिके द्वारा समस्त देवताओंका आराध्यत्व और छान्दोग्य श्रुति *'स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'* अर्थात् मुक्तपुरुष स्वाधीन होता है, समस्त लोकोंमें उसकी कामगति होती है—इस श्रुतिके द्वारा सवैश्वर्यादिका उपदेश होनेके कारण मुक्तपुरुषका जगत्-कर्त्तृत्व होगा—यह यदि कहते हो तो इसपर कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। सर्वे विधिप्रमुखा देवाः। अस्मै हरिभक्ताय मुक्ताय।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—निश्चय ही *'सर्वेऽस्मै'* इत्यादि भाष्यमें सर्वे अर्थात् चतुर्मुख विधाता इत्यादि प्रमुख देवगण। *'अस्मै'* इस हरिभक्त मुक्तपुरुषको पूजा द्रव्य देते हैं।

सूत्र—प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्योक्तेः॥ १८॥

सूत्रार्थ—'प्रत्यक्षोपदेशात्' प्रत्यक्षतः श्रुति द्वारा ही मुक्तपुरुषका जगत्-कर्त्तृत्व है, आधिपत्य इत्यादि कहे जानेके कारण उसका जगत्-व्यापार-वर्जन कहना 'न'—युक्तियुक्त नहीं है, 'इति चेत्'—यह यदि कहते हो तो, 'न' यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'आधिकारिकमण्डलस्योक्तेः' नियुक्त आधिकारिक पुरुषके लोक और वहाँके भोग मुक्तपुरुषके होते हैं—यह कहा गया है॥ १८॥

सूत्रानुवाद—श्रुतिमें प्रत्यक्ष ही कथन होनेसे मुक्तका जगत्-व्यारपारका अधिकार हो जाता है—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि जगत्-व्यापार कार्यमें नियुक्त ब्रह्मादि आधिकारिक पुरुषोंके लोक और वहाँके भोग परेशानुग्रहसे ही मुक्तपुरुषको प्राप्त होते हैं॥ १८॥

गोविन्दभाष्य—प्रत्यक्षेण श्रुत्यैव मुक्तस्य जगद्व्यापारोक्तस्तस्य तद्वर्ज्जनं न युक्तमितिचेन्न। कुतः? आधिकारिकेति। चतुर्मुखादयो ह्याधिकारिकास्तेषां मण्डलानि लोकास्तत्स्था भोगाः परेशानुगृहीतस्य मुक्तस्य भवन्तीति तयोच्यते। यथा कुमारनारदादेस्तेष्वप्रतिहता गतिस्तत्स्वामिसत्कारश्च स्मर्यते। तथा च तद्विभूतिभूतान् कार्यान्तर्गतान् भोगान् मुक्तस्तदनुग्रहाद्व्रजतीति तत्र तत्राभिधानात् न तद्व्यापारी सः॥ १८॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—प्रत्यक्षोपदेशात् अर्थात् श्रुतिमें मुक्तपुरुषका जगत्-व्यापार (जगत्-कर्त्तृत्व) प्रत्यक्ष रूपसे कहे जानेके कारण मुक्तके जगत्-व्यापारका वर्जन अथवा प्रतिषेध तो युक्तियुक्त नहीं हैय यह यदि कहते हो तो, ऐसा नहीं है। कारण? इसका उत्तर है—*'आधिकारिकमण्डलस्योक्तेः'* अर्थात् चतुर्मुख ब्रह्मादि जगत्-व्यापारमें अधिकृत उनके लोकसमूह और वहाँपर स्थित अर्थात् तत्-तत् लोक सम्बन्धी समस्त भोग परमेश्वर-कर्त्तृक अनुग्रहसे मुक्तपुरुषको प्राप्त होते हैं—श्रुति जो यह कहती है, तो इसमें जगत्-व्यापारके कथनका तो कहीं भी निषेध नहीं है, यथा सनत्कुमार इत्यादि ऋषियोंकी एवं नारद इत्यादिकी समस्त लोकोंमें यथेच्छाक्रमसे अबाधित (अप्रतिहत) गति है तथा उन-उन लोकाधिपतियों द्वारा उनके सत्कारका (पूजाका) स्मृतियोंमें कथन है। अतएव सिद्ध होता है कि मुक्तपुरुष परमेश्वरके अनुग्रहसे उनके ही विभूतिस्वरूप विश्व-प्रपञ्चके (ब्रह्माण्डादिके) अन्तर्गत भोग्य वस्तुओंका भोग करते हैं। यह बात उन-उन श्रुतियोंमें कहे जानेके कारण स्पष्ट है कि मुक्तपुरुष जगत्-सृष्टि इत्यादि व्यापार नहीं करते॥ १८॥

सूक्ष्मा-टीका—प्रत्यक्षेणेति। तद्वर्ज्जनं जगद्व्यापारनिषेधः। तया श्रुत्या। तेषु चतुर्मुखादिलोकेषु। तत्स्वामिनस्तल्लोकनाथाश्चतुर्मुखादयः। कार्यान्तर्गतान् प्रपञ्च-मध्यभवान्॥ १८॥

सूक्ष्मा-सार—*'प्रत्यक्षेणेत्यादि।'* *'तस्य तद्वर्जनमिति'* में 'तद्वर्जनम्' अर्थात् जगत्-व्यापारका निषेध, *'मुक्तस्य भवन्तीति तयोच्यते'* में 'तया' का अर्थ है श्रुति द्वारा, *'तेष्वप्रतिहतेति'*—तेषु-चतुर्मुखादि लोकसमूहमें। *'तत्स्वामिसत्कारश्चेति—'तत्स्वामिना सत्कार इति'* में 'तत्स्वामी' का अर्थ है—उस-उस लोकके अधिपति चतुर्मुखादि। *'कार्यान्तर्गतान्'* इति—प्रपञ्चमें स्थित।॥ १८॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब पूर्वोक्त संशयके और भी दृढ़ीभूत-स्थलपर यदि पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब तैत्तिरीय-श्रुतिमें पाया जाता है कि *'वैंऽस्मै देवा बलिमाहवन्ति'* (तै॰ १/५/३) अर्थात् समस्त देवता उन मुक्तपुरुषकी पूजा करते हैं और छान्दोग्यमें पाया जाता है कि *'स*

स्वराड् भवति' (छा॰ ७/२५/२) अर्थात् वह मुक्तपुरुष स्वाधीन होता है, तब मुक्तपुरुषको तद्रूप ही कहा जायेगा। पूर्वपक्षीके इस मतके निराकरणके लिए प्रस्तुत सूत्रमें सूत्रकार कहते हैं कि पूर्वपक्षी यदि कहते हैं कि श्रुतिमतमें प्रत्यक्ष रूपसे मुक्तपुरुषका जगत्-कर्त्तृत्व कहा गया है—इसका वर्जन करना तो युक्तियुक्त नहीं हो सकता। इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि जगत्-व्यापार चतुर्मुख ब्रह्मादिका अधिकृत है, उनके आधिकारिक लोकसमूह और तत्-तत् लोकवासियोंके समस्त भोग परमेश्वरके अनुग्रहसे ही मुक्तपुरुषमें सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार सनकादि एवं नारदादि ऋषियोंकी उन समस्त लोकोंमें अप्रतिहतगति है और समस्त लोकाधिपतिगणों द्वारा उनकी पूजाका कथन बात पुराणादिमें दिखायी देता है। इसके द्वारा यह जाना जाता है कि परमेश्वरके अनुग्रहसे ही उनके विभूतिरूप विश्वके अन्तर्गत भोगोंका मुक्तपुरुष भोग करते हैं, किन्तु वे जगत्-सृष्टि आदि व्यापारके अधिकारी नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य-
गन्धर्व-यक्ष-नर-किन्नर-नागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम्॥

(श्रीमद्भा॰ ११/२/२३)

अर्थात् उन मुक्त नवयोगीन्द्रोंको उनके किसी भी अभीष्ट स्थानमें जानेके लिए कोई रोक-टोक नहीं थी। वे जहाँ चाहते, वहीं चले जाते। देवता, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागोंके लोकमें तथा मुनि, चारण, भूतनाथ शिवके कैलाश, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओंके स्थान गोकुल—इन सभी लोकोंमें स्वच्छन्द विचरण करते थे। वे सभी जीवन्मुक्त थे।

श्रीब्रह्माजीके वाक्यमें भी प्राप्त होता है—

येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम्।
यथार्कोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्षग्रहतारकाः॥

(श्रीमद्भा॰ २/५/११)

अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व स्वयं-प्रकाश भगवान्से प्रकाशित है। जिस प्रकार सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रादि (परमेश्वरके) चिन्मय प्रकाशसे प्रकाशित वस्तुओंको पुनः प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार मैं उनकी ही शक्तिसे प्रकाशित वस्तुओंकी पुनः सृष्टि करके पिष्ट-पेषण (पिसे हुएको फिरसे पीसना) न्यायके द्वारा प्रकाशित करता हूँ। ब्रह्मकी ज्योतिके द्वारा ज्योतिर्मान होकर ब्रह्मके अनुगत भावसे सूर्यादि प्रकाश प्राप्त करते हैं और दूसरोंको प्रकाशित करते हैं। सूर्य आदि कोई भी स्वतन्त्र प्रकाशक नहीं हैं, इसी प्रकार मैं भी स्वतन्त्र सृष्टिकर्त्ता नहीं हूँ।

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥

(श्रीमद्भा॰ २/६/३२)

अर्थात् हरिकी आज्ञासे ही नियुक्त होकर मैं संसारका सृजन करता हूँ। उनके ही अधीन होकर शिव इस विश्वका संहार करते हैं। त्रिगुणमायाशक्तिधर (अन्तरङ्गा चित्-शक्ति, बहिरङ्गा-मायाशक्ति एवं तटस्था-जीवशक्तिको धारण करनेवाले) श्रीहरि विष्णुरूपमें विश्वका पालन करते हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

'स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यादि श्रुत्या मुक्तस्य जगत्-व्यापार प्रतिपादनात् 'जगत्व्यापारवर्जम्' इति यदुक्तं तन्नेति चेन्न तथा श्रुत्या हिरण्यगर्भादि लोकस्थानां भोगानां मुक्तानुभव विषय तयोक्तत्वात्।

अर्थात् छान्दोग्य-श्रुति (७/२५/१) के अनुसार वह सर्वसमर्थ हो जाता है। वह सभी लोकोंमें स्वच्छन्द विचरणशील होता है—इत्यादि श्रुतिके द्वारा मुक्तके जगत्-व्यापारका प्रतिपादन होनेपर भी *'जगत्-व्यापारवर्जम्'* यह जो कहा गया है, तो यह नहीं कहा जा सकता। ऐसा यदि कहते हो, तो यह ठीक नही है, क्योंकि उस श्रुतिके द्वारा यह उक्त हुआ है कि हिरण्यगर्भादिके लोकोंमें प्राप्त होनेवाले भोगोंका (ऐश्वर्यका) मुक्तजन अनुभव करते हैं।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

कुतः—जीवप्रकरणत्वाज्जीवानां तादृक सामर्थ्य-विदूरत्वाच्च। वाराहे च-स्वाधिकानन्दसम्प्राप्तौ सृष्ट्यादिव्यापृतिष्वपि। मुक्तानां नैव कामः स्यादन्यान् कामांस्तु भुञ्जते। तद्योग्यता नैव तेषां कदाचित् क्वापि विद्यते। न चायोग्यं विमुक्तोऽपि प्राप्नुयान्न च कामयेदिति॥

अर्थात् पूर्व सूत्रमें मीमांसित हुआ था कि *'सर्वान् कामनाप्नोति'* समस्त कामनाओंको प्राप्त कर अमृत हो जाता है। इस श्रुतिकी 'जगत्-व्यापारके अतिरिक्त समस्त कामनाएँ'—इस प्रकारके अर्थ द्वारा उपपत्ति होती है। इस क्षण जिज्ञास्य यह है कि सर्वशब्दकी इस तरह सङ्कोचवृत्तिका कारण क्या है। इस आशङ्काके परिहारके लिए कहते हैं—क्योंकि जीवकी जगत्-व्यापार शक्ति नहीं है—अतएव 'जगत्-व्यापारसे अतिरिक्त'—इस प्रकारका अर्थ ही युक्तियुक्त है। शास्त्रमें जहाँ भी जीवके स्वरूपका वर्णन किया गया है, वहाँ उस प्रकारके सामर्थ्यका अभाव ही दिखाया गया है। वराहपुराणमें उल्लेख है कि स्वाधिक-आनन्द-संप्राप्ति एवं सृष्टि आदि व्यापार—इनमें मुक्तोंकी कामना नहीं होती—वे अन्यान्य आनन्दका भोग करते हैं। विशेषतः मुक्तोंकी सृष्टि आदि व्यापारमें योग्यता नहीं है—अतएव वे मुक्त होकर भी अयोग्य कामना नहीं करते और अनुचित काम्य प्राप्त कर भी नहीं सकते। इसलिए उक्त श्रुतिमें सर्व शब्दकी सङ्कोचवृत्ति स्वीकृत है॥ १८॥

अवतरणिका भाष्य—ननु मुक्तश्चेत् कार्यान्तर्गतान् भोगान् भुङ्क्ते तर्हि संसारितो न विशेषस्तेषां विनाशित्वादिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति होती है कि—यदि मुक्तपुरुष प्रपञ्च स्थित भोगोंका भोग करते हैं तो संसारी जीवसे उनका कोई प्रभेद नहीं रहा, क्योंकि ये भोग विनश्वर हैं। इसपर सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। तेषां—भोगानाम्।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद— *'ननु'* इत्यादि। *'तेषां विनाशित्वादिति'* में 'तेषाम्' का अर्थ है—प्रपञ्चान्तवर्त्ती भोग-समुदायका।

सूत्र—विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह॥ १९॥

सूत्रार्थ—'च' और 'विकारावर्त्ति' प्रकृतिके विकारीभूत प्रपञ्चके अन्तवर्त्ती अर्थात् जन्म, सत्ता, उपचय, अपचय, परिणाम और नाश—इन छह प्रकारके विकारोंसे रहित, निर्दोष, ब्रह्मस्वरूप-ब्रह्मविद्या द्वारा अनुभव करते हुए वे मुक्तजीव इन धामादिमें अवस्थान करते हैं, 'हि' क्योंकि काठक-श्रुति मुक्तकी 'तथा' इसी प्रकारकी 'स्थिति' स्थितिको 'आह' कहती है॥ १९॥

सूत्रानुवाद—मुक्तपुरुषकी विकारात्मक विश्वमें स्थिति नहीं होती, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मविद्याके द्वारा आवृत्ति क्षय होनेके कारण वे ब्रह्मानुभवका आस्वादन करते हुए अवस्थान करते हैं। कठोपनिषदमें मुक्तजीवके सम्बन्धमें इस प्रकारकी स्थिति कही गयी है॥ १९॥

गोविन्दभाष्य—विकारे प्रपञ्चे जन्मादिषट्के वा न वर्त्तते इति विकारावर्त्ति निरवद्यं ब्रह्मस्वरूपं तद्गुणभूतं तद्धामादिकं च। तत्तद्विषयया विद्यया तत्तदावृत्तिपरिक्षया-न्मुक्तस्तदनुभवंस्तिष्ठितीति न किञ्चिदूनम्। हि यतः कठश्रुतिर्मुक्तस्य तथा स्थितिमाह। *"पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रतेजसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते"* (कठ॰ २/२/१) इति। स्वरूपावरिकयावृत्त्या विमुक्तो विद्वान् गुणावरिकया तया विमुच्यते इत्यर्थः। तथा च द्विविधावृत्तिविमुक्तस्तत् साक्षात्कृत्य तिष्ठतीत्यक्षयपुमर्थभाक् स इति। इयमावृत्तिर्मेघमालेव जीवदृष्टिगतैव बोध्या न तु ब्रह्मगता। *"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया। विमोहिता विकथ्यन्ते ममाहमिति दुर्धियः"* (श्रीमद्भा॰ २/५/१३) इति स्मरणात्। न हि मेघमालया रविरिवाव्रियते॥ १९॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—*विकारावर्त्ति*—जो विकारमें अर्थात् प्राकृतिक चराचर प्रपञ्चमें अर्थात् जन्मादि छह विकारोंमें वर्त्तमान नहीं हैं—उस प्रकारसे निर्दोष (निरवद्य) ब्रह्मस्वरूप होकर वे मुक्तजीव तद्-तद् विषयिणी विद्याद्वारा (भगवत्-विषयक विद्यावृत्तिके द्वारा) तद्-तद् (अविद्यागत) आवरणोंका सम्पूर्ण रूपसे विनाश होनेके कारण ब्रह्मके गुणभूत वैकुण्ठधामादिमें अपने उस ब्रह्मस्वरूप अनुभवरूपका आस्वादन करते हुए अवस्थान करते हैं, इसलिए कोई भी त्रुटि (हानि) नहीं है। 'हि'—क्योंकि, कठोपनिषदमें मुक्तजीवके सम्बन्धमें उसी प्रकारकी स्थिति कही गयी है। यथा—*'पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रतेजसः ... विमुच्यते'* इत्यादि। अजस्य अर्थात् जन्मादि छह प्रकारके विकारोंसे

(जन्म, स्थिति, वृद्धि, अपक्षय, परिणाम एवं नाश) रहित आत्माका यह शरीररूपी पुर जो ग्यारह द्वारोंवाला है, उस शरीररूपी पुरमें अवस्थित जीवात्मा हृदयस्थित पुरमें 'अवक्रतेजा' अर्थात् सरल (अकुटिल) सर्वविषयक ज्ञान जिनका है—उन सर्वज्ञका अर्थात् श्रीहरिके ध्यानका अनुष्ठान करके शोकरहित हो जाता है। वे स्वरूपावरक वृत्ति—अविद्यासे (कर्म-बन्धनसे) मुक्त होकर गुणावरिका वृत्ति मायासे विमुक्त होते हैं। इस प्रकारसे द्विविध अर्थात् दो प्रकारकी आवरण शक्तियोंसे (स्वरूपावरिका एवं गुणावरिकासे) विमुक्त वह मुक्तपुरुष ब्रह्म-साक्षात्कार करके अवस्थान करते हैं अर्थात् वे अक्षय पुरुषार्थके भागी होते हैं। यह आवरण सूर्य और मेघमालाके समान जीव दृष्टिगत है, ब्रह्मगत नहीं। मेघ जिस प्रकार दर्शकके दृष्टिपथपर चक्षुओंपर आवरण डालकर उसके सूर्य-दर्शनमें बाधा देते हैं, उसी प्रकार माया जीव-दृष्टि-विषयक आवरिका शक्ति है, यह जीवकी निर्गुण ज्ञान शक्तिका आवरण कर उसके भगवत्-साक्षात्कारका निवारण करती है। किन्तु यह ब्रह्म-विषयगत आवरण-कारिणी नहीं है, क्योंकि स्मृति-वाक्य है कि श्रीहरिके दृष्टिपथपर आनेसे (सम्मुख आनेसे) लज्जित होनेवाली माया उनके समक्ष ठहर नहीं सकती। जब कि इसी मायासे विमोहित होकर दुर्बुद्धिसम्पन्न अर्थात् मूर्ख व्यक्ति 'मैं'—'मेरा'—इस प्रकारका अभिमान करते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मेघमाला सूर्यका आवरण नहीं कर सकती, इसी प्रकार अविद्या अथवा माया परमात्माका कभी भी आवरण नहीं कर सकती—यही सिद्धान्त है॥ १९॥

सूक्ष्मा-टीका—विकारावर्त्तीति। विकारे प्रपञ्चे न वर्त्तत इति कथं ब्रह्मणः प्रपञ्चान्तर्यामित्वादिति चेत् सत्यं तद्वर्त्तिनोऽपि चेत् तस्याचिन्त्यशक्त्या तदगन्धा-स्पर्शात्तत्त्वमिति। तत्तदिति। ब्रह्मस्वरूपगुणविषययेत्यर्थः। तत्तदावृत्तीति। ब्रह्मस्वरूप-गुणावरकाविद्याविनाशादित्यर्थः। पुरमिति। अजस्य जन्मादिविकारशून्यस्यास्य श्रीहरेरिदं शरीररूपं पुरम्। कीदृशम्। एकादशद्वारम्। सप्त शीर्षण्यानि नाभ्यधःस्थानि त्रीणि शिरसि चैकमित्येकादश द्वाराणि यस्य तत्। श्रीहरेः कीदृगस्येत्याह अवक्रतेजसः। अवक्रं सरलं सर्वविषयकं तेजो ज्ञानं यस्य सोऽवक्रतेजाः तस्य सर्वज्ञस्येत्यर्थः। तस्मिन् शरीररूपे पुरे हृत्पुण्डरीके स्थितस्य तस्य ध्यानमनुष्ठाय न शोचति विशोको भवति। ततश्च स्वरूपावरिकयाविद्यया विमुक्तो गुणावरिकया तया विमुच्यत इत्यर्थः। विलज्जमानयेति श्रीभागवते। यस्येश्वरस्य। अमुया मायया॥ १९॥

सूक्ष्मा-सार— *'विकारावर्त्तिचेत्यादि'* सूत्रमें। यदि कहो, विकार अर्थात् प्रपञ्चमें ब्रह्म विद्यमान नहीं हैं—यह किस प्रकारसे सम्भव है? क्योंकि ब्रह्म तो प्रपञ्चके अन्तर्यामी हैं, यह बात सत्य है, प्रपञ्चके मध्य ब्रह्मके रहनेपर भी उनकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे विकारका लेशमात्र भी उन्हें स्पर्श नहीं करता, यही तत्त्व है। *'तद् तद् विषयया विद्यया'* इति ब्रह्मस्वरूप एवं ब्रह्मगुण-विषयक तत्त्वज्ञान द्वारा—यह अर्थ है। *'तत्तदावृत्तिपरिक्षयादिति'*—जीवके स्व-स्वरूप एवं गुणकी आवरिका अविद्याकी निवृत्ति हेतु। *'पुरमेकादशद्वारमित्यादि'* (कठ॰ २/१) श्रुतिका अर्थ है—'अजस्य'—जन्मादि षड्विकार—रहित श्रीहरिका निवासस्थान यह जीव-शरीररूपी पुर, यह कितने प्रकारका है? *'एकादश द्वारम्'*—ग्यारह द्वारसम्पन्न (युक्त) यथा शीर्ष स्थित सात द्वार (दो चक्षु, दो कान, दो नथुने एवं एक वागिन्द्रिय) और नाभिके अधोदेशमें तीन—पायु, उपस्थ एवं पाद एवं मस्तक स्थित एक मन—ये ग्यारह जिस पुरके द्वार हैं, उस पुरको, यह श्रीहरिका किस प्रकारसे है। इसके उत्तरमें कहते हैं—*'अवक्रतेजसः'*—अवक्र (सरल) अबाधित अर्थात् सर्वविषयक, 'तेजः' ज्ञान जिनका है, ऐसे 'अवक्रतेजाः' अर्थात् सर्वज्ञ। इस शरीररूप पुरमें हृदयपद्ममें अवस्थित श्रीहरिके ध्यानका अनुष्ठान करके, *'न शोचति'* शोक नहीं करता अर्थात् मुक्तपुरुष शोकरहित होते हैं। इसके बाद अपने निजस्वरूपकी आवरणकारी अविद्यासे मुक्त होकर—गुणावरिका शक्तिसे विमुक्त होते हैं अर्थात् त्रिगुणातीत होते हैं, यह अर्थ है। *'विलज्जमानया'* इत्यादि श्लोक श्रीमद्भागवतमें स्थित है। 'यस्य'—जिन ईश्वरके ईक्षण-पथमें। *'अमुया इति'* में 'अमुया' अर्थात् माया द्वारा॥ १९॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—यदि कोई कहे कि यदि मुक्तपुरुष भी कार्य अर्थात् प्रपञ्चके अन्तर्गत भोगोंका भोग करते हैं, अतः उनके साथ संसारी जीवका प्रभेद नहीं रहता, तो इस कथनके उत्तरमें सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि मुक्तपुरुष प्रकृतिके विकारभूत प्रपञ्चमें स्थित जन्मादि षड्विध विकाररहित निरवद्य ब्रह्मस्वरूप-गुणभूत-धामादिमें अवस्थान करते हुए ब्रह्मविद्या द्वारा उस-उस अविद्याकी आवृत्तिका परिक्षय करते हुए मुक्त होकर ब्रह्मानुभव-सुखका आस्वादन करते हैं।

इस विषयमें विस्तृत आलोचना भाष्य एवं टीकामें देखनी चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—

वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्॥

(श्रीमद्भा॰ ३/१५/१४)

अर्थात् इस धाममें जो भी पुरुष वास करते हैं, वे सभी देखनेमें श्रीहरिके समान ही हैं। उन्होंने पहले भगवत्-चरणकी प्राप्तिके लिए परमधर्मके द्वारा श्रीहरिकी आराधना की थी। अब वे श्रीहरिकी सेवा करते हुए वहाँ विराजमान रहते हैं।

श्रीरामानुज भाष्यके सारमें पाया जाता है—

विकार शब्दका अर्थ है—जन्मादि। ये जन्मादि षड्विकार उनमें (श्रीहरिमें) नहीं होते। श्रीहरि विकारसम्पन्न नहीं हैं। वे विकारावर्त्ती अर्थात् निखिल विकारोंसे रहित हैं, समस्त प्रकारके हेयके (हीनताओंके) विरोधी (हीनतारहित) मङ्गल-प्रवण, निरतिशय आनन्दमय एवं समस्त कल्याणोंके निदान-परब्रह्म हैं; मुक्तपुरुष उनकी समस्त विभूतियोंके साथ समस्त कल्याण गुणोंका अनुभव करते हैं। विकारान्तर्गत भोगभूमि भी ब्रह्म-विभूतिके अन्तर्गत है। श्रुति भी निर्विकार और निरतिशय आनन्दमय ब्रह्मके अनुभवकारी रूपमें मुक्तपुरुषकी अवस्थितिके विषयमें प्रतिपादन करती है—*'यदा हि एवैष एतस्मिन्न दृश्येऽनात्म्ये-ऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।'* (तै॰ २/७/१-२) अर्थात् यदि कोई उपासक प्राकृत चक्षु आदि इन्द्रियोंके अगोचर, प्राकृत शरीर रहित, अनिर्वचनीय, सर्वाधार फिर भी स्वयं अनाधार परमात्माके आश्रयमें निर्भयता पानेके लिए ध्याननिष्ठाके सहयोगसे भक्तिका आश्रय करता है, तब वह निर्भयताको प्राप्त होता है उसे फिर जन्म-मृत्युका भय नहीं रहता। वे ये जो सुकृत (स्वयं रचित) ब्रह्म हैं, वे ही रस-स्वरूप-आनन्दमय पुरुष हैं। रस कहनेसे तात्पर्य है—जिन्हें पानेके लिए विज्ञ और भक्तोंकी प्रचेष्टा होती है, जिन्हें पा लेने पर-भक्तोंके आनन्दकी परिपूर्ति होती है—वे ही रसमय श्रीभगवान् हैं। इन्हीं रसस्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर लोग प्रकृत आनन्दसे युक्त

होते हैं। काठक-श्रुति भी है—*'तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन'* (कठ॰ २/२/८) उन परब्रह्ममें ही सम्पूर्ण लोक आश्रित हैं, कोई भी उनका उल्लंघन नहीं कर सकता। अतः मुक्तपुरुष विभूतिके साथ ब्रह्मका अनुभव करते-करते विकारान्तर्गत आधिकारिक मण्डल-स्थित भोगोंका भी अनुभव करते हैं। जैसा कि छान्दोग्यमें पाया जाता है—*'सर्वेषु लोकेषु कामचारः'* (छा॰ ७/२५/२) अर्थात् सम्पूर्ण लोकोंमें उसकी यथेच्छ गति होती है किन्तु मुक्तपुरुषका जगत्-व्यापार कही भी प्रतिपादित नहीं हुआ है।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें भी पाया जाता है—

जन्मादिविकार शून्यं स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तगुण सागरं सविभूतिकं ब्रह्मैव मुक्तोऽनुभवति। तथापि मुक्तस्थितिमाह श्रुतिः। 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयेनऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथं सोऽभयं गतो भवति।' 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति इत्यादिका।' (तै॰ २/७/१)

अर्थात् जन्मादि विकारोंसे रहित, स्वाभाविक, अचिन्त्य, अनन्तगुणसागर सविभूतिक (विभूतिसम्पन्न) ब्रह्मका ही मुक्तजन अनुभव करते हैं। जैसा कि मुक्तात्माके विषयमें श्रुति कहती है—जब जीवात्मा इस चर्मचक्षु द्वारा अदृश्य अशरीरी, अकथ्य, अनाश्रय, सर्वाधार परमात्मामें अव्यभिचारिणी भक्तिको प्राप्त कर लेता है, तब वह अकुतोभय ईश्वरको प्राप्त कर लेता है अर्थात् सर्वथा भयरहित हो जाता है। वे परमात्मा रसस्वरूप हैं, जिस रसका आस्वादकर मुक्तजीव आनन्द प्राप्त करता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी पाया जाता है—

विकारावर्त्ति व्यापारो मुक्तानां न विद्यते। इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त (छा॰ ४/१५/६) *इति हि श्रुतिः। वाराहे च-स्वाधिकारेण वर्त्तन्ते देवा मुक्तावपि स्फुटम्। बलिं हरन्ति मुक्ताय विरिञ्चाय च तु पूर्ववत्। सब्रह्मकास्तु ते देवा विष्णवे च विशेषतः। न विकाराधिकारस्तु मुक्तानामन्य एव तु। विकाराधिकृता ज्ञेया ये नियुक्तास्तु विष्णुनेति।*

अर्थात् मुक्त ब्रह्मादिके द्वारा अयुक्त जगत्का व्यापार किसलिए होता है, उनका तो मुक्त व्यापार ही हो सकता है। इस आशङ्काके

निराकरणके लिए कहते हैं—यह संसार मानवावर्त्त एवं विकारी है—यह स्वयं प्रवर्तित नहीं हो सकता और यदि मुक्त देवादिके अमुक्त जगत्‌का व्यापार नहीं रहता, तो ऐसा होनेपर संसारावस्थान सम्भव नहीं है, क्योंकि उसका प्रवर्त्तक नहीं है। मुक्तजीवोंका कार्यकलाप विकृत और आवागमनवाला नहीं होता है—*'इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते'* श्रुतिमें इसका स्पष्ट उल्लेख है। वराहपुराणमें कहा गया है कि देवतागण मुक्त होनेपर भी अधिकारमें प्रवृत्त होते हैं। अतएव वे मुक्त विरिञ्चिको पूर्ववत् बलि प्रदान करते हैं और विरिञ्चिके साथ समवेत होकर (मिलकर) ये देवता भी विष्णुको बलि प्रदान करते हैं, किन्तु मुक्तोंका अन्य किसी भी प्रकारका विकाराधिकार नहीं है। विष्णु जिन्हें नियुक्त करते हैं, वे ही विकाराधिकारी हैं॥ १९॥

अवतरणिका भाष्य—ननु सत्यसङ्कल्पादिगुणकचिदानन्दस्वरूपजीवसाक्षात्कारस्य पुमर्थत्वादलं ब्रह्मसाक्षात्कारप्रयासेनेति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपात्ति यह है कि यदि सत्यसङ्कल्पादि गुणाष्टकविशिष्ट, चिदानन्दस्वरूप साक्षात्कार होना ही जीवका परम पुरुषार्थ है, तो ब्रह्म-साक्षात्कारके लिए प्रयास क्यों? इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—शङ्कते नन्विति।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—*'ननु'* इत्यादि वाक्य द्वारा पूर्वपक्षी शङ्का करते हैं।

सूत्र—दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने॥ २०॥

सूत्रार्थ—ब्रह्म द्वारा ही जीवको अनन्तानन्दरूपता प्राप्त होती है एवं—इस प्रकारकी स्थिति 'प्रत्यक्षानुमाने' प्रत्यक्ष (श्रुति) और अनुमान (स्मृति) 'च' भी 'दर्शयतः'—दिखाते हैं॥ २०॥

सूत्रानुवाद—यद्यपि जीव सत्यसङ्कल्पादि गुणशाली हो सकते हैं, तथापि ब्रह्म द्वारा ही जीवको अनन्तानन्दरूपता प्राप्त होती है॥ २०॥

गोविन्दभाष्य—यद्यपि मुक्तो जीवस्तादृशस्तथाप्यात्मनासौ नानन्तानन्दशाली भवति तस्याणुत्वात् किन्तु ब्रह्मणैव तस्यापरिमितानन्दत्वादिति श्रुतिस्मृती दर्शयतः।

"रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इति श्रुतिः। भूम्नि मत्वर्थीयः। *"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्यस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च"* (श्रीगी॰ १/४/२७) इति स्मृतिश्च। अल्पधनो हि महाधनमाश्रित्य सम्पन्नो भवतीति युक्तिश्च शब्दात्॥ २०॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—यद्यपि मुक्तजीव सत्य-सङ्कल्पादि गुणविशिष्ट और चिदानन्दस्वरूप है—ऐसा होनेपर भी यह जीव स्वयंके द्वारा स्व-स्वरूपमें अनन्त-आनन्दसे युक्त नहीं है, क्योंकि वह अणु परिणाम है। किन्तु ब्रह्म द्वारा ही उस जीवात्माको अपरिमित आनन्द प्राप्त होता है—यह श्रुति एवं स्मृति दिखाते हैं। यथा श्रुति है—*'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'* अर्थात् आनन्दमय श्रीहरिको प्राप्त करके ही जीव आनन्दी (आनन्दित) होता है अर्थात् उस रसमय श्रीहरिके द्वारा प्रचुर आनन्दवान् होता है। *'आनन्दी'* पद आनन्द शब्दके उत्तरमें प्रशंसार्थक 'इनि' प्रत्ययसे निष्पन्न होता है। स्मृति-वाक्य है, यथा—*'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य ... सुखस्यैकान्तिकस्य च'* (श्रीगी॰ ४/२७) अर्थात् श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं, जब जीव ऐकान्तिक भक्ति द्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्ति करता है, उस समय उसका स्वकीय गुणाष्टक प्रकट होनेपर उस मृत्युरहित, अव्यय, एकरस मुक्तजीवका मैं ही परमाश्रय होता हूँ तथा सनातनधर्मका और ऐकान्तिक सुखका भी मैं ही कारण रहता हूँ। जिस प्रकार अल्पधनसे युक्त व्यक्ति महाधनशालीका आश्रय करके सम्पत्तिशाली होता है, उसी प्रकार परमेश्वरका आश्रय करके जीव अनन्त आनन्दका अधिकारी होता है—यह युक्ति भी सूत्रस्थ 'च' शब्दसे प्राप्त होती है॥ २०॥

सूक्ष्मा-टीका—दर्शयत इति। यद्यपीति। आत्मना जैवेन स्वरूपेण। तस्यात्मनो जीवरूपस्य। रसं हरिं लब्ध्वा आनन्दी लब्धेन तेन रसेन प्रशस्तानन्दवानित्यर्थः। ब्रह्मणो हि इति श्रीगीतासु। ब्रह्मणस्तदानीमभिव्यक्तगुणाष्टकस्यामृतस्य मृत्युशून्यस्या-व्ययस्य तादृशत्वेनैकरसस्य मुक्तजीवस्याहमेव प्रतिष्ठा परमाश्रयः। ननु मुक्तोऽपि त्वां कथमाश्रययेत् फलस्य मुक्तैर्लाभादिति चेत्तत्राह शाश्वतस्येत्यादि। धर्मस्य महा-विभूतिलक्षणस्य। सुखस्य विचित्रलीलानन्दरसस्य। ऐकान्तिकस्य मन्मात्रनिष्ठस्य। तादृशेन मया सहानन्दीभवतीत्यर्थः। आश्रित्य संसेव्य वशीकृत्येति यावत्॥ २०॥

सूक्ष्मा-सार— *'दर्शयतश्चैवमित्यादि'* सूत्रमें। *'यद्यपीति'* भाष्यमें, *'तथाप्यात्मनासौ'* इति 'आत्मना'—जीवस्वरूपमें, *'तस्यानुत्वादिति'* में

'तस्य' अर्थात् जीवात्माका। *'रसं ह्येवायम्'* इत्यादि श्रुतिका अर्थ है—'रसम्'—श्रीहरिको, लब्ध्वा—प्राप्तकरके 'आनन्दी' अर्थात् लब्ध (प्राप्त) उन रसमय श्रीहरि द्वारा प्रशस्त आनन्दवान होता है। *'ब्रह्मणो हि'*—इत्यादि श्लोक श्रीगीतामें उक्त है। इसका अर्थ है—'ब्रह्मणः'—मुक्तदशामें जिसका गुणाष्टक अभिव्यक्त है, वही मृत्युरहित, अविनाशी है। इस प्रकारसे होनेके कारण उस जैसे एकरस मुक्त जीवका मैं ही परम आश्रय हूँ। यदि कहो, मुक्त होनेपर फिर आपका आश्रय किसलिए करेंगे? क्योंकि मुक्तपुरुषोंने आपके आश्रयमें लभ्य फल प्राप्त कर लिया है, इस विषयमें उत्तर करते हैं— *'शाश्वतस्य च धर्मस्येत्यादि'*—शाश्वत (सनातन) धर्मसे तात्पर्य है—महा-विभूतिस्वरूप अविनश्वर धर्मका और सुखसे तात्पर्य है—विविध लीलानन्दरसका। ऐकान्तिकका अभिप्राय है—जो केवल मुझमें स्थित है—ऐसा आनन्दस्वरूप मेरे साथ यह मुक्तजीव आनन्दी होता है, यह अर्थ है। *'महाधनमाश्रित्येति'* में 'आश्रित्य' का अर्थ है—ऐकान्तिक रूपसे सेवा करके अर्थात् सेवा द्वारा वशमें करके॥ २०॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब यदि और एक आशङ्का उठती है कि सत्य-सङ्कल्पादिगुणयुक्त चिदानन्दस्वरूप जीवके स्वरूप-साक्षात्कारसे ही यदि परमपुरुषार्थ प्राप्त होता है तो फिर ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए प्रयासका प्रयोजन ही क्या है? इस आशङ्काके खण्डनके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि यद्यपि जीव स्वरूपतः तद्-रूप है, तो भी स्वयं अणुपरिणाम होनेके कारण स्वयंके द्वारा स्वयंमें अनन्त आनन्दशाली नहीं हो सकता। परब्रह्म श्रीहरिके द्वारा ही मुक्तजीव अपरिमित आनन्दकी प्राप्ति करता है। इस प्रकारसे श्रुति एवं स्मृतिने दिग्दर्शन किया है।

श्रुति है—*'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'* (तै॰ २/७/१)।

स्मृति है—*'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च'* (श्रीगी॰ १४/२७)।

श्रीमद्भागवतके श्रुति-स्तवमें देखा जाता है—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्त्त-परिश्रमणाः ।

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुल-सङ्गविसृष्टगृहाः ॥
(श्रीमद्भा॰ १०/८७/२१)

अर्थात् हे ईश्वर, परमात्व-तत्त्वका ज्ञान अत्यन्त कठिन है। उसी आत्म-तत्त्वको बतानेके लिए आप विविध प्रकारके अवतार ग्रहण करते हैं—जो आनन्दके अथाह सागर हैं। आपके इन अवतारोंकी लीला-कथारूप महामृत-समुद्रमें जो लोग अवगाहन करते हैं, उन लोगोंकी समस्त सांसारिक थकावट दूर हो जाती है, वे लोग भगवत्-सेवारूप परमानन्दमें निमग्न हो जाते हैं। ये लोग आपके चरणकमलोंमें हंसकी भाँति विचरण करनेवाले भक्तोंका सङ्ग प्राप्त करके गृहादिका परित्याग कर देते हैं। इन महापुरुषोंको मुक्तिपदकी भी कामना नहीं रहती।

श्रीधरस्वामीपादने भी कहा है—

त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्॥

अर्थात् कोई-कोई शुद्धान्तःकरण महापुरुष आपके अमृतमय कथा-समुद्रमें विहार करते हुए परमानन्दमें मग्न रहते हैं और धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको तृणके समान तुच्छ बना देते हैं।

श्रुतिमें भी मुक्तिसे भी अधिक भक्तिके श्रेष्ठत्वका प्रदर्शन किया है—*'यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च'*, अर्थात् भक्तको सभी देवतागण, मुमुक्षु एवं ब्रह्मवादी नमस्कार करते हैं।

श्रीमध्वाचार्य धृत अन्य श्रुतिमें भी पाया जाता है—*'मुक्ता ह्येतमुपासते', 'मुक्तानामपि भक्तिर्हि परमानन्दरूपिणी।'*

अर्थात् मुक्त भी निश्चयात्मक रूपसे इस भक्तिकी उपासना करते हैं। भक्ति निश्चित रूपसे मुक्तोंके लिए परमानन्ददायिनी है।

श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा॰ १/७/१०)

अर्थात् श्रीसूतजीने कहा—ब्रह्मानन्दके सुखमें मग्न जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है, जो आत्मामें ही रमण करते हैं, वे भी मुक्त होकर फलकी कामनाओंसे रहित होकर अमित विक्रम श्रीहरिकी अहैतुकी निष्काम सेवा करते रहते हैं, क्योंकि भगवान् श्रीहरि ऐसे ही गुणसम्पन्न हैं कि वे आत्मारामगणोंको भी आकर्षित कर लेते हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी पाया जाता है—

आत्माराम पर्यन्त करे ईश्वर भजन।
ऐछे अचिन्त्य भगवानेर गुणगण॥

(चै॰च॰म॰ ६/१८५)

श्रीभगवान्के गुणसमूह इतने अचिन्त्य एवं चित्ताकर्षक हैं कि संसारसे मुक्त हुए आत्माराम मुनि तक भी भगवान्की भक्ति करते हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

कृत्स्नजगत्सृष्ट्यादिव्यापारार्हं ब्रह्मैव 'स कारणं कारणाधिपाधिपः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" (श्वे॰ ६/९) *'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'* (श्रीगी॰ ७/१०) *इति श्रुति-स्मृती दर्शयतः जगद्व्यापारवर्जं मुक्तैश्वर्यम्॥*

अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के सृष्टि आदि व्यापारकी योग्यता ब्रह्मकी ही है। वे ही सबके कारणोंके कारण हैं और वे ही इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंके भी अधिष्ठाता हैं। वे ही सबके नियन्ता और स्वामी हैं। उन्होंने स्वयं ही कहा है—चर-अचर यह सारा भौतिक जगत् मेरी ही अध्यक्षतामें प्रकृति द्वारा सृष्ट है। इस प्रकारसे श्रुति एवं स्मृतिमें स्पष्ट ही प्रदर्शन हुआ है कि मुक्तका ऐश्वर्य जगत्के व्यापारसे रहित है।

श्रीरामानुजके भाष्यके सारमें भी पाया जाता है—

इस प्रकार मुक्तपुरुषके सत्यसङ्कल्पादि गुणोंके साथ आनन्दके आविर्भावके कारण भी परमपुरुष स्वयं-भगवान् हैं। श्रुति एवं स्मृति साक्षात् रूपसे यही कहती हैं। *'एष ह्येवानन्दयति'* अर्थात् ये (ब्रह्म) ही आनन्दित करते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीगीतामें पाया जाता है—*'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते। ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य*

सुखस्यैकान्तिकस्य च॥' (श्रीगी॰ १४/२६-२७) अर्थात् जो ऐकान्तिक भावसे श्यामसुन्दराकार मुझ परमेश्वरकी ही भक्तियोग द्वारा सेवा करते हैं, वे इन गुणोंको पार कर ब्रह्मानुभवके योग्य होते हैं क्योंकि मैं (निर्विशेष) ब्रह्म, अव्यय मोक्ष, सनातन धर्म और ऐकान्तिक भक्तिसम्बन्धी प्रेमरूप सुखकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय हूँ। यद्यपि अपहतपाप्मत्वसे सत्यसङ्कल्प पर्यन्त गुणसमूह परमात्मामें स्वाभाविक रूपसे आविर्भूत होते हैं, तो भी उनकी वैसी गुणवत्ता परमेश्वरके ही आयत्त-अधीन है और उनकी स्थिति भी उन्हींके अधीन है। मुक्तपुरुषके सत्यसङ्कल्पादि गुण और ब्रह्म-साम्य-प्राप्ति-जगत्-व्यापारसे रहित ही जाननी चाहिये।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

'एतत्सामगायन्नास्ते' (तै॰ ३/१०/५) *इत्युच्यते। तत्रानन्दादीनां वृद्धिह्रासश्च न विद्यते। किन्तु एकप्रकारेणैव सर्वदा स्थितिः। 'स एष एतस्मिन् ब्रह्मणि सम्पन्नो न जायते न म्रियते न हीयते न वर्द्धते स्थित एव सर्वदा भवति। दर्शन्नेव ब्रह्म दर्शन्नेवात्मानं तस्यैवं दर्शयतो नापत्ति र्न विपत्तिरित्याह जाबाल श्रुतौ। 'यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते। न हीयते यत्र गत्वा न वर्द्धते।' इति मोक्षधर्मे। विद्वत् प्रत्यक्षात् कारण भावलिङ्गाच्च। ब्रह्मवैवर्त्ते च—'न ह्रासो न च वृद्धिर्वा मुक्तानां विद्यते क्वचित्। विद्वत्-प्रत्यक्षसिद्धत्वात् कारणाभावतोऽनुमा। हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी। न तु साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यतः इति।'*

अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त मुक्तोंकी भोग द्वारा ह्रास-वृद्धि नहीं होती। यही समर्थन करते हैं। यदि ह्रास-वृद्धि होती है, तो संसार समान धर्मापत्ति होती है। यदि कहते हो कि वे सामगानादि द्वारा उपासना करते हैं, इससे उनकी ह्रास-वृद्धि होती है, अन्यथा उनकी उपासना व्यर्थ होती है, तो इन दोषोंके परिहारके लिए कहते हैं कि यद्यपि सामगानादि द्वारा मुक्तोंकी उपासना सुनी जाती हो, तथापि उनके आनन्दकी ह्रास अथवा वृद्धि नहीं है। इसे स्वीकार करनेपर तो मुक्त भी संसार-समान-धर्मी हो पड़ेंगे। वे सर्वदा एक ही प्रकारसे अवस्थान करते हैं। जाबाल-श्रुतिमें कहा गया है कि जो मुक्त ब्रह्मसम्पन्न हैं—वे ब्रह्मकृपासे आप्लुत होकर न जन्मते हैं, न मरते हैं, न उनका ह्रास

होता है और न ही वृद्धि ही—सदा एकरसमें अवस्थित रहते हैं। वे केवल ब्रह्मदर्शन करते हैं और आत्मदर्शन करते हैं। इस प्रकार आत्मदर्शीका पतन अथवा विपत्ति नहीं है। भगवत्-साहचर्यकी नित्य अनुभूतिके कारण आपत्तिसे मुक्ति ही रहती है। मोक्षधर्ममें कहा गया है कि जहाँ जानेपर जन्म, मृत्यु नहीं होते, मुक्त उसी स्थानपर गमन करते हैं। इस प्रकार जाना जा सकता है कि ज्ञानियोंके प्रत्यक्ष कारणके अभावके कारण मुक्तोंके आनन्द भोगकी ह्रास-वृद्धि नहीं होती। ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें कहा है कि मुक्तोंके आनन्दका कभी भी ह्रास अथवा वृद्धि नहीं है—इसे ज्ञानियोंने (मुक्तगणोंने) प्रत्यक्ष किया है। विशेष रूपसे मुक्तके आनन्द भोगके ह्रास अथवा वृद्धिका कोई कारण नहीं है परन्तु ज्ञानियोंकी जो श्रीहरिकी उपासना देखी जाती है, वह मुक्तोंके ही ह्रास-वृद्धिके अभावमें प्रयुक्त है। वे संसार समान धर्मी नहीं हैं। उनका आनन्द भोग सर्वदा एकरूप ही रहता है—भगवदुपासना सदा सुखरूपिणी है, वहाँ श्रीहरि-उपासना साधनभूत नहीं है, वह तो सिद्धिरूप है। अतः वही प्राप्य है॥ २०॥

अवतरणिका भाष्य—ननु *"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"* इति श्रवणादात्मनैव मुक्तस्तादृशः स्यात् ततः किमीश्वरेण। अणुत्वन्तु तस्य बुद्धिगतं क्वचिदुपचरितमिति चेत् तत्राह—

अवतरणिका भाष्यानुवाद—आपत्ति यह है कि 'निरञ्जन अर्थात् उपाधिमुक्त जीव परम साम्य अर्थात् ईश्वर-साम्यको प्राप्त होता है'—यह श्रुत होनेके कारण मुक्तपुरुष स्वयंसे ही अनन्त आनन्दशाली होता है—तब फिर ईश्वर द्वारा उन्हें और क्या प्राप्त होगा? ईश्वराधीनता स्वीकार करनेकी उन्हें आवश्यकता ही क्या है? इसपर यदि कहते हो कि जीवका अणुत्व है, तो फिर साम्यत्व किस प्रकारसे सम्भव है? इसके उत्तरमें कहते हैं—अणुत्व उसका बुद्धिगत उपचारमात्र (धर्म) है, जो विभु जीवमें लाक्षणिक है। पूर्वपक्षीकी इस आपत्तिके खण्डनके लिए सिद्धान्ती सूत्रकार कहते हैं—

अवतरणिकाभाष्य टीका—नन्विति। साम्यस्य पारम्यविशेषणं ब्रह्मवज्जीवस्याप्यात्मनैवानन्तानन्दशालित्वं बोधयत्यन्यथा तत् पीड्येतेति भावः। ननु *"यदा पश्य"* इत्यादौ श्रीहरिध्यानेनैव तत्साम्यलाभप्रत्ययात् कथं तस्य तन्नैरपेक्ष्यमिति चेन्मैवं

क्षतराज्यस्य राज्ञोऽक्षतराज्यं कञ्चित् राजानमुपास्य पुनर्लब्धराज्यस्य तन्नैरपेक्ष्यदर्शनात्। नन्वेवं जीवस्याणुत्वश्रवणं कथं सङ्गच्छेत तत्राहाणुत्वमिति। बुद्धिधर्मो जीवे विभावुपचरित इत्यर्थः।

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—आपत्ति यह है कि साम्यांशमें परमत्व विशेषण ब्रह्मके समान जीवका भी स्व-महिमामें अनन्त आनन्दशालित्व सूचित करता है, यह न स्वीकार करें, तो यह विशेषण व्यर्थ होता है, यही इसका तात्पर्य है। यदि कहो *'यदा पश्यः'* इत्यादि श्रुति द्वारा श्रीहरि-ध्यान-सापेक्ष्यमें ही उनका साम्य जीवमें प्राप्त—श्रुत होनेके कारण कैसे उस प्रकारके जीवका ईश्वर-नैरपेक्ष्य कहेंगे? इसका उत्तर है—इसमें कोई संशय नहीं है, जिस प्रकार कोई भी नष्ट-राज्यका राजा किसी भी अक्षतराज्यके राजाका आश्रय करके पुनः स्वराज्य प्राप्त होनेपर उसे इस अक्षत-राज्यके राजाकी अपेक्षा रहती नहीं देखी जाती, इसी प्रकार यहाँ भी होगा। पुनः आपत्ति यह है कि तब जीवकी अणुत्व श्रुति किस प्रकारसे सङ्गत होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं—यह अणुत्व जीवका स्वरूप-सम्बन्धी नहीं है, यह बुद्धि-धर्म है, जो विभु (परम महत् परिमाण) जीवमें आरोपित है, यही अर्थ है।

सूत्र—भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च॥ २१॥

सूत्रार्थ—नहीं, 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्य'—केवल भोगमात्रमें भगवत्-साम्य कहे जानेके कारण मुक्तमें स्वरूप-साम्यता नहीं हो जाती—यही पाया जाता है॥ २१॥

सूत्रानुवाद—भोगमात्रमें साम्य है, स्वरूपगत और सामर्थ्यगत साम्य कभी भी नहीं॥ २१॥

गोविन्दभाष्य—च-शब्दोऽवधारणे। मण्डूकप्लुत्या पूर्वतो नेत्यनुवर्त्तते। *"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"* (तै॰ २/१/१) इति मुक्तस्य भोगमात्रे भगवत्साम्यवचनात् लिङ्गादेव स्वरूपसाम्यं वाक्यार्थो न भवतीत्यर्थः। चोद्यन्तु प्राक् परिहृतम्। अनेन स्वरूपनिर्णयान्त्यसूत्रेण जीवब्रह्मणो भोगमात्रेणैव साम्यं ब्रूवन् शास्त्रकृत् तयोः स्वरूपसामर्थ्यकृतं वैलक्षण्यं वास्तवमित्युपादिशत्॥ २१॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—सूत्रोक्त 'च' शब्द अवधारणके लिए प्रयुक्त है। *'मण्डूकप्लूति न्याय'* से अर्थात् जिस प्रकार मेंढक फर्लाङ्गके द्वारा बहुत-सा स्थान अतिक्रम कर जाता है, उसी प्रकारसे इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे (प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्न इत्यादि ४/४/१८) से निषेधार्थक 'न' शब्दकी अनुवृत्ति हुई है। श्रुति है—*'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'* अर्थात् वह मुक्तपुरुष सर्वज्ञ परमात्माके साथ समस्त भोग्य-वस्तुओंका भोग करता है। इस श्रुतिके द्वारा मुक्तपुरुषका केवल भोगमात्रमें ही भगवत्-साम्य वचन कहा गया है। (जीव और ब्रह्ममें सार्वकालिक स्वरूपगत तथा सामर्थ्यगत वैलक्षण नित्य रहता है।) इस ज्ञापक प्रमाणसे जाना जाता है कि *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'* इस श्रुतिमें स्वरूप-साम्य वाक्यार्थ नहीं है। *'ततः किमीश्वरेण'*—यह कहकर जो आपत्ति की गयी है—इसका परिहार पूर्वमें द्वितीय अध्यायके तृतीय पादके *'स्वात्मना चोत्तरयोः'* (ब्र॰सू॰ २/३/१९) सूत्रमें कर दिया गया था। शास्त्रकार बादरायणने जीव-ब्रह्मके स्वरूपके निर्णायक इस अन्त्य (अन्तिम) सूत्र द्वारा जीव-ब्रह्मके एकमात्र भोगांश द्वारा ही साम्य कहकर उपदेश दिया है और कहा है कि उनमें स्वरूपगत एवं सामर्थ्यगत वास्तविक पार्थक्य अर्थात् वैलक्षण्य है॥ २१॥

सूक्ष्मा-टीका—भोगमात्रेति। स्वरूपसाम्यमिति। विभुज्ञानानन्दत्वेन भगवत्साम्यं जीवस्येति साम्यश्रुतेनार्थः किन्तु नैरञ्जन्यांशेनैव तदित्यर्थः। चोद्यस्त्विति। प्राक् स्वात्मनोश्चोत्तरयोरिति सूत्रव्याख्याने। अनेनेति। सर्वे शास्त्रकृतः शास्त्रान्तेश्वशेषं प्रकाशयन्तीति विस्फुटम्। इह जीवस्य मुक्तस्यापि स्वरूपं निर्णयन् शास्त्रकृत्तस्य ब्रह्मणा सह भोगमात्रेण साम्यं वदंस्तस्मात्तस्य भेदमेव सिद्धान्तयति नाभेदमित्यर्थः॥ २१॥

सूक्ष्मा-सार—*'भोगमात्रसाम्येत्यादि'* सूत्रमें *'स्वरूपसाम्यं वाक्यार्थो नेति भवतीत्यर्थः'* में *'स्वरूपसाम्यमिति'* का अर्थ है कि विभुत्व, ज्ञानरूपत्व एवं आनन्दमयत्व रूपमें जीवका भगवत्-साम्य है, यह साम्य श्रुतिका वाक्यार्थ नहीं है किन्तु निरञ्जनत्व-अंशको लेकर ही साम्य है, यह अर्थ है। *'चोद्यन्तु इति'*—आपत्तिका पहले ही *'स्वात्मना चोत्तरयोः'* इस सूत्रकी व्याख्यासे परिहार कर दिया गया था। *'अनेन स्वरूप निर्णयान्त्य सूत्रेणेति'*—समस्त शास्त्रकार स्व-स्व शास्त्रके अन्तमें निःशेष

रूपमें प्रतिपाद्यको प्रकाशित करते हैं, यह प्रसिद्ध है। इस सूत्रमें शास्त्रकार जीवके मुक्त होनेपर भी उनके स्वरूपका निर्णय करते हुए उनका ब्रह्मके साथ केवल भोगांशमें साम्य बतलाते हैं, इससे जीवका ब्रह्मसे भेद-सिद्धान्त ही करते हैं, अभेद नहीं, यह तात्पर्य है॥ २१॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—पूर्वपक्षी यदि कहें कि जब मुण्डकमें देखा जाता है कि *'निरञ्जनः परमं साम्यमुपति'* (मु॰ ३/१/३) अर्थात् उपाधिसे विनिर्मुक्त जीव परब्रह्मके परम-साम्यको प्राप्त करते हैं, उस समय वे मुक्तपुरुष स्वरूपमें ही उस प्रकारके अर्थात् अपरिमित आनन्दस्वरूप परब्रह्म होंगे। तब उन्हें और ईश्वरानुगतिसे प्रयोजन ही क्या? तब जो अणुत्व है, वह जीवका बुद्धिगत उपचारमात्र अर्थात् लाक्षणिक है। पूर्वपक्षीकी इस प्रकारकी आशङ्काके निराकरणके लिए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें कहते हैं कि विभुत्व, ज्ञानरूपत्व और आनन्दमयत्व रूपोंमें जीवका भगवत्-साम्य है—यह साम्य श्रुतिका वाक्यार्थ नहीं है, किन्तु निरञ्जनत्व अंशको लेकर ही साम्य है—यह अर्थ है। समस्त शास्त्रकार अपने-अपने शास्त्रके अन्तमें सम्पूर्णरूपेण प्रतिपाद्यका प्रकाश करते हैं—यह प्रसिद्ध है। इस सूत्रमें शास्त्रकारने जीवके मुक्त होनेपर भी उसके स्वरूपका निर्णय करके उसके भोगमात्र विषयमें ही ब्रह्मके साथ साम्य कहा है, किन्तु स्वरूपगत अथवा सामर्थ्यगत साम्य लक्षित नहीं किया है। इस विषयमें ब्रह्मके साथ जीवका सार्वकालिक वास्तव भेद रहेगा ही। दोनोंमें अभेद कभी भी नहीं है—यह तात्पर्य है।

मूल तत्त्व यह है कि परमेश्वरकी कृपासे मुक्तपुरुषमें आत्यन्तिक दुःखभाव एवं अपरिमित आनन्दकी प्राप्ति होती है—यह कहकर तदंशमें ईश्वरके साथ साम्य कहा गया है, अन्यथा स्वरूपगत अथवा सामर्थ्यगत सभी विषयोंमें नित्य भेद रहता है—यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा। जीवका निरङ्कुश साम्य कदापि नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें भी पाया जाता है—

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्त्तयः।

असावह स्त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/३०/३)

अर्थात् अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी चाल-ढाल, हास-विलास और चितवन, बोलन आदिमें श्रीकृष्णकी प्यारी गोपियाँ उनके समान ही बन गयीं। उनके शरीरमें भी गति-मति, वही भाव-भङ्गी उतर आयी। वे अपनेको सर्वथा भूलकर श्रीकृष्णस्वरूप हो गयीं और उन्हींके लीला-विलासका अनुकरण करती हुईं, 'मैं कृष्ण ही हूँ'—इस प्रकार कहने लगीं।

इस श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीसच्चिदानन्द श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने कहा है—

श्रीकृष्णको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गोपियोंमें उस समय अधिरूढ़ भाव उदित हुआ। प्रियतम श्रीकृष्णकी गति, स्मित, प्रेक्षण अर्थात् चितवन, बोलचाल आदिमें प्रतिरूढ़-मूर्त्ति (श्रीकृष्णके जैसी मुद्रा धारण करके) 'मैं कृष्ण हूँ' ऐसा कहते-कहते वे अबलाएँ तदात्मिका हो गयीं (अर्थात् वे श्रीकृष्णमें पूर्ण रूपमें तन्मय हो गयीं)। विच्छेद अर्थात् विरहके समय प्रियतमको दूर न रख पानेके कारण इस प्रकारका तदात्मिका भाव प्रकाश होना प्रेम विकारका एक प्रकार है। यह भी महाभाव कहा जाता है। इस अवस्थामें वे परस्पर श्रीकृष्णके विहार-विलास-विभ्रम इत्यादिके विषयमें ज्ञापन (बातें) करने लगीं। ज्ञान-पक्षमें जिसे सायुज्य कहा जाता है, उसमें यह रस उदित नहीं होता। प्रेम-पक्षमें इस क्षणिक सायुज्यका एक आश्चर्यजनक भाव यह है कि कृष्ण-दर्शनमें अथवा कृष्ण-सदृश भाव-दर्शनसे यह भाव अधिक नहीं ठहर पाता।

श्रीभगवान्ने भी कहा है—

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥

(श्रीमद्भा॰ १०/८२/४४)

अर्थात् सखियो! मेरे प्रति भक्ति उत्पन्न होनेसे ही प्राणीमात्रको अमृतत्व प्राप्त हो जाता है। अधिकन्तु यह बड़े सौभाग्यकी बात है

कि तुमलोगोंको मेरा वह स्नेह (परिपक्व प्रेम) भी प्राप्त हो चुका है, जो मेरी प्राप्तिका कारणस्वरूप है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (आ॰ ३/११-१२) में पाया जाता है—

दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृङ्गार चारिरस।
चारिभावे भक्त यत कृष्ण तार वश॥

दास-सखा-पिता-माता-प्रेयसीगण लञा।
ब्रजे क्रीड़ा करे कृष्ण प्रेमाविष्ट हञा॥

अर्थात् दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार—ये चार प्रकारके रस हैं। इन चारों भावोंके जितने भी भक्त हैं, श्रीकृष्ण इन सबके वशमें रहते हैं। दास, सखा, पिता, माता और प्रेयसी वृन्दको साथ लेकर श्रीकृष्ण व्रजमें प्रेमाविष्ट होकर क्रीड़ा करते हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' (तै॰ २/१/१) *इति भोगमात्रसाम्य लिङ्गाच्च मुक्तैश्वर्यम् जगद्व्यापारवर्जम्।*

अर्थात् 'वह मुक्तात्मा विज्ञानस्वरूप परमात्माके साथ सभी कामनाओंका भोग करता है' केवल भोगमात्रकी ही समता परमात्मा और मुक्त जीवात्माकी है, ऐश्वर्यमें नहीं, जगत्-व्यापारमें भी नहीं।

श्रीरामानुजाचार्यके भाष्यमें भी पाया जाता है—

ब्रह्म याथात्म्यानुभवरूपभोगमात्रे मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यप्रतिपादनाच्च लिङ्गात् जगद्व्यापारवर्जमित्यवगम्यते 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति। अतो मुक्तस्य परम पुरुष साम्यं सत्यसङ्कल्पत्वं च परमपुरुषासाधारणनिखिलजगन्नियमनश्रुत्यानुगुण्येन वर्णनीयमिति जगद्व्यापार-वर्जमेव मुक्तैश्वर्यम्।

अर्थात् मुक्तात्माके ब्रह्मके यथार्थ अनुभवरूप भोगमात्र तथा ब्रह्म-साम्यके प्रतिपादनसे उसका जगत्-व्यापार-वर्जन ज्ञात होता है। वह मुक्त समस्त कामनाओंको ब्रह्मके साथ भोगता है इत्यादि। मुक्तात्माकी परम पुरुषके साथ समता, सत्यसङ्कल्पता और उन परम पुरुषके असाधारण समस्त जगत् नियमन आदि व्यापार शास्त्रके अनुसार ही वर्णनीय हैं। मुक्तात्माका ऐश्वर्य जगत्-व्यापारसे रहित है।

श्रीमध्वभाष्यमें पाया जाता है—

न च भोगविशेषादिविरोधः। एतमानन्दमयामात्मानमनुप्रविश्य न जायते न म्रियते न ह्रसते न वर्द्धते यथाकामञ्चरति, यथाकामं पिबति यथाकामं रमते यथाकाममुपरमते (तै॰ २/८) *इति भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्। 'अवृद्धिह्रासरूपत्वं मुक्तानां प्रायिकं भवेत्। कदाचित्कविशेषस्तु नैव तेषां निषिध्यत' इति च कौर्मे। 'प्रवाहतस्तु वृद्धिर्वा ह्रासो वा नैव कुत्रचित्। नाप्रियं किञ्चिदपि तु मुक्तानां विद्यते क्वचित्। कुत एव तु दुःख स्यात् सुखमेव सदोदितम्। भोगानान्तु विशेषे तु वैचित्र्यं लभते क्वचिद्' इति च नारायणतन्त्रे।*

मुक्तोंके भोगविशेषका कोई विरोध नहीं है, क्योंकि मुक्त आनन्दमय आत्मामें प्रवेश करते हैं। तब वे जन्म-ग्रहण नहीं करते, उनकी मृत्यु नहीं होती, ह्रास नहीं होता, वृद्धि नहीं होती और फिर वे मुक्त यथाकाम (स्वेच्छानुसार) विचरण करते हैं, यथाभिलाष पान करते हैं, यथासुख क्रीड़ा करते हैं इत्यादि प्रमाणोंसे मुक्तोंका परमात्माके साथ भोगमात्र साम्य जाना जाता है। कूर्मपुराणमें कहा है कि मुक्तपुरुष प्रायः ह्रास-वृद्धिसे रहित हैं, कदाचित् उनका ही वैशिष्ट्य देखा जाता है। नारायण-तन्त्रमें कहा है कि मुक्तपुरुषके प्रवाहमय रूपमें ह्रास अथवा वृद्धि नहीं होती। पुनः उनका कभी कोई अप्रिय नहीं है, इसलिए किसी भी रूपमें उनका दुःख हो नहीं सकता। सर्वदा ही उनके समक्ष सुख उपस्थित होता है, इसलिए मुक्तोंको भोग-विशेषकी प्राप्ति है—यही प्रतिपन्न हुआ। अतएव जाना जा सकता है कि आनन्द-भोगके ह्रास-वृद्धिके अभावके कारण ही मुक्त संसार समान धर्मी नहीं हैं॥ २१॥

मुक्तपुरुषका सर्वदा भगवत्-सान्निध्य

अवतरणिका भाष्य—अथ मुक्तस्य सार्वदिकं भगवत्सान्निध्यं वक्तुमारम्भः। अत्र भगवल्लोकप्राप्तिवाक्यानि विषयः। तत्रैवं संशयः। तत्प्राप्तिलक्षणा मुक्तिः क्षया स्यादक्षया वेति। लोकत्वाविशेषात् स्वर्गादिव तस्मात् पातसम्भवात् क्षया स्यादिति प्राप्ते—

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे
श्रीबलदेवकृतमवतरणिका-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

अवतरणिका भाष्यानुवाद—अब इसके बाद मुक्तजीवका सर्वकालीन भगवत्-सान्निध्य (भगवान्‌की सन्निधिमें सदैव स्थिति) कहनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ होता है। इस अधिकरणका विषय है—भगवत्-लोक प्राप्ति बोधक वाक्यसमूह। इसमें संशय इस प्रकारसे है कि भगवत्-प्राप्ति-स्वरूप-मुक्ति क्या क्षयार्ह (क्षयके योग्य अथवा अनित्य) है अथवा अक्षय (अर्थात् क्षयके अयोग्य अर्थात् नित्य) है। पूर्वपक्षी कहते हैं कि जब भगवत्-लोक भी एक लोक है, तब लोकत्व अविशेषके निर्विशेषके) स्वर्गलोकके समान उससे पतन सम्भव होनेके कारण उस लोककी प्राप्ति क्षयके योग्य है—इस मतके खण्डनके लिए सूत्रकार कहते हैं—

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादके श्रीबलदेवकृत गोविन्दभाष्यकी अवतरणिकाका अनुवाद समाप्त॥

अवतरणिकाभाष्य टीका—पूर्वत्र भगवता सह मुक्तस्य सर्वेषां कामानां भोगोऽभिहितः स न सम्भवति तद्भोगस्यातिबहुकालापेक्षित्वात्। न च तत्र मुक्तस्य बहुकालावस्थितिः सम्भवेत् स्वर्गलोकादिव तल्लोकात्तस्य पातसम्भवादित्याक्षेपादारभ्यते। अथेत्यादि। अत्रेति। वाक्यानि यथा नद्य इत्यादीनि। क्षय्येति। कालत्वादिभिः क्षेतुं शक्येत्यर्थः। यदाह भगवान् कात्यायनः क्षय्यजय्यौ शक्यार्थ इति।

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे श्रीबलदेवकृत-अवतरणिका-भाष्यस्य सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

अवतरणिका भाष्यका टीकानुवाद—पहले कहा गया था कि मुक्तपुरुषका श्रीभगवान्‌के साथ समस्त काम्य वस्तुका भोग होता है, किन्तु वह सम्भव हो नहीं सकता क्योंकि भगवान्‌का वहाँ भोग बहुकाल सापेक्ष है, किन्तु मुक्तपुरुषकी तो वहाँ (वैकुण्ठधाममें) बहुकाल अवस्थिति सम्भव नहीं है। स्वर्गलोकादिके समान वहाँसे उसके पतनकी सम्भावना है, इस आक्षेपवश यह अधिकरण *'अथेत्यादि'* वाक्य द्वारा आरम्भ होता है *'अत्र भगवल्लोकप्राप्तिवाक्यानीति'*—*'यथा नद्यः स्यन्दमाना'* इत्यादि (मु॰ ३/२/८) (चतुर्थ सूत्रके भाष्यमें धृत) श्रुति-वाक्य है। 'क्षयेति' काल इत्यादि द्वारा वहाँपर अवस्थिति क्षय की जा सकती है। भगवान् वार्त्तिककार कात्यायन मुनि *'क्षय्यजय्यौ'* शक्यार्थे इस सूत्रमें शक्यार्थमें 'क्षय' पद सिद्ध करते हैं।

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादके श्रीबलदेवकृत अवतरणिका-भाष्यका टीकानुवाद समाप्त॥

अनावृत्तिरित्यधिकरणम्

सूत्र—अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥ २२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे सूत्रं समाप्तम्॥

सूत्रार्थ—'अनावृत्तिः' श्रीभगवान्‌की स्वरूपावगतिपूर्वक उपासनाके बलपर वैकुण्ठधाममें गत मुक्तजीवकी पुनः वहाँसे इस लोकमें पुनरावृत्ति नहीं होती, क्योंकि शब्दात्—श्रुतिसे यही बोध होता है, 'अनावृत्तिः शब्दात्'—अध्याय-समाप्ति-सूचक दो बार पाठ है॥ २२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादके सूत्रार्थ समाप्त॥

सूत्रानुवाद—भगवदुपासना द्वारा भगवत्-लोक प्राप्ति होनेपर पुनरावृत्ति नहीं होती है। अतः भगवत्-प्राप्ति अक्षयिष्णु है॥ २२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादके सूत्रानुवाद समाप्त॥

गोविन्दभाष्य—भगवदुपासनया तदवगतिपूर्वया तल्लोकं गतस्य न तस्मादावृत्तिर्भवति। कुतः? शब्दात्। *"एतेन प्रतिपद्यमाना इत्थं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते।" "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते"* (छा॰ ४/१५/५) इति श्रुतेः। *"मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।* (श्रीगी॰ ८/१५) *आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्ज्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते"* इति स्मृतेश्च (श्रीगी॰ ८/१६)। न च सर्वेश्वरः श्रीहरिः स्वाधीनमुक्तं स्वलोकात् कदाचित् पातयितुमिच्छेत् मुक्तो वा कदाचित् तं जिहासेदिति शक्यं शङ्कितुम्। *"प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः"* (श्रीगी॰ ७/१७)। *"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयस्त्वहम्"* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६८) इत्यादिषु द्वयोर्मिथः स्नेहातिशयाभिधानात्। *"ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे"* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६५)। *"धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति। मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा"* (श्रीमद्भा॰ २/८/५) इत्यादिषु भजदत्यागसङ्कल्पभजनीयैकसंरतिस्मरणात् निर्द्दोषाच्च। एतदुक्तं

भवति। सत्यवाक् सत्यसङ्कल्पः स्वाश्रितवात्सल्यवारिधिः सर्वेश्वरः स्वभक्तानां स्वनिमित्तपरित्यक्तसर्वविषयाणां स्ववैमुख्यकरीमविद्यां निर्धूयताननतिप्रियान् निजांशान् स्वान्तिकमुपानीय कदाचिदपि न जिहासति। जीवश्च सुखैकान्वेषी सुखाभासाय तुच्छेषु तेष्वनुरज्यन् व्यतीतासंख्येयजनुर्भाग्यविशेषोपलब्धात् सद्गुरुप्रसादात् विदित-निजांशिस्वरूपस्तदितरनिस्पृहस्तदनुवृत्तिपरिशुद्धस्तमनन्तानन्दचित्स्वरूपं प्रसादाभिमुखं सुहृत्तमं निजस्वामिनं प्राप्य कदाचिदपि तद्विच्युतिं नेच्छतीति शास्त्रादेवाधिगतमतः शास्त्रैकशरणैस्तथैव तत्तदास्थेयमिति। सूत्राभ्यासः शास्त्रसमाप्तिद्योतनार्थः।

समुद्धृत्य यो दुःखपङ्कात् स्वभक्तान्
नयत्यच्युतश्चित्सुखे धाम्नि नित्ये।
प्रियान् गाढरागात् तिलार्द्धं विमोक्तुं
न चेच्छत्यसावेव सुज्ञैर्निषेव्यः॥

श्रीमद्गोविन्दपदारविन्दमकरन्दलुब्धचेतोभिः ।
गोविन्दभाष्यमेतत् पाठ्यं शपथोऽर्पिऽन्येभ्यः॥

विद्यारूपं भूषणं मे प्रदाय ख्यातिं निन्ये तेन यो मामुदारः।
श्रीगोविन्दः स्वप्ननिर्दिष्टभाष्यो राधाबन्धुर्बन्धुराङ्गः स जीयात्॥ २२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यं समाप्तम्॥

गोविन्दभाष्यानुवाद—श्रीभगवान्के तत्त्वज्ञानपूर्वक उनकी उपासना करनेपर तत्फलस्वरूप उनके वैकुण्ठलोकमें गये। जीवका वहाँसे पतन नहीं होता। प्रमाण? 'शब्दात्' श्रुति-वाक्य है—यथा *'एतेन प्रतिपद्यमाना ... ने च पुनरावर्त्तते।'* (छा॰ ४/१५/५) अर्थात् उन ब्रह्मका आश्रित मुक्तपुरुष इस मनुष्यलोकके आवर्त्त (मण्डल) में फिर नहीं आता अर्थात् उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। वह मुक्तजीव यावत् काल पर्यन्त जीवित रहता है, तब तक इसी रूपमें (स्वाध्यायादि करते हुए जीवन) अतिवाहित करके बादमें (मृत्युके बाद) ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, वहाँसे फिर वह नहीं आता। स्मृति-वाक्य भी है, यथा—*'मामुपेत्य पुनर्जन्मेत्यादि आब्रह्मेत्यादि ... पुनर्जन्म न विद्यते।'* अर्थात् महात्मा जितेन्द्रिय पुरुषगण मुझे प्राप्त होकर—इस दुःखपूर्ण अनित्य पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो गयी है। अहे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे आरम्भ करके समस्त लोक ही पुनः-पुनः आवृत्तिविशिष्ट हैं, किन्तु मुझे प्राप्त होनेपर उसका पुनर्जन्म नहीं होता। यदि कहो, सर्वशक्तिमान, सर्वनियन्ता ईश्वर स्वाधीनचेष्टासे

मुक्तजीवको निज लोकसे किसी भी समय पातित करानेकी (गिरानेकी) इच्छा कर सकते हैं अथवा मुक्तपुरुष किसी भी समय उस लोकको त्याग करनेकी इच्छा कर सकते हैं, तो ऐसी आशङ्काएँ भी नहीं की जा सकतीं, क्योंकि गीतामें श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा है—मैं ज्ञानियोंका अत्यन्त प्रिय हूँ और वे ज्ञानी भी मेरे अतिशय प्रिय हैं। श्रीमद्भागवतीय वाणी है—साधुगण मेरा हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ, इत्यादि वाक्योंमें भक्त और भगवान्‌का परस्पर प्रेमातिशय कथित हुआ है—इसलिए। इसके अतिरिक्त *'ये दारपुत्राप्तान् ... स्वशरणं यथा'* इति—जो स्त्री, गृह, पुत्र, स्वजन, प्राण और वित्त इन सबको ऐकान्तिक रूपसे छोड़कर मेरी शरण लेते हैं—मैं क्या करके भला उनका त्याग करनेमें प्रवृत्त हो सकता हूँ। जिनकी अविद्या ध्वंसको प्राप्त हो गयी है—वे योगीपुरुष कभी भी श्रीकृष्णके पादमूलका त्याग नहीं करते, वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश—इन पाँच प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त हो जाते हैं। जिस प्रकार पथिक पथके कष्टोंसे पार होकर अपने घरमें पहुँच जानेपर फिर उस घरका त्याग नहीं करता—इत्यादि वाक्योंमें भजनकारियोंके लिए भगवान् द्वारा अत्याग-सङ्कल्प और भक्तोंके भजनीय श्रीहरिमें ऐकान्तिक रति स्मृतिशास्त्रोंमें कहे जानेके कारण यह प्रमाणित होता है कि श्रीहरिमें निष्ठुरता एवं दीनताका लेशमात्र भी नहीं है और मुक्तपुरुषोंमें श्रीहरिसे अतिरिक्त अन्य विषयमें प्रसङ्गका कणमात्र भी नहीं है। इस प्रकारके दोषोंके अभावके कारण भी पूर्वोक्त शङ्काएँ नहीं की जा सकतीं। बात यह है कि श्रीभगवान् सत्यवाक्, सत्यसङ्कल्प, स्वाश्रितोंके प्रति स्नेह-पयोधि, सर्वनियन्ता हैं। उनके लिए जिन्होंने स्त्री-पुत्रादि सर्वस्वका परित्यागकर दिया है, उनकी निज (भगवान्) के प्रति वैमुख्य-विधायिनी अविद्याको दूर करके वे अतिप्रिय निजांशस्वरूप उन भक्तोंको अपने समीप लाकर किसी भी प्रकारसे उनका त्याग करनेकी इच्छा नहीं करते और जीव भी एकमात्र सुखान्वेषी होकर मिथ्याभूत सुखकी लालसासे तुच्छ स्त्री, पुत्रादिमें आसक्त होकर अतीतमें असंख्य जन्मोंकी साधनाके बाद इस जन्ममें भाग्य-विशेषसे प्राप्त सद्गुरूके अनुग्रहसे निज-अंशी भगवान् श्रीपुरुषोत्तमके स्वरूपको जानकर, उन्हें छोड़कर

और सभी विषयोंसे निःस्पृह होकर उनकी ही सेवासे परिशुद्ध होते हैं। ये मुक्त भक्त अनन्त, आनन्दमय, चित्स्वरूप, अनुग्रह-प्रवण, परम-बन्धु, निज स्वामीको प्राप्त करके उनसे विच्छेदकी कभी इच्छा नहीं करते—यह शास्त्रसे ही अवगत हुआ जाता है। अतएव जिन्होंने एकमात्र शास्त्रकी ही शरण ली है—वे शास्त्रोक्त उन-उन वस्तुओंको उसी रूपमें ही दृढ़ विश्वाससे ग्रहण करें। सूत्रकी दो बार आवृत्ति वेदान्तशास्त्रकी समाप्तिकी सूचनाके लिए है।

अच्युतस्वरूप जो श्रीहरि निजभक्तोंका दुःखरूप पङ्कसे उद्धार करके निज अविनश्वर चित्सुखात्मक धाममें ले जाते हैं और जो अपने प्रिय भक्तोंको दृढ़-वात्सल्यके कारण तिलार्द्ध अर्थात् क्षणकालके लिए भी त्याग करनेकी इच्छा नहीं करते—वे श्रीहरि ही उपनिषद-तत्त्वविदोंके द्वारा संसेव्य अर्थात् उपास्य हैं।

श्रीमद्गोविन्दके पादपद्ममधुके (पदारविन्दमकरन्दके) लुब्धचित्त व्यक्ति ही इस श्रीगोविन्दभाष्यका पाठ करें। भगवदुपासकोंके अतिरिक्त अन्य उपासकोंको इसे न पढ़नेकी शपथ दी जाती है।

जिन महान उदार श्रीहरिने मुझे विद्यारूप भूषण देकर उसके द्वारा जगत्में मेरी ख्यातिकी स्थापना की है, जिन्होंने मुझे स्वप्नमें दर्शन देकर इस भाष्यका निदर्शन किया है, वे राधाकान्त त्रिभङ्गमुरारि श्रीगोविन्द सर्वोत्कर्षत्वको प्राप्त करें। उनकी जय हो, जय हो॥ २२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादके
श्रीबलदेवकृत मूल-श्रीगोविन्दभाष्यका अनुवाद समाप्त॥

सूक्ष्मा-टीका—अनावृत्तिरिति। आवृत्तिः पतनम्। मामित्यादिद्वयं श्रीगीतासु। आब्रह्मेत्यत्र वीरधर्मेण सत्यलोकं गतानामावृत्तिः ब्रह्मविद्यया तद्गतानां तु परप्राप्तिरिति विवेचनीयम्। शङ्कां निराकर्त्तुमाह न चेति। तं श्रीहरिम्। साधवइत्यादि सार्द्धद्वयं श्रीभागवते। द्वयोः श्रीहरिविमुक्तयोः। धौतात्मा धवस्ताविद्यः। स्वशरणं स्वगृहम्। निर्दोषाच्चेति। क्रौर्यकार्पण्यादिगन्धोऽपि न श्रीहरौ तदन्यप्रसक्तिगन्धोऽपि न च मुक्तेष्वस्तीति दोषाभावाच्चेत्यर्थः। अभावेऽव्ययीभावः। एतदुक्तमिति। सत्यवाङ्मामुपेत्य इत्यादिभाषी। सत्यवाक्त्वादित्रयो भक्ताविद्यानिर्धूननादौ हेतुः। तेषु गेहादिषु स्त्री-देहादिषु चेत्यर्थः। निजांशी पुरुषोत्तमः श्रीहरिः। तदितरेति प्राकृतसुखेच्छाशून्य इत्यर्थः। तदनुवृत्तीति श्रीहर्य्युपासनानिवृत्ताविद्य इत्यर्थः। अनन्तानन्देत्यादिकं तद्वैच्युत्यनिच्छायां हेतुः। शास्त्रादिति। श्रुत्यादिवाक्यादेव न तु तर्कादित्यर्थः। आस्थेयं दृढविश्वासेन

ग्राह्यम्। सूत्राभ्यास इति। सूत्रैकदेशावृत्त्या शास्त्रैकदेशपूर्त्तिर्द्योत्यते। कृत्स्नसूत्रावृत्त्या तु कृत्स्नशास्त्रपूर्त्तिरित्यर्थः। तदित्थमष्टसप्ततिसूत्रकस्त्रिचत्वारिंशदधिकरणकोऽयं चतुर्थाध्यायो व्याख्यातः। ग्रहपञ्चेषुभिः (५५९), सूत्रैः न्यायैश्चेषुखयुग्मकैः (२०५)। युक्तेयं ब्रह्ममीमांसा बोध्या गोविन्दभाष्यतः। इह प्रथमेऽध्याये सूत्राणि इषुगुणेन्दुसंख्यानि (१३५), अधिकरणानि तु मुनिगुणसंख्यानि (३७), द्वितीये सूत्राणि षट्शरेन्दुसंख्यानि (१५६), अधिकरणानि तु वेदेषुसंख्यानि (५४), तृतीये सूत्राणि खग्रहेन्दुसंख्यानि (१९०), अधिकरणानि तु इषुमुनि संख्यानि (७५), चतुर्थे तु सूत्राणि वसुमुनिसंख्यानि (७८), अधिकरणानि तु गुणवेदसंख्यानि (४३) भवन्तीति।

प्रघट्टकार्थमतिचारुत्वात् पद्येनाह समिति। दुःखपङ्कात् संसारकर्दमात् भक्तान् समुद्धृत्य संसारपङ्कमपनीय कृपावृष्टया स्नापयित्वा चेत्यर्थः। चित्सुखे स्वप्रकाशानन्दे नित्ये धाम्नि अर्च्चिरादिनात्मना च नयति यः प्रवेशयति प्रियांस्तान् तिलार्द्धमपि कालं विमोक्तुं त्यक्तुं नैवेच्छति। असावेव सुज्ञैरुपनिषद्रहस्यवेदिभिर्निषेव्यो न त्वेतद्विलक्षणः शितिकण्ठादिरितिभावः। अच्युतः स्वरूपगुणादिभ्यः कदाचिदपि न च्यवते स्मेति निषेवायां हेतुः। श्लेषेण स्वयं सुवलितत्वादन्यानसुवलितान् समुद्धर्त्तुमल-मिति द्योतितम्। गाढरागादित्युभयत्र योज्यम्।

अथैतद्भाष्यधिकारिणो दर्शयति श्रीति। अन्येभ्यो गोविन्ददेवतान्तराणि च साम्यधियोपासीनेभ्य इत्यर्थः। न चान्यनिवारणं ग्रन्थावद्यभयादितिवाच्यं ग्रन्थस्य सुव्युत्पन्नैर्न्निरवद्यतया गृहीतत्वात्। किन्तु वेदनिर्णीतेऽपि गोविन्दपारतम्ये असमबुद्धिभि-स्तैरवज्ञाते तेषां दुर्गतिः स्यादतस्तन्मङ्गलायैव तददिति। गोविन्दनिरूपकत्वाद्गोविन्देन प्रयोजकेन सिद्धत्वाद्वा गोविन्दभाष्यमित्युक्तम्। तदाविर्भावकस्तु स एवेति पीठकादवगम्यम्।

श्रीराधादिभिरात्मशक्तिनिकरैरुद्वीक्ष्यमाणक्षणः
श्रीरूपादिमधुव्रताश्रितपदद्वन्द्वारविन्दासवः ।
गोविन्दः शरदिन्दुसुन्दरमुखः सद्रक्षणैकव्रती
पूर्णब्रह्मतयोदितः श्रुतिगणैः श्रीमान् स जीयात् प्रभुः॥

श्रुत्यादिवाच्यमणिदीधितिदीप्यमानां
सन्मुक्तिकाञ्चनरूचिच्छटया मनोज्ञाम्।
वागीश्वरोक्तिमनुचिन्त्य वुधाः सुधाभां
गोविन्दभाष्यमसकृत् परिपाठयधवम्॥

गौडोदयमुपजाततमःसमस्तं निहन्ति यो युगपत्।
ज्योतिश्चयोऽतिशीतः पीतस्तमुपास्महे कृताञ्जलयः॥ २२॥

इति श्रीश्रीव्यासदेवरचित-श्रीमद्ब्रह्मसूत्रे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थपादे
मूल-श्रीगोविन्दभाष्यव्याखाने श्रीबलदेवकृता-सूक्ष्मा-टीका समाप्ता॥

सूक्ष्मा-सार—*'अनावृत्तिः शब्दात्'* इस सूत्रमें। *'न तस्मादावृत्तिर्भवति'*—भाष्य, 'आवृत्तिः' अर्थात् पतन। *'मामुपेत्य पुनर्जन्म'* इत्यादि और *'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः'* (श्रीगी॰ ८/१५-१६) इत्यादि दोनों श्लोक श्रीगीताके अन्तर्गत हैं। *'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः'* इत्यादि श्लोकका तात्पर्य यह है कि जो परम अध्यवसाय द्वारा सत्यलोकमें (ब्रह्माके लोकमें) उपस्थित हुए हैं, उनकी पुनरावृत्ति होती है किन्तु ब्रह्मविद्याके फलसे ब्रह्मलोकमें (वैकुण्ठधाममें) गत योगियोंकी परमपद-प्राप्ति है। यह विशेषत्व अवधारणीय है। शङ्का उठाकर उसके निराकरणके लिए कहते हैं—*'न च सर्वेश्वरः श्रीहरिरित्यादि। कदाचित्तं जिहासेदिति'* में 'तत्' का अर्थ 'श्रीहरिको'। *'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्'* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६८) यह अर्द्धश्लोक तथा *'ये दारागारपुत्राप्तान् ... मुत्सहे'* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६५) इत्यादि दो श्लोक, कुल ढाई श्रीमद्भागवतके हैं। *'द्वयोमिथः स्नेहातिशयाभिधानादिति'* में 'द्वयोः' का अर्थ है—श्रीहरि एवं मुक्तपुरुषके परस्पर स्नेहाभिधानके कारण *'धौतात्मा पुरुषः'* (श्रीमद्भा॰ २/८/५) इति 'धौतात्मा' जिनकी अविद्या ध्वंस हो गयी है, उस प्रकारका। *'पान्थः स्वशरणं यथेति'*—'स्वशरणम्'—अपने गृहमें। *'निर्दोषाच्चेति'*—निष्ठुरता एवं कृपणतादिका लेश भी श्रीहरिमें नहीं है एवं मुक्तपुरुष समुदायमें श्रीहरिसे भिन्न अन्यत्र आसक्तिका कणमात्र भी नहीं है—इस रूपमें दोषाभाववशतः यह अर्थ है। निर्दोषात् पदे अभावार्थमें अव्ययीभाव समास है। *'एतदुक्तं भवतीति'*—सत्यवाक् *'मामुपेत्य पुनर्जन्म'* इत्यादि सत्यभाषी। सत्यवचनत्व, सत्यसङ्कल्पत्व एवं आश्रित वात्सल्य-वारिधित्व—ये तीनों भक्तोंके अविद्या-दूरीकरणका हेतु हैं, *'तुच्छेषु तेष्वनुरज्यन्'* इति 'तेषु' अर्थात् स्त्री-गृहादिमें। निजांशिस्वरूपेति निजांशी पुरुषोत्तम श्रीहरि। *'तदितरनिस्पृह'* इति प्राकृतिक सुखाभिलाषसे रहित यह अर्थ है। *'तदनुवृत्ति-परिशुद्धः'*—श्रीहरिकी उपासनाके फलसे अविद्या-निवृत्त, यह अर्थ है। *'अनन्तानन्द चित्स्वरूपम्'*—परमात्मासे विच्युतिकी अनिच्छाके कारण। *'शास्त्रादेवाधि-गतमिति'*—श्रुति, स्मृति वाक्यसे ज्ञात, तर्ककी सहायतासे नहीं, यह तात्पर्य है। *'तत्तदास्थेयमिति'* में 'आस्थेयम्'—दृढ़ विश्वासके साथ वह समस्त ग्राह्य है। *'सूत्राभ्यासः शास्त्रसमाप्तिद्योतनार्थः'* इति। सूत्रके

एकांशकी आवृत्ति द्वारा शास्त्रैकदेशकी समाप्ति सूचित होती है किन्तु समग्र सूत्रकी आवृत्ति द्वारा समग्र शास्त्रका पूरण जाना जाता है। अतएव इस प्रकार अठहत्तर सूत्र एवं तैंतालीस अधिकरणसे पूर्ण यह चतुर्थाध्याय व्याख्यात हुआ। ग्रह संख्या–९, पञ्च संख्या–५, इषु संख्या–५, अङ्ककी वामभागमें गति—तदनुसार ५५९ सूत्रमें एवं इषु (बाण) ५, ख—०, युग्मक दो, इस प्रकार २०५ अधिकरण युक्त यह ब्रह्म मीमांसा गोविन्दभाष्यकी सहायतासे बोध्य है।

इस वेदान्तदर्शनशास्त्रके प्रथम अध्यायमें इषुगुणेन्दु संख्यक (१३५) सूत्र और मुनिगणसंख्यक (३७) अधिकरण हैं। दूसरे अध्यायमें षट्शरेन्दुसंख्यक (१५६) सूत्र और वेदेषुसंख्यक (५४) अधिकरण हैं। तीसरे अध्यायमें ख–ग्रहेन्दुसंख्यक (१९०) सूत्र और इषुमुनिसंख्यक (७५) अधिकरण हैं। चौथे अध्यायमें वसुमुनिसंख्यक (७८) सूत्र और गुणवेदसंख्यक (४३) अधिकरण हैं।

सन्दर्भका अर्थ अति मनोहर होनेके कारण भाष्यकारने इसे पद्य द्वारा कहा है। यथा 'समुद्धृत्येति' दुःख–पङ्क अर्थात् दुःखमय संसार–कर्दमसे भक्तोंका उद्धार करके अर्थात् उनके संसार–पङ्कका शोधन करके एवं कृपा वृष्टि–पातसे उन्हें स्नान कराके चित्सुख अर्थात् स्वप्रकाशानन्दमय नित्यधाममें जो अर्चिः इत्यादि मार्ग–योगसे स्वयं ही प्रवेश कराते हैं—वे अपने प्रिय भक्तोंको तिलार्द्ध–कालके लिए भी छोड़कर रह नहीं सकते, ऐसे श्रीहरि ही उपनिषद–तत्त्व–वेदीगणों द्वारा उपास्य हैं। उनके अतिरिक्त शितिकण्ठादि (शिवादि) देवता सेव्य नहीं हैं—यही तात्पर्य है। श्रीहरि अच्युतस्वरूप हैं अर्थात् स्वरूप और गुणादिसे कभी भी च्युत नहीं होते—यह बात दूसरे देवताओंमें नहीं है—अच्युत उपासनाका यही हेतु है। इस श्लेषके द्वारा सूचित होता है कि वे स्वयं सुवलित (सुन्दर पुरुष) हैं, इसलिए जो सुवलित नहीं हैं—उनका उद्धार करनेमें वे समर्थ हैं। 'गाढरागात्' जैसे भक्तोंको भगवान्से गाढ़ राग होता है, उसी प्रकार भगवान्को भी भक्तोंसे गाढ़ राग होता है। 'गाढरागात्'—यह पद श्रीहरि एवं भक्त दोनोंके लिए ही योजनीय है।

अब इसके बाद भाष्यकारने भाष्यपाठमें अधिकारीका निर्देश श्रीमदित्यादि श्लोक द्वारा किया है। तदुनसार अन्य सभीको अर्थात्

श्रीगोविन्द एवं अन्य देवताओंमें साम्यबुद्धिसे उपासनाकारियोंका निषेध किया गया है। यदि कहो, अन्योंका निषेध इस ग्रन्थकी निन्दनीयताके भयके कारण है, तो ऐसा नहीं हैय क्योंकि सुव्युत्पन्न व्यक्ति भी इस ग्रन्थको निर्दोष रूपमें ग्रहण करते हैं। तब दूसरोंके लिए निषेध क्यों? वही कहते हैं—श्रीगोविन्दका पारतम्य वेद द्वारा निर्णीत होनेपर भी असमबुद्धियुक्त व्यक्तियों द्वारा अवज्ञात होनेपर उनकी (अवज्ञाकारियों की) ही दुर्गति होगी। इसलिए उनके मङ्गलके लिए ही निषेध किया गया है। इसका नाम गोविन्दभाष्य होनेका कारण है—यह श्रीगोविन्दके स्वरूपका निरूपण करनेवाला है अथवा श्रीगोविन्दकी प्रेरणासे सिद्ध हुआ है। इस भाष्यके आविष्कारक वे ही हैं—यह भाष्यपीठकसे ज्ञातव्य है।

ग्रन्थके अवसानपर मङ्गलाचरण करना चाहिये—इसलिए टीकाकार इस प्रकारसे मङ्गलाचरण करते हैं—

श्रीमती राधाप्रमुख निज शक्तियाँ जिनके आनन्दमय उत्सवका निरीक्षण करती हैं, श्रीरूप, श्रीसनातन इत्यादि भक्त-मधुकरगणोंने जिनके पादपद्म-द्वयके मधुका आश्रय कर रखा है, जिनका शरच्चन्द्रके समान सुन्दर मुख है, जो साधुओंके रक्षणकार्यमें एकमात्र निरत हैं, श्रुतियाँ जिनका पूर्णब्रह्म रूपमें वर्णन करती हैं, वे सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर, प्रभु श्रीमान् गोविन्द जययुक्त हों।

हे बुधगणो (विद्वानो)! इस गोविन्दभाष्यको अमृतस्वरूप वागीश्वरकी उक्ति मानकर आप इसका निरन्तर अध्यापन करें। ये उक्तियाँ श्रुति, स्मृति इत्यादि द्वारा निवर्चनीय हैं, रत्नकी किरणोंसे देदीप्यमान हैं, और मुक्तिरूप काञ्चनकी दीप्तिसे मनोज्ञ हैं, इस प्रकारकी वागीश्वर-उक्ति-बोधसे शिष्यगणोंको पढ़ावें।

इस गौड़देशमें आविर्भूत होकर जिन्होंने अज्ञानान्धकारसमूहको सम्पूर्णरूपेण निरस्त कर दिया है—ऐसे ज्योतिर्मय पुरुष अति शीतल एवं पीतवर्ण हैं। हम उन श्रीगौराङ्गदेवकी कृताञ्जलिपुटसे (बार-बार हाथ जोड़कर) उपासना करते हैं॥ २२॥

ॐ तत् सत्

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादके मूल-श्रीगोविन्दभाष्यकी व्याख्यामें श्रीबलदेवकृत सूक्ष्मा-टीकाका अनुवाद समाप्त॥

गोविन्दतोषणीवृत्ति—अब मुक्तपुरुषका भगवत्-सानिध्य नित्य है—यह कहनेके लिए इस अधिकरणका आरम्भ किया जाता है। इस स्थलपर मुक्तपुरुषका भगवत्-धाम-प्राप्ति-सूचक-वाक्य ही विषय है। इसमें संशय यह है कि भगवत्-प्राप्ति लक्षणा मुक्ति क्या अक्षय है अथवा क्षयिष्णु है? पूर्वपक्षी कहते हैं कि भगवत्-लोकको भी जब स्वर्गादि लोकके समान अविशेष लोक कहा जाता है, तब स्वर्गादिसे पतनके समान भगवत्-लोकसे भी पतन होगा ही। अतएव भगवत्-लोकगतकी मुक्तिको भी अनित्य कहा जायेगा। पूर्वपक्षीके इस प्रकारके संशयको उठाते हुए सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रमें उसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि श्रीभगवान्‌का तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हुए उनकी उपासना द्वारा भगवल्लोक अर्थात् भगवद्धाम जानेवाले व्यक्तिका फिर पुनरावर्त्तन नहीं होता अर्थात् संसारमें फिर लौटना नहीं पड़ता। इस विषयमें श्रुति प्रमाण है।

छान्दोग्यमें द्रष्टव्य है—

एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते नावर्त्तन्ते।

(छा॰ ४/१५/५)

अर्थात् इस देवमार्ग-ब्रह्ममार्गसे जानेवाले इस मानव-मण्डलमें नहीं लौटते, नहीं लौटते।

छान्दोग्यमें और भी पाया जाता है—

ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।

(छा॰ ८/१५/१)

अर्थात् जो ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है, वह फिर नहीं लौटता, नहीं लौटता।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकपिलदेवके वाक्य द्रष्टव्य हैं—

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥
(श्रीमद्भा॰ ३/२५/३८)

अर्थात् हे शान्तरूपे! स्वर्गादि लोकोंमें भोक्ता एवं भोग्य विषयोंका किसी-न-किसी समय विनाश साधित होता है, किन्तु मेरे वैकुण्ठलोकमें मेरे परायण भक्तोंका कभी भी नाश नहीं होता और उसी प्रकार उनकी भोग्यवस्तु नष्ट होनेकी कोई भी आशङ्का नहीं है—मेरा अनिमिष कालचक्र भी उन्हें ग्रास करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। मैं उनका आत्मवत् प्रिय, पुत्रवत् स्नेहका पात्र, सखाके समान विश्वासास्पद, गुरु तुल्य उपदेष्टा, सुहृद्के समान हितकारी एवं इष्टदेव सम पूज्य हूँ; अर्थात् जो इस प्रकार सर्वतोभावसे मेरा भजन करते हैं, मेरा कालचक्र उन्हें कभी भी ग्रास नहीं सकता।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें द्रष्टव्य है—

निजाभीष्ट कृष्णप्रेष्ठ पाछे त लागिया।
निरन्तर सेवा करे अन्तर्मना हइया॥

दास-सखा-पित्रादि-प्रेयसीर गण।
राममार्गे निज निज भावेर गणन॥
(चै॰च॰म॰ २२/१५५, १५७)

व्रजवासी भक्तगण ही कृष्णके प्रेष्ठ हैं। उनमें जो ब्रजभक्तोंके माधुर्यके लोभी होकर तदनुगमनको अभीष्ट सेवा मानते हैं, वे उनके ही पीछे रहकर अन्तर्मन होकर निरन्तर कृष्ण सेवा करें।

रागमार्गमें दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—ये चार भाव हैं। राममार्गी रक्तक, सुबल श्रीनन्द-यशोदा एवं तदीय प्रेयसियाँ इन्हीं मार्गोंसे भगवान्की सेवा करते हैं।

श्रीमद्भावगत (११/२९/३४) में पाया जाता है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥

अर्थात् मनुष्य जब समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझमें आत्मसमर्पण करता है, उस समय मेरी इच्छासे वह योगी, ज्ञानी इत्यादिसे भी विलक्षण होकर विशिष्टकर्त्तृ रूपमें गण्य होता है, सबका पूजनीय हो जाता है। वह मेरी विशेष कृपाका पात्र हो जाता है। तदनन्तर अमृतत्व प्राप्तकर मेरे समान ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है।

श्रीभगवान्‌के श्रीपादपद्म-प्राप्तिके उपायके सम्बन्धमें श्रीशुकदेवजीने कहा है—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्द्दितस्य॥

(श्रीमद्भा० १२/४/४०)

अर्थात् जो लोग आध्यात्मिक आदि अनेक प्रकारके दुःख दावानलसे दग्ध हो रहे हैं अथवा जो लोग अत्यन्त दुस्तर संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं, उनके लिए पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथारूप रसके सेवनके अतिरिक्त कोई साधन, कोई नौका नहीं है। ये लोग केवल लीला-रसायनका सेवन करके ही अपना मनोरथ सिद्ध कर सकते हैं। अथवा भव सागरको पार करनेके लिए इसके अतिरिक्त और कोई नौका नहीं है।

श्रीभगवान् और भक्त अविच्छेद्य सम्बन्धयुक्त हैं। कोई किसीको भी छोड़कर रह नहीं सकता। इस विषयमें टीका एवं भाष्यको विस्तारपूर्वक देखना चाहिये।

श्रीमद्भागवत (२/९/९) में और भी पाया जाता है—

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः
सन्दर्शयामास परं न यत्परम्।
व्यपेतसंक्लेश-विमोहसाध्वसं
स्वदृष्टवद्भिः र्विबुधैरभिष्टुतम्॥

अर्थात् भगवान्‌ने ब्रह्माजीकी इस प्रकारकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर उन्हें निज स्वलोक-महावैकुण्ठधाम दिखलाया। इस वैकुण्ठधाममें

क्लेश, मोह अथवा भय नहीं है। पुण्यवान् आत्मवेत्तागण सदा-सर्वदा इस धामकी स्तुति करते हैं।

इस श्लोकको विवृति करते हुए हमारे परमाराध्यतम श्रीश्रील प्रभुपादने कहा है—

जिस स्थानसे कुण्ठाधर्म अथवा माया विगत रहती है, उसी स्थानको वैकुण्ठ कहा जाता है। श्रीभगवान्का एक नाम वैकुण्ठ है क्योंकि उनमें कुण्ठाधर्मका लेशमात्र भी नहीं है। वे अप्राकृत, चिन्मय और परम सत्यवस्तु हैं। वे ही अद्वयज्ञान हैं। श्रुति कहती है कि वे स्वाभाविक रूपसे अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न हैं। अचिन्त्यभावको तर्कके द्वारा अथवा सीमाबद्ध (सीमित) ज्ञानके द्वारा मापा नहीं जा सकता। मानव-अभिज्ञान अथवा चिन्तनसे जो असम्भव है, वह भी अचिन्त्यशक्तिसे सम्भव है। सर्व-शक्तिमान अद्वयज्ञानतत्त्व वे भगवान् अचिन्त्यशक्ति क्रमसे सदा-सर्वदा स्वरूप, तद्रूप वैभव, जीव और प्रधान—इन चार रूपोंमें सर्वदा अवस्थान करते हैं। यथा सूर्य, उसका तेजोमण्डल, उसके बाहर प्रकटित होनेवाले रश्मि-कण और उसकी प्रतिच्छवि अर्थात् दूरगत प्रतिफलन है—इस अवस्थाको भगवान्के चतुर्धारूपका किसी प्रकारसे उदाहरण-स्थल कहा जा सकता है। सच्चिदानन्द विग्रह मात्र ही उनका स्वरूप है, चिन्मयधाम, वस्तु, सङ्गी और समस्त व्यवहार्य (व्यवहार किये जाने योग्य) उपकरण तद्रूप-वैभव हैं। नित्यमुक्त और नित्यबद्ध अनन्त जीवगण ही जीव है। माया-प्रधान और तत्कृत (उसके द्वारा रचित) समस्त जड़ीय स्थूल और सूक्ष्म जगत् ही प्रधान शब्दसे वाच्य है। भगवान् अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे इस चतुर्विध रूपसे अवस्थान करके भी अद्वयवस्तु हैं। भगवान्की इस अविचिन्त्यशक्तिका नाम ही पराशक्ति है। एक होकर यह स्वाभाविकी शक्ति ज्ञान, बल और क्रिया भेदसे विविध प्रकारकी है। यह पराशक्ति विचित्र विलासमयी और विचित्र आनन्द-सम्वर्द्धिनी है। इस शक्तिका अनन्त प्रभाव रहनेपर भी जीवके निकट इसके तीन प्रभावका परिचयमात्र है। इस प्रभाव-त्रयका नाम है चिच्छक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति। इन तीन शक्तियोंके प्रभावके द्वारा चित्-जगत्, जैव-जगत् और जड़-जगत् प्रादुर्भूत हुए हैं। प्रत्येक प्रभावमें सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी-रूपा तीन वृत्तियाँ दिखायी देती हैं। चिच्छक्ति जो सन्धिनीवृत्ति है, उसके

कार्य रूपमें चिद्धाम, चिदवयव, चिदुपकरण इत्यादि समस्त प्रकारके चिद्-वैभवका उदय हुआ है। कृष्णरूप, कृष्णनाम, कृष्णगुण और कृष्णधाम ये सभी सन्धिनीके कार्य हैं।

चिच्छक्ति स्वरूपशक्ति अन्तरङ्गा नाम।
ताहार वैभवानन्त वैकुण्ठादि-धाम॥

(चै॰च॰आ॰ २/१०१)

अर्थात् श्रीकृष्णकी शक्तियोंमेंसे एक चिच्छक्ति है, जो स्वरूपशक्ति या अन्तरङ्गाशक्ति नामसे भी जानी जाती है। अनन्त वैकुण्ठादि धाम इस शक्तिके वैभव हैं।

मायाशक्तिमें जो सन्धिनीवृत्ति है, उसका कार्य है—चतुर्दश लोकमय समस्त जड़ विश्व, बद्धजीवका जड़ एवं लिङ्ग शरीर, बद्धजीवकी स्वर्गादि लोकगति और समस्त जड़ेन्द्रियादिका निर्माण भी इसीसे हुआ है।

माया-शक्ति बहिरङ्गा जगत्-कारण।
ताहार वैभवानन्त ब्रह्माण्डेर गण॥

(चै॰च॰आ॰ २/१०२)

श्रीकृष्णकी दूसरी शक्तिका नाम मायाशक्ति है। यह बहिरङ्गाशक्तिके नामसे भी जानी जाती है। जगत्का कारण एवं अनन्त ब्रह्माण्ड इसी मायाके वैभव हैं।

अतः मिश्रसत्त्व अथवा रजःतमोगुण अथवा मायाका प्रभाव इस ब्रह्माण्ड अथवा चौदह भुवनोंमें ही क्रियावान है किन्तु 'प्रकृतिके पार परव्योम नामका धाम है।' चौबीस तत्त्वमयी प्रकृतिके ऊपर 'परव्योम' नामक जो स्वरूपशक्ति-प्रकटित चिद्धाम है—वहाँ मायाका किञ्चित्मात्र भी प्रभाव रह नहीं सकता। ब्रह्माण्ड अथवा देवीधामको पार करके विरजा नदी है। इस विरजा नदीमें गुण-त्रयकी साम्यावस्था लक्षित होती है। यह प्राकृत-मल विधौतकारिणी (शुद्ध करनेवाली) स्रोतस्विनी (नदी) है। इसे पार करके ज्ञानियोंका आदर्श ब्रह्मलोक है और उसे अतिक्रम करके वैकुण्ठधाम है। अतः इस स्थानसे श्रेष्ठ अथवा इसके समान अन्य कोई भी स्थान हो नहीं सकता। इस वैकुण्ठलोकमें मायाके प्रभावसे प्रकटित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच प्रकारके क्लेश एवं मोह और भयादि रह नहीं सकते। ये

सुकृतिमान आत्मविद्गणोंका वन्दित धाम है। इस स्थानपर जब मायाका कोई भी प्रभाव नहीं है, तब किस प्रकारसे जन्म, सत्ता, वृद्धि, अपक्षय, विपरिणाम और नाश—इन षड्विकारोंके हेतु कालका विक्रम वहाँ लक्षित होगा? वहाँ किस प्रकारसे प्राकृत गुणादिका अवस्थान सम्भव है? वह स्थान अशोक, अमृत, नित्यनव-नवायमान चिद्विलास वैचित्र्यसे उद्भासित है। उस स्थानमें स्वराट् पुरुष, अप्राकृतस्वरूप, अद्वयज्ञान श्रीभगवान्, अपने तद्रूपवैभव, नित्यपरिकर, पार्षद और धामादिके साथ नित्य-काल रममाण रहते हैं।

श्रीनिम्बादित्यभाष्यमें पाया जाता है—

परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य संसाराद्विमुक्तस्य प्रत्यगात्मनः पुनरावृत्तिर्न भवति। कुतः? 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते' इति। 'मामुपेत्य तु कौन्तेय। पुनर्जन्म न विद्यते (श्रीगी॰ ८/१६) *इति च शब्दात्।*

अर्थात् परब्रह्म परमात्माकी उपासनाके बलपर ब्रह्मलोक प्राप्त (परंज्योति-प्राप्त) भगवत्-भावापन्न, संसारसे विमुक्त प्रत्यगात्माकी पुनरावृत्ति नहीं होती। कैसे जान लिया? छान्दोग्य-श्रुति है—ब्रह्मका आश्रित मुक्तपुरुष परमधाममें जानेके बाद इस मनुष्यलोक-मण्डलमें पुनः नहीं आता। गीतामें भी श्रीभगवान्‌ने कहा है—मुझको प्राप्त कर जीव पुनः दुःखालय संसारमें नहीं आता।

श्रीरामानुजभाष्यके सारमें भी पाया जाता है—

समस्त हेयगुणों (हीनताओं) के विपरीत (रहित), कल्याणगुणपरायण, जगत्-जन्मादिके कारण, समस्त वस्तुओंसे विलक्षण, सर्वज्ञ, सत्यसङ्कल्प, आश्रित-वात्सल्यैक-जलधि-स्वरूप (शरणागतोंके लिए वात्सल्य-जलधि-रूप) परम कारुणिक, जिनके समान अथवा अधिक कोई नहीं है—ऐसे परब्रह्म नामक परमपुरुषका अस्तित्व जिस प्रकार एकमात्र शब्दसे (शास्त्रसे) ज्ञात हो सकता है, उसी प्रकार जो निरन्तर-वर्णाश्रमधर्मके अनुष्ठानरूप भगवदुपासनाके द्वारा श्रीभगवान्‌की आराधना करके उन्हें प्रसन्न करते हैं, वे श्रीभगवान् ही उन उपासकोंके अनादिकालसे प्रवृत्त अनन्त दुस्तर कर्म-सञ्चयरूप अविद्याको निरस्त करके अपना यथार्थ आत्मानुभवरूप निरतिशय आनन्द प्रदान करते

हुए उपासकोंको पुनः संसारमें लौटने नहीं देते—यह भी शास्त्रसे ही अवगत हुआ जाता है।

श्रीमध्वभाष्यमें भी द्रष्टव्य है—

न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते। सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत् (ऐ०) *इत्यादि श्रुतिभ्यः।*

मुक्तोंकी पुनरावृत्ति नहीं है, क्योंकि *'न पुनरावर्त्तते'* इस श्रुतिमें मुक्तकी पुनरावृत्तिका निषेध है। विशेष रूपसे मुक्तकी सर्वकाम प्राप्ति सुनी जाती है कि मुक्त समस्त कामनाओंको प्राप्त करके अमृत-तुल्य हो जाता है। क्या कोई कभी शुभफल त्याग करके अशुभ फलकी कामना करता है? अतएव मुक्त पुनरावृत्तिकी इच्छा नहीं करते। यही प्रमाणीकृत हुआ। इसी निमित्तसे मुक्तका पुरुषार्थ भी सिद्ध हो जाता है।

मायावादके आचार्य श्रीशङ्कराचार्यके शास्त्रमें भी देखा जा सकता है—वे कहते हैं कि इसके द्वारा सगुण ब्रह्मोपासकोंकी पुनरावृत्ति ही श्रीभगवान् वेदव्यास द्वारा निषिद्ध की गयी है। सगुण ब्रह्मोपासकोंकी जब पुनरावृत्ति निषिद्ध है तब निर्वाणपरायण सम्यक् निर्गुण ब्रह्मदर्शिगणोंकी अनावृत्ति श्रुति-स्मृति-अनुभूतिसे स्वयं सिद्ध है, उसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है अर्थात् उस विषयमें उपदेशका विशेष प्रयोजन देखा नहीं जाता (कुछ कहनेकी बात नहीं है)।

श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—जो देवयानपथसे जाते हैं, उन्हें फिर संसारमें आना नहीं पड़ता—यह वेद कहते हैं। देवयान-पथसे जाने वाले व्यक्ति वहाँ उत्कृष्ट भोगको प्राप्त होते हैं और महाप्रलयमें ब्रह्मलोकके ध्वंसके समय ब्रह्मके साथ एक हो जाते हैं। जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं, उन्हें फिर देवयान-पथसे जाना नहीं पड़ता। वे मृत्युके बाद ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है, पुनरावृत्ति नहीं।

आचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने अपने भाष्यमें यह बतलाया है कि ब्रह्मकी सगुण एवं निर्गुण भेदसे द्विरूपता नहीं है। ब्रह्म सर्वदा ही निर्गुण हैं—

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्॥

(श्रीमद्भा० १०/८८/५)

अर्थात् हे परीक्षित्! भगवान् श्रीहरि तो प्रकृतिसे परे स्वयं पुरुषोत्तम एवं प्राकृत गुणरहित हैं। वे सर्वज्ञ तथा सबके अन्तःकरणोंके साक्षी हैं। जो उनका भजन करता है, वह स्वयं भी गुणातीत हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें शुक्ल एवं कृष्ण-भेदसे दो प्रकारकी गतियोंका उल्लेख है। दोनों गतियाँ अनादि रूपमें सम्मत हैं। पहली अर्थात् शुक्ल-गतिके द्वारा अर्चिरादि मार्गसे मोक्ष प्राप्त होता है और दूसरी अर्थात् कृष्ण गतिके द्वारा धूमादि मार्गसे संसारमें पुनरावर्त्तन होता है। 'शब्दात्' अर्थात् शब्द-नाम (भगवान्-नाम) से ही संसार-मुक्ति है।

पूर्व वर्णित दोनों मार्गोंके तात्त्विक पार्थक्य-ज्ञानसे विवेक उदित होनेपर दोनों ही मार्गोंको क्लेशकर जानकर उन दोनोंके अतीत (परे) शुद्ध भक्तियोग मार्गको सर्वश्रेष्ठ और सुखसाध्य जानकर नाम-सङ्कीर्त्तनरूप परम धर्मका आश्रय करते हुए भक्तियोगसे समाहित-चित्त योगी फिर मोहको प्राप्त नहीं होते। वराहपुराणमें उल्लेख है—*'नयामि परमं स्थानमर्चिरादिगतिं विना। गरुडस्कन्धमारोप्य यथेच्छमनिवारितः।'* अर्थात् मैं अपने एकान्तभक्तको अर्चिरादिगतिके बिना ही गरुड़के कन्धेपर बिठाकर यथेच्छाक्रमसे परमस्थान निज धामको ले जाता हूँ। इस सम्बन्धमें *'विशेषं च दर्शयति'* इस वेदान्तसूत्र (४/३/१६) का गोविन्दभाष्य देखना चाहिये। श्रीगीताके आठवें अध्यायके बाईसवेंसे सत्ताईसवें श्लोकोंका प्रणिधानपूर्वक (अत्यन्त प्रयत्नके साथ ध्यानपूर्वक) विचारके साथ पाठ करना चाहिये।

श्रील जीवगोस्वामी विरचित श्रीप्रीतिसन्दर्भमें देखा जाता है—

"न यत्र मायेत्यादौ वैकुण्ठस्य मायातीतत्व-श्रवणात्। अत्रावृत्तिराहित्यम् चाङ्गीकृतम्। 'अनावृत्तिः शब्दात्' (ब्र॰सू॰ ४/४/२२) *इत्यनेन न स पुनरावर्त्तते* (छा॰ ८/१५/१) *इति श्रुतेः। तथोक्तं हरिण्यकशिपूपद्रुतदेवैः—'तस्मै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रास्ते हरिरीश्वरः। यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः' इति।* (श्रीमद्भा॰ ७/४/२२) *श्रीकपिलदेवेन च—'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः'* (श्रीमद्भा॰ ३/२५/३८) *इति। तथैव—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मां प्राप्यैव तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'* (श्रीगी॰ ८/१६) *इति 'यद्गत्वा*

न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम' (श्रीगी॰ १८/६२) इति। *'तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्' इति च श्रीगीतोपनिषदश्च दृश्याः। पाद्मसृष्टिखण्डे च—'आब्रह्मसदनादेव दोषाः सन्ति महीपते। अतएव हि नेच्छन्ति स्वर्गप्राप्तिं मनीषिणः॥ 'आब्रह्मसदनादूद्ध्वं' तद्विष्णोः परमं पदम्। शुभं सनातनं ज्योतिः परब्रह्मेति' तद्विदुः। 'न तत्र मूढा गच्छन्ति पुरुषा विषयात्मकाः। दम्भलोभभयद्रोहक्रोधमोहैरभिश्रुताः॥ निर्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः। ध्यानयोगरताश्चैव तत्र गच्छन्ति साधवः' इति। तत्रैव सुबाहुनृपवाक्यम्—'ध्यानयोगेन देवेशं यजिष्ये कमलाप्रियम्। भवप्रलयनिर्मुक्तं विष्णुलोकं व्रजाम्यहम्' इति। सालोक्यादीनामविच्युतत्वं दर्शयिष्यते च। 'मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादि चतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्'* (श्रीमद्भा॰ ९/४/६७) *इत्यादिषु तदितरत्रैव कालविप्लुतत्वाङ्गीकारात्। तस्मात् क्वचिदावृत्तिश्रणवन्तु प्रपञ्चान्तर्गततद्धामत्वपेक्षया कादचित्कतल्लीला-कौतुकापेक्षया च मन्तव्यम्। पश्चात्तु नित्य-सालोक्यमेव यथा भविष्योत्तरे—'एवं कौन्तेय कुरुते योऽरण्यद्वादशीं नरः। स देहान्ते विमानस्थो दिव्यकन्यासमावृतः। याति ज्ञातिसमायुक्तः श्वेतद्वीपं हरेः पुरम्।' यत्र लोका पीतवस्त्राः इत्यादि।' 'तिष्ठन्ति विष्णुसामान्ये यावदाहूत संप्लवम्। तस्मादेत्य महावीर्याः पृथिव्यां नृप पूजिताः। मर्त्त्यलोके कीर्तिमन्तः सम्भवन्ति नरोत्तमाः। ततो यान्ति परं स्थानं मोक्षमार्गं शिवं सुखम्। यत्र गत्वा न शोचन्ति न संसारे भ्रमन्ति च।' इति। यथा च जयविजयवृत्ते। तत्र सालोक्योदाहरणे। तत् साधकदशायामपि नैर्गुण्यावेश उक्तः, सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी* (श्रीमद्भा॰ ११/२५/२६) *इत्यादौ 'निर्गुणो मदपाश्रयः' इति। उत्क्रान्तमुक्ति-दशायान्तु तेषां भगवत्तुल्यत्वमेवाह—'वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः। येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन्—हरिम्'* (श्रीमद्भा॰ ३/१५/१४)।"

अर्थात् श्रवण होता है कि वैकुण्ठ मायातीत है। वहाँ मायाके रजोगुण इत्यादि नहीं है। मुक्तपुरुषोंकी यहाँ आवृत्ति नहीं होती—ऐसा अङ्गीकार किया गया है। ब्रह्मसूत्र *'अनावृत्तिः शब्दात्'* (ब्र॰सू॰ ४/४/२२) से भी यही ज्ञात होता है कि मुक्तपुरुषका पुनरावर्त्तन नहीं होता है। छान्दोग्योपनिषदमें भी कहा गया है कि मुक्तपुरुषका पुनरावर्त्तन नहीं होता है। जैसा कि हिरण्यकशिपुके उपद्रवोंको देखकर

देवताओंने कहा—जहाँ स्वयं परमात्मा ईश्वर श्रीहरि विद्यमान हैं एवं जहाँ जाकर निर्विकार और निष्काम संन्यासी पुनः पुनरागमन नहीं करते, उस उत्कृष्ट दिशाको नमस्कार है। श्रीकपिलदेवने भी कहा है—हे शान्तरूपे मातः! स्वर्ग आदि लोकोंमें भोक्ता और भोग्य वस्तुओंका कभी-न-कभी विनाश हो ही जाता है, किन्तु मेरे वैकुण्ठलोकमें मेरे परायण भक्तोंके लिए कभी भी उस प्रकारसे भोग्यवस्तु नष्ट होनेकी कोई भी आशङ्का नहीं है। मेरा अनिमिष कालचक्र भी उन्हें ग्रस नहीं सकता। मैं ही उनके लिए आत्माके समान प्रिय, पुत्रके समान स्नेहपात्र, सखाके समान विश्वासपात्र, गुरु तुल्य उपदेष्टा, सुहृदके समान हितकारी और इष्टदेवके समान पूज्य हूँ अर्थात् जो इस प्रकारसे भलीभाँति मेरा ही भजन करते हैं, मेरा कालचक्र उन्हें कभी भी नहीं ग्रस सकता। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—महात्मा जितेन्द्रिय पुरुषगण मुझको प्राप्त होकर इस दुःखपूर्ण अनित्य पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो गयी है। हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे आरम्भ करके समस्त लोक ही पुनः-पुनः आवृत्तिसे युक्त हैं, किन्तु मुझे प्राप्त होनेपर उनका पुनर्जन्म नहीं होता। उन ईश्वरकी कृपासे तुम परम शान्ति एवं नित्य धाम प्राप्त करोगे—ये सब बातें श्रीगीतोपनिषदमें देखी जाती हैं। पाद्मसृष्टिखण्डमें भी कहा गया है—हे महीपते! ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोकोंमें ही बहुत-से दोष हैं। अतः विद्वान् इसी कारणसे स्वर्ग-प्राप्ति इत्यादिकी इच्छा नहीं करते। ब्रह्म-सदनसे भी ऊपर भगवान् श्रीविष्णुका परम धाम है। वहाँ विद्यमान शुभ्र सनातन ज्योतिको परब्रह्म कहा जाता है। विषयोंमें डूबे रहनेवाले मूर्ख जो दम्भ-लोभ-भय-द्रोह-क्रोध-मोहसे ग्रस्त रहते हैं—वे उस परमधाममें नहीं जा सकते। अहंता-ममतासे रहित, निरभिमानी, द्वन्द्वों (सुख-दुःखादि) से शून्य, संयतेन्द्रिय तथा ध्यान-योगमें लगे रहनेवाले भक्त ही उस धामको प्राप्त होते हैं। पद्मपुराणके इसी सृष्टिखण्डमें राजा सुबाहुने कहा है—मैं कमलाप्रिय देवेश श्रीविष्णुकी ध्यान-योगके द्वारा आराधना करूँगा और भव-प्रलयसे मुक्त श्रीविष्णुलोकमें जाऊँगा। सालोक्यादि मुक्तियोंमें विच्युति अर्थात् पुनरागमन नहीं है; वही दिग्दर्शित करते हैं—मेरे ऐकान्तिक प्रेमीभक्त

मेरी सेवासे ही परिपूर्ण रहते हैं। मेरी सेवाके कारण यदि उन्हें सालोक्यादि मुक्तियाँ भी प्राप्त हों, तो वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते, फिर कालके चक्रसे विलुप्त होनेवाली वस्तुओंके विषयमें तो कहना ही क्या है? इस प्रकार यहाँ यह अङ्गीकार करते हैं कि भगवत्-धामको छोड़कर अन्य सभी स्थान कालके प्रभावसे नष्ट हो जाते हैं। इस भगवत्-धामसे मुक्तोंका यहाँ कभी जो आगमन सुना जाता है वह प्रपञ्चके अन्तर्गत भगवत्-धामकी अपेक्षासे ही होता है। इसे भगवत्-लीला-कौतुककी अपेक्षासे भी जानना चाहिये। पश्चात् वे नित्य लोक-भगवद्धाममें चले जाते हैं जैसा कि भविष्योत्तरपुराणमें कहा है—हे कौन्तेय! जो मनुष्य इस प्रकार अरण्य-द्वादशीका व्रत करता है, वह शरीरके समाप्त होनेपर दिव्य कन्याओंसे घिरे हुए विमानमें स्थित होकर ज्ञाति-सहित-श्रीहरिके धाम-श्वेतद्वीपको प्राप्त होता है—जहाँ सभी भगवत्-जन पीतवस्त्र धारण करते हैं। जब प्रपञ्चमें प्रलय आता है, तब वे विष्णुधाममें (भगवत्-धाममें) भगवान् विष्णुके सान्निध्यमें रहते हैं। इसीसे वहाँसे इस धरा-धाममें आविर्भूत होनेवाले वे भगवत्-जन महावीर्यवान होते हैं एवं राजाओंके द्वारा सम्मान प्राप्त करते हैं। वे नर-श्रेष्ठ अत्यन्त कीर्त्तिवान होकर इस मर्त्त्यलोकमें आविर्भूत होते हैं। यहाँ देहान्त होनेपर—वे परमकल्याणमय, सुखके परमस्थान-मोक्षमार्ग-परमस्थान-भगवत्-धाममें चले जाते हैं। वे भगवत्-भक्त न तो कभी शोक करते हैं और न ही उन्हें कभी संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। जय-विजयके चरित्रसे उनकी सालोक्य-भगवत्-धामकी प्राप्ति इसका उदाहरण है। भगवत्-धामकी प्राप्तिके इच्छुक भक्तोंका साधक-दशामें भी नैर्गुण्यावेश (गुणातीतत्व) कहा गया है। भागवतपुराणमें कहा है—*'सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी'*—अनासक्त भावसे कर्म करनेवाला सात्त्विक और *'निर्गुणो मदपाश्रयः'* मेरा आश्रित कर्त्ता 'निर्गुण' नामसे कहा जाता है। उत्क्रान्त मुक्ति-दशामें उन भक्तोंकी भगवत्-तुल्यता कही गयी है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—जो पुरुष उस वैकुण्ठधाममें वास करते हैं, उन सभीका रूप श्रीहरिके समान ही है। उन सबने भगवान्के चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिए पूर्वकालमें निष्काम धर्मके द्वारा श्रीहरिकी आराधनाकी थी,

जिसके प्रभावसे अब वे श्रीहरिकी सेवा करते हुए यहाँ विराजमान हैं।

इसके अतिरिक्त प्रीतिसन्दर्भके १३ से १६ अनुच्छेद भी देखने चाहिये।

वेदान्तसूत्रके फलाध्यायके प्रथम सूत्रमें अर्थात् वेदान्तके प्रतिपाद्य-प्रयोजन-तत्त्व-निर्द्धारक चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादके पहले ही सूत्रमें वर्णित हुआ है कि *'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'* (ब्र॰सू॰ ४/१/१) अर्थात् 'आवृत्ति' अर्थसे कीर्त्तन अथवा अनुशीलन और 'असकृत्' अर्थसे तात्पर्य है—पुनः-पुनः—बार-बार होना चाहिये क्योंकि 'उपदेशात्' शास्त्रमें इस प्रकारका उपदेश ही पाया जाता है। अतएव शास्त्रके उपदेशानुसार श्रीभगवान्के श्रीनाम-रूप-गुण-लीलामय शब्दोंकी आवृत्ति अथवा अनुशीलन ही जीवका साध्य एवं साधन है। मुक्त एवं बद्ध दोनों प्रकारके जीवोंके लिए ही आवृत्ति अर्थात् नाम-कीर्त्तन असकृत् अर्थात् सर्वदा ही प्रयोजनीय है। श्रीमन्महाप्रभुने कहा है—*'कीर्त्तनीयः सदा हरिः।'* श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है—*'एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगो भगवति तन्नाम ग्रहणादिभिः॥'* (श्रीमद्भा॰ ६/३/२२) अर्थात् इस जगत्में जीवोंके लिए सबसे परम धर्म यही है कि वे नाम-सङ्कीर्त्तन आदि उपायोंके द्वारा भगवान्के चरणोंमें भक्ति-योग प्राप्त कर लें। पुनः यही बात इसी फलाध्यायके अन्तिम सूत्रमें अर्थात् वेदान्तके चतुर्थाध्यायके चतुर्थपादके अन्तिम सूत्रमें कही गयी है *'अनावृत्तिः शब्दात्'* (ब्र॰सू॰ ४/४/२२) अर्थात् शब्दसे ही अनावृत्ति (अपुनरागमन) साधित होती है। इस बातको और दृढ़तापूर्वक ज्ञात करानेके लिए इसका दो बार उल्लेख किया गया है। पुनः समाप्ति-सूचनके लिए भी वीप्सा अर्थात् दो बारका प्रयोग देखा जाता है। जो भी हो, शास्त्रप्रमाणानुसार यही ज्ञात होता है कि तत्त्वज्ञान द्वारा भगवदुपासनामूलसे जिस भगवत्-धामकी प्राप्ति होती है—उस स्थानसे पुनः संसारमें पुनरावर्त्तन नहीं होता। कभी-कभी मुक्तपुरुष भक्तगण जो इस जगत्में विचरण करते हैं, वह विचरण श्रीभगवान्की इच्छा और भगवत्-लीलाके अनुकूल ही होता है।

शास्त्रप्रमाणसे यह भी अवगत होता है कि श्रीभगवान्‌के नाम-सङ्कीर्त्तन द्वारा ही संसारसे उद्धार एवं श्रीभगवत्-प्राप्ति है और इसीके द्वारा श्रीभगवान्‌की नित्य-लीलामें नित्य-पार्षदत्व प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीके वचन हैं—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

(श्रीमद्भा॰ २/१/११)

अर्थात् हे राजन्! जो इस संसारसे विरक्त होकर ऐकान्तिक भक्ति कर रहे हैं, जिन्हें स्वर्ग अथवा मोक्षादिकी कामना है, जो आत्माराम योगीपुरुष हैं—सभीके लिए परम साधन और साध्य यही है कि वे श्रीहरिके नाम और गुणोंका पुनः-पुनः श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण करें। इससे पूर्व भी सभी आचार्योंके द्वारा यही निर्णय किया गया है कि श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरणसे भगवत्-प्रेमका उदय होता है।

ग्रन्थ विस्तारके भयसे अधिक प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं। समस्त शास्त्रोंने ही तारस्वरसे श्रीभगवान्‌के श्रीनामादिके अनुक्षण (नित्य-निरन्तर) कीर्त्तनको परम-उपाय और परम-प्रयोजनके रूपमें निर्णय किया है। श्रीमन्महाप्रभुने स्वयं शिक्षा दी है—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयं कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्तनम्॥

(पद्यावलीके दसवें अङ्कमें धृत शिक्षाष्टकका प्रथम श्लोक)

इस प्रसङ्गमें सर्वाराध्यतम श्रीलप्रभुपादकी स्वलिखित विवृतिमें पाया जाता है—*'श्रीकृष्ण-कीर्त्तनाय नमः'* श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनकारी श्रीगुरुदेवकी एवं श्रीकृष्णकीर्त्तन-विग्रह श्रीगौरसुन्दरकी जय हो। चित्तरूपी दर्पणको शोधित करनेवाले संसाररूप-महादावानलको सम्पूर्ण रूपसे बुझा देनेवाले, जीवोंकी कल्याणरूपिणी कुमुदिनीको विकसित करनेके लिए भावरूपी चन्द्रिकाका वितरण करनेवाले, विद्यारूपी वधूके जीवनस्वरूप, आनन्दरूपी समुद्रको निरन्तर वर्द्धित करनेवाले, पग-पगपर पूर्ण

अमृतका रसास्वादन करानेवाले, बाहर-भीतरसे देह, धृति, आत्मा और स्वभाव सबको सर्वतोभावेन निर्मल और सुशीतल करनेवाले केवलमात्र श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन ही विशेष रूपसे सर्वोपरि जययुक्त हों।

श्रीचैतन्यचरितामृतकार श्रीलकृष्णदास कविराजने अपनी व्याख्यामें कहा है—

सङ्कीर्तन हैते पाप-संसार नाशन।
चित्तशुद्धि, सर्वभक्तिसाधन-उद्गम॥
कृष्णप्रेमोद्गम प्रेमामृत-आस्वादन।
कृष्णप्राप्ति, सेवामृत-समुद्रे मज्जन॥

(चै॰च॰अ॰ २०/१३-१४)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके नामसङ्कीर्त्तनसे समस्त पापोंका नाशा हो जाता है और संसार-बन्धन दूर हो जाता है। इससे चित्त कल्मषरहित होकर परम शुद्ध हो जाता है। इसीसे समस्त साधनोंका उदय होने लगता है। फलस्वरूप श्रीकृष्णप्रेमका आविर्भाव होता है और प्रेम-अमृतका सम्पूर्ण आस्वादन होने लगता है। सङ्कीर्त्तन करनेवालेको श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है और वह श्रीकृष्ण-सेवा-अमृत-समुद्रमें डुबकियाँ लगाने लगता है।

अनन्त प्रकारकी साधनभक्तिमें श्रीमद्भागवत एवं श्रीहरिभक्तिविलासमें बहुसंख्यक भक्तिके अङ्गोंका वर्णन है। प्रधानतः भक्तिके साधनमें चौसठ प्रकारके भक्ति-अङ्गोंका वर्णन वैध और रागानुग विचारसे हुआ है। श्रीमद्भागवतमें श्रीप्रह्लादजीकी उक्तियोंमें भी हम शुद्धभक्तिका उल्लेख देख सकते हैं। श्रीगौरसुन्दरने कहा है—

'श्रीनामसङ्कीर्तनइ सकल प्रकार भक्त्यङ्गेर श्रेष्ठतम अनुष्ठान।'

अर्थात् समस्त प्रकारके भक्ति अङ्गोंमें श्रीनामसङ्कीर्त्तन ही सबसे श्रेष्ठ अनुष्ठान है।

तत्त्वविद्गणोंने चिन्मात्रके अवलम्बसे अर्थात् केवल ज्ञान द्वारा अद्वयज्ञान वस्तुको 'ब्रह्म' सच्चिद्-वृत्ति द्वारा उस वस्तुको 'परमात्मा' और सच्चिदानन्द सर्वशक्तिक्रमसे उसी वस्तुको 'भगवान्' कहकर निर्देश किया है। भगवत्-तत्त्व ऐश्वर्य-दर्शनमें वासुदेव है। और ऐश्वर्य-शिथिल माधुर्य-दर्शनमें श्रीकृष्ण है। श्रीनारायण सार्द्धद्वितीय

(ढाई) रसकी उपास्य वस्तु हैं और श्रीकृष्ण रस-पञ्चकके भजनीय धन हैं। श्रीकृष्णसे ही वैभव-प्रकाश-विग्रह बलदेव प्रभुकी महावैकुण्ठलीला है। वहाँ नित्य-व्यूह-चतुष्टय सर्वदा विराजमान है।

केवल मनके द्वारा मन्त्रजप होता है। उस समय जपकर्त्ता मननकारी प्रयोजन-सिद्धि प्राप्त करता है किन्तु ओष्ठ स्पन्दित होनेपर जपकी अपेक्षा अधिक फलदायक कीर्त्तन होता है। कीर्त्तन होनेपर श्रवणकारीको श्रेयःकी प्राप्ति होती है। सङ्कीर्त्तन शब्दसे तात्पर्य सर्वतोभावसे कीर्त्तन है अर्थात् जिसके कीर्त्तित होनेपर अन्य प्रकारके साधनाङ्गकी सहायताकी आवश्यकता नहीं होती। श्रीकृष्णका आंशिक कीर्त्तन सङ्कीर्त्तन शब्दका लक्ष्य नहीं है। श्रीकृष्णका सम्यक् कीर्त्तन सर्वोपरि जययुक्त हो। विषयकथाकी चर्चासे आंशिक भोगपरा सिद्धि होती है। यदि कृष्णका आंशिक कीर्त्तन करके जीवका सर्वशुभोदय न हो, तो कृष्णकीर्त्तनकी शक्तिके विषयमें अनेक सन्देह उठ खड़े होंगे। अप्राकृत राज्यमें श्रीकृष्ण ही विषय हैं, वहाँ किसी भी प्राकृतत्वका अवकाश नहीं है—इसलिए प्रकृतिसे अतीत समस्त सिद्धियाँ ही श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनसे लभ्य होती हैं। समस्त सिद्धियोंमें सात विशेष सिद्धियाँ श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनमें संश्लिष्ट हैं। वही इस स्थलपर उदाहृत हुआ है।

श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन जीवके मलिन चित्त-दर्पणका मार्जन करनेवाला है। ईश्वर-वैमुख्य-रूप अन्याभिलाष, फलभोग और फलत्याग इन तीन प्रकारकी प्राकृत आविलताके (अपवित्रताओंके) द्वारा बद्धजीवका चित्त सम्पूर्ण रूपसे आवृत रहता है। जीवके चित्तरूपी दर्पणसे इन आवर्जनाओंका परिष्कार करनेका प्रधान यन्त्र श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन है। जीव-चित्त-दर्पणमें जीवस्वरूप प्रतिफलित होनेके बाधा रूपमें ये तीन प्रकारके कैतव-आवरण विद्यमान रहते हैं। श्रीकृष्णका सङ्कीर्त्तन इनका उन्मोचन करनेमें समर्थ है। श्रीकृष्णका सम्यक् रूपसे कीर्त्तन करते-करते जीव अपने चित्त-दर्पणमें निज कृष्ण-कैङ्कर्यकी उपलब्धि करते हैं।

यह संसार आपाततः (ऊपर-ऊपरसे) मधुर होनेपर भी निविड़ अरण्याभ्यन्तरकी दावाग्निके समान है। दावाग्नि द्वारा काननमें

(जङ्गलमें) स्थित वृक्ष मध्य-मध्यमें विनष्ट होते हैं। कृष्ण-विमुख जन संसारकी ज्वालाको दावाग्निके तापके समान सर्वदा सहन करते हैं, परन्तु कृष्णका सम्यक् कीर्त्तन होनेपर ही इस संसारमें रहकर भी कृष्णोन्मुखता हेतुसे दावाग्नि-ज्वालाके दाहसे निष्कृति प्राप्त की जा सकती है।

श्रीकृष्णका सम्यक् कीर्त्तन परम मङ्गलमयी शोभाका वितरण करता है। 'श्रेयः' का अर्थ है मङ्गल, कैरवका अर्थ है कुमुद, चन्द्रिकाका अर्थ है—ज्योत्स्ना, शुभ्रत्व। चन्द्रोदयसे जिस प्रकार कुमुदका शुभ्रत्व विकसित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनसे अखिल कल्याणका समुदय होता है। अन्याभिलाष, कर्म और ज्ञान कल्याणके उपाय नहीं हैं, परन्तु श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन ही जीवका परम मङ्गल-विधायक है।

मुण्डकोपनिषदमें दो प्रकारकी विद्याएँ कही गयी हैं। लौकिकी विद्या और परा विद्या। श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन गौण रूपसे लौकिकी विद्या-वधूके जीवन-सदृश है एवं मुख्य रूपसे पराविद्या अथवा अप्राकृत विद्यावधूका जीवन है। श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनके प्रभावसे जीव जागतिक विद्याके अहङ्कारसे उन्मुक्त होकर कृष्ण-सम्बन्ध-ज्ञान प्राप्त करते हैं। अप्राकृत विद्याकी लक्ष्यीथूत वस्तु ही श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन है।

श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन ही जीवके अप्राकृत आनन्द-सागरका वर्द्धन करनेवाला है। खण्ड जलाशय, समुद्र शब्दका वाच्य नहीं है, अखण्ड आनन्द ही असीम समुद्रके साथ तुलनीय है।

श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तन प्रत्येक पदमें ही पूर्णामृतका आस्वादन कराता है। अप्राकृत रसास्वादनमें अभाव अथवा असम्पूर्णता नहीं है। श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनसे ही सब समय पूर्ण नित्य रसास्वादन होता है।

अप्राकृत समस्त वस्तुएँ ही श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनमें स्निग्धता प्राप्त करती हैं और प्राकृत राज्यमें देह, मन और इनके अतिरिक्त आत्मा श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनसे केवल निर्मलता प्राप्त करते हों, ऐसा नहीं है, उनकी स्निग्धता भी अवश्यम्भावी है। उपाधिग्रस्त जीव स्थूल-सूक्ष्म भावसे जिन समस्त मलिनताओंको प्राप्त करते हैं, उन सबका ही कीर्त्तनके प्रभावसे विशुद्धिकरण (विधूतिकरण) हो जाता है। अतः

जड़ अभिनिवेशको छोड़ते हुए कृष्णोन्मुख जीव सुशीतल कृष्णपादपद्मकी सेवा प्राप्त करते हैं।

श्रीश्रीजीव गोस्वामी प्रभुने श्रीभागवतसन्दर्भमेंसे एक श्रीभक्तिसन्दर्भकी २७३ वीं संख्यामें भी श्रीमद्भागवतके सप्तमस्कन्धसे क्रमसन्दर्भमें लिखा है—*'अतएव यद्यप्यन्यो भक्तिः कलौ कर्तव्या, तदा कीर्त्तनाख्या भक्तिसंयोगनैव'* अर्थात् यद्यपि कलियुगमें अन्यभक्तिका अनुष्ठान भी किया जाता है, तो भी कीर्त्तन नामक भक्तिके संयोगसे ही वे अनुष्ठान किये जाने चाहिये।

वेदान्तके अकृत्रिमभाष्य श्रीमद्भागवतके उपसंहारमें दो श्लोकोंका उल्लेख करते हुए श्रील सूतगोस्वामीके आनुगत्यमें मुझ दासाधमकी भी वही प्रार्थना है—

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो॥
नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपाप-प्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

(श्रीमद्भा॰ १२/१३/२२-२३)

अर्थात् हे प्रभो! हे देवताओंके परमाराध्यदेव सर्वेश्वर श्रीकृष्ण! आप ही हमारे एकमात्र स्वामी और सर्वस्व हैं। अब आप ऐसी कृपा कीजिये कि बार-बार जन्म-ग्रहण करते रहनेपर भी आपके चरणोंमें हमारी अनन्य अविचल भक्ति बनी रहे। जिस भगवान्‌का नाम-सङ्कीर्त्तन सारे पापोंको सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान्‌के चरणोंमें आत्मसमर्पण, उनके चरणोंमें प्रणति सर्वदाके लिए सब प्रकारके दुःखोंको शान्त कर देती है, उन्हीं परमपुरुष श्रीहरि श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।

ग्रन्थकी समाप्ति पर पुनः श्रीगुरुचरणोंमें प्रणतिपूर्वक आशीर्वादकी प्रार्थना है॥ २२॥

श्रीश्रीव्यासदेवरचित श्रीमद्‌ब्रह्मसूत्रे चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादकी गोविन्दतोषणी नामक वृत्ति समाप्त॥



श्रीनृसिंह–देव–प्रणाम

(नृसिंहपुराण वचनद्वय)

ॐ नमस्ते नरसिंहाय प्रह्लादाह्लाददायिने।
हिरण्यकशिपोर्वक्षः शिलाटङ्क–नखालये॥

परम शुद्धभक्त, वैष्णव–प्रवर श्रीप्रह्लादके आह्लाददायक श्रीनरसिंहदेवको नमस्कार है जिन्होंने कश्यप–तनय, विष्णु–वैष्णव–विरोधी दैत्यराज हिरण्यकशिपुकी वक्षःशिला अर्थात् पाषाणको विदारण करनेवाले अस्त्र–विशेषको (टङ्कको) अर्थात् नख–श्रेणीको धारण कर रखा है।

इतो नृसिंहः परतो नृसिंहो यतो यतो यामि ततो नृसिंहः।
बहिर्नृसिंहो हृदये नृसिंहो नृसिंहमादिं शरणं प्रपद्ये॥

अर्थात् इधर नृसिंह, उधर नृसिंह, जहाँ–जहाँ जाता हूँ, वहीं नृसिंह हैं, बाहर नृसिंह, हृदयमें नृसिंह—उन आदि नृसिंहके मैं शरणागत होता हूँ।



श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

'वेदान्तसूत्रम्' ग्रन्थमें व्यवहृत विशेष शब्दार्थ

प्रथम अध्याय

१/१/१ः

अभ्युपगम-पक्षे—दोष अथवा आपत्ति मान लेने पर भी।

अविलुप्तमति—अविक्षिप्त चित्त, जिनकी बुद्धि विकृत नहीं होती, ऐसे नारायण।

स्तोभ-वाक्य—आपाततः रोकनेके लिए एक-दो छोटी-छोटी बातें (गीतालापपूरणादिके लिए उच्चारित निरर्थक वाक्य-विशेष)।

अन्यथाख्याति—प्रकृतिसे पुरुष भिन्न है, इस प्रकारका ज्ञान।

सम्प्रज्ञात समाधि—जिस समाधिमें ध्येय वस्तु प्रतिभात होती है।

प्रागभावेः—प्रागभावका

असहकृत—वस्तुकी उत्पत्तिका पुनः न होना इस प्रकारसे।

प्रत्यागात्मरूपे—अन्तर्यामी परब्रह्म विभु रूपमें। अन्तर्यामी-स्वामी, क्षेत्रज्ञ, तत्पदार्थ, भगवान्, जीव-नियामक, जीवात्मा, ब्रह्मस्वरूप-विग्रहविशिष्ट।

प्रत्यभिज्ञा—पूर्व अनुभूत व्यक्तिको देखकर जिसे पहचान लिया जाता है, उस ज्ञानका नाम प्रत्यभिज्ञा है, सादृश्यालम्बी ज्ञान।

१/१/२ः

मुक्तप्रग्रह—योगवृत्तिके अनुसार शब्दका चरम मुख्यार्थ जिसमें बिना लगामके वाहनकी गतिके समान प्रकाश पाता है, वही मुक्त-प्रग्रह-वृत्ति है। शब्दशक्तिकी अबाधा सर्वोर्ध्वतनी गति।

अव्यभिचारीसत्तामय—जो सर्वत्र सत्तामय हैं, इस रूपमें समस्त निश्चित सत्ताविशिष्ट।

१/१/४ः

आक्षेपसङ्गतिलभ्य—आक्षेप अर्थात् आपत्ति अथवा प्रतिवाद नामक सङ्गति द्वारा बोध्य।

१/१/११ः

शक्यतावच्छेदक—शब्दकी अभिधाशक्ति द्वारा बोध्य जो अर्थ है, उसका धर्म अथवा विशेषण, जिस प्रकार गो शब्दका अर्थ होता है—गलकम्बलसे युक्त जीव, गलकम्बलविशिष्ट होना गोका धर्म है।

१/१/१६ः

पृषोदरादित्वरूपे—पृषोदर इत्यादि कितने ही शब्द हैं, जो वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश, अन्य अर्थके योग द्वारा सिद्ध होते हैं, उनके मध्यपातित्वके अनुसार।

१/१/२८ः

प्रकान्त—जिसकी बात पहले ही आरम्भ की गयी है।

१/२/१ः

विधायक—जो विधान करता है अर्थात् इस वाक्यसे भिन्न अन्य किसी भी प्रमाणसे अबोधित विषयको जाना जाता है, वह वाक्य विधायक है।

१/२/११ः

भूतिर्—सहगामी प्राणादिका।

१/२/१३ः

निर्लेप—निःसङ्ग।

१/२/१८ः

आक्षेप-सङ्गति—आपत्तिरूप सङ्गति।

१/२/१९ः

अनैकान्तिक, विरोध, असिद्धि, सत्प्रतिपक्ष एवं बाध—अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी (अनिश्चित, अचिरस्थायी)—जिस प्रकार साध्यभावके अधिकरणमें वर्त्तमान हेतु—'धूमवान् वह्नेः' यहाँ 'वह्नेः' यह हेतु है; विरोध—साध्य एवं हेतुका एक अधिकरणमें नहीं रहना, जिस प्रकार 'अयं गौः अश्वत्वात्' इस अनुमानमें गोत्वका असमानाधिकरण अश्वत्व हेतु विरोधहेत्वाभासयुक्त है; असिद्धि—स्वरूपासिद्धि, आश्रयासिद्धि एवं व्याप्यत्वासिद्धि तीन प्रकारसे है। उनमें पक्षमें हेतुका नहीं रहना स्वरूपासिद्धि, पक्षधर्मके अभावविशिष्ट पक्ष

आश्रयासिद्धि, सव्यभिचार हेतुस्थलपर उपाधिविशिष्ट हेतु व्याप्यत्वासिद्धि है; सत्प्रतिपक्ष—जिसका प्रतिद्वन्द्वी और एक अनुमान; बाध—साध्यका अभावविशिष्ट पक्ष, जिस प्रकार 'ह्रदो वह्निमान्' इस स्थलपर बह्नय भाववद् ह्रद बाध है।

१/३/८ः

अभ्यधिकत्व—सर्वतोभावसे आधिक्य अर्थात् प्राधान्य।

१/३/१५ः

प्रसरणस्थान—चलने-फिरनेका स्थान।

१/३/१६ः

साङ्कर्यनिवृत्तिका सेतु—अर्थात् विधृति विशेष रूपमें धारक—अन्यका धर्म अन्य व्यक्ति ग्रहण करे तो साङ्कर्य होता है—वह जिसमें नहीं होता, ऐसे पथको लेकर जो हैं।

१/३/१९ः

विश्वसेतुत्व एवं जगत्-विधारकत्व—विश्वको नियममें बद्ध रखनेके लिए विश्वसेतुत्व एवं जगत्को धारण करके रखनेकी शक्ति जगत्-विधारकत्व।

१/३/२०ः

जीवोपन्यास—दहर-वाक्यमें जीवका उल्लेख।

१/३/२९ः

सामादि पारायण—सामवेद इत्यादिकी पारगमन-परायणता।

१/३/३१ः

मधु इत्यादि विद्यामें—आदित्यो देवमधु इत्यादि रूपमें आदित्यादि देवतामें ब्रह्मदर्शन विद्या मधुविद्या—मधुके समान मधुरास्वादजनक रूपमें मधुविद्या नामसे अभिहित।

१/३/३१ः

मधुरूप आदित्यका अन्तरीक्षवक्र आधारवंश—आकाश सूर्यगतिका वक्राकार वंशस्वरूप उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई भी लोक वक्रवंश धारण करके गमनागमन करता है।

१/४/१ः

अङ्गी पूषा—साङ्गरूपक अलङ्कारमें एक अङ्गी अर्थात् शरीर वर्णित होता है, दूसरे अलङ्कारोंमें हस्त-पदादिके समान अङ्ग वर्णित होता है। इस रूपको पूषा अर्थात् सूर्यदेवताके अङ्गीरूपमें वर्णन किया गया है।

१/४/५ः

अप्रच्युतस्वभाव—जिनका स्वकीय स्वरूप कभी भी च्युत नहीं होता।

१/४/११ः

प्रायिकार्थे—बहुव्रीहि प्रायः सर्वत्र अन्य पदार्थमें प्रयुक्त होता है, किसी-किसी क्षेत्रमें उसका व्यतिक्रम भी है।

१/४/१३ः

काण्वशाखी एवं माध्यन्दिन शाखी—यजुर्वेदके दो शाखाध्यायी हैं, एक माध्यन्दिन शाखी और दूसरे कण्वमुनि-प्रवर्त्तित शाखाध्यायी।

१/४/१४ः

असत् हेतुक सृष्टि—असत् अर्थात् शून्यसे जगत्की उत्पत्ति कहनेसे असत् उस सृष्टिका कारण है।

१/४/१४ः

लक्षण-सूत्र—लक्षण एवं सूत्र दोनोंके द्वारा।

१/४/२३ः

उल्मूक—ज्वलन्त काष्ठ, अङ्गार।

१/४/२६ः

अनवस्था दोष—कारणका कारण, उसका कारण, इस प्रकारसे कहीं भी विश्रान्ति न होनेके कारण अनवस्था।

१/४/२६ः

सन्दंशन्याय सिद्ध-प्राबल्यहेतु—सन्दंश-संडासी—वह जिस प्रकार दोनों दिशाओंसे दबाकर रखती है, उसी प्रकार मुख्य एवं गौण दोनों प्रकारसे सिद्ध वस्तुकी प्रबलताके कारण।

द्वितीय अध्याय

भूमिकाः

आन्वीक्षिकी विद्या—न्यायशास्त्र अथवा तर्कशास्त्र।

२/१/१ः

विषयाभावरूपदोष—ज्ञानमात्र ही जिस पदार्थको लेकर उत्पन्न होता है, उसका नाम विषय है, वह यदि नहीं रहता, तब उस ज्ञानका विषयाभावरूप दोष घटित होता है।

सौवर्ण—सुवर्ण निर्मित वस्तु।

२/१/४ः

अधिकारी बोधक श्रुति—जो समस्त श्रुतियाँ फलकामनावान अधिकारीको ज्ञात करा देती हैं, जिस प्रकार 'अग्निहोत्रजुहूयात् स्वर्गकाम इत्यादि' श्रुति।

२/१/५ः

बाधित अर्थ—यदि जलादिका सृष्टिकर्त्तृत्व कहा जाता है, तो परमेश्वरका सृष्टिकर्त्तृत्व अर्थ बाधित अर्थात् बाधाप्राप्त-विरुद्ध है।

व्यपदेश—उल्लेख, संज्ञा।

२/१/७ः

इष्टापत्ति—स्वीकार कर लेनेवाली जो आपत्ति दिखायी गयी, उसे स्वीकार करनेपर।

२/१/९ः

अपुरुषार्थ विकार—जो समस्त विकार पुरुषके काम्य नहीं है, ऐसे सभी अपुमर्थ विकार।

२/१/१२ः

अपह्नव—अपलाप, अस्वीकार करना, बातको उड़ा देना।

अतिदेशसूत्र—एकका मत और एककी उक्ति जो सूत्रमें है।

२/१/२४ः

अनवस्थापत्ति—अनवस्था एक दोष है जिसकी स्थिति अथवा विश्राम नहीं है।

अनुपपत्ति—युक्तिहीनता, युक्ति द्वारा अनिर्णय।

२/१/२२:

कैवर्तभ्रम प्राप्त राजपुत्र—शापके प्रभावसे अथवा दुर्भाग्यवश जो राजपुत्र कैवर्त्त होकर स्वयंको कैवर्त्त रूपमें मानता है।

२/२/१:

अध्याहार—उक्ति न रहनेके कारण ऊह्य करके (गोपन रखके) सङ्गति रखना अर्थात् सूत्रार्थको पूरा करनेके लिए किसी अनुवृत्त पदको जोड़ना।

२/२/२:

अनुपपत्ति—युक्तिहीनता, युक्ति द्वारा अनिर्णय।

२/२/१०:

संहतिविशिष्ट वस्तुका—समूहविशिष्ट वस्तुकी जिस प्रकार देह, हस्तपदादि समूहको लेकर स्थित।

२/२/११:

पृथुत्व परिमाणका—स्थूलत्व मापका।

२/२/१२:

अदृष्ट—पूर्वकृत पाप-पुण्य अथवा धर्माधर्म

अवच्छेदक—अंशको एवं अव्यभिचारी धर्मको अवच्छेदक कहा जाता है, जो दूसरेमें नहीं रहता और समूहमें भी नहीं रहता।

२/२/१३:

समवाय—एक प्रकार सम्बन्ध, जिस प्रकार अवयव द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे अवयवी रहता है। यह अविच्छेद सम्बन्ध है।

अतिप्रसङ्ग दोष—आपत्ति, एक धर्मके दूसरे वस्तुमें रहनेके कारण आपत्ति।

२/२/१८:

समुदाय-योजक—समुदाय वस्तुको जो योग कर देता है।

२/२/१९:

अर्थाक्षिप्त संघात—अर्थकी सङ्गति रखनेके लिए जो और एक अर्थकी कल्पना की जाती है, वह अर्थाक्षिप्त है, यह अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा प्राप्य है।

२/२/२७ः

भावभूत स्कन्ध—सत्स्वरूप अस्तित्ववान पदार्थ अर्थात् शून्य नहीं, उससे उत्पत्ति भावभूत-स्कन्धसे होती है।

२/२/२८ः

समूहालम्बन ज्ञान—जो ज्ञान अनेक विषयोंको लेकर उत्पन्न होता है, वह ज्ञान, जिस प्रकार एक साथमें घट-पट ज्ञान।

अध्याहार्यपदका विशेषण—जो पद उल्लिखित नहीं होता, किन्तु ऊह्य (गोपन) किया गया है, उसका विशेषण।

२/२/३२ः

स्वभिन्न पदार्थ—जिसे कहा हुआ है, उसे छोड़कर अन्य पदार्थ।

२/२/४५ः

हानोपादान शून्य—त्याग करना और ग्रहण करना जिसमें नहीं है।

अप्रच्युत-उपशमशील—जो च्युत नहीं होता, इस प्रकारका स्वभाव विशिष्ट-अप्रच्युत, और जिसकी निवृत्ति हो जाती है, वह उपशमशील।

२/३/२९ः

कारणकूट—मिलित कारण समुदाय—एक-एक पृथक्-पृथक्—कारण नहीं।

२/३/३०ः

अभ्यागम प्रसङ्ग—आकर पड़ेगा। अथवा आगमन होगा।

२/३/४१ः

अंशाशिरोधक वाक्य—जो वाक्य एक अंशको और अन्य अंशीको सूचित कर देता है, ऐसा वाक्य।

उपसर्जनीभूत—अप्रधानीभूत, विशेषणीभूत, मुख्यसे भिन्न।

२/३/४८ः

सत्प्रतिपक्ष नामक हेत्वाभास—जिसका प्रतिद्वन्द्वी और एक अनुमान रहेगा, उस प्रकारका हेतु दोष।

साध्याभाव—साधनीय वस्तुका अभाव अर्थात् जिसे प्रमाणित करना अभिप्रेत है, वह साध्य है, जिस प्रकार पर्वतमें वह्नि साध्य है, उसका अभाव।

२/३/४९ः

प्रक्रान्तविषय—जिस विषयका प्रकरण चल रहा है।

आमुत्रिक—पारलौकिक।

२/४/१०ः

संवर्गस्वरूप—जो इन्द्रियादि वर्गको अधिकार करके रहता है, वह संवर्ग जिस प्रकार प्राणवायु।

२/४/२०ः

कारक विभक्ति—क्रियाके निमित्तका नाम कारक है जैसे कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध एवं अधिकरण कारकमें जो विभक्ति होती है। उदाहरणार्थ 'ओदनं पचति' वाक्यमें ओदन कर्मकारक है।

नामरूपाभिव्यक्तिमें—जागतिक पदार्थके नाम-स्थापन एवं रूप-प्रकाशमें।

पौर्वापर्य—अग्र-पश्चात् भाव।

व्याकृति क्रिया—अभिव्यक्ति करनेकी क्रिया।

अनुपपत्ति—युक्तिहीनता, युक्ति द्वारा, अनिर्णय।

शाब्दक्रम—वाक्योंके मध्य दो क्रम निर्दिष्ट होकर रहते हैं—एक शाब्दक्रम और दूसरा आर्थक्रम। इनमें जिस क्रमका निर्देश किया जाता है, वह शाब्दक्रम है।

आर्थक्रम—अर्थानुसार जो क्रम है, वह आर्थक्रम है।

सामानाधिकरण्य—एक अधिकरणमें दो रहते हैं। जिस प्रकार पृथ्वीत्व एवं गन्ध—इन दोनोंका सामानाधिकरण्य है।

तृतीय अध्याय

भूमिकाः

पुरीतत्—(मस्तकके सर्वोपरि भागमें)—इसमें जब मनका अवस्थान होता है, उस समय सुषुप्ति होती है।

३/१/१ः

अर्चिः—सूर्यकी अथवा अग्निकी शिखा, इसका अवलम्बन करके परलोकगत आत्मा ऊर्ध्वलोकमें उठती है।

३/१/१९:

पञ्चमी आहुति—कर्मियोंका जल विकार, दधि-दुग्धादि होम। प्रथम आहुति—सोम नामक देह उत्पन्न होना; द्वितीय आहुति—सोमदेहकी पर्जन्य नामक अग्निमें, उसके परिणामस्वरूप वृष्टि; तृतीय आहुति—वृष्टिका पृथ्वीमें पतन, और उसके फलस्वरूप शस्योत्पत्ति; चतुर्थ आहुति—शस्यकी भोजन रूपमें पुरुषमें गति और उसका फल शुक्रोत्पत्ति; एवं पञ्चम आहुति—उस शुक्रका स्त्रीयोनिमें पात। द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष एवं स्त्री—इन पाँचोंके पाँचका अग्नि रूपमें वर्णन करके उसमें श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न एवं शुक्ररूप हव्यकी आहुति, यह पञ्चविध आहुति है।

३/१/२८:

संश्लेषमात्र—आकाशसे आरम्भ करके जो शस्य पर्यन्त उत्पन्न होते हैं, लिङ्गशरीरधारी जीवका उस शस्यादिके सहित संयोगमात्र।

३/२/१७:

कात्स्न्र्य अर्थे—समग्र अंशको लेकर।

सान्द्रत्व-विशिष्ट-विज्ञान—निविड़ ज्ञान अर्थात् जिसके मध्यमें आनन्द और ज्ञानसे भिन्न अन्य किसी विषयका मिश्रण नहीं होता।

३/२/१९:

विक्षेपरूप—प्रकृतको अप्रकृतमें लेकर जाना। जिस प्रकार अविद्याकी दोनों शक्तियाँ, एक आवरणी है जो स्वरूपको ढक देती है और एक विक्षेप शक्ति, यह प्रकृतको अप्रकृतमें ले जाती है। जिस प्रकार आत्माका अभिमान देहादिके प्रति है, यह विक्षेप शक्ति द्वारा होता है।

३/२/२२:

हिरण्यगर्भ पुरुषका—सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माका।

माहारञ्जन वस्त्रादि—कुङ्कुमादि राग द्रव्यमें रञ्जित वस्त्र इत्यादि।

३/३/६:

व्याहृतित्रय—जो शब्द ब्रह्मको सूचित करते हैं, जिस प्रकार भूः, भुवः, स्वः।

३/३/२७ः

तत्त्व-विमर्शमें—यथार्थस्वरूप विचारमें।

व्युत्थानदशामें—सुषुप्ति-भङ्गके बाद अथवा समाधि-भङ्गकी परवर्त्तिनी अवस्थामें।

३/३/३०ः

प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव—जिसे बाधा दी जाती है, वह प्रतिबध्य है, जो बाधा देता है, वह प्रतिबन्धक है—ऐसी अवस्था।

साङ्कर्य—मिश्रण, एक फल दोनोंका होनेपर और दोनोंका दोनोंमें न रहनेपर साङ्कर्य होता है।

३/३/३३ः

आपादक—(मूर्खताकी) आपत्तिजनक मूर्खता सूचित होती है।

३/३/३४ः

वारयन्तीय—एक प्रकारकी स्तुति।

३/३/३६ः

मेचकके समान—नानावर्णोंमें मिश्रित कालवर्णके समान।

३/३/३९ः

संभर्तृत्व—सम्यक् रूपमें पालनकारिता गुण।

३/३/४०ः

पक्षवृत्तित्व सपक्षवृत्तित्व, विपक्षव्यावृत्ति, असत्-प्रतिपक्षिततत्व एवं अबाधिततत्व—अनुमान करनेसे एकमें एकके साधन-विषयमें हेतु दिखायी देता है, जिस प्रकार पूर्वमें वह्नि है, यह प्रमाण करनेपर धूमका हेतु रूपमें उल्लेख करना होगा, क्योंकि वह धूमरूप हेतु पक्षमें (पर्वतमें) है, इस प्रकार दृष्टान्त दिखाना होगा। जहाँ साध्यका (वह्निका) निश्चय है, जिस प्रकार पाकशाला वहाँ वह्निका निश्चय है, धूम भी वहाँ है, इस कारण हेतुमें सपक्षवृत्तित्व है। साध्य जहाँ नहीं है, वहाँ यदि हेतु नहीं रहे तब विपक्षव्यावृत्ति हेतुमें रहेगा, जिस प्रकार साध्य (जो प्रमाण किया जा रहा है, वही साध्य है)। वह्नि जहाँ नहीं है, जिस प्रकार जलाशय, वहाँ धूम भी नहीं, तो फिर विपक्षव्यावृत्ति। असत्प्रतिपक्षित्व—जिसके विपरीत कोई अनुमान नहीं। जिस

प्रकार जगत् सेश्वर प्रमाण किये जानेपर कार्यत्व हेतु दिखाया जाता है। यदि उसमें कोई कहे जगत् ईश्वर द्वारा रचित नहीं, क्योंकि वह शरीरधारी द्वारा उत्पन्न नहीं है, ऐसा होनेपर सत्प्रतिपक्षदोष दूषित होता है, किन्तु वह रहनेपर होगा नहीं। अबाधितत्व—जिस प्रकार जो पक्षमें साध्य नहीं है, वहाँ हेतु बाधित है, उसी बाधितत्वका अभाव है।

३/३/४८:

छान्दस प्रयोग (ब्राह्मण)—वेदको छन्दः कहा जाता है, इसलिए वैदिक प्रयोग छान्दस प्रयोग है, इसमें लौकिक व्याकरणका अनुशासन भङ्ग होता है।

अन्ययोग-व्यवच्छेद, स्वायोग-व्यवच्छेद एवं अत्यन्तायोग-व्यवच्छेद—'एव' शब्दके तीन अर्थ हैं—(१) किसी स्थलपर दूसरेमें उसकी सम्बन्धनिवृत्ति—जिस प्रकार 'पार्थ एव धनुर्धरः' कहनेपर पार्थसे भिन्न प्रधान धनुर्धर नहीं हैं, (२) स्वायोग-व्यवच्छेद—जहाँ स्वयंमें स्वयंका सम्बन्धाभाव जाना जाता है, जिस प्रकार 'शङ्खः पाण्डुर एव' कहनेपर शङ्खके पाण्डुरत्वके अभावका निराकरण हो रहा है, (३) अत्यन्तायोग-व्यवच्छेद—सम्पूर्ण रूपमें सम्बन्ध नहीं, इसका निराकरण जिस प्रकार 'नीलम् उत्पलम् भवत्येव' पद्म जो नीला नहीं होता, ऐसा नहीं है।

३/३/५५:

शार्करराक्षगण—शर्करा अर्थात् कङ्कड़ उसके द्वारा जिनकी दृष्टि ढकी हुई है अर्थात् अन्तर्दृष्टिहीन, स्थूलदृष्टि-व्यक्तिगण।

३/३/५९:

अवभृथ स्नान—यज्ञके अन्तमें शान्तिजलके द्वारा स्नान।

३/३/६२:

उपास्तित्व हेतुका व्यभिचारित्व—हेतु यदि साध्यके अभावाधिकरणमें रहता है तब वह हेतु व्यभिचारी होता है, जिस प्रकार 'काम्योपासनाः विकल्पेनानुष्ठेयाः उपास्तित्वात्' इस अनुमानमें काम्योपासनाएँ पक्ष, विकल्पमें अनुष्ठेयत्व साध्य एवं उपास्तित्व अर्थात् उपासनात्व धर्म हेतु, यह हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि

श्रीहरिकी उपासना काम्योपासना नहीं है। उसके अभाव अर्थात् विकल्पमें उपासनाका अभाव श्रीहरिकी उपासनामें है, वहाँ उपासनात्व धर्म भी है, इसलिए हेतु व्यभिचारी है। साध्यके अभावाधिकरणमें वर्त्तमान (व्यभिचारी) हेतु द्वारा सत् अनुमान होता नहीं।

३/४/२:

प्रयाज एवं अनुयाज नामक अङ्ग—अग्निहोत्र नामक एक यज्ञ है, उसके अङ्ग याग अर्थात् साधनयाग प्रयाज एवं अनुयाज नामक दो याग हैं, ऐसा करनेसे यज्ञकी बाधा दूर होती है। यह फलश्रुतिके रूपमें अर्थवाद नामक वेद।

विवाहाङ्ग—विवाहमें सहायता करनेवाला विवाहाङ्ग है। जिस प्रकार भृत्यके विवाहमें राजा सहायता करता है, इस कारण राजा विवाहाङ्ग है।

३/४/९:

कारषेयगण—कारषेय नामक ऋषिगण।

३/४/१३:

उपपत्ति—सङ्गति अर्थात् युक्ति द्वारा सङ्गत करना।

३/४/१९:

वीरघात श्रुति—एक श्रुति है, उसमें कहा गया है कि जो वैधकर्मका त्याग करता है, उसका वीरपुत्र नष्ट हो जाता है।

३/४/२१:

ऋण श्रुति, यावज्जीव-श्रुति एवं अपवाद-श्रुति—मनुष्य चार ऋण लेकर जन्म-ग्रहण करता है, यथा—दैव, पैत्र, आर्ष एवं भौत। उस ऋणको जो श्रुति बतलाती है, वह ऋण श्रुति है। 'यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्' यह नित्यताबोधक-श्रुति है। अपवाद-श्रुति—'यथेष्टं कुरु'—विरक्त पुरुषके प्रति यह जो यथेच्छाचरण विधायक वाक्य होता है, उसका नाम अपवाद-श्रुति है।

क्रतु—क्रतु शब्दका अर्थ है—यज्ञ एवं कर्म।

उद्गीथादिका—उच्चैः स्वरसे साम गान इत्यादिका।

३/४/२३:

पारिप्लव—वेदान्तके कतिपय उपाख्यानोंका नाम 'पारिप्लव' है।

३/४/३३:

संश्लेष—लिप्त रहना अर्थात् कर्मफल भोग कराना।

३/४/३९:

रतिसम्पन्न सांवर्त्तक—अनुरागी सांवर्त्तक नामका व्यक्ति।

३/४/४८:

सनिष्ठ, परिनिष्ठित, निरपेक्ष—सनिष्ठ, परिनिष्ठित और एकान्ती अथवा निरपेक्ष—इन तीन प्रकारके भक्तोंके मध्य जो भगवान्के सकल रूपकी (गुणकी) समान अनुरागसे सेवा करते हैं, वे सनिष्ठ हैं। परिनिष्ठित भक्त अपनी अभीष्ट मूर्त्तिके गुणकी ही उपासना करते हैं, अन्य अवतारोंकी नहीं। एकान्ती अथवा निरपेक्ष—ये भक्तिसे भिन्न कुछ नहीं चाहते, आत्मभावसे ही ईश्वरका ध्यान करते हैं।

चतुर्थ अध्याय

४/१/१:

हेतुहेतुमद्भावसङ्गति—इस अध्यायमें हेतु अर्थात् कारण जो विद्याका साधन एवं हेतुमान अर्थात् कार्य—विद्याफल विचार किया गया है, इस कारण दोनोंकी कार्य-कारण भावरूप सङ्गति है। परस्पर सम्बन्धका नाम सङ्गति है।

अश्लेषाधिकरण—जिस अधिकरणमें क्रियमाण कर्मका श्लेष अर्थात् संयोग, उसका अभाव विचारित हुआ है, उस अधिकरणको अश्लेषाधिकरण कहते हैं।

४/१/६:

वीप्सा—कौन-सा कर्म नित्य अपरिहार्य है, उसके प्रमाण-प्रसङ्गमें कहते हैं—जिसमें एक पद दो बार कहा गया है, जिस प्रकार 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इस वाक्यमें अहः पद वीप्सार्थमें दो बार प्रयुक्त है। व्याप्त करके रखनेकी इच्छा वीप्सा है।

४/१/१६ः

खादिर यूप—खादिर काष्ठसे निर्मित पशुबन्धन यूपकाष्ठ।

क्रतूपकारकत्व—एक ही खादिर यूपके विधानमें इसे यज्ञका साधन कहा गया है, इसलिए नित्य है। पुनः जो वीर्यकामना करते हैं, उसके पक्षमें वह काम्य है, तब यह किस प्रकारसे नित्य एवं काम्य दोनों प्रकारका होगा, किन्तु सम्बन्ध विभिन्न रहनेके कारण दोष नहीं होता है।

सिद्धवन्निर्दिष्ट–उत्पन्न—जो सिद्ध वस्तुके समान निर्दिष्ट है, किन्तु सिद्ध नहीं है, उसे उद्देश्य करना। जो उत्पन्न हुआ है, उसका नाम उत्पन्न।

४/१/१७ः

अश्वसटास्थ—घोड़ेकी गर्दनके रोमको सटा कहा जाता है, अश्व वह झाड़ डालता है। इस प्रकार ब्रह्मविद् व्यक्ति अपने प्रारब्ध–पुण्य–पाप भी झाड़ देता है।

४/१/१८ः

सुत–गत—पुत्रगत होता है, ब्रह्मविद्का पाप–पुण्य पुत्र भोग करता है।

४/२/१३ः

आर्त्तभाग—आर्त्तभाग नामका एक राजा याज्ञवल्क्यके निकट ब्रह्म–विद्या–प्राप्तिके लिए आया था।

४/२/१५ः

जहत्स्वार्थ–लक्षणा—मुख्य अर्थका त्याग करनेपर लक्षणाशक्ति द्वारा अन्य अर्थ ग्रहण करना होता है। यह लक्षणा दो प्रकारकी है एक जहत्स्वार्था—जो सम्पूर्ण रूपसे मुख्य अर्थका त्याग करके अन्य अर्थ सूचित करती है, जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः'—इस वाक्यमें गङ्गा पद गङ्गा किनारेको सूचित करता है, किन्तु गङ्गाजलको नहीं।

४/२/१७ः

आतिवाहिक देवता—जो समस्त देवता मृत व्यक्तिके लिङ्गशरीरको विष्णुधाममें ले जाते हैं, जिस प्रकार अर्चिः इत्यादि।

४/३/१३:

दहरविद्यामें—जीव-हृदयस्थित सूक्ष्म आत्माका ब्रह्मरूपमें ज्ञान, दहरविद्या है।

४/३/१५:

अविश्लिष्टभावमें—ब्रह्म-साक्षात्कारके बाद भी सनिष्ठ उपासकगण जो कर्म करते हैं, वे फिर ब्रह्मज्ञानमें लिप्त नहीं होते।

क्रतु-न्याय—जिस प्रकारका कर्म किया जाता है, उसी प्रकारका फल होता है। यदि कोई सम्पूर्ण जीवन ईश्वर-साक्षात्कारकी कामना करके कर्म करता है, उसका ईश्वर-साक्षात्कार ही होता है। इस नीतिका नाम क्रतु-न्याय है।

४/४/८:

व्यावृत्तिबोधनार्थ—उससे पृथक् वस्तुमें नहीं रहना, यह शब्द यही सूचित करता है। 'एव' शब्द जिस प्रकार सास्नावान गौके समान ही कहनेपर गौसे भिन्न प्राणी महिषादिमें सास्ना व्यावृत है अर्थात् वर्त्तमान नहीं है।

४/४/२१:

निरञ्जनत्व अंश—उपाधिशून्य (देहादि रहित अथवा अविद्या-विरहित) अवस्थाका नाम निरञ्जनत्व है।



प्रयोजनतत्त्वात्मक

चतुर्थ अध्यायकी अधिकरण सूची



चतुर्थ अध्यायकी सूत्र-सूची

(वर्णानुक्रम प्रदत्त)

चतुर्थ अध्यायके प्रथम पादसे चतुर्थ पाद तक

